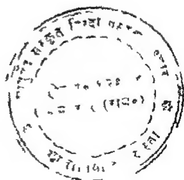
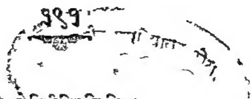




॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१९१



श्रीभट्टोजिदीक्षितविरचिता

वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी

सविमर्श-'रत्नप्रभा'-हिन्दीव्याख्यासहिता

व्याख्याकार सम्पादकश्च

व्याकरणाचार्यः श्रीबालकृष्णपञ्चोली

दे० सू० खेतानमहाविद्यालय-काशिकराजकीय संस्कृतमहाविद्यालय-
वाराणसेय-संस्कृत विश्वविद्यालय-पूर्वप्राध्यापक

(समासादि-द्विरुक्तान्तो द्वितीयो भागः)





चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी-१

१९६९

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी-१

संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०२६

मूल्य : 8-00

प्रधान शाखा

चौखम्बा विद्याभवन

चौक, पो० बा० ६९, वाराणसी-१

फोन : ३०७६

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
191
****

VAIYĀKARAṆA-SIDDHĀNTA-KAUMUDĪ

BY

ŚRĪ BHAṬṬOJI DĪKṢITA

Edited with
'Ratnaprabhā' Hindi Commentary

BY

PT ŚRĪ BĀLAKṚṢṆA PAÑCHOLĪ,
Vyākaraṇāchārya
*Ex Professor, Khetan Sanskrit College, Varanasi
and Sanskrit University, Varanasi*

VOL. II
FROM SAMĀSA TO DVIRUKTĀNTA

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
VARANASI-1
1969

विषयानुक्रमणिका

॥ श्रीः ॥

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

सविमर्श 'रत्नप्रभा' हिन्दीव्याख्योपेता

अथाव्ययीभावसमासप्रकरणम् ॥ १५ ॥

६४८ समर्थः पदविधिः २।१।१

पदसम्बन्धी यो विधि, स समर्थाश्रितो बोध्य ।

इसके पूर्व 'स्वौजसम्' से विहितस्वादिप्रत्ययों के अर्थ विशेष को निरूपण कर प्रसङ्गसङ्गति से समाससंज्ञा का निरूपण के लिए समास आदि के लिए उपयोगिनी परिभाषा का व्याख्यान कर रहे हैं यद्यपि समर्थ का समासंज्ञारूपपदविधि का साक्षात् विशेषणत्व सम्भव न होने से सामर्थ्याश्रित में लक्षणा से सिद्ध अर्थ को कह गया है, वृत्ति में 'समर्थाश्रित'। इस समर्थाश्रित में भी समर्थपदसामर्थ्य में लाक्षणिक है। सामर्थ्य दो प्रकार का है—व्यपेक्षारूप एकार्थीभावरूप। वाक्य में शब्द अपने-अपने अर्थों का प्रतिपादन करते हुये आकाङ्क्षा, योग्यता, आसक्ति एवं तात्पर्य वश परस्परसम्बन्ध की अपेक्षा रखते हैं उसको व्यपेक्षा कहते हैं। समास, कृत्प्रत्यय, तद्धितप्रत्यय, एकशेष एवं धातुसंज्ञा में एकार्थीभावरूपसामर्थ्य ही गृहीत होता है। 'राज्ञः पुरुषः' आदि वाक्य में व्यपेक्षा है, 'राजपुरुष' आदि में एकार्थीभाव है।

१—स्वार्थपर्यवसायिनां शब्दानामाकाङ्क्षादिवशाद् यः सम्बन्धः परस्परं सा व्यपेक्षा।

२—यत्किञ्चित्पदजन्यपृथगुपस्थितिविषयार्थकत्वेन लोके दृष्टानां शब्दानां विशिष्टविषयैकशक्त्यैवोपस्थितिजनकत्वम्—एकार्थीभावत्वम्। अथवा—विशेष्यविशेषणभावापन्नानामेकार्थोपस्थितिजनकत्वम्—एकार्थीभावत्वम्।

पदसम्बन्धी विधि ही एकार्थीभावरूपसामर्थ्य की अपेक्षा करती है। ऐसा कहने पर इच्छार्थकस्मनादिविधायकशास्त्रपदविधित्वाभाववान् है से सामर्थ्य की अपेक्षा नहीं करने पर दोष प्रसक्ति सम्प्राप्त हुइ एतदर्थं यहाँ पदविधिशब्द से पदविधि से सहचरित का भी ग्रहण होता है। यहाँ सहचरितता क्या है ?, स्वयुक्तपदघटक जो शास्त्र उसकी जो विधेयता तद्रूपत्व है। विधेयवृत्तिधर्म को विधेयता कहते हैं। स्वघटितपदघटकशास्त्रविधेयत्व सहचरितत्वम् इन सब का साराश यहाँ यह हुआ कि सूत्र में पदविधिशब्द सामान्यत पदसम्बन्धी विधि को न बोधन कर लक्षणा से विशिष्ट सङ्केतित अर्थ का प्रतिपादक है, जिससे पाँच वृत्तियाँ पदविधियां बन जाय एवं वे वृत्तियाँ वहीं हो जहाँ एकार्थीभावरूपसामर्थ्य रहे। जहाँ व्यपेक्षारूपसामर्थ्य रहे

वहाँ पाँच वृत्तियों में से कोई भी वृत्ति की प्रवृत्ति नहीं होती, अतः अब यह कर्तव्य आ पड़ा कि पदविधि का ठीक स्वरूप क्या है ?, एवं उसका समन्वय प्रकार क्या है ?,

पारिभाषिकशब्दार्थज्ञान के लिए प्रथम उसका सारभूत अर्थ का निर्देश आवश्यक है तब पदविधि का विशिष्टस्वरूप का ज्ञान सुगमता से होता है। यथा—पदत्व (पद) संज्ञा की प्रवृत्ति में कारण प्रत्यय सुप् एवं तिङ् है (सुप्तिङन्तं पदम्) सुप् एवं तिङ् का विधायकशास्त्र 'स्वौजसम्' एवं 'धातोः'। इनके दोनों का उद्देश्य प्रातिपदिक एवं धातु है, उन प्रातिपदिक-संज्ञा का उद्देश्य, एवं धातुसंज्ञा का उद्देश्य क्रमशः कृदन्त तदादि तद्धितान्ततदादि एवं समास, एवं सनाद्यन्ततदादि अन्यतम है, इनमें विशेषणता से प्रतीयमानकृत्प्रत्यय, तद्धितप्रत्यय, समास, (अर्थवत् का समास भी विशेषण है) एवं सन् क्यच् आदि बारह प्रत्यय हैं, उन सबका विधायक-शास्त्र कृत्प्रत्ययविधायकसम्पूर्णसूत्र, तद्धितप्रत्ययविधायकसम्पूर्णसूत्र, समाससंज्ञाविधायकसम्पूर्णसूत्र, सनादिप्रत्ययविधायक बारह सूत्र एवं द्वन्द्वसमास का बाधक एकशेष होने से उत्सर्ग एवं अपवाद दोनों की समानविषयता होती है, एतावता द्वन्द्वपदविधि तो एकशेष भी पदविधि इस प्रकार पाँच पदविधियाँ हुई हैं। इसका परिष्कृतस्वरूप यह है—"पदत्वप्रयोजकप्रत्ययनिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यताऽवच्छेदकसंज्ञीयोद्देश्यताऽवच्छेदकसम्पादकशास्त्रविधेयत्वरूपं पदविधित्वम्"। पदत्व-प्रयोजकप्रत्ययः—सुप्तिङ्रूपः, तन्निष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यताऽवच्छेदकीभूता संज्ञा=प्रातिपदिकसंज्ञा धातुसंज्ञा च, तादृशसंज्ञानिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यतावच्छेदकम् = कृदन्तत्वम्, तद्धितान्तत्वम्, समासत्वम् सनादिभेदभिन्नत्वम् (सनाद्यन्यतमत्वम्) तत्सम्पादकशास्त्रम् = कृद्विधायकम्, तद्धितविधायकम्, समासविधायकम्, सनादिविधायकञ्च तद्विधेयत्वम् – कृत्तद्धितसमाससना—दीनाम् इति पदविधित्वेन सामर्थ्याश्रितत्वम्। "अनवकाश एकशेषः द्वन्द्वं बाधिष्यते' इति भाष्यम्।

इस प्रकार पदविधि के लक्षण से 'समासेऽङ्गुलेः सङ्गः' वहाँ समासग्रहण सार्थक हुआ। एवं 'पदान्ताद्वा' सूत्र में अन्तग्रहण कृतार्थ हुआ, तथा 'न पदान्ताट्टोरनाम्' की असामर्थ्य में भी प्रवृत्ति हुई। वृत्ति में एकार्थीभावरूपसामर्थ्य से 'राजपुरुषः', आदि में विशेषणीभूतराजादि अर्थ में पदान्तरार्थ का अन्वय न हुआ क्योंकि वह पदार्थैकदेश है। 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' यहाँ देवदत्त-पदार्थ का निरूपितत्वसम्बन्ध से एकदेशगुरुत्व में यद्यपि अन्वय है, किन्तु नित्यसापेक्षस्थल में ही अन्यपदार्थ का विशेषणतया एकदेशार्थ में अन्वय होता है, स्वम् = गुरुत्वम्, तन्निरूपिका आकाङ्क्षा= जहां-जहां गुरुत्व है वहां-वहां इसका निरूपक कौन है, ऐसी आकाङ्क्षा उदीयमान होती है, इस आकाङ्क्षाज्ञान का व्याप्यज्ञान है—गुरुत्वज्ञान, उस ज्ञान का विषय है—गुरुत्व, वह नित्यसाकाङ्क्ष कहा जाता है = स्वनिरूपकाकाङ्क्षाव्याप्यज्ञानविषयत्वं नित्यसापेक्षत्वम् ॥ स्व से जिसको नित्य-सापेक्षत्व बनाना है वही लेना, यथा प्रकृत में गुरुत्व। अथवा वहां भी एकदेश में देवदत्त का अन्वय नहीं ही है, किन्तु परम्परा-सम्बन्ध से देवदत्त का, विशेष्यकुल में अन्वय है। स्वनिरूपितोत्पाद्यत्ववत्व सम्बन्ध यहां है, स्व से देवदत्त उसका निरूपित गुरुत्व तद्वान् गुरु उनसे जन्य कुल है।

यह अधिकारसूत्र है, उत्तरोत्तर सूत्रों में जाकर कहेगा कि—जहां-जहां पदविधित्व है, वहां-वहां वे समस्तकार्य एकार्थीभावरूपसामर्थ्य में ही होंगे। अन्यथा नहीं।

६४९ प्राक् कडारात्समासः २।१।३।

'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्राक् समास इत्यधिक्रियते।

यहां 'कडारात्' यह पञ्चमी दिग्योगलक्षणा है, अतः केवल 'कडारात्' का ही अर्थ 'कडारात् प्राक्' होता है, इस अधिकारसूत्र से उत्तरसूत्रों में 'प्राक् समास' इन दो पदों का अधिकार है। पूर्व समाससंज्ञा करनी, उसके बाद ही प्राप्त अव्ययीभावादिसंज्ञायें यदि प्राप्त हैं तो वे भी होती हैं। इससे सामान्यसमाससंज्ञा एवं विशेष अव्ययीभावादिसंज्ञाओं का एकत्र समावेश हुआ परस्पर बाध्यबाधकभाव न हुआ क्योंकि एक साथ दोनों प्राप्त ही नहीं है, समाससंज्ञा तो पूर्वकाल में हो ही चुकी है अतः समाससंज्ञा होकर अव्ययीभाव, तत्पुरुष बहुव्रीहि, द्वन्द्व संज्ञा स्वस्व विषय में होती है। यह स्पष्ट – असंकीर्ण ज्ञानार्थ पदद्वय का आचार्य ने अधिकार किया है। यहाँ अधिकार में समासपद समाससंज्ञापरक है। न कि 'अनेक पदों का एक पद होना यह अर्थ का प्रतिपादक। समाससंज्ञा प्रातिपदिकसंज्ञा की उत्पत्ति में कारण है, अतः तत् तत्स्थलों में लिखा है कि 'समासत्वात् प्रातिपदिकत्वम्' इति। अनेकपदों का एकपद होना यह समास का वाच्यार्थ नहीं है किंतु फलितार्थ कथनमात्र है, समाससंज्ञा के बाद प्रातिपदिकसंज्ञा होकर अनन्तर विभक्तियों का लुक् होने पर समुदाय से एकविभक्ति आने से वह एकपद रूप से परिणत हुआ यह भावार्थ है। सभी प्रकरण में जिस जगह शब्द का समास लिखा जाय वहां तत्प्रकृतिक सुबन्तका समास समझना चाहिये।

६५० (१) सह सुपा २।१।४।

'सह' इति योगो विभज्यते। सुबन्तं समर्थेन सह समस्यते। योगविभागस्येष्टसिद्ध्यर्थत्वात् कतिपयतिङन्तोत्तरपदोऽयं समासः। स च छन्दस्येव। पर्यभूषयत्। अनुव्यचलत्।

(१) सुबन्त का समर्थसुबन्त के साथ समास होता है—यथा 'राजपुरुष' इत्यादि। २ सुबन्त का समर्थतिङन्त के साथ समास होता है यथा पर्यभूषयत्, अनुव्यचलत्। यहां पूर्वपद सुबन्त है, उत्तरपद तिङन्त है, यहां 'कुगतिप्रादयः' सूत्र पर पठित वार्तिक है–'गतिमतोदात्तवता तिङापि समासः' इससे या 'सह' इस योगविभाग से ही समास है। ३ सुबन्त का प्रातिपदिक से समास होता है वहां पूर्वपद सुबन्त अवश्य चाहिए। यथा कुम्भकार। ४ सुबन्त का धातु के साथ समास होता है। यथा कटप्रू आदि। ५ तिङन्त का तिङन्त के साथ समास होता है। यथा पिबतखादता (क्रिया)। ६ पूर्वपद तिङन्त का उत्तरपद सुबन्त का समास होता है। यथा जहिस्तम्ब। इस प्रकार छ समास आचार्यों ने कहे हैं। यह छ प्रकार का समास 'सह सुपा' में योगविभागद्वारा लब्ध है, तत्तद् विशेषवचनों की आवश्यकता नहीं है। यह शब्दकौस्तुभ देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है।

योगविभाग इष्ट प्रयोगसिद्धिमात्रार्थक है, उससे अनिष्टकार्य विषयक कुतर्क का निरास ही करना चाहिये। अतः शिष्टानुमोदित इने गिने तिङन्त उत्तर पद रहे वहां ही योगविभाग से समास करना चाहिये। वह भी वेद में ही। यथा 'परि अभूषयत्' का समास से एकपदत्व हुआ—पर्यभूषयत्। अनु एवं वि का प्रथमसमास करने के पश्चात् 'अनुवि' का अचलत् के साथ इसमें समास करना चाहिये। यथा अनुव्यचलत्। यहां समासफल यह है कि समासस्वर, एवं 'न समासे' से 'इकोऽसवर्णे' से प्राप्त ह्रस्व समुच्चितप्रकृतिभाव का निषेधरूप फल है। इस सूत्र में 'सुबामन्त्रिते' से सुप् की अनुवृत्ति है। उस सुप् में एकत्व विवक्षित है, अतः अनेक सुबन्तों का एक साथ समास नहीं होता है। सुबन्त का समर्थ के साथ समासार्थक 'सह' का व्याख्यान के बाद सुपा का व्याख्यान करते हैं।

६५० (२) सुपा २।१।४।

सुप् सुपा सह समस्यते । समासत्वात् प्रातिपदिकत्वम् ।

सुबन्त तदादि का समर्थ सुबन्त तदादि के साथ समाससंज्ञा होती है। समाससंज्ञा होने से 'कृत्तद्धितसमासाश्च' सूत्र से समाससंज्ञकशब्दस्वरूप की प्रातिपदिकसंज्ञा होती है।

६५१ सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २।४।७१।

एतयोरवयवस्य सुपो लुक् स्यात् । 'भूतपूर्वे चरडि'ति निर्देशाद् भूतशब्दस्य पूर्वनिपातः । पूर्वं भूतोभूतपूर्वः । ॐइवेन समासो विभक्त्यलोपश्चॐ । जीमूतस्येव ।

धातुसंज्ञक का अवयव एवं प्रातिपादिकसंज्ञा का अवयव सुप् का अदर्शनरूप लोप होता है। समास में दो प्रकार के विग्रहवाक्य होते हैं. लौकिक एवं अलौकिक। लोक में जो प्रयुक्त किया जाय उस को लौकिक विग्रहवाक्य कहते हैं, यहां यथा पूर्वं भूत इति। अलौकिक वि० वा० उसको कहते हैं जिसका लोक में प्रयोग न होकर शास्त्र की प्रवृत्तिमात्र में ही उपयोगिता रहे। शास्त्रीय-समस्तकार्य अलौकिकविग्रहवाक्य में ही होते हैं। यहाँ यथा 'पूर्व अम् भूत सु' 'सह' ने समाससंज्ञा इस समुदाय की की है, समाससंज्ञा होने से इस की प्रातिपदिकसंज्ञा हुई है, अतः 'सुपो' सूत्र से 'अम्' एवं 'सु' दोनों का लुक् हुआ है। यहां उत्तरसूत्र 'प्रथमानिर्दिष्टम्' से उससे दोनो शब्द = पूर्व एवं भूत की उपसर्जन संज्ञा है, अतः 'उपसर्जनं पूर्वम्' से दोनों का पूर्वनिपात एकसमय न होने से पर्याय से प्राप्त होकर 'पूर्वभूतः' 'भूतपूर्वः' यह द्विविध प्रयोग यहां प्राप्त हुए हैं किन्तु ग्रन्थकार इस पर कहते हैं कि आचार्य पाणिनि ने सर्वत्र ऐसे स्थलों में भूतशब्द का ही पूर्व निपात किया है, अतः यहां एक ही प्रयोग 'भूतपूर्वः' यही है, पूर्वभूतः यह नहीं होता। 'भूतपूर्वे चरट्' इस निर्देश से पूर्वार्थ में विशेषणत्वरूप लौकिक उपसर्जनत्व एवं कृत्रिमशास्त्रसंकेतित उपसर्जनत्व दोनो हैं, उपसर्जन इस महासंज्ञाकरण से जहां द्विविध उपसर्जनत्व रहे उसी का उपसर्जन द्वारा पूर्वनिपात से यहां द्विविध-प्रयोग न होकर पूर्वभूतः यहा प्राप्त था, अतः निर्देशबल का आश्रयण करके यहा भूत का ही पूर्वनिपात किया गया है। अप्रधान को उपसर्जन प्राचीन आचार्य कहते हैं 'अप्रधानमुपसर्जनम्'। पाणिनिवचन यह है—'कालोपसर्जने च तुल्यम्' इसमें अप्रधान को ही आचार्य उपसर्जन कहते। एवं यहां पूर्वशब्द पूर्वकालार्थक है, वह क्रिया का भेदक = व्यावर्तक है, अतो भूधात्वर्थक्रिया में पूर्वार्थ व्यावर्तकत्वरूप विशेषण ही है— 'क्रियाभेदाय कालः स्यात' इन सब सिद्धान्तों का पर्यालोचन करने पर पूर्व का ही न्यायतः पूर्वनिपात सर्वथा उचित था, किन्तु आचार्यनिर्देश मात्र से उनकी मर्यादारक्षाहेतु भूत का पूर्वनिपात अनिच्छा से यहां किया गया है। पूर्वोक्त सन्दर्भ से यही सिद्ध हुआ कि लौकिक एवं शास्त्रीय दोनों उपसर्जनत्व जहां रहे उनका पूर्वनिपात होता है। तब 'पूर्वकायः' इस की असिद्धि होगी यहां अर्थ यह है कि काया का पूर्वभाग, या पूर्वावयव। यहां लौकिक उपसर्जत्व = विशेषणत्व रूप कायार्थ में है। पूर्वार्थ में तो विशेष्यत्वरूप अनुपसर्जनत्वरूप प्राधान्य है? इस शङ्का का निरास इस प्रकार है। 'पूर्वकायः' यहां समाससंज्ञाविधायक "पूर्वापराधरोत्तरम् एकदेशिनैकाधिकरणे" (२।२।१) है उसमें अवयवी अर्थ का बोधकशब्द एकदेशिना तृतीयान्तसे बोधित है, पूर्वादि प्रथमान्त से बोधित है, अतः तृतीयान्तार्थ के समीप में प्रथमान्तार्थ लोक में अप्रधान होता है इसको दृष्टान्तद्वारा यहां सिद्ध किया

जाता है यथा—इसके साथ आप भी मेरे घर उत्सव में आइये = 'अनेन साकं भवानपि मद्गृहं उत्सवे आगच्छतु'' यहां प्रथमान्तार्थ से बोध्य के हृदय में दुःख होता है, क्योंकि आगमन में तृतीयान्तार्थ के अधीन वह है, तृतीयान्तार्थ बोध्य ही प्रधान है। प्रकृत में अधीनत्वरूप लौकिक एवं शास्त्रीय द्विविध उपसर्जनत्व द्वर्थ में है अतः पूर्वनिपात से 'पूर्वकाय-' की सिद्धि हुई है।

इव के साथ समर्थ सुबन्त तदादि की समाससंज्ञा होती है एवं यहां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से विभक्ति का लोप नहीं होता है। यथा जीमूतस्येव, यहां जीमूत अस् इव समास है जीमूत की उपसर्जनसंज्ञा एवं पूर्वनिपात विभक्ति का श्रवण समास होने पर भी। समास का फल एकपदत्व एवं अन्तोदात्त व है, सूत्र—'समासस्य' समास का अन्त्याच् उदात्त होता है।

६५२ अव्ययीभावः २।१।५।

अधिकारोऽयम्।

अव्यय का स्वरूप पूर्व में वर्णित है जो अव्यय नहीं होते हुए भी अव्यय की तरह प्रतीयमान होता है, उनको अव्ययीभाव कहते हैं, यहां च्विप्रत्ययार्थ आरोपित है अर्थात् वास्तव में जो अव्यय नहीं उसमें अव्ययत्व का आहार्य आरोप है, शास्त्रीयकार्य प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षण आहार्यज्ञान को लेकर अतिदेशादिसूत्रारम्भण से होता है। यह अधिकार इस प्रकरण के सूत्रों में जाकर उनमें समाससंज्ञा के पश्चात् अव्ययीभावरूपविशेषसंज्ञा का भी विधान कराने में सहायक होता है।

६५३ अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु २।१।६।

'अव्ययम्' इति योगो विभज्यते। अव्ययं समर्थेन सह समस्यते, सोऽव्ययीभाव'।

यहां 'अव्ययम्' इतना अंश पृथक् है। इसका अर्थ—अव्ययरूपकशब्दस्वरूप का समर्थसुबन्त के साथ समास होता है, वह अव्ययीभावसंज्ञक है। एवं विभक्ति आदि जो द्वितीयांश है उसमें भी 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति है द्वन्द्वसमास विभक्ति से अन्तशब्द तक का है, द्वन्द्व के समीप में वचन का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है, समर्थ की अनुवृत्ति, सुप् एवं सुपा की अनुवृत्ति, प्राक् एव समास की अनुवृत्ति, अव्ययीभाव का अधिकार इन सब मिलकर यह अर्थ हुआ कि—

विभक्त्यर्थादि में विद्यमान अव्यय का समर्थ सुबन्ततदादि के साथ समाससंज्ञा होती है, एवं उसकी अव्ययीभावसंज्ञा है। उदाहरण इस सूत्र के बाद में दिये जायेंगे।

६५४ प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् १।२।४३।

समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टम् उपसर्जनसंज्ञं स्यात्।

यहां समास पद की समाससंज्ञाविधायकशास्त्ररूप अर्थ में लक्षणा है, अतः लक्ष्य में प्रथमान्तार्थ न लेकर समासविधायक शास्त्र में जो प्रथमान्त पद उसका वाच्य जो अर्थ तद्वाचक जो शब्द उसकी उपसर्जनसंज्ञा होती है यथा 'राजपुरुष-' यहां समाससंज्ञाविधायकशास्त्र 'षष्ठी' इसमें प्रथमान्त पद षष्ठी तद्बोध्य अर्थ षष्ठ्यन्त तदादि लक्ष्यस्थ राजन् ङस् उसकी उपसर्जन

विभक्तिलोप करने पर राजन् उपसर्जन संज्ञक है, उसी का पूर्वनिपात। यदि लक्ष्य में प्रथमान्त कहते तो पुरुष की ही उपसर्जन संज्ञा होकर अनिष्ट पूर्वनिपातरूप आपत्ति होती। उपसर्जन महासंज्ञाकरण से यह अन्वर्थसंज्ञा है, लोप में प्रसिद्धिविशेषणरूप उपसर्जनयुक्त शास्त्रीय उपसर्जन का यहां ग्रहण है।

६५५ उपसर्जनं पूर्वम् २।२।३०।

समासे उपसर्जनं प्राक् प्रयोज्यम्।

समास में उपसर्जन का पूर्व निपात होता है। अथवा समासशब्दव्याप्य जो संज्ञा उसका विधायक जो शास्त्र उसमें जो प्रथमान्तपद उसका जो बोध्य अर्थ उसका जो वाचक उस की उपसर्जन-संज्ञा होकर इससे पूर्वनिपात उसका होता है। यथा अव्ययीभावसंज्ञा सामान्यसमाससंज्ञा की व्याप्य है, उसमे प्रथमान्तपद 'अव्ययम्' है, उससे बोध्य लक्ष्य में (अधिहरि) अध्यादि हैं, उसकी उपसर्जन संज्ञा कर इससे उसका (अधि का) पूर्वनिपात हुआ है। इसी प्रकार अन्यत्र ज्ञान करना।

६५६ एकविभक्ति चापूर्वनिपाते १।२।४४।

विग्रहे यन्नियतविभक्तिकं तदुपसर्जनसंज्ञं स्यात्, न तु तस्य पूर्वनिपातः।

पूर्वसूत्र से अनुवृत्त समास का अर्थ यहां विग्रह वाक्यार्थ है। एक शब्द का नियतार्थ है।

विग्रह में जो नियत विभक्त्यन्तपद उसकी उपसर्जनसंज्ञा होती है, किन्तु इस उपसर्जन निमित्त पूर्वनिपात नहीं होता है। उपसर्जन का अभी तक फल पूर्वनिपात ही दिया गया है, अत इस उपसर्जनसंज्ञा का क्या प्रयोजन है, इस जिज्ञासा के हेतु वक्ष्यमाणसूत्र ह्रस्वविधायक का प्रदर्शन करते हैं—

६५७ गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य १।२।४८।

उपसर्जनं यो गोशब्दः, स्त्रीप्रत्ययान्तं च तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः स्यात्। 'अव्ययीभावश्चे'त्यव्ययत्वम्।

उपसर्जन जो गो शब्द एवं स्त्रीप्रत्ययान्त नद्यादि तदन्त जो प्रातिपदिक उसका ह्रस्व होता है। 'अव्ययीभावश्च' सूत्र से यहां अव्ययीभाव की अव्ययसंज्ञा हुई।

६५८ नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः २।४।८३।

अदन्तादव्ययीभावात्सुपो न लुक्, तस्य पञ्चमीं विना अमादेशश्च। दिशोर्मध्येऽपदिशम्। 'क्लीबाव्ययं त्वपदिशं दिशोर्मध्ये विदिक् स्त्रियाम्' इत्यमरः।

अकारान्त अव्ययीभाव से उत्तर विभक्ति का लुक् नहीं होता है, किन्तु पञ्चमी को छोड़ कर अन्य विभक्तियों का अमादेश होता है। (अलुक् तो पञ्चमी का भी, केवल पञ्चमी को अम का ही निषेध है)। दिशा ओस् अप यहां 'अव्ययम्' सूत्र से समास, उपसर्जनसंज्ञा अप की, उसका पूर्वनिपात अपदिशा यहां 'एकविभक्ति' से दिशा की उपसर्जनसंज्ञा, 'गोस्त्रियोः' से ह्रस्व अपदिश की अव्ययसंज्ञा उससे आगत सु का लोप 'अव्ययात्' सूत्र से प्राप्त का इससे अलुक् बोधनपूर्वक

अमादेश कर पूर्वरूप अपदिशम्। नपुंसक अव्यय 'अपदिशम्' है, इसका अर्थ–दो दिशाओं का मध्य। विदिक् शब्द भी दिशाओं के मध्य को बोधन करता है किन्तु वह स्त्रीलिङ्ग है, यह अमरकोशकार का मत है।

६५९ तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् २।४।८४।

अदन्तादव्ययीभावात्तृतीयासप्तम्योर्बहुलमम्भावः स्यात्। अपदिशम्, अपदिशेन। अपदिशम्, अपदिशे। बहुलग्रहणात् 'सुमद्रम्', 'उन्मत्तगङ्गमि'-त्यादौ सप्तम्या नित्यमम्भावः। 'विभक्त्यादेरयमर्थः–विभक्त्यर्थादिषु वर्तमानमव्ययं सुबन्तेन सह समस्यते, सोऽव्ययीभावः। विभक्तौ तावत्–हरौ इति अधिहरि। सप्तम्यर्थस्यैव द्योतकोऽधिः। 'हरि ङि अधि' इत्यलौकिक विग्रह-वाक्यम्। अत्र निपातेनाभिहितेऽप्यधिकरणे वचनसामर्थ्यात्सप्तमी।

अकारान्त अव्ययीभावसमास से उत्तर तृतीया एवं सप्तमी को विकल्प से अम्भाव होता है। अपदिश से टा को अम्भाव से अपदिशम्। पक्ष में इनादेश गुण से अपदिशेन। अपदिश ङि अम् पूर्वरूप अपदिशम्, पक्ष मे अपदिशे। सूत्र में 'वा' कहना था, बहुलग्रहण से कहीं नित्य भी अम्भाव होता है, यथा सुमद्रम् यही हुआ, सुमद्रेण न हुआ। इसी प्रकार सप्तमी में भी सुमद्रे न हुआ। उन्मत्तगङ्गेन उन्मत्तगङ्गे न हुआ किन्तु उभयत्र उन्मत्तगङ्गम् ही हुआ। 'अव्ययम्' इस विमल सूत्र की व्याख्या पूर्व में कर चुके हैं। अन्य अंश की अप्रधान रूप से वहां संक्षिप्त व्याख्या हुई अब यहां प्रधानरूप से व्याख्या इस प्रकार की है—विभक्त्यर्थ, समीप, समृद्धि, वृद्धि, अर्थाभाव, अत्यय, असम्प्रति, शब्दप्रादुर्भाव, पश्चात्, यथा, आनुपूर्व्य, यौगपद्य, सादृश्य, सम्पत्ति, साकल्य अन्तवचन इन अर्थों में विद्यमान अव्यय का समर्थसुबन्त से समास-संज्ञा होती है। एवं समासमात्र की अव्ययीभावसंज्ञा भी होती है। अब विभक्ति आदि का उदाहरण देते हैं– अधिकरणार्थक विभक्ति सप्तमी है, उसके अर्थ में ही अधि अव्यय है यथा हरि ङि अधि यहां निपात अधि अव्यय से अधिकरण अर्थ उक्त है अतः हरिशब्द से सप्तमी अप्राप्त है, 'उक्तार्थानाम् अप्रयोगः' इस न्याय से किन्तु यह न्याय यहां नहीं लगता है, इस समासविधायक सूत्र में विभक्तिग्रहण से, अतः उक्त अधिकरण अर्थ होने पर भी हरि [illegible] ङिविभक्ति सप्तमी आई है, समास, अव्ययीभावसंज्ञा, अधि की उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वनिपात से अधिहरि की अव्ययसंज्ञा उससे आगत सुपों का 'अव्ययादा'से लुक् तीनों लिङ्ग एवं सभी वचन सभी विभक्तियों में एकमात्ररूप—"अधिहरि"। एवम् काश्याम् इति 'अधिकाशि'=काशी में। यहां ईकार का 'गोस्त्रियो' से ह्रस्व है। विश्वनाथ इति अधिविश्वनाथम्। आदि अनेक उदाहरण विभक्ति में समझने चाहिये। 'अव्ययम्' सूत्र से समास नित्य होता है, नित्यसमास में विग्रह नहीं होता है, यदि होता है तो अस्वपद, जिसका समास करना है उसका अबोधकपर्य्यायवाचकशब्द से ही विग्रह होता है।

६६० अव्ययीभावश्च २।४।१८।

अयं नपुंसकं स्यात्। 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य'। गोपायतीति, गाः पातीति वा गोपाः, तस्मिन् इत्यधिगोपम्। समीपे–कृष्णस्य समीपम् उपकृष्णम्। समया ग्रामम्, निकषा लङ्काम्, आराद् वनाद् इत्यत्र तु नाव्ययीभावः, ॐअभितः परितःॐ 'अन्यारादि'ति द्वितीयापञ्चम्योर्विधानसामर्थ्यात्।

मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम् । यवनानां व्यृद्धिर्दुर्यवनम् । विगता ऋद्धिर्व्यृद्धिः । मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम् । हिमस्यात्ययोऽतिहिमम् । अत्ययः = ध्वंसः । निद्रा सम्प्रति न युज्यत इत्यनिद्रम् । हरिशब्दस्य प्रकाश इतिहरि । विष्णोः पश्चाद् अनुविष्णु । पश्चाच्छब्दस्य तु नायं समासः, 'ततः पश्चात् स्रंस्यते ध्वंस्यते'-इति भाष्यप्रयोगात् । योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानि यथार्थाः । अनुरूपम्, रूपस्य योग्यमित्यर्थः । अर्थं अर्थं प्रति प्रत्यर्थम् । प्रतिशब्दस्य वीप्सायां कर्मप्रवचनीयसंज्ञाविधानसामर्थ्यात्तद्योगे द्वितीयागर्भं वाक्यमपि । शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति । हरेः सादृश्यं सहरि । वक्ष्यमाणेन सहस्य सः । ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येणेत्यनुज्येष्ठम् । चक्रेण युगपदिति विग्रहे—

अव्ययीभावसमास नपुंसक होता है । नपुंसकलिङ्ग में अजन्त प्रातिपदिक का ह्रस्व होता है । गोपा दो प्रकार से बनता है—गोपाय से क्विप् अलोप यलोप गोपा या गोपूर्वक पा से विच् गोपा गोपि इति 'अधिगोपम्' अधिगोपा नपुंसक ह्रस्व सु अम् अधिगोपम् । अलौकिक में गोपा ङि अधि इस प्रकार की स्थिति है, यहां विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव समास है । समीप अर्थ में यथा—कृष्ण ङस् उप, उपकृष्णम् । समीपार्थक समया एवं निकषा तथा आरात् ये अव्यय हैं किन्तु समास नहीं होता है, कारण कि 'अभितः परितः' वार्तिक से द्वितीया विधान, एवं 'अन्यारात्' से पञ्चमी विधान ये दोनों समास विधान करने पर व्यर्थ होंगे । अतः द्वितीया एवं पञ्चमीघटित असमस्त-वाक्य ही रहता है । वस्तुतः द्वितीया पञ्चमी व्यर्थ नहीं है मध्यार्थक समया के योग में अव्ययी-भाव समास अप्राप्त है वहां श्रवणार्थ द्वितीयाविधान चरितार्थ है । एवं दूरार्थक आरात् के योग में पञ्चमीविधान सावकाश है । अतः अव्ययीभावसमास विधायक में आधेय प्रधानार्थक ही अधि-शब्द का पाठ है । समया, निकषा, आरात् ये अधिकरणशक्ति प्रधान हैं, अतः यहां समास की प्राप्ति ही नहीं है यह समाधान उचित है । पूर्व समाधान एक रक्षितृनामक आचार्य रहे उनके मत के अनुरोध से दिया गया है । यहां 'भक्ष्य' न्याय से विगत्यर्थ समीपादिनाम अर्थ में विद्यमान का ग्रहण है वहां ही समास होता है । समृद्धि अर्थवाचक यथा - मद्र आम् सु सुमद्रम् । नष्ट ऋद्धि अर्थवाचक यथा यवनानाम् दुर् दुर्यवनम् । अभाववाचक यथा मक्षिका आम् निर् निर्मक्षिकम् । अत्यय का अर्थ ध्वंसः नाश है, यथा—हिम ङस् अति = अतिहिमम् । असम्प्रति यथा – निद्रा सु अति अनिनिद्रम् । शब्दप्रादुर्भाववाचक यथा हरि ङस् इति, इतिहरि । पश्चात्-वाचक यथा विष्णु ङस् अनु अनुविष्णु । सूत्रगृहीत अव्यय के साथ यह अव्ययीभावसमास नहीं होता है अतः पश्चात् शब्द का सुबन्त समर्थ के साथ समास नहीं होता है । इसमें प्रमाण—'ततः पश्चात्' भाष्य प्रयोग है, वह पूर्वोक्त ज्ञापन करता है । यथार्थ चार हैं—योग्यता वीप्सा, पदार्थ का अनुल्लङ्घन करना, एवं सादृश्य । क्रियाद्वारा साकल्यसम्बन्ध को वीप्सा कहते हैं । जितने अर्थों का मान करना है उतने तद्वाचक शब्दों का प्रयोग करना चाहिये प्रत्यर्थम् प्रति शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा विधान से यहां द्वितीया के श्रवणार्थ वाक्य भी रहता है । वस्तुतः प्रतिजिघ्रति यहां कर्मप्रवचनीय प्रति है वहां उपसर्ग संज्ञा न हुई वहां अन्य निषेधार्थ प्रति की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा चरितार्थ है यथा प्रतिजिघ्रति । अतः यह समाधान यहां उचित नहीं है, अतः 'प्रत्यर्थं शब्दाभि-निवेशः', यहां अर्थम् अर्थम् प्रति यह विग्रह प्रदर्शन परकभाष्य ही द्वितीयागर्भितवाक्य रहना है उसमें प्रमाण है । अन्यथा नित्यसमासस्थल में विग्रह अनुचित होता । अतिक्रमण = उल्लङ्घन करना न उल्लङ्घन को अनतिक्रमण कहते हैं, यथाशक्ति । सादृश्य अर्थ में सहरि यहां अगले सूत्र

से सह को स आदेश होता है। आनुपूर्व्य = क्रम अनु ज्येष्ठ अम् अनुज्येष्ठम्। चक्रेण युगपद् सचक्रम् यहां समास कर के सह का आदेश के लिए सूत्र—

६६१ अव्ययीभावे चाकाले ६।३।८१।

सहस्य स स्याद् अव्ययीभावे न तु काले। सचक्रम्। काले तु सहपूर्वाह्णम्। सदृशः सख्या ससखि। यथार्थत्वेनैव सिद्धे पुनः सादृश्यग्रहणं गुणभूतेऽपि सादृश्ये यथा स्यादित्येवमर्थम्। क्षत्राणां सम्पत्तिः सक्षत्रम्। ऋद्धेराधिक्यं समृद्धिः, अनुरूपम् आत्मभावः सम्पत्तिरिति भेदः। तृणमप्यपरित्यज्य सतृणमत्ति, साकल्येनेत्यर्थः। न त्वत्र तृणभक्षणे तात्पर्यम्। अन्ते—अग्निग्रन्थपर्यन्तमधीते साग्नि।

अव्ययीभावसमास में सह को स आदेश होता है, यदि उत्तरपद कालवाचक न हो। सह को स आदेश से सचक्रम्। सह का स आदेश कालार्थ पूर्वोक्त उत्तर में न हुआ—सहपूर्वाह्णम्। सादृश्य अर्थ में सह सखि टा ससखि। यथार्थ चार में एक सादृश्य भी अर्थ है उसी से कार्यनिर्वाह होता पुनः 'अव्ययम्' में सादृश्यग्रहण इस लिए है कि जहां सादृश्य विशेषण रहे, अर्थात् गौण रहे वहां भी समासार्थ यह है। प्रधानीभूतसादृश्य में यथार्थत्वात् समास है। सम्पत्ति अर्थ में 'सक्षत्रम्' सह को स आदेश सह क्षत्र आम्। धन की अधिकता का नाम समृद्धि है। अनुकूल आत्मभाव को सम्पत्ति कहते हैं। सह तृण अम् यहां समास सह को स आदेश 'सतृणम्' यहां तृण खाने में तात्पर्य नहीं है किन्तु पशु पर खाद्यसामग्री जो कुछ थी, उसको सम्पूर्ण खा ली है, कुछ भी नहीं अवशिष्ट है इस में तात्पर्य है। अग्निग्रन्थपर्यन्त अध्ययन में सह अग्नि = साग्नि।

६६२ यथाऽसादृश्ये २।१।७।

असादृश्य एव यथाशब्दः समस्यते। तेनेह न—यथा हरिस्तथा हरः। हरेरुपमानत्वं यथाशब्दो द्योतयति। तेन 'सादृश्ये' इति वा 'यथार्थ' इति वा प्राप्तं निषिध्यते।

असादृश्य अर्थ में ही यथा शब्द का समास होता है। जहां सादृश्य होगा वह समास का अभाव है। 'यथा हरिस्तथा हर' यहां हरि का उपमानत्व का यथाशब्द प्रकाशक है। यहां सादृश्य या यथार्थ से प्राप्त समास का निषेध हुआ है। यथा देवदत्तस्तथा यज्ञदत्त यहां भी समास न हुआ। यहां कैयट ने सापेक्षत्व हेतु से समास अप्राप्त है देवदत्त सादृश्यवान् कः? यहां उपमेयविषयिणी आकाङ्क्षा है। द्वितीय प्रश्न कारण यह है कि सादृश्यार्थक थाल प्रत्ययनिष्पन्न यथाशब्द सदा सादृश्यार्थक ही रहेगा यह सूत्र ही व्यर्थ है। अवयववैयर्थ्यमुक्त समस्तसूत्र वैयर्थ्य में तात्पर्य है। तृतीयप्रश्न कारण यह है कि सादृश्य सम्पत्ति से प्राप्त का यह निषेध नहीं है, यथार्थत्वात् अवश्यप्राप्त का ही यह निषेधक है। इन तीन प्रश्नों का समाधान इस प्रकार का है, प्रधान या नित्यसापेक्षस्थल में समास होता ही है। दूसरे प्रश्न का समाधान यह है कि यहां यथाशब्द अव्युत्पन्नप्रातिपदिक है। यहां असादृश्ये यह प्रतिषेध जागरूक है अतः थालप्रत्ययान्त यथाशब्द नहीं है, वाक्यसमान्यपक्ष से समी का बाधक यह है यह तृतीयप्रश्न का समाधान है। सूत्र सार्थक है, यह भाष्यमतावलम्बियों का मत है।

६६३ यावदवधारणे २।१।८।

यावन्तः श्लोकास्तावन्तोऽच्युतप्रणामा यावच्छ्लोकम् ।

निश्चयार्थ यावत्शब्द का समर्थसुबन्त के साथ समास होता है। वह समास अव्ययीभावसंज्ञक है, स्तोत्र के नियत जितने श्लोक हैं, उतने विष्णु को भक्त प्रणाम करता है।

अनिश्चित अर्थ में 'यावद् दत्तं तावद् भुक्तम्' यहां निश्चयार्थ यावत नहीं अतः समास यहां नहीं हुआ। कितना खाया वह यहां नहीं जाना जाता है।

६६४ सुप्प्रतिना मात्रार्थे २।१।९।

शाकस्य लेशः शाकप्रति । 'मात्रार्थे' किम्, वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् ।

मात्रा अर्थ में प्रतिशब्द के साथ समर्थ सुबन्त का समास होता है। यहां सुप् की अनुवृत्ति आती थी पुनः सुप् ग्रहण इस लिए किया है कि अव्यय की यहां निवृत्ति है। मात्रशब्द का अर्थ है लेश। जहां प्रति का मात्रा अर्थ नहीं है वहां असमास है, यथा—वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत यहां प्रति कर्मप्रवचनीय है उसके योग में वृक्षम् यहां द्वितीया है।

६६५ अक्षशलाकासंख्याः परिणा २।१।१०।

द्यूतव्यवहारे पराजये एवायं समासः। अक्षेण विपरीतं वृत्तमक्षपरि, शलाकापरि, एकपरि ।

द्यूतव्यवहार या पराजय अर्थ प्रतीयमान रहे वहां सुबन्त अक्ष, शलाका एवं संख्यावाचक का परि के साथ समास होता है। अक्षेण = एक पासा जुंवा में विपरीत गिरने से पराजय हुआ वहां अक्षपरि। इसी प्रकार अन्यत्र।

६६६ विभाषा २।१।११।

अधिकारोऽयम् । एतत्सामर्थ्यादेव प्राचीनानां नित्यसमासत्वम् । 'सुप् सुपा' इति तु न नित्यसमासः, 'अव्ययम्' इत्यादि समासविधानाज्ज्ञापकात् ।

यह विभाषा अधिकार है, यहां इसके करने के कारण पूर्ववर्ती सूत्रों से विहित समास नित्य है। परन्तु 'सह सुपा' से विधीयमान समास इस लिए नित्य नहीं है कि यदि वह नित्य रहता तो 'अव्ययम्' सूत्र समासविधान न करता। इससे सिद्ध हुआ कि सुप् की अनुवृत्तियुक्त 'सुपा' सूत्र से विधीयमान समास प्राचीन होते हुए भी अनित्य है। तात्पर्य इस अधिकार सूत्र का यह है कि एकार्थीभावात्मकशक्ति में समासयुक्त रूप हो ही जाता, एवं व्यपेक्षा में वाक्य रहता समास एवं समासाभाव सिद्ध ही है, किन्तु लक्षण को देख कर तदनुरोधी कार्य करने वालों को स्पष्टतया ज्ञान हो सके इस लिए यह अधिकार सूत्र है। 'अव्यय विभक्ति' सूत्र से समास इस लिए किया है की वह समाससंज्ञा विधायक हो जाय एवं उस सूत्र में प्रथमान्त पद से निर्दिष्ट अव्ययशब्द की उपसर्जनसंज्ञा हो जाय, एवं उपसर्जन संज्ञा का पूर्वनिपात हो जाय, इन प्रयोजनों के लिए 'अव्ययम्' सूत्र से समास विधान आवश्यक है स्वयं कहो है तब प्राचीन 'सुपा' का समास अनित्य में कोई प्रमाण नहीं है अतः वह भी नित्य क्यों नहीं? यह शङ्का हुई। इसके समाधान में यह कहा जाता है कि ... समास का उपसर्जनद्वारा पूर्वनिपात फल है तो 'प्रथमा निर्दिष्टम्' सूत्र से समासपद की लक्षणा जिस प्रकार समासविधायकशास्त्र में की, उसी प्रकार एम "समासस्य वाक्यान्तविधायके शास्त्रे" इस अर्थ में लक्षणा कर, प्रकृत में 'अव्ययम्'

सूत्र से केवल अव्ययीभावसंज्ञाकर के भी उपसर्जनसंज्ञा लक्षणाश्रय से कर ही लेंगे पुनः समास-विधान व्यर्थ हो कर 'सुपा' को अनित्यत्वज्ञापन में प्रमाण है, अथवा सुपा यदि नित्य होता तो स्वपदविग्रह भगवान् भाष्यकार न करते—यथा विस्पष्ट पटु इति विस्पष्टपटु इससे 'सुपा' अनित्य समास है। इस विभाषाधिकार को वैयाकरण महाविभाषा कहते हैं। यहां नित्यसमास-त्वम्=का अर्थ नित्यसमास तुल्यत्वम् है। 'सुप् सुपा' का अर्थ है सुप् इति अनुवर्तमाने 'सुपा' इति समास यह अर्थ है। इस विभाषा अधिकार से यह स्पष्ट हुआ कि समास एवं समासाभाव से दो रूप होते हैं, यथा राज्ञः पुरुषः, राजपुरुष आदि। इस लिए यह वृत्ति को विकल्प कराता है, यह व्यवहार है।

६६७ अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या २।१।१२।

अपविष्णु संसारः। अप विष्णोः। परिविष्णु संसारः। परि विष्णो। बहिर्वनम्। बहिर्वनात्। प्राग्वनम्। प्राग्वनात्।

अप, परि, बहि एवं अञ्चु इनका पञ्चम्यन्त इत्यादि समर्थ से समास विकल्प होता है, एवं अव्ययीभावसंज्ञा भी होती है।

६६८ आङ् मर्यादाऽभिविध्योः २।१।१३।

एतयोराङ् पञ्चम्यन्तेन वा समस्यते सोऽव्ययीभावः। आमुक्ति संसारः। आ मुक्तेः। आ बालं हरिभक्तिः। आ बालेभ्यः।

मर्यादा एवं अभिविधि में विद्यमान आङ का समर्थ पञ्चम्यन्तशब्द से विकल्प समास होता है एवं अव्ययीभावसंज्ञा उसकी होती है।

६६९ लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये २।१।१४।

आभिमुख्यद्योतकावभिप्रती चिह्नवाचिना सह प्राग्वत्। अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति। अग्निम् अभि। प्रत्यग्नि। अग्निं प्रति।

आभिमुख्यवाचक अभि एवं प्रति का चिन्हवाचक समर्थसुबन्त के साथ विकल्प समास होता है, वह अव्ययीभाव है।

६७० अनुर्यत्समया २।१।१५।

य पदार्थं समया द्योत्यते, तेन लक्षणभूतेनानुः समस्यते, सोऽव्ययीभावः। अनुवनम् अशनिर्गतः। वनस्य समीप गत इत्यर्थः।

जिस पदार्थ का सामीप्य द्योतन किया जाय उस लक्षणभूतशब्द के साथ अनु का समास विकल्प होता है, उसकी अव्ययीभावसंज्ञा होती है।

६७१ यस्य चायामः २।१।१६।

यस्य दैर्घ्यमनुना द्योत्यते, तेन लक्षणभूतेनानुः समस्यते। अनुगङ्गं वाराणसी। गङ्गाया अनु। गङ्गादैर्घ्यसदृशदैर्घ्योपलक्षितेत्यर्थः।

जिसका दैर्घ्यद्योतक अनुशब्द रहे उस लक्षण भूत के साथ अनुशब्द का समास विकल्प से होता है।

६७२ तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च २।१।१७।

एतानि निपात्यन्ते। तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले स तिष्ठद्गु दोहनकालः। आयतीगवम्, इत्यादि, इह शत्रादेशः, पुंवद्भावविरहः, समासान्तश्च निपात्यते।

इस सूत्र में चकार से यह बोधन होता है कि इनका समासान्तर में घटकतया प्रवेश नहीं होता है। अर्थात् इस गण में पठित शब्दों का अन्य के साथ समासाभाव ही रहता। 'तिष्ठद्गु' आदि शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं। यथा तिष्ठन्ति गाव यस्मिन् दोहनकाले स तिष्ठद्गु दोहन कालः = जिस समय गाये दुहते समय स्थिर रहती है उस काल को 'तिष्ठद्गु' कहते हैं। यहाँ प्रथमान्तार्थ गावः उसका आख्यातार्थ झिप्रत्ययार्थ कर्ता के साथ एकार्थबोधकत्वरूपसामानाधिकरण्य है, अतः अप्रथमान्तार्थ के साथ लटर्थ या लकारस्थान में जायमान प्रत्यय तदर्थ के साथ सामानाधिकरण्य रहे वहां ही शतृप्रत्यय होता है, अतः अप्राप्तशतृ का यहाँ निपातन हुआ है। यद्यपि पचन् पुरुष की तरह 'लटः' योगविभागद्वारा कचित् प्रथमान्तार्थ के साथ लटर्थ का सामानाधिकरण्य में शतृ होता है, तथापि यहाँ 'द्विर्बद्धन्' न्याय से निपातन भी शतृसाधक है, उपायस्योपायान्तरादूपकत्वात् = उपाय एक दूसरे उपाय का दूषक नहीं होता है। आयान्ति गावः यस्मिन् इति यहां आयतीगवम् यहां शतृ आदेश 'पुंवद्भाव 'स्त्रियाः' से प्राप्त था उसका अभाव एवं तत्पुरुष में गोन्त समास में टच् होता है, अव्ययीभाव में नहीं, उस टच् का भी निपातन यहां है। एवं अन्यपदार्थ में भी अव्ययीभाव भी निपातन लभ्य है। "आतिष्ठगु जपेत् सन्ध्यां पश्चिमामायतीगवम्। यहां उभयत्र 'आ' अलग है, समास घटक नहीं है। यह भट्टिवाक्य है।

६७३ पारे मध्ये षष्ठ्या वा २।१।१८।

पारमध्यशब्दौ षष्ठ्यन्तेन सह वा समस्येते। एदन्तत्वं चानयोर्निपात्यते। पक्षे षष्ठीतत्पुरुषः। पारेगङ्गाद् आनय गङ्गापारात्, मध्येगङ्गात्, गङ्गामध्यात्। महाविभाषया वाक्यमपि गङ्गायाः पारात्। गङ्गाया मध्यात्।

पार एवं मध्य का षष्ठ्यन्त के साथ विकल्प समास होता है एवं उनको एकारान्तत्व का भी निपातन होता है। इससे जहां समास नहीं वहां पक्ष में षष्ठीतत्पुरुष समास होता है, विभाषा का अधिकार से वाक्य भी रहता है। तीन रूप हुए। इस सूत्र से जहां समास होगा वहां पार एवं मध्य की ही उपसर्जन संज्ञा होती है, एवं पार तथा मध्य का पूर्वनिपात होता है, पार के अन्तिम वर्ण अकार को एकार होता है निपातन से। एवं निपातन से मध्यशब्द के अन्तिम अकार को एकार होना है पारे मध्ये पूर्व में रहेंगे यथा पारेगङ्गम् पञ्चमी में पारेगङ्गात्। एवं मध्येगङ्गम् पञ्चमी में मध्येगङ्गात्। यहां पञ्चमी को अमादेश नहीं होता है। पक्ष में 'षष्ठी' सूत्र से समासपक्ष में समासविधायकसूत्र में प्रथमान्तपद षष्ठी तदर्थ षष्ठ्यन्तादि तद्बोध्य लक्ष्य में षष्ठ्यन्तगङ्गा है उसी को उपसर्जन संज्ञा गङ्गा का पूर्वनिपात होता है यथा गङ्गापारात्, गङ्गामध्यात्। पक्ष में विभाषा से वाक्य है—गङ्गायाः पारात्, गङ्गायाः मध्यात्।

यहां इस सूत्रस्थ वा शब्द ने एकार्थीभावात्मकशक्ति में नित्य समास होना अपेक्षित था वहां एकार्थीभावात्मकशक्तिसत्तादशा मे विकल्प समासबोधन किया। महाविभाषा ने एकार्थीभाव को विकल्प किया = एकार्थीभावात्मिका शक्ति की स्थिति पक्ष में व्यपेक्षा लक्षणसामर्थ्य इस

प्रकार स्पष्टज्ञान करना चाहिये इसको संस्कृत में इस प्रकार कहा गया है कि—"एकया (महा विभाषया) वृत्तिः (एकार्थीभावरूपा) विकल्प्यते। अपरया (इहस्थ वा ग्रहणेन) वृत्तौ (एकार्थीभावात्मिकायाम्) समासो विकल्प्यते इति"। इस सूत्र में यदि वा ग्रहण न करते तो षष्ठी-तत्पुरुष वाला रूप न होता, दो ही रूप होते।

६७४ संख्या वंश्येन २।१।१९।

वंशो द्विधा—विद्यया, जन्मना च, तत्र भवो वंश्यः। तद्वाचिना सह संख्या वा समस्यते। द्वौ मुनी वंश्यौ द्विमुनि। व्याकरणस्य त्रिमुनि। विद्यातद्वतामभेदविवक्षायां त्रिमुनि व्याकरणम्। एकविंशति भारद्वाजम्।

विद्या एवं जन्म से वंश दो प्रकार का है, वंश में उत्पन्न को वंश्य कहते हैं, भवार्थक यत् प्रत्यय, एकस्वभावसन्तानप्रबन्ध वंश है। वंश्यवाचक सुबन्ततदादि के साथ संख्यावाचक सुबन्त का समास विकल्प से होता है। विद्यावंश्य का उदाहरण यथा—द्वौ मुनी वंश्यौ इस वाक्य में द्वि को मुनि को समास उपसर्जनसंज्ञा, प्रातिपदिकसंज्ञा, विभक्ति लुक् आदि से 'द्विमुनि' यह सिद्ध हुआ। त्रयः मुनयः वंश्या यस्य व्याकरणस्य यहां त्रिमुनि व्याकरणम्। पाणिनि कात्यायन पतञ्जलि। व्याकरणविद्या एवं विद्वान् इनकी अभेद विवक्षा में यह तीन मुनि क्या है वे साक्षात् व्याकरण ही हैं इस पक्ष में त्रिमुनि व्याकरणम् = तीन मुनि से अभिन्न व्याकरण। दोनों की परस्पर अभेद विवक्षा होती है तुम हम से अभिन्न हो तो हम तुम से अभिन्न है। जन्मसम्बन्ध का उदाहरण यथा एकविंशति भारद्वाजा वंश्या. यस्य 'एकविंशति भारद्वाजम् = भारद्वाज से इक्कीस पीढ़ि वाला कुल।

अन्य आचार्य बहुव्रीहि में त्रिमुनि व्याकरणम्, अव्ययीभाव में यह रूप नहीं होता है ऐसा कहते हैं। अव्ययीभाव में व्याकरणस्य त्रिमुनि यही होता है भिन्न-भिन्नसमासप्रयुक्त स्वरभेद इष्ट ही है, बहुव्रीहि में पूर्वपद प्रकृतिस्वर, तत्पुरुष में अन्तोदात्तस्वर यह भेद है। वस्तुत. यह जो विद्यावंश का उदाहरण दिया है वह असङ्गत है क्यों कि पाणिनि एवं कात्यायन या तीनों में परस्पर गुरुशिष्यभावसम्बन्ध न था, वे स्वतन्त्र व्याकरण के मूर्धन्य विद्वान् थे, अतः यहां तो द्वौ रमेशकमलेशौ वंश्यौ यस्य गुरो इति रमेशकमलेशम् ऐसे उदाहरण देने चाहिये। किञ्च तीनपुत्रवान् में दो पुत्रवान् यह व्यवहार निषिद्ध है इसमें भी द्विमुनि यह व्याकरण से साथ जोड़ना अनुचित सा है।

६७५ नदीभिश्च २।१।२०।

नदीभि. संख्या प्राग्वत्। *समाहारे चायमिष्यते*। सप्तगङ्गम्। द्वियमुनम्।

सूत्र ने बहुवचन से नदीपद से लोक में प्रसिद्ध नदीयों का ग्रहण है, संज्ञा एवं स्ववृत्तिवर्णमाला का ग्रहण नहीं है। सुबन्तनदीवाचक शब्दों के साथ संख्यावाचकसुबन्त का समास होता है। यह समास समाहार में ही इष्ट है। सप्तानां गङ्गानाम् समाहार इति सप्तगङ्गम् = सप्तन् आम् गङ्गा आम् समास, प्रातिपदिकसंज्ञा विभक्ति लुक् अव्ययसंज्ञा आकार का नपुंसकनिमित्त ह्रस्व अव्ययीभाव समुदाय से सु उसको अम् पूर्वरूप सप्तगङ्गम्। यहां गङ्गापद नदी परक है। नदीयों में प्रधान गङ्गा है अतः उसका नाम यहां लिया गया है। सात गङ्गा नहीं है। द्वयोः यमुनयोः समाहार इति द्वियमुनम्।

६७६ अन्यपदार्थे च संज्ञायाम् २।१।२१।

अन्यपदार्थे विद्यमानं सुबन्तं नदीभिः सह नित्यं समस्यते संज्ञायाम्। विभाषाऽधिकारेऽपि वाक्येन संज्ञाऽनवगमादिह नित्यसमासः। उन्मत्तगङ्गं नाम देशः। लोहितगङ्गम्।

संज्ञा होने पर अन्यपदार्थ में विद्यमान सुबन्तका नदीवाचकशब्दों के साथ नित्यसमास होता है। यद्यपि इस सूत्र में 'विभाषा' का अधिकार है, अतः समास विकल्प होना उचित था किन्तु समास से जिस संज्ञा रूप अर्थ का बोध होता है वह बोध तदर्थकविग्रहवाक्य से नहीं होता, वृत्ति अर्थबोधक वाक्य एवं समासार्थ दोनों का यहां एकार्थबोधकत्व नहीं है, यथा 'राज्ञः पुरुषः' इस विग्रहवाक्य का अर्थ एवं 'राजपुरुषः' इस समास का अर्थ एक है। वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः। अतः यहां नित्यसमास ही है, यद्यपि नित्यसमास में विग्रहाभाव है, अथवा अस्वपद विग्रह है, यहां तो उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन् यह स्वपदविग्रह है, अतः नित्यसमास सदृश यह समास है, सादृश्य यह है कि वास्तविक अनारोपित नित्यसमास से जिस अर्थ की प्रतीति होती है उसी ही अर्थ का बोधक विग्रहवाक्य नहीं रहता है, तथा ही यहां भी समास से संज्ञा-रूप अर्थ की प्रतीति उसी संज्ञारूप अर्थ की विग्रहवाक्य से अप्रतीति है, दोनों का सादृश्य (तदर्थाबोधकत्व धर्म से) होता है। इसी प्रकार जहां स्वपद के साथ विग्रह हो एवं नित्यसमास माना जाय वहां इसी प्रकार ज्ञान करना चाहिये। हरिद्वार प्रदेश से पूर्वदेश में गङ्गा निःसरण देश में वेगवती गङ्गा है वह देश को 'उन्मत्तगङ्गम्' कहा जाता है। हिमालय में गेरु सिन्दुर आदि अनेक धातुएँ विद्यमान हैं उन धातुओं के संसर्ग से वहां का गङ्गा का स्वरूप कुछ लाल-वर्ण युक्त सा होने से लोहिता गङ्गा यत्र देशे स 'लोहितगङ्गम्' देशः। वस्तुतः उन्मत्तगङ्गम् एवं लोहितगङ्गम् यह दोनों स्थानविशेष या देशविशेष की संज्ञाएं हैं, योगरूढ हैं।

६७७ समासान्ताः ५।४।६८।

इत्यधिकृत्य।

यह अधिकार सूत्र है। इसका प्रत्ययादिविधायक उत्तर सूत्रों में सम्बन्ध होता है वहां जा कर यह उन-उन कार्यविधायकशास्त्रों को यह सूचित करेगा कि समासान्तप्रत्यय समास के चरम (अन्त्य) अवयव होते हैं अर्थात् समासान्त समास के ही अन्तावयव होते हैं। प्राचीनों ने समास पद की उत्तरपद में लक्षणा कर समासघटक उत्तरपद का अवयव समासान्तप्रत्यय है ऐसा माना था उसका नव्यमत से खण्डन है। यही नव्यमत युक्तियुक्त एवं सिद्धान्तभूत है। १— प्राचीनों ने स्वपक्षस्थापनार्थ एक भाष्य का उद्धरण किया है कि द्वन्द्वसमास करके एकशेष करने पर असारूप्य से एकशेष अप्राप्त है, यथा ऋक् च ऋक् च ऋचौ, यहां द्वन्द्व होने से 'ऋक्पूरब्' सूत्र से अ प्रत्यय होकर ऋक् ऋक् अ औ यहां एक हलन्त एवं उत्तर अदन्त है, दोनों का सारूप्य नहीं है अतः एकशेष न होगा = "कृतद्वन्द्वानाम् एकशेषो न प्राप्नोति, असारूप्यात्" यदि समासान्त समास के अवयव होता एवं उत्तरपद का अवयव न होता तो दोनों ही हलन्त हैं, सारूप्य है, एकशेष हो ही जाता है। पूर्वभाष्य विरोध आता। २—एवं 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुस्त्रियामिष्टः'। द्विपुरी द्विपुरी यदि समासान्त अ प्रत्यय उत्तरपदावयव न होता तो द्वि इसके पुर् पुर् हलन्त है यहां स्त्रीत्वबोधन न होता एवं 'द्विगोः' से ङीप् की प्रवृत्ति न होती इससे भी समासान्त प्रत्यय उत्तरपद के अवयव हैं। इस प्राचीनमत है, उसका खण्डन—एकशेषविधायकसूत्र में विभक्ति से अव्यवहित पूर्व का सारूप्य अपेक्षित है, द्वन्द्व कर एकशेष करने पर समासावयव अकार विभक्ति के पूर्व व्यवधायक है, सारूप्य ऋक् ऋक् का है, किन्तु 'ऋक् ऋक् अ औ' यहां एकशेष नहीं, यही भाष्य का तात्पर्य है,

द्विपुरी द्विपुरी यहाँ स्त्रीत्वविधायक 'अकारान्तोत्तरपदः' एवं अन्यान्य जितने स्त्रीत्व पुंस्त्व नपुंसकत्व-बोधक वचनों का भाष्यकार ने खण्डन किया है, कौन शब्द पुल्लिङ्गादि है, उसका निर्णय लोकतः या कोशतः होता है एतदर्थं सूत्रादिनिर्माण व्यर्थ ही है। "लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य" यह भाष्यकार वचन है। समासान्तप्रत्यय समास के ही अवयव हैं।

६७८ अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ।५।४।१०७।

शरदादिभ्यष्टच् स्यात् समासान्तोऽव्ययीभावे। शरदः समीपम् उपशरदम्। प्रतिविपाशम्। शरद्, विपाश्, अनस्, मनस्, उपानह्, दिव्, हिमवत्, अनडुह्, दिश् दृश्, विश्, चेतस्, चतुर् त्यद्, तद्, यद्, कियत्, 'जराया जरस् च'(ग) उपजरसम्। 'प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः'। 'यस्येति' च प्रत्ययम्। 'अक्ष्णः परम्' इति विग्रहे समासान्तविधानसामर्थ्याद् अव्ययीभावः। 'परोक्षे लिट्' इति निपातनात्परस्यौकारादेशः। परोक्षम्। 'परोक्षा क्रिये'त्यादि तु अर्श आद्यचि। समक्षम्। अन्वक्षम्।

शरदादिगणपठित शब्द है अन्त में जिसके ऐसे अव्ययीभावसमास को समास का अवयव टच् प्रत्यय होता है। समीपार्थ में अव्ययीभावसमास कर इससे टच् उपशरदम्। विपाश् नदी समीप में प्रतिविपाशम् आदि। जहाँ टच् प्रत्यय होता है वहाँ जरा को जरस् आदेश—उपजरसम्=वृद्धावस्था के समीप। प्रति पर सम् अनु ये हैं आदि में जिसके एवं अक्षिशब्द है अन्त में जिसके ऐसे शब्दों से अव्ययीभावसमास में टच्प्रत्यय होता है। अक्षि का इकार का यस्येति से लोप। अक्ष्ण प्रति इति प्रत्यक्षम्, अक्ष्णः परम् यहाँ समासान्तका विधानसामर्थ्य से अप्राप्त अव्ययीभाव का निपातन से समास करना, अन्यथा टच् विधान इसको व्यर्थ होगा, एवं 'परोक्षे' निर्देश से पर के अकार को ओकार आदेश करना। परोक्षम्। परोक्षकालवर्ती क्रिया इस अर्थ में टजन्तपरोक्ष शब्द से 'अर्श आदिभ्यः' से अच् प्रत्यय होता है। टाप् एवं दीर्घ से परोक्षा क्रिया। अक्ष्णः सम् समक्षम्। अक्ष्ण॰ - अनु पश्चात् अन्वक्षम्। इस शरदादिगण में नदीवाचक विपाश् के पाठ से 'नदीपौर्णमासी' सूत्र में नदीपद से नदीवाचक लोक में प्रसिद्ध अर्थ का ग्रहण नहीं है। अन्यथा यहाँ विपाश् का पाठ व्यर्थ होता है।

६७९ अनश्च ५।४।१०८।

अन्नन्तादव्ययीभावाट्टच् स्यात्।

अन् है अन्त में जिसको ऐसे अव्ययीभावसमास से समासावयव टच् प्रत्यय होता है।

६८० नस्तद्धिते ६।४।१४४।

नान्तस्य भस्य टेर्लोपः स्यात् तद्धिते। उपराजम्। अध्यात्मम्।

नान्तभसंज्ञकशब्द की टि का लोप होता है तद्धितसंज्ञकप्रत्यय परे रहते। राज्ञः समीपम् उपराजम् यहाँ 'अनश्च' से टच् इसने अन्रूप टि का लोप उपराज से सु, अम् पूर्वरूप उपराजम्। आत्मनि इति यहाँ 'अव्ययम्' से विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव टच् टिलोप सु अम् पूर्वरूप अध्यात्मम्। टच्प्रत्यय तद्धित यहाँ है।

६८१ नपुंसकादन्यतरस्याम् ५।४।१०९।

अन्नन्तं यत् क्लीबं तदन्तादव्ययीभावाट्टच् वा स्यात्। उपचर्मम्, उपचर्म।

अन् अंश है अन्त में जिसको ऐसा अव्ययीभावसमास से तद्धितसंज्ञक टच् विकल्प से होता है। चर्मणः उप = समीपम् समास टच् टिलोप नु अन् पूर्वरूप उपचर्मम्। टच् के अभाव में उपचर्मन् नकार का लोप नपुंसक में उपचर्म।

६८२ नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः ५।४।११०।

टच् वा स्यात्। उपनदम्, उपनदि। उपपौर्णमासम् उपपौर्णमासि। उपाग्रहायणम्-उपाग्रहायणि।

नदी, पौर्णमासी एवं आग्रहायणी ये शब्द है अन्त में जिसको ऐसा जो अव्ययीभावसमास उस को विकल्प से समासान्त प्रत्यय टच् होता है। यद्यपि नदीसंज्ञा, लोकप्रसिद्ध नदीसंज्ञक शब्द, एवं स्वरूप = वर्णमाला तीन नदी हैं, किन्तु यहां नदीसंज्ञा का अग्रहण में पौर्णमासी आदि यहां व्यर्थ होते ये प्रमाण हैं। शरदादि में विपाश् शब्दपाठ से लोकप्रसिद्धार्थक नदी न लेना. अतःअवशिष्ट स्वरूपबोधक ग्रहणमात्र होता है। नित्य टच् के लिए विपाश् का पाठ चरितार्थ हैं. व्यर्थ नहीं तो भी शरदादि में विपाश् का पाठ व्यर्थ होगा इस कथन पर भाष्य से यही स्पष्ट सिद्ध होता है कि *इस सूत्र में विकल्प की अनुवृत्ति नहीं ही है तब यह भी नित्य टच् करेगा तब भाष्योक्ति सुसङ्गत हुई।* अतः यहाँ टजन्त एकमात्र उदाहरण देना ही उचित है, किन्तु इन सब बातें से अनभिज्ञता प्रयुक्त टच् के अभाव पक्ष में उदाहरण दिये गये हैं। जब इस भाष्य सन्दर्भ से यहां विकल्प की अनुवृत्ति नहीं है तो 'झयः' एवं गिरेश्च में भी विकल्प की अनुवृत्ति नहीं तब वहां भी टजन्त एकमात्र उदाहरण ही उचित है, तब 'गिरेश्च' सूत्र का सेनक ग्रहण विकल्पार्थक होकर पूजार्थक भी है यह क्रमप्राप्त है। प्राचीनों के अनुरोध से टच् एवं तदभाव के दोनों उदाहरण यहां दिये गये हैं।

६८३ झयः ५।४।१११।

झयन्तादव्ययीभावाट्टज्वा स्यात्। उपसमिधम् - उपसमित्-उपसमिद्।

झय् प्रत्याहार का वर्ण है अन्त में जिस को ऐसे अव्ययीभाव से (विकल्प) टच् होता है। समिधः समीपम् उपसमिधम्, उपसमित्। यहां वस्तुतः विकल्प की अनुवृत्ति नहीं है।

६८४ गिरेश्च सेनकस्य ५।४।११२।

गिर्यन्तादव्ययीभावाट्टज्वा स्यात्। सेनकग्रहणं पूजार्थम्। उपगिरम्। उपगिरि। इत्यव्ययीभावः।

गिर्यन्त अव्ययीभाव से टच् विकल्प होता है। गिरेः समीपम् उपगिरम्। पक्ष में उपगिरि यहां सेनकग्रहण प्रशंसामात्रफलार्थक है 'इस ग्रन्थ का यही अभिप्राय है कि विकल्प की अनुवृत्ति तो आती है अतः वह विकल्पार्थ नहीं है यही प्राचीन का आशय है। वस्तुतः 'नदी पौर्णमासी' में भाष्यप्रमाण्य से विकल्प की अनुवृत्ति नहीं तदुत्तर 'झयः' यहां विकल्प की अनुवृत्ति नहीं है, गिरेश्च में भी विकल्प की अनुवृत्ति नहीं अतः विकल्पार्थक वा को कहना उचित यहां था उसको न कह कर सेनकाचार्य का नामोल्लेखन से सेनक ग्रहण विकल्पार्थक होने हुए पूजार्थक भी है 'सेनकग्रहणं पूजार्थमपि' यह अपि गर्भित व्याख्यान ही उचित है अतः इस सूत्र के टच् के अभाव के दो उदाहरण सर्वथा यहां उचित है।

श्री दा. कृ. पन्तोलि विरचिता रत्नप्रभा में अव्ययीभावसमास यहां समाप्त है।

―――

अथ तत्पुरुषसमासप्रकरणम् ॥ १६ ॥

६८५ तत्पुरुषः २।१।२२।

अधिकारोऽयं प्राग्बहुव्रीहेः ।

बहुव्रीहिसमास के पूर्व तक तत्पुरुष का अधिकार है। उत्तर समास विधायक सूत्रों से समास संज्ञा करने पर उस समास की तत्पुरुषसंज्ञा होती है इसका यह बोधक है समाससंज्ञा एवं तत्पुरुष संज्ञा दोनों का एकत्र समावेश है, समाससंज्ञाप्रयुक्त प्रातिपदिकसंज्ञा, अन्तोदात्त, स्वरादि फल है तत्पुरुष में विहित समासान्त टजादि प्रयोजन है। अन्य लघुभूतसंज्ञा न कर आचार्य ने इस प्राचीनसंज्ञा का आदर इस लिए किया है कि यह अन्वर्थ संज्ञा है, इसके अर्थ से तत्पुरुष के दो अर्थ का ज्ञान होना—यथा 'तस्य पुरुष' तत्पुरुष यह तत्पुरुषसमास का उदाहरण भी गर्भित है। एवं 'स चासौ पुरुष' यह तत्पुरुष का भेद कर्मधारय समास का भी उदाहरण इसी के भीतर है। उसका पुरुष, एवं वह पुरुष यह दोनों उदाहरणों का अर्थ है। एवं समुदाय शक्ति से संज्ञा परक भी है। इसी प्रकार पूर्ववर्णित अव्ययीभाव भी अन्वर्थ है। तत्पुरुष के वर्णितार्थ को अधिक व्यक्ति नहीं जानते हैं, वे सीधा अर्थ संज्ञामात्र ही समझते हैं।

६८६ द्विगुश्च २।१।२३।

द्विगुरपि तत्पुरुषसंज्ञः स्यात्। इदं सूत्रं त्यक्तुं शक्यम्। संख्यापूर्वो द्विगुश्चेति पठित्वा चकारबलेन संज्ञाद्वयसमावेशस्य सुवचत्वात्। समासान्ताः प्रयोजनम्।

द्विगु समास की भी तत्पुरुषसंज्ञा होती है। इस 'द्विगुश्च' सूत्र अनावश्यक है अतः इसको न करना ही उचित है यथा—'संख्यापूर्वो द्विगु' सूत्र में एकचकारमात्र का ही सन्निवेश करने से वह चकार तत्पुरुष का अनुकर्षण कर लेगा संख्यापूर्वक समानाधिकरण की द्विगु संज्ञा एवं द्विगु की तत्पुरुषसंज्ञा होगी ही, पुनः इसका कोई प्रयोजन नहीं है। द्विगु की तत्पुरुषसंज्ञा का प्रयोजन समासान्त प्रत्यय विधान में है, यथा 'पञ्चानां राज्ञां समाहारः' यहां संख्यावाचक पूर्वपद है समाहार अर्थ गम्यमान है पञ्चन् शब्द पञ्चत्वसंख्याविशिष्ट संख्येयार्थक है, प्रकृत में राजरूप अर्थका प्रत्यायक = बोधक है, राजन् शब्द भी तदर्थक राजरूपार्थ है एकार्थबोधकत्वरूपसामानाधिकरण्य है, द्विगुसमास की तत्पुरुष संज्ञा से 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' से टच् प्रत्यय हुआ—'पञ्चराजम्' = पांच राजाओं का समूह।

६८७ द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः २।१।२४।

द्वितीयान्तं श्रितादिप्रकृतिकैः सुबन्तैः सह वा समस्यते स तत्पुरुषः। कृष्णं श्रितः कृष्णश्रितः। दुःखमतीतो दुःखातीतः। ॐगम्यादीनामुपसंख्यानम्ॐ। ग्रामं गमी ग्रामगमी। अन्नं बुभुक्षुः-अन्नबुभुक्षुः।

द्वितीयान्त श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त, एवं आपन्न सुबन्त के साथ विकल्प समास होता है एवं इस समास की तत्पुरुष संज्ञा है। गम्यादि का भी द्वितीयान्त के साथ विकल्प तत्पुरुष समास होता है। ग्राम गमी या ग्रामगमी। अन्न बुभुक्षु या अन्नबुभुक्षु = भुजधातु से सन्नन्त कर उप्रत्यय = खाने की इच्छा वाला।

६८८ स्वयं क्तेन २।१।२५।

द्वितीयेति न सम्बध्यते, अयोग्यत्वात्। स्वयंकृतस्यापत्यं स्वायंकृतिः।

क्तप्रत्ययान्तप्रकृतिक सुबन्त के साथ 'स्वयम्' अव्यय का तत्पुरुष समास होता है। यहां द्वितीया की अनुवृत्ति नहीं है, अनन्वित होने से अयोग्यता है। स्वयम् अव्यय का समास करने पर या न करने पर स्वयं कृत यही होगा, किन्तु समास से एकपद अन्तोदात्तादि अनेकफल है, यथा षष्ठयन्त स्वयंकृतस्य से अपत्य अर्थ में 'अत इञ्' से इञ्प्रत्यय होकर 'स्वायंकृतिः' प्रयोग सिद्ध हुआ है।

६८९ खट्वा क्षेपे २।१।२६।

खट्वाप्रकृतिकं द्वितीयान्तं क्तान्तप्रकृतिकेन सुबन्तेन समस्यते निन्दायाम्। खट्वारूढो जाल्मः। नित्यसमासोऽयम्। न हि वाक्येन निन्दा गम्यते।

निन्दा अर्थ गम्यमान रहने पर द्वितीयान्त खट्वा का सुबन्त क्तान्त तदादि के साथ समास होता है। ब्रह्मचारी वेदादि शास्त्रों का अध्येता पृथ्वी में न बैठ कर खटिका पर बैठा है, यह उनकी निन्दा प्रतीयमान है, अतः यह विना विचार कार्य करने वाला है, विद्याऽऽदि व्रत समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश के बाद खटिका पर इच्छा है तो आरूढ होना चाहिये। अन्यथा नहीं। जाल्म का ही अर्थ बिना विचारे कार्य करने वाला। असमीक्ष्यकारी। यहां समास में ही निन्दा गम्यमान है, अतः यहां एतदर्थक वाक्य नहीं रहता, क्योंकि वाक्य से निन्दा की प्रतीति नहीं होती है। नित्य समास तुल्य यह समास है। इसकी व्याख्या विस्तृत प्रथम कर चुके हैं।

६९० सामि २।१।२७।

सामिकृतम्।

यहां सामि शब्द का अर्थ अर्ध है, यह अव्यय है, समास या असमास में शब्दस्वरूप एक ही है, किन्तु समास से एकपद, स्वर, एवं सामिकृतस्यापत्यं 'सामिकृतिः' है। सामिकातिः नहीं।

६९१ कालाः २।१।२८।

क्तेनेत्येव। अनत्यन्तसंयोगार्थं वचनम्। मासप्रमितः=प्रतिपच्चन्द्रः। मासं परिच्छेत्तुमारब्धवानित्यर्थः।

क्तान्तसुबन्त के साथ काल वाचक द्वितीयान्त का समास होता है। यहां "कालाः अत्यन्त-संयोगे" न एक योग से ही कार्य निर्वाह होना पुनः 'कालाः' यह पृथक् सूत्र व्यर्थ है इस शङ्का को निवारणार्थ यह लिखा है मूलग्रन्थ में अत्यन्त संयोग में यह समास विधानार्थ है। एक योग में अत्यन्त संयोग में ही समास होता। अहगताः। रात्रिगताः। मासप्रमितश्चन्द्रमाः। यहां चराचर कभी दिन में गमन करते हैं, कभी रात्रि में अत्यन्त संयोग न रहे वहां समासार्थ सूत्र सार्थक है। चराचर का अर्थ गमनशील है। यहां द्विवचन आक् आगम है। प्रतिपदा का चन्द्रमा से मासारम्भ होता है। मासप्रमितः। प्रमित में क्तप्रत्यय मा धातु से आदि कर्म में कर्ता में है। मास परिच्छेद्य है, चन्द्र परिच्छेदक है। यह क्तान्तयोग में ही प्रवृत्त होता है।

६९२ अत्यन्तसंयोगे च २।१।२९।

काला इत्येव। अक्तान्तार्थवचनम्। मुहूर्तं सुखं-मुहूर्तसुखम्।

अत्यन्त सयोग में कालवाचक सुबन्त का क्तान्तसुबन्त भिन्न के साथ समास होता है। 'मुहूर्तम् सुखम्' यहां अविच्छिन्न गति से बराबर सुख ही है इस अर्थ में मुहूर्तसुखम्। मुहूर्त = दो घटिका पर्यन्त काल को कहते हैं—मुहूर्तं घटिकाद्वयम्।

६९३ तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन २।१।३०।

तत्कृतेति लुप्ततृतीयाकम्। तृतीयान्तं तत्कृतार्थकृतगुणवचनेनार्थशब्देन च सह प्राग्वत्। शङ्कुलया खण्ड शङ्कुलाखण्ड। धान्येनार्थो धान्यार्थ। तत्कृतेति किम्, अक्ष्णा काण.।

सूत्र में 'तत्कृत' यह लुप्त तृतीयान्त पद है। सुपा सुलुक् से तृतीया का लोप है, अत 'तत्कृतेन' न रहा। तृतीयान्त का जो अर्थ उससे कृत = सम्पादित जो गुणरूप अर्थ तद्वाचक जो गुणार्थक शब्द, उसके साथ तृतीयान्त का समास होता है। एव तृतीयान्त का सुबन्त अर्थ के साथ समास होता है। शङ्कुलया खण्ड शङ्कुलाखण्ड। यहां सरोता से किया गया टुकडा अर्थ है। भेदनार्थक खडि धातु से घञ् प्रत्ययसे खण्ड सिद्ध हुआ है। शङ्कुला में करण अर्थ में तृतीया है। धा येन अर्थ = प्रयोजनम् धान्यार्थ। 'अक्ष्णा काण' यहां काणत्व नेत्र से सम्पादित नहीं है, किन्तु जन्मान्तरीय पापादि में सम्पादित है, अत तृतीयान्तार्थकृत न होने से समासभाव ही है केवल दर्शनसामर्थ्यशून्यत्व को काणत्व कहते हैं। निमीलनार्थक कण् से घञ् काण।

६९४ पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः २।१।३१।

तृतीयान्तमेतै प्राग्वत्। मासपूर्व। मातृसदृश। पितृसम। ऊनार्थे-माषोन कार्षापणम्। माषविकलम्। वाक्कलह। आचारनिपुण। गुडमिश्र। आचारश्लक्ष्ण। मिश्रग्रहणे सोपसर्गस्यापि ग्रहणम्, मिश्र चानुपसर्गमसन्धाविल्यत्रानुपसर्गग्रहणात्। गुडसमिश्रा धाना। ॐअवरस्योपसंख्यानम्ॐ। मासेनावरो मासावर।

पूर्व सदृश सम ऊनार्थ कलह निपुण मिश्र श्लक्ष्ण इन सुबन्तों का तृतीयान्त के साथ समास होता है। मासेन पूर्व मासपूर्व। मात्रा सदृश मातृसदृश। पित्रा सम पितृसम। माषेन ऊनम् माषोनम्। माषेन विकलम् माषविकलम्। वाचा कलह वाक्कलह। आचारेण निपुण आचारनिपुण। गुडेन मिश्र गुडमिश्र। आचारेण श्लक्ष्ण आचारश्लक्ष्ण। यहां मिश्र ग्रहण से उपसर्ग विशिष्ट का भी ग्रहण होता है, अपि से केवल मिश्र का भी। इसमें प्रमाण यह है। कि समासस्वर में अन्तोदात्तत्वविधायक सूत्र है— मिश्र चानुपसर्गमसन्धौ ६।२।१५४। उस सूत्रमें 'तिलसमिश्रा' आदि में अप्रवृत्ति के लिए अनुपसर्ग ग्रहण किया है, यदि मिश्र से सोपसर्ग का ग्रहण समास विधायक में न होता तो समिश्र उत्तरपद में नहीं स्वर प्राप्त ही नहीं पुन अनुपसर्गग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि मिश्र स उपसर्गपूर्वक का भी ग्रहण होता है। गुडेन समिश्रा गुडसमिश्रा सुबन्त अवर का तृतीयान्त के साथ समास होता है। मासेन अवर मासावर।

६९५ कर्तृकरणे कृता बहुलम् २।१।३२।

कर्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुल प्राग्वत्। हरिणा त्रातो हरित्रात। नखैर्भिन्नो नखभिन्न। "कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्"। नखनि-

भिन्नः। कर्तृकरणे इति किम्, भिक्षाभिरुषितः। हेतावेषा तृतीया, बहुलग्रहणं सर्वोपाधिव्यभिचारार्थम्, तेन दात्रेण लूनवानित्यादौ न। कृत। किम्, काष्ठैः पचतितराम्।

कर्ता एवं करण में जो तृतीया तदन्ततदादि का कृदन्ततदादि के साथ समास होता है। त्रैङ् पालने से कर्म में क्तप्रत्यय ऐकार का आकार त्रातः यहां कर्म उक्त होने से प्रथमा कर्ता हरि अनुक्त से तृतीया यहां कर्तरि तृतीयान्त हरि का त्रात से समास हरित्रातः = हरि से रक्षित भक्त, करणतृतीयान्त 'नखैः भिन्नः' यहां विदारणार्थक से कर्म में क्तप्रत्यय का कित्त्वात् गुण का अभाव है, निष्ठा तकार एवं धातु का दकार को 'रदाभ्याम्' सूत्र से नकारद्वय से भिन्नः = विदारणरूपफल का आश्रय राक्षस, इस विदारण में प्रकृष्टोपकारक नख से करणे तृतीया है समास से 'नखभिन्नः' नखों से विदीर्ण राक्षस यह अर्थ है। इस सूत्र में कृद् ग्रहण किया है अतः 'गतिरनन्तरः' ६।२।४९। यह सूत्र कर्मार्थक क्तान्त उत्तर पद में रहे वहां अव्यवहित गतिसंज्ञक को प्रकृतिस्वर करता है। इसका उदाहरण है, पुरोहितम्। अनन्तरः किम् अभ्युद्धृतः। इस सूत्र में अनन्तर ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि—"कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्" इस परिभाषा का यह अर्थ है—कृत् सामान्यग्रहण किया हो सूत्र में, या कृद् विशेष का जहां ग्रहण किया हो वहां गति विशिष्ट एवं कारक विशिष्ट का भी ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् गतिविशिष्ट में या कारकविशिष्ट में कृदन्त तदादित्व का आरोप है, या कृदन्ततदादित्व का व्याप्य धर्म (यथा क्तान्ततदादित्व का आरोप होता है। अतः 'अभ्युद्धृतः' में धृत घृत्ति क्तान्ततदादित्व का 'उद्धृत' में आरोप कर अभि को प्राप्त प्रकृतिभाव स्वर के निषेधार्थ वहां अनन्तर ग्रहण कृतार्थ हुआ, वहाँ अनन्तर ग्रहणसामर्थ्य से गति से आक्षिप्त क्रियावाचक धातु से अव्यवहित पूर्व का ग्रहण कर उद् को ही प्रकृतिस्वर हुआ अभि को नहीं। प्रकृत में यहां 'भिन्नः' में ही वास्तविक कृदन्ततदादित्व है वह इस परिभाषा के बल से गतिसंज्ञक निर् तद्विशिष्ट निर्भिन्न में लाकर नखैः करणतृतीयान्त का निर्भिन्न के साथ समास हुआ—नखनिर्भिन्नः। भिक्षाभिः उषितः यहां हेतु में तृतीया है, अतः समास न हुआ, स्थिति या निवास में भिक्षा हेतु है। भिक्षा के हेतु निवास करता है। सूत्र में अनेकार्थ बोधक (बहून् अर्थात् लाति इति बहुलम्) बहुल ग्रहण से जिन कारण में समास रूप कार्य होता है उन कारण समूह रहने पर भी समास का अभाव, समासत्व प्रयोजक कारणसमूह के अभाव में समास रूप कार्य होता है। यथा दात्रेण लूनवान् यहां लवन (काटना) क्रिया कर्ता के व्यापार जन्य फल लवन में दात्र हसुंला प्रकृष्टोपकार है, दात्र से करण में तृतीया है, लूनवान् कर्त्रर्थक क्तवतु प्रत्ययान्त है, वह कृदन्ततदादि है, दात्रेण लूनवान् यहां तृतीयासमासत्व प्रयोजक (कारणीभूत) यावद् अपेक्षित कारण समूह है, किन्तु बहुल ने समासाभाव का बोधन किया है। लूञ् धातु छेदनार्थक से कर्ता में क्तवतुप्रत्यय है (ल्वादिभ्यश्च) से तकार का नकारादेश हुआ है, लूनवान्। क्तवतुप्रत्यय सदा कर्ता में ही होता है। दात्र में दाधातु से ष्ट्रन् प्रत्यय है, करण अर्थ में दाति = छिन्नति अनेनेति दात्रम् = जिसमें काटा जाय। हंसुवा (गुजराती भाषा में 'दातेडुं' कहते हैं। काष्ठैः पचतितराम् यहां पाकक्रिया में काष्ठ करण है, करण में तृतीया है किन्तु उत्तर पचतितराम् वह कृदन्ततदादि नहीं है, किन्तु तद्धितान्ततदादि तदन्त है। समासाभाव हुआ 'तिङश्च' सूत्र से पचति से अतिशय अर्थ में तरप् प्रत्यय है, पचतितर में 'किमेत्तिङ्' से आमु प्रत्यय है, पचतितराम्।

६९६ कृत्यैरधिकार्थवचने २।१।३३।

स्तुतिनिन्दाफलकमर्थवादवचनमधिकार्थवचनं तत्र कर्तरि करणे च तृतीया कृत्यैः सह प्राग्वत् । वातच्छेद्यं तृणम् । काकपेया नदी ।

निन्दा एवं स्तुति वह है फल जिसका उसे अर्थवाद कहते हैं अर्थवाद को ही अधिकार्थ वचन कहते हैं वह गम्यमान रहे वहां कर्ता या करण में विहित जो तृतीया तदन्त तदादि का कृदन्त तदादि के साथ समास होता है। यथा वातेन च्छेद्यम् यहां वात में कर्तरि तृतीया है, विदार णार्थक छिदिर धातु से कर्म में ण्यत् प्रत्यय है, सूत्र 'ऋहलोर्ण्यत्' (छेदन कर्म = यहां तृण है, छेदन जनक व्यापार कर्ता वात = वायु है। समास से 'वातच्छेद्यम्' यहां एक ही समस्तपद में दो अर्थ गम्यमान है यथा यह अतीव कोमल घास है जो वायु से ही विदीर्ण होता है। यह तृण का प्रशंसा हुई है। निन्दा में, यथा यह अतीव तुच्छ तृण है, वह वायुमात्र से विदीर्ण होता है अर्थात् यह तृण किसी कार्यक्षम नहीं है काकेन पेया काकपेया नदी। यहां 'पा पाने' से कर्म में यत्प्रत्यय है, 'ईद्यति' से यत्प्रत्यय परे में इत्व है। गुण एवं टाप् से पेयाऽन्तानकर्म यहां नदी है, पान का कर्ता काक है। काक से भी कर्ता में ही तृतीया है। यहां भी अर्थद्वय है, तरङ्गों से युक्त जल से परिपूर्ण यह नदी है जिसके तट पर सुखपूर्वक आयास रहित कौवे जल का पान करते हैं। यह तो प्रशंसा गम्यमान हुई। निन्दा में यह अल्पजलयुक्त कुसरित है, यहां केवल कौवे ही पानी पीते हैं, मनुष्यों से अपेया है

६९७ अन्नेन व्यञ्जनम् २।१।३४।

संस्कारकद्रव्यवाचकं तृतीयान्तमन्नेन प्राग्वत् । दध्ना ओदनो दध्योदनः । इहान्तर्भूतोपसेकक्रियाद्वारासामर्थ्यम् ।

जिसने अन्न संस्कृत होता है वह संस्कारकद्रव्य कहा जाता है, केवल अन्न को अन्न के ही साथ भोजन अस्वादिष्ट होता है एवं शास्त्र निषिद्ध भी है। "अन्नम् अन्नेन न भुञ्जीत"। संस्कारक द्रव्यवाचक तृतीयान्त तदादि का सुबन्त अन्नवाचक शब्द से समास होता है। यथा दध्ना ओदन समास से 'दध्योदन' यह हुआ है। यहां तृतीयान्त कारकार्थ उपसेक क्रिया में विशेषण होता है एवं क्रियान्वयी होने पर ही कारक में साधुत्व है। उपसेक क्रिया का कर्म ओदन उसको उपसिक्त शब्द से कहा जा सकता है दधि में कर्तरि तृतीया है, दधिकर्तृक उपसेक क्रिया कर्म ओदन है उपसिक्त में कर्म अर्थद्योतक क्तप्रत्यय से ओदनरूपकर्म उक्त है, अतः ओदन से प्रथमा है, कर्ता अनुक्त से दध्ना में तृतीया है यह कर्मणि प्रयोग है, यहां दधि एवं ओदन का मध्यवर्तिनी क्रिया उपसेक है, तद् द्वारा परस्परान्वयरूप सामर्थ्य है, तो भी सूत्रारम्भ सामर्थ्य से समास हुआ है।

६९८ भक्ष्येण मिश्रीकरणम् २।१।३५

गुडेन धाना—गुडधाना । मिश्रणक्रियाद्वारासामर्थ्यम् ।

भक्ष्य (भक्षणकर्म) वाचक जो शब्द तदन्ततदादि तृतीयान्त रहे उसका मिश्रीकरण वाचक सुबन्त शब्द के साथ समास होता है। गुडेन धाना 'गुडधाना' समास हुआ। यहां भी पूर्ववत् गुडार्थ तृतीयान्तार्थ का मिश्रण क्रिया में अन्वय एवं मिश्रण क्रिया का फलाश्रय धाना में अन्वय है। गुड में रहनेवाली मिश्रणक्रिया उसका जो फल उसका आश्रय धाना है। कारक तृतीयार्थ का क्रिया में विशेषणतया यहां भी अन्वय है कहा गया है कि "कारकनिष्ठप्रकारतानिरूपितशाब्द-

बोधम्प्रति विशेष्यता सम्बन्धेन क्रियोपस्थितिः कारणम्" यह शाब्दिक सिद्धान्त है। कर्मादि कारकों का भी फलादि द्वारा क्रिया में ही अन्वय है, यहां क्रिया शब्द से धातु का प्रधान व्यापार ही अपेक्षित है। राजवत् प्रधान व्यापार ही है। यथा—"सर्वे सेवका राजानमनुसरन्ति" तथैव सर्वाणि कारकाणि प्रधानीभूतव्यापारम्।

६९९ चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः २।१।३६।

चतुर्थ्यन्तार्थाय यत् तद् वाचिनाऽर्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत्। तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एव गृह्यते, बलिरक्षितग्रहणाज्ज्ञापकात्। यूपाय दारु यूपदारु। नेह रन्धनाय स्थाली। अश्वघासादयस्तु षष्ठीसमासाः। ॐअर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्ॐ। द्विजायायं द्विजार्थः सूपः। द्विजार्था यवागूः। द्विजार्थं पयः। भूतबलिः। गोहितम्। गोसुखम्। गोरक्षितम्।

चतुर्थी विभक्ति है अन्त में जिसको ऐसा जो चतुर्थ्यन्त तदादि उसका जो अर्थ उसके लिए जो वस्तु तद्वाचक सुबन्त के साथ चतुर्थ्यन्त का समास होता है, एवं चतुर्थ्यन्त तदादि का सुबन्त अर्थ शब्द के साथ समास विकल्प से होता है। सूत्र में तदर्थ पद से प्रकृति विकृतिभाव सम्बन्ध ही गृहीत है। उपकार्योपकारकभाव आदि सम्बन्ध का ग्रहण नहीं है, सामान्यतः सभी सम्बन्धों का यदि यहां ग्रहण होता तो सूत्र में बलिरक्षितग्रहणव्यर्थ होता, उनकी सार्थकता के लिए यहां विशेष एकमात्र सम्बन्ध का ग्रहण है। उदाहरण यथा—यूपाय दारु समास यूपदारु। यज्ञ में पशु का वध होता है, उस पशु को यज्ञभूमि में बन्धन के लिए जो शंकु (खुटा या स्तम्भ उसको यूप कहते हैं, काष्ठ (लकड़ी) को छील कर उसका यूप बनाया जाता है तक्षद्वारा• (तक्षा = बढ़ई) यहां मूलप्रकृति लकड़ी उसका विकृत स्वरूप यूप है दोनों का प्रकृति विकृतिभाव सम्बन्ध है। सूत्रार्थ का समन्वय इस प्रकार है यहां चतुर्थ्यं तदादि (चतुर्थी अन्त में रहे उसकी प्रकृति आदि में रहे) यूपाय उसका अर्थ यूप के लिए उसका दारु के साथ समास हुआ है। 'रन्धनाय स्थाली' यहाँ रसोई बनाने के लिये बटुवा (तवेली गुर्जर भाषा में) यहाँ उपकार्य उपकारक दोनों पदार्थ का सम्बन्ध है, अतः समास का अभाव से वाक्य हो रहा है। अश्वाय घासः यहां समास नहीं है, इससे वहां समासप्राप्ति ही नहीं अतः अश्वस्य घासः = अश्वघासः = अश्व सम्बन्धी घास = तृण। इसी तरह अन्यत्र भी ज्ञान करना•। सुबन्त अर्थ के साथ चतुर्थ्यन्त का नित्यसमास होता है, एवं विशेष्यभूतपदार्थ के तुल्य लिङ्ग होता है, अर्थात् विशेष्य पुंल्लिङ्ग हो तो समस्त शब्द भी पुंल्लिङ्ग इसी प्रकार स्त्रीलिङ्ग एवं नपुंसक व्यवस्था जाननी चाहिये। द्विजाय अयं सूपः इस अर्थ में अन्यपद-विग्रह कर द्विजार्थः सूपः द्विज के लिए दाल यहां सूपशब्द पुंल्लिङ्ग है अतः 'द्विजार्थः' पुंल्लिङ्ग है, द्विज के लिए यवागु = लपसी (कंसार) यहां विशेष्य स्त्रीलिङ्ग है, अतः स्त्रीलिङ्ग। द्विजाय इदम् (पयः) यहां नपुंसक है।

द्विज = ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य हैं, द्वाभ्यां = जन्मकर्मभ्यां जायते स द्विजः। जन्म एवं कर्म दोनों से द्विजत्व प्राप्त होता है अर्थात् ब्राह्मण से वैध सम्बन्ध से विवाह द्वारा प्राप्त ब्राह्मणी में उत्पन्न होने हुवे जो ब्राह्मणोचित कर्म करता है उसी में ब्राह्मणत्व रहता है जन्मकर्म दोनों मिलकर जातित्व का सम्पादक है। एक नहीं। एवं क्षत्रिय से क्षत्रिया में जात तदुचित कर्म करने वाला क्षत्रिय है। इसी प्रकार अन्यत्र। भूतबलिः। गवे हितम्, गोहितम्। गवे सुखम् गोसुखम्। गवे रक्षितम् गोरक्षितम्।

७०० पञ्चमी भयेन २।१।३७।

चोराद्भयं चोरभयम् । ॐभयभीतभीतिभीभिरिति वाच्यम्ॐ । वृकभीत.। वृकभीति । वृकभी ।

सुबन्त भय शब्द के साथ पञ्चम्यन्त का समास विकल्प से होता है। यहाँ वार्तिककार कहते हैं कि सूत्र में अल्पस्प भयेन कहा है, उसके स्थान में भय भीत भीति एव भी इनको रखके इनका भी पञ्चम्यन्त के साथ विकल्प समास होता है। एक ही उदाहरण यहा दिया वृकाद् भीत वृकभीत' यहा ञिभी भये से कर्म में क्तप्रत्यय भय में हेतु वृक से अपादान में पञ्चमी है, वृक के कारण भय से युक्त पुरुष। एव वृकभीत । वृकभीति । वृकभी ।

७०१ अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः २।१।३८।

एतैः सहाल्प पञ्चम्यन्त समस्यते स तत्पुरुष । सुखापेत'। कल्पनापोढ । चक्रमुक्तः । स्वर्गपतित' । तरङ्गापत्रस्तः । अल्पश' किम्, प्रासादात्पतित ।

सुबन्त अपेत, अपोढ, मुक्त, पतित, एव अपत्रस्त का अल्प पञ्चम्यन्त के साथ विकल्प समास होता है। इस समास की तत्पुरुष सज्ञा होती है। सुख से रहित = सुखाद् अपेत सुखापेत। कल्पना = तर्क शक्ति से रहित को कल्पनाया अपेत कल्पनापेत। चक्र से मुक्त चक्राद् मुक्त चक्रमुक्त। पुण्यक्षीण से स्वर्ग से पृथ्वी में गिरा हुआ स्वर्गात् पतित स्वर्गपतित पतनार्थक पत्लृ धातु को सन् प्रत्यय को 'तनिपति' से विकल्प इट् आगम होता है। यहा नियम है कि किसी भी स्थल में इट् आगम विकल्प से हुआ हो वहा निष्ठा (क्त क्तवतु) को इट् नहीं होता है नियम — 'यस्य विभाषा" अत यहा 'पत्त' होना उचित है, 'पतित' यह रूप नहीं होता है, तथापि सूत्रनिर्देश सामर्थ्य से इट् करने के लिए 'यस्य विभाषा' अनित्य है। अत' यहा निषेध नहीं, इट् से 'पतित' प्रयोग यथा कथञ्चित् बना है। जल के तरङ्गो से त्रस्त अर्थ में तरङ्गाद् अपत्रस्त समास से तरङ्गापत्रस्त' है। सूत्र में अल्पश का अर्थ यह है कि इने गिने शिष्टों से प्रयुक्त स्थल में इन शब्दों का पञ्चम्यन्त के साथ समास होता है सर्वत्र नहीं। प्रासादात् पतित- यहा समास युक्त शब्द स्वरूप शिष्टोच्चरित या आर्ष ग्रन्थों में प्रयुक्त नहीं अत समास न हुआ।

७०२ स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन २।१।३९।

स्तोकान्मुक्त अल्पान्मुक्त । अन्तिकादागत । अभ्याशादागतः । दूरादागत.। विप्रकृष्टादागत । कृच्छ्रादागत । पञ्चम्या' स्तोकादिभ्य इत्यलुक ।

सुबन्त स्तोक, अन्तिक, दूरार्थ एव कृच्छ्र शब्दों का क्तप्रत्ययान्त के साथ समास होता है। सूत्रों के उदाहरणों में समास एव 'पञ्चम्या' सूत्र से पञ्चमी का अलुक् हुआ। स्तोक = अल्प, अल्प = कम, अन्तिक = समीप, अभ्याश = समीप, दूर = दूर, विप्रकृष्ट = दूर, कृच्छ्र = कष्ट। मुक्त में कर्म में मुच्लृ धातु से क्तप्रत्यय है। मुक्तिरूप फल का आश्रय मुक्त कहा जाता है। द्वितीया तत्पुरुष, तृतीया तत्पुरुष, चतुर्थी तत्पुरुष एव पञ्चमी तत्पुरुष एव उनके नियम तथा उदाहरण बता कर अब षष्ठी तत्पुरुष का निर्देश करते हैं।

७०३ षष्ठी २।२।८।

राज्ञ. पुरुषो राजपुरुष' ।

षष्ठयन्त तदादिका समर्थ सुबन्त के साथ समास संज्ञा होती है। एवं उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है। राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः। पक्ष में राज्ञः पुरुषः। यहां राजन् शब्द से 'शेषे' सूत्र से सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति है, षष्ठयार्थ स्वत्व है उस में राज पदार्थ का निरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय है, एवं स्वत्व का पुरुषार्थ में आश्रयत्व (आधेयत्व या निष्ठत्व या वृत्तित्व) सम्बन्ध से अन्वय है। राजनिरूपित-स्वत्वाश्रयः पुरुषः यह अर्थ है राजार्थ एवं पुरुषार्थ का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है सम्बन्ध के प्रतियोगिवाचक से षष्ठी है एवं समास है। समास स्थल में संसर्ग = सम्बन्ध का संसर्ग विधया मानकर राजपदार्थ का पुरुष में अन्वय से स्वस्वामिभाव सम्बन्ध से राजविशिष्ट पुरुषार्थ है। राजपुरुष अन्यका भृत्य नहीं होता है, एवं जो किसी का भी भृत्य नहीं वह भी राजपुरुष नहीं अतः यहां भेद, संसर्ग या भेद संसर्ग उभय षष्ठी का वाच्य है। अराजकीय भिन्नः राजनिरूपित स्वत्ववान् पुरुषः यह राज्ञः पुरुषः का अर्थ है। कहा है कि—

"भेदः संसर्ग उभयमिति वाच्यन्ववस्थितेः"।

७०४ याचकादिभिश्च २।२।९।

एभिः षष्ठ्यन्तं समस्यते। तृजकाभ्यां कर्तरीत्यस्य प्रतिप्रसवोऽयम्। ब्राह्मणयाचकः। देवपूजकः। ॐगुणात्तरेण तरलोपश्चेति वक्तव्यम्ॐ। तरबन्तं यद् गुणवाचि तेन सह समासस्तरप्प्रत्ययलोपश्च। 'न निर्धारणे' इति, पूरणगुणेति च निषेधस्य प्रतिप्रसवोऽयम्। सर्वेषां श्वेततरः = सर्वश्वेतः। सर्वेषां महत्तरः = सर्वमहान्। ॐकृद्योगा षष्ठी समस्यत इति वक्तव्यम्ॐ। इध्मस्य व्रश्चनः = इध्मव्रश्चनः।

सुबन्त याजकादि शब्दों के साथ षष्ठयन्त का समास होता है। यह सूत्र 'तृज्काभ्याम्' का बाधक है। प्रतिप्रसव का अर्थ है = विपरीत कार्य की उत्पत्ति करना, समास निषेध से विपरीत कार्य समास रूप कार्य करना उसका प्रतिपादक। ब्राह्मणानां याचकः ब्राह्मणयाचकः। देवानां पूजकः देवपूजकः। याचक पूजक कर्ता में ण्वुल् प्रत्ययान्त है। याचनकर्ता याचकः। पूजनकर्ता पूजकः। •तरबन्त गुणवाचक का षष्ठयन्त के साथ समास होता है एवं तरप् प्रत्यय का लोप भी होता है•। यह वार्तिक न निर्धारणे एवं 'पूरणगुण' का बाधक है। बाधक को प्रतिप्रसव कहते हैं। सुबन्त श्वेत शब्द से अतिशय अर्थ में तरप् प्रत्यय होता है। अतिशयेन श्वेतः श्वेततरः, सर्वेषां श्वेततरः यहां समास तरप् का लोप से सर्वश्वेतः। अतिशयेन महान् इति महत्तरः, सर्वेषां महत्तर इति सर्वमहान्। कृदन्त तदादि के योग में षष्ठयन्त का समास होता है। इध्मस्य = काष्ठस्य व्रश्चनः कुठार इति इध्मव्रश्चनः। लकड़ी को काटने वाली कुहाड़ी (गुर्जरभाषा में कोढ़ी) कहते हैं। ओव्रश्चू छेदने से करण में ल्युट् प्रत्यय होता है = काटने का साधन।

७०५ न निर्धारणे २।२।१०।

निर्धारणे या षष्ठी सा न समस्यते। नृणां द्विजः श्रेष्ठः। ॐप्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते इति वाच्यम्ॐ। सर्पिषो ज्ञानम्।

निर्धारण में विहित जो षष्ठी तदन्त का सुबन्त के साथ समास नहीं होता है। मनुष्य समुदाय में द्विज श्रेष्ठ है, यहां नृ आम् द्विज सु का षष्ठीसमास न हुआ है। •तत तत विशेष शब्दों को उच्चारण कर विधीयमान जो षष्ठी तदन्त का सुबन्त के साथ समास नहीं होता है। सर्पिषः ज्ञानम् यहां

ज्ञो विदर्थस्य करणे' २।३।५१ से प्रतिपदोक्त षष्ठी का विधान है अत समास न हुआ। वस्तुत यह वार्तिक व्यर्थ है, शेष से षष्ठी कर षष्ठी से समास हो जाता, पुन उन विशेष सूत्रों से विधीयमान जहां षष्ठी है उस षष्ठी का श्रवण ही रहता है विधान सामर्थ्य से, अत उन सूत्रों के वैयर्थ्यभय से समास नहीं होगा। उस सिद्ध वस्तु का यह महावाक्य केवल अनुवादक है, अपूर्व नहीं है।

७०६ पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन २।२।११।

पूरणाद्यर्थैं सदादिभिश्च षष्ठी न समस्यते। पूरणे—सतां षष्ठ। गुणे—काकस्य कार्ष्ण्यम्, ब्राह्मणस्य शुक्ला। यदा प्रकरणादिना दन्ता इति विशेष्य ज्ञात तदेदमुदाहरणम्। अनित्योऽयं गुणेन निषेध', तदशिष्य संज्ञाप्रमाणत्वादित्यादिनिर्देशात्। तेनार्थगौरव बुद्धिमान्द्यमित्यादि सिद्धम्। सुहितार्थास्तृप्त्यर्था—फलाना सुहित। तृतीयासमासस्तु स्यादेव। स्वरे विशेष। सत्—ब्राह्मणस्य कुर्वन् कुर्वाणो वा किङ्कर इत्यर्थ। अव्ययम्—ब्राह्मणस्य कृत्वा। पूर्वोत्तरमाहचर्यात्कृदव्ययमेव गृह्यते। तेन तदुपरीत्यादि सिद्धम् इति रक्षित। तव्य—ब्राह्मणस्य कर्तव्यम्। तव्यता तु भवत्येव—स्वकर्तव्यम्। स्वरे भेद। समानाधिकरणे—तक्षकस्य सर्पस्य। विशेषणसमासस्तु इह बहुलग्रहणान्न। गोर्धेनोरित्यादिषु पोटायुवतीत्यादीना विभक्त्यन्तरे चरितार्थाना परत्वाद् बाधक षष्ठीसमास प्राप्त सोऽप्यनेन बाध्यते।

पूरणप्रत्ययान्त, गुणवाचक, सुहितार्थ, सत् (शतृ शानच) अव्यय, तव्यप्रत्ययान्त एव समानाधिकरण (एकार्थ बोधक) के साथ षष्ठ्यन्त का समास नहीं होता है। पूरण—सतां षष्ठ यहां समास न हुआ, छ ठमी संख्या को पूर्ण करने वाला अर्थात् षठमा अर्थ में षण्णा पूरण षष्ठ यहां पूरणार्थक डट प्रत्यय उसको थुक आगम एव ष्टुत्व से षष्ठ की सिद्धि है गुण में काक सम्बन्धिनी कृष्णता अर्थ में समासाभाव काकस्य कार्ष्ण्यम्। ब्राह्मणस्य शुक्ला यहां शुक्लत्व गुणविशिष्ट दन्ता यहां समासाभाव है। जब दन्त विशेष्य है, तब उसमें गुण शुक्ल विशेषण तब यह उदाहरण है, दन्त वर्णन प्रसङ्ग में क्षत्रियस्य रक्ता दन्ता वैश्यस्य पीता दन्ता शूद्रस्य कृष्णा दन्ता। इसके प्रसङ्ग में ब्राह्मणस्य शुक्ला यह कथन में विशेष्य दन्ता का स्वत प्रकरण से लाभ होता है।

इन उदाहरणों से प्राचीन समाज की स्थिति का दिग्दर्शन होता । उस समय जाति का सुगमता पूर्वक ज्ञानार्थ दांत पूर्वोक्त प्रकार से रंगने की प्रथा अनिवार्य थी। प्रश्न बिना ही स्वत ब्राह्मणादि का ज्ञान हो जाता था केवल ब्राह्मणों के दांत सफेद रहते थे। अन्य वर्णों के नहीं, श्वेत वस्त्रों का परिधान ब्राह्मण करते थे। अधिक स्वच्छता प्रिय ब्राह्मण थे, आन्तरिक एव बाह्य एव तप प्रधान असंग्रही विद्या व्यसनी रागद्वेषादि रहित थे।

गुण के साथ समास निषेध अनित्य । अत षष्ठ्यन्त का गुणवाचक सुबन्त से समास होता है क्वचित् तेन अर्थस्य गौरवम् अर्थगौरवम्, बुद्धे मा ग्रम् बुद्धिमा द्यम यहां समास हो गया। मन्दता गुरुता गुण है। इस अनित्य में सूत्रनिर्देश ही प्रमाण है संज्ञाया प्रमाणत्व तस्मात् संज्ञाप्रमाणत्वात् यह पाणिनि का शब्द सूत्रघटक है।

वस्तुत गुण के साथ समास निषेध का कोई फल नहीं है, प्रदर्शित उदाहरण समास के अनित्य न मान कर भी सिद्ध हो सकते है यथा संज्ञाया सम्बन्धि संज्ञासम्बन्धि

कृत सम्मान। यहां पूर्वपदप्रकृति स्वर है। षष्ठीसमास राज्ञा पूजित का होता है। तृतीया तत्पुरुष एवं षष्ठीतत्पुरुष में यह भेद है।

७०८ अधिकरणवाचिना च २।२।१३।

क्तेन षष्ठी न समस्यते। इदमेषामासितं गतं भुक्तं वा।

अधिकरण में विहित जो क्त तदन्त के साथ षष्ठ्यन्त का समास नहीं होता है। एषाम् आसितम् में अधिकरणवाचिनश्च सूत्र से षष्ठी विधीयमान है। 'आसीनम्' यहां आस्यन्ते अत्र यत्र इस अर्थ में 'क्तोऽधिकरणे' से आधार अर्थ में क्तप्रत्यय है स्थिति का आश्रय स्थान। समासाभाव। एषां गतम् एवं भुक्तं से भी अधिकरणार्थक क्त है—गमनक्रिया का अधिकरणमार्ग है, भोजनक्रिया का अधिकरण स्थान अर्थ है।

७०९ कर्मणि च २।२।१४।

उभयप्राप्तौ कर्मणीति या षष्ठी सा न समस्यते। आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन।

'कर्तृकर्मणो' सूत्र से कर्तृ एवं कर्म वाचक दोनों को जहाँ षष्ठी प्राप्त है वह 'उभयप्राप्तौ' नियम से कर्मवाचक से षष्ठी बोधन करता है, वही षष्ठी तदन्त का समर्थ सुबन्त के साथ समास नहीं होता है। आश्चर्यो गवां दोह अगोपेन। यहां गो शब्द दोह इस का षष्ठी समास प्राप्त है उसका निषेध है, गवाम् में उभयप्राप्तौ नियम से कर्म में षष्ठी है। अगोप से तृतीया। गोकर्मक अगोपकर्तृक जो द्रवद्द्रव्य = दूध उसका जो पृथक् करण उसका जनक जो हाथ या मशीन चलाना रूप व्यापार आश्चर्य जनक यह अर्थ है। *अधिकतर गोवाले ही गायें उस समय दुहते होंगे यह सामाजिक स्थिति का प्रयोग चित्रण करता है। गुजरात आदि प्रान्त में गृह स्वामिनी स्त्रियाँ ही गाय भैंस को प्रतिगृह दुह लेती हैं सम्प्रति भी।*

७१० तृजकाभ्यां कर्तरि २।१।१५।

कर्त्रर्थतृजकाभ्यां षष्ठ्या न समासः। अपां स्रष्टा। वज्रस्य भर्ता। ओदनस्य पाचकः। कर्तरि किम्, इक्षूणां भक्षणम् इक्षुभक्षिका। पत्यर्थकभर्तृशब्दस्य याचकादित्वात्समासः। भूभर्ता। कथं तर्हि घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलह इति। शेषषष्ठ्या समास इति कैयटः।

कर्ता का वाचक तृच् एवं अक कृत्प्रत्ययदन्त सुबन्त के साथ षष्ठ्यन्त का समास नहीं होता है। अपां स्रष्टा यहां तृच् कर्ता में है समासाभाव। 'वज्रस्य भर्ता' यहां भी समासाभाव। ओदनस्य पाचक यहां कर्ता में ण्वुल् उसको अकादेश उपधावृद्धि से पाचक। इक्षूणां भक्षणम् यहां भक्षण में ण्वुल् प्रत्यय है वह कर्ता में विहित नहीं है किन्तु भाव में है। इक्षु से कर्म में षष्ठी कर के समास इक्षुभक्षिका। इक्षुभक्षणम् अर्हतीति इक्षुभक्षिका। याचकादिगण में पति अर्थबोधक भर्तृ का पाठ है। अतः समास से भू = पृथ्वी का भर्ता रक्षक भूभर्ता। घटनिर्माण कर्ता कुम्हार (प्रजापति यह भी कहा जाता है) एवं ब्रह्मा भी प्रजापति इन दोनों में जिस प्रकार महान् अन्तर है ऐसी परिस्थिति उत्कर्षख्यापनार्थ क्लेश परस्परस्पर्धा अनुचित है उस प्रकार तुम्हारी मेरे साथ स्पर्धा या कलह अस्वाभाविक है। अत्यन्त उच्चतम के साथ अधम का क्लेश में कहा जाता है कहाँ वह कहाँ मैं। यहां त्रिभुवनस्य

विधातुः का शेषषष्ठी कर समास होता है। यहां कारक षष्ठी नहीं, अतः निषेध का विषय नहीं है। यह कैयट मत है।

७११ कर्तरि च २।२।१६।

कर्तरि षष्ठ्या अकेन न समासः। भवतः शायिका। नेह तृजनुवर्तते। तद्योगे कर्तुरभिहितत्वेन कर्तृषष्ठ्या अभावात्।

कर्ता में विहित जो षष्ठी तदन्त का अकप्रत्ययान्त सुबन्त के साथ समास नहीं होता है। भवतः यहां कर्ता में 'कर्तृ कर्मणोः' से षष्ठी है शायिका में भाव से ण्वुल् 'पर्यायार्हणा' से है, समासाभाव। यहां तृच् की पूर्व से अनुवृत्ति नहीं है। कर्ता अर्थ में विधीयमान तृच् से कर्तृरूप अर्थ उक्त होने से उसके योग में कर्त्रर्थक षष्ठी न होने से समास वहां अप्राप्त है।

७१२ नित्यं क्रीडाजीविकयोः २।२।१७।

एतयोरर्थयोरकेन नित्यं षष्ठी समस्यते। उद्दालकपुष्पभञ्जिका। क्रीडाविशेषस्य संज्ञा। संज्ञायामिति भावे ण्वुल्। जीविकायां दन्तलेखकः। तत्र क्रीडायां विकल्पे जीविकायां तृजकाभ्यां कर्तरीति निषेधे प्राप्ते वचनम्।

अक प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ क्रीडा एवं जीविका अर्थ में षष्ठ्यन्त का नित्यसमास होता है। श्लेष्मातक को उद्दालक कहते हैं उसके पुष्प जिस क्रीडाविशेष में तोड़े जाते हैं उस क्रीडाविशेष की संज्ञा अर्थ में 'संज्ञायाम्' सूत्र से भावार्थक ण्वुल् प्रत्ययकर भञ्जनं भञ्जिका बना कर उद्दालकस्य पुष्पाणि भज्यन्ते यस्यां क्रीडायाम् विग्रह में समास यहां हुआ है। दांतों पर लेखन क्रिया द्वारा जीविका अर्जनकर्ता अर्थ में षष्ठी समास तृजकाभ्यां निषेध को बाधकर इससे नित्यसमास हुआ—दन्तलेखकः। क्रीडा में विकल्प समास को बाधकर नित्यसमासार्थ यह सूत्र है।

७१३ पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे २।२।१८।

अवयविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते एकत्वसंख्याविशिष्टश्चेदवयवी। षष्ठीसमासापवादः। पूर्वं कायस्य पूर्वकायः। अपरकायः। एकदेशिना किम्, पूर्वं नाभेः कायस्य। एकाधिकरणे किम्, पूर्वश्छात्त्राणाम्। सर्वोऽप्येकदेशोऽह्ना समस्यते, संख्याविसायेतिज्ञापनात्। मध्याह्नः। सायाह्नः। केचित्तु सर्व एकदेशः कालेन समस्यते नत्वह्नैव, ज्ञापकस्य सामान्यापेक्षत्वात्। तेन मध्यरात्रः। उपरताः पश्चिमरात्रगोचरा इत्यादि सिद्धमित्याहुः।

एकत्व संख्यायुक्त अवयवी के साथ सुबन्त पूर्व, अपर, अधर, उत्तर शब्द का समास होता है। षष्ठी समास का यह सूत्र बाधक है। पूर्वं कायस्य = शरीर का पूर्वभाग अर्थ में पूर्व अम् काय अस् समास से पूर्वकायः। कटि से नीचे का शरीर को अपरकायः कहते हैं। अवयवी का पूर्वादि शब्दों के साथ समास होता है अवयववाचकषष्ठ्यन्त का नहीं अतः 'पूर्वं नाभेः' यहां नाभि अवयवी नहीं समासाभाव = नाभिका पूर्व अंश काया का अवयव है। परस्परान्वयरूप सामर्थ्य यहां है।

जहां अवयवी बहुत्वसंख्यायुक्त रहे वहां समासाभाव है, यथा पूर्वः छात्त्राणाम्। सभी अवयववाचकशब्द का अह्न् सप्तम्यन्त के साथ समास होता है, इसमें ज्ञापक "संख्याविसाय' सूत्र ही प्रमाण है यथा सायपूर्वक अह्न को अह्न् आदेश वह करता है, यदि अवयववाचकभाव का अह्न् के साथ समास न होता तो सायपूर्वकत्व अह्न् को दुर्लभत्व से आदेश विधान अनुपपन्न होकर समास विधान में

ज्ञापक है। यहां "असति बाधके प्रमाणानां सामान्ये पक्षपात" विशेष बाधक न रहें वहां ज्ञापन लाघवार्थ सामान्य होता है, विशेषज्ञान सामान्यज्ञानपूर्वक होता है वहां ज्ञानद्वय का ज्ञान करना पड़ता है गौरव है, अत सर्वोऽप्येकदेश कालेन सह समस्यते = सभी अवयववाचक शब्दों का कालवाचकषष्ठ्यन्त के साथ समास होता है। यही सामान्यज्ञापन सख्याविसाय में सायग्रहण करता है। इससे रात्रे मध्यम् मध्यरात्र की सिद्धि हुई, रात्रिशब्द भी कालवाचक है। टच्प्रत्ययान्त रात्र यहां है। रात के बारह बजे बाद अप्रयोजनरूप व्यापार से विरत है, एतदर्थक वाक्यघटक 'पश्चिम रात्र' की भी सिद्धि हुई।

७१४ अर्धं नपुंसकम् २।२।२।

समांशवाच्यर्धशब्दो नित्यं क्लीबे स प्राग्वत्। ॐएकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्ॐ। एकदेशिसमासविषयकोऽयमुपसर्जनसंज्ञानिषेधः। तेन 'पञ्चखट्वी' इत्यादि सिध्यति। अर्धं पिप्पल्या अर्धपिप्पली। क्लीबे किम्, ग्रामार्धः। द्रव्यैक्ये एव। अर्धं पिप्पलीनाम्।

अर्धशब्द अनेक लिङ्ग है, उनमें समानांशवाचक खण्डार्थक नित्य नपुंसक ही है। समांश वाचक नपुंसक सुबन्त अर्ध का षष्ठ्यन्त के साथ समास होता है। पूर्व वर्णित 'एकविभक्ती चापूर्व निपाते' में वह एकदेशी षष्ठ्यन्त जहां रहे वहां उपसर्जनसंज्ञा नहीं करता है, अन्यत्र षष्ठ्यन्त समासावयव की उपसर्जन संज्ञा होती ही है। प्रकृत में पिप्पल्या अर्धम् = पिप्पली अम् अर्ध [illegible] समास, विभक्ति लुक्, अर्ध का उपसर्जनसंज्ञा पूर्वनिपात यहां समासार्थविग्रह वाक्य में पिप्पली नियतविभक्त्यन्त = षष्ठ्यन्त है अत इस वार्तिक ने पिप्पली की उससे प्राप्त उपसर्जन संज्ञा का एकदेशी समास होने के कारण निषेध किया अत उपसर्जन पिप्पली नहीं अत ह्रस्व 'गो स्त्रिया' से न हुआ। अर्धपिप्पली। पिपर का ठीक आधा हिस्सा यह अर्थ है। पञ्चानां खट्वाना समाहार यहां 'तद्धितार्थोत्तरपदे' से समास अवयव अवयवी का नहीं है अत एक देशि समास पर पढ़ा हुआ वार्तिक उपसर्जन संज्ञा का यह प्रतिबन्धक नहीं है उपसर्जन संख्या होकर खट्वा का आकार का ह्रस्व अकार हुआ है। अकारान्तोत्तरपदोद्विगु स्त्रियामिष्ट से विद्यमान पञ्चखन्व से द्विगो ङीप् होकर अकारलोप से पञ्चखट्वी है।

ग्रामार्ध में षष्ठी सूत्र से समास ग्राम की उपसर्जन संज्ञा पूर्वनिपात यहां अर्ध शब्द पुंलिङ्ग है, अत 'अर्धम्,' सूत्र की अप्रवृत्ति है। अवयवी वाचक शब्द एकवचनान्त नहीं अत 'अर्धपिप्पली नाम्' यहां समासाभाव है। यहां नपुंसक ग्रहण व्यर्थ है समांशवाचक नित्यनपुंसक है ही, वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि 'सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्' परिभाषा।

७१५ द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम् २।२।३।

एतान्येकदेशिना सह प्राग्वद्वा। द्वितीयं भिक्षाया -द्वितीयभिक्षा। एकदेशिना किम् द्वितीयं भिक्षाया भिक्षुकस्य। अन्यतरस्याग्रहणसामर्थ्यात्पूरणगुणेति निषेधं बाधित्वा पक्षे षष्ठीसमासः। भिक्षाद्वितीयम्।

सुबन्त द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एव तुर्य का सुबन्त अवयवी के साथ विकल्प समास होता है भिक्षा का दूसरा अंश, यहां भिक्षा अस् द्वितीय सु समासादिकार्य से द्वितीय भिक्षा पक्ष में 'द्वितीयं भिक्षाया'। भिक्षुक की भिक्षा का द्वितीय अंश यहां 'द्वितीयं भिक्षाया भिक्षुकस्य' भिक्षा अवयवी

वाचक नहीं अतः समास यहां न हुआ। अन्यतरस्यां ग्रहण यहां एकार्थीभावात्मिका शक्ति में समास विकल्पार्थ है, अतः इससे समासाभाव पक्ष में 'पूरणगुण' से प्राप्त समास निषेध को बाधकर षष्ठीतत्पुरुष होता है, भिक्षा का इसमें पूर्वनिपात है - भिक्षाद्वितीयम् । भिक्षा का दूसरा भाग = अंश ।

७१६ प्राप्तापन्ने च द्वितीयया २।२।४।

पक्षे द्वितीया श्रितेति समासः। प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविकः। जीविकाप्राप्तः। आपन्नजीविकः, जीविकापन्नः। इह सूत्रे द्वितीयया अ इति छित्त्वा अकारोऽपि विधीयते। तेन जीविकां प्राप्ता स्त्री प्राप्तजीविका। आपन्नजीविका।

सुबन्त प्राप्त एवं आपन्न का द्वितीयान्त के साथ समास होता है। पक्षमें द्वितीया श्रित से समास होता है। जीविकां प्राप्तः—प्राप्तजीविकः 'गोस्त्रियोः' से आकार का ह्रस्व। पक्ष में जीविकाप्राप्तः। जीविकाम् आपन्नः आपन्नजीविकः पक्ष में जीविकापन्नः। इस सूत्रमें अकार पृथक् कर अकार भी इसका विधेय है, यहां स्त्रीवाचक प्राप्ता एवं आपन्ना का आकार को अकारादेश होकर जीविकां प्राप्ता, जीविकाम् आपन्ना स्त्री यहां प्राप्तजीविका, आपन्नजीविका हुआ है, अकार पदच्छेद में शिष्टकृत व्याख्यान शरण है।

६१७ कालाः परिमाणिना २।२।५।

परिच्छेद्यवाचिना सुबन्तेन सह कालाः समस्यन्ते। मासो जातस्य यस्य स मासजातः। द्व्यहजातः। द्वयोरह्नोः समाहारो द्व्यहः। द्व्यहो जातस्येति विग्रहे। ❀उत्तरपदेन परिमाणिना द्विगोः सिद्धये बहूनां तत्पुरुषस्योपसंख्यानम्❀।

द्वे अहनी जातस्य स द्व्यहजातः, 'अह्नोऽह्नः' इति वक्ष्यमाणोऽह्नादेशः। पूर्वत्र तु 'न संख्यादेः समाहारे' इति निषेधः।

सुबन्त परिच्छेद्य वाचक के साथ कालवाचक सुबन्त का समास होता है। जिस बालक को उत्पन्न हुए एक मास हुआ इस अर्थ में 'जातस्य मासः' यही लौकिक विग्रह है। यस्य घटित बहुव्रीहि नहीं है, 'स' समस्त शब्द स्वरूप का परिचायक है, अन्यथा बहुव्रीहि की भ्रान्ति प्रसक्त होगी। मास अम् जात ङ यह अलौकिक विग्रह वाक्य है, समास मासजातः। जातस्य द्व्यहः इति द्व्यहजातः संख्यावाचक द्विशब्द आदि में है, अह्न आदेश न हुआ 'न संख्यादेः' से निषेध है। द्वयोः अह्नोः समाहारः द्व्यहः। द्वि अहन् टच् टिलोप जातस्य द्व्यहः इति द्व्यहजातः। ❀परिमाण वाचक उत्तरपद के साथ द्विगुसमासकी। सिद्धि के लिए अनेक (बहुत) पदों का तत्पुरुष समास होता है। द्वे अहनी जातस्य यहाँ द्वि औ अहन् औ जात ङस् यहां उत्तरपद परिमाण वाचक जात है, अतः त्रिपदतत्पुरुष समासकर विभक्ति लोप के बाद प्रत्यय लक्षण से सुबन्त मानकर द्वि अहन् का तद्धितार्थोत्तरपदे' से द्विगुसमास हुआ है। यहां 'अह्नोऽह्न' से अह्नादेश हुआ है।

७१८ सप्तमी शौण्डैः २।१।४०।

सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्राग्वद् वा। अक्षेषु शौण्डः—अक्षशौण्डः। अधिशब्दोऽत्र पठ्यते। अव्युत्तरपदादिति स्वः। ईश्वराधीनः।

शौण्डादिगण पठित सुबन्त शब्दों के साथ सप्तम्यन्त का विकल्प से समास होता है। पासा खलने में धूर्त यहां 'अक्षेषु शौण्डः' अक्षशौण्डः यहां वृत्ति के अन्तर्भूत इसक्ति आदि क्रियाओं का

आपेक्षकर अक्षादि को आकारत्व मानना। अक्षधूर्त। स्त्रीधूर्त। स्त्रीकितव। यहां सूत्र में बहुवचन से गणपाठ का ग्रहण है। शौण्डादिगण में अधिशब्द का भी पाठ है ईश्वरे अधि ईश्वराधि से खप्रत्यय, ख को इन ईश्वराधीन।

७१९ सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च २।१।४१।

एतैः सप्तम्यन्तं प्राग्वत्। साङ्काश्यसिद्धः। आतपशुष्कः। स्थालीपाकः। चक्रबन्धः।

सप्तम्यन्त का सुबन्त सिद्ध शुष्क पक्व एवं बन्ध के साथ समास होता है। सङ्काशसन्निकृष्ट से भवार्थं ण्यप्रत्यय से साङ्काश्य। तत्र सिद्धः यहां समास है। आतपे शुष्कः यहां समास। स्थाल्यां पाकः स्थालीपाकः, चक्रे बन्धः समास चक्रबन्ध इससे हुआ है।

७२० ध्वाङ्क्षेण क्षेपे २।१।४२।

ध्वाङ्क्षवाचिना सह सप्तम्यन्तं समस्यते निन्दायाम्। तीर्थे ध्वाङ्क्ष इव तीर्थध्वाङ्क्षः, तीर्थकाकः (इत्यर्थः)।

निन्दा प्रतीयमान रहे सुबन्त ध्वाङ्क्षवाचक के साथ सप्तम्यन्त का समास होता है। तीर्थ (तरन्ति पितरः यत्र स्नानश्राद्धादिना तत् तीर्थम्) ध्वाङ्क्ष इव इति तीर्थध्वाङ्क्ष तीर्थकाक की तरह यात्रियों से अभद्र व्यवहार करनेवाले लोग। जो धूर्तता से यात्रियों को ठगते हैं।

७२१ कृत्यैर्ऋणे २।१।४३।

सप्तम्यन्तं कृत्यप्रत्ययान्तैः सह प्राग्वद् आवश्यके। मासेदेयम् ऋणम्। ऋणग्रहणं नियोगोपलक्षणम्। पूर्वाह्णे गेयं साम।

आवश्यक अर्थ गम्यमान रहते सुबन्त कृत्यप्रत्ययान्त के साथ सप्तम्यन्त का समास होता है। मास व्यतीत होने पर अवश्य देय कर्ज है, यहां मासे देयम् ऋणम्। दा धातु से यत् देय आवश्यक अर्थ के उपलक्षणार्थ सूत्र में ऋण ग्रहण है सामगानों का पूर्वाह्ण में गान आवश्यक है, पूर्वाह्णे गेयम् साम। जहां अनावश्यकता प्रतीयमान रहता है वहां समासाभाव से 'मासे देया' भिक्षा ऐसा असमस्तरूप रहता है।

७२२ संज्ञायाम् २।१।४४।

सप्तम्यन्तं सुपा प्राग्वत् संज्ञायाम्। वाक्येन संज्ञाया अनवगमात् नित्यसमासोऽयम्। अरण्येतिलकाः। वनेकसेरुकाः। हलदन्तादिति सप्तम्या अलुक्।

संज्ञा में सुबन्त के साथ सप्तम्यन्त का समास होता है। वाक्य से संज्ञारूप अर्थ की प्रतीति नहीं है अतः विग्रह होने हुवे भी नित्यसमास सदृश है। उदाहरण दोनों में समास होने पर 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से लुक न हुआ, उसका बाधक सूत्र है—'हलदन्तात् सप्तम्याः अलुक' हुआ है। वे दोनों किसके नाम है, यह अन्वेष्य है।

७२३ क्तेनाहोरात्रावयवाः २।१।४५।

अह्नो रात्रेश्चावयवाः सप्तम्यन्ताः क्तान्तेन सह प्राग्वत्। पूर्वाह्णकृतम्। अपररात्रकृतम्। अवयवग्रहणं किम्, अह्नि दृष्टम्।

अह्न् एवं रात्रि के अवयव वाचक सप्तम्यन्त का सुबन्त क्तान्तके साथ समास होता है। यथा पूर्वाह्णे कृतम्, अपररात्रौ कृतम् यहां समास विभक्ति का लुक्। पूर्वाह्णकृतम्, अपरात्रकृतम्। दिवस में दृष्ट यहां समास का अभावार्थ सूत्र में अवयवग्रहण किया है, अहि दृष्टम्।

७२४ तत्र २।१।४६।

तत्रेत्येतत्सप्तम्यन्तं क्तान्तेन सह प्राग्वत्। तत्रभुक्तम्।

तत्र यह सप्तम्यन्त का सुबन्त क्तान्तके साथ समास होता है। तत्र भुक्तम् इति तत्र भुक्तम्। यहां समास एवं समासाभाव में भी रूप समान हैं किन्तु समास से एकपद स्वर आदि अनेक फल हैं। तत्र भुक्तस्यापत्यम् तात्रभुक्तिः। यह भी फल है।

७२५ क्षेपे २।१।४७।

सप्तम्यन्तं क्तान्तेन सह प्राग्वत् निन्दायाम्। अवतप्तेनकुलस्थितं त एतत्।

निन्दा अर्थ गम्यमान रहे वहां सुबन्त क्तान्त का समास होता है। एक तो नकुल (नौल) स्वभावतः अचल उसमें भी उसको तप्त स्थान में रखने पर तो महाचञ्चल होता है उसी प्रकार तुम्हारी यहां स्थिति अत्यन्त अनिश्चित सी है. इससे निन्दा ध्वनित हुई अवतप्तेनकुलस्थितम् का समास कर तत्पुरुषे कृति बहुलम् से सप्तमी का अलुक् है। यहां यद्यपि क्तान्त तदादि स्थित है किन्तु कारक विशिष्ट नकुल स्थित में कृद्ग्रहण परिभाषा से क्तान्ततदादित्व आरोप से क्तान्त तदादि नकुलस्थित को मान कर सप्तम्यन्त का यहां समास है।

७२६ पात्रेसमितादयश्च २।१।४८।

एते निपात्यन्ते क्षेपे। पात्रेसमिताः। भोजनकालसमये सङ्गता न तु कार्ये। गेहेशूरः। गेहेनर्दी। आकृतिगणोऽयम्। चकारोऽवधारणार्थः। तेनैषां समासान्तरे घटकतया प्रवेशो न। परमाः पात्रे समिताः।

निन्दा गम्यमान रहते पात्रे समितादिगणपठितों का समास एवं विभक्ति का अलुक् एवं चकार से इन समास युक्त का अन्य समास में अवयवत्व से प्रवेश नहीं वहां वाक्य ही रहेगा। भोजन समय उपस्थित रहते हैं, कार्यकरण समय नहीं यहां समास अलुक् से 'पात्रे समिताः' हुआ उसी प्रकार घर में ही शौर्य का प्रदर्शन करने वाला, अन्यत्र नहीं—गेहेशूरः। घर में गर्जन करने वाला गेहेनर्दी। परमाश्च ते पात्रेसमिताः यहां समानाधिकरण तत्पुरुषरूप कर्मधारय समास न हुआ किन्तु चकार बल से वाक्य ही रहा।

७२७ पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन २।१।४९।

विशेषणं विशेष्येणेति सिद्धे पूर्वनिपातनियमार्थं सूत्रम्। एकशब्दस्य दिक्संख्ये संज्ञायाम् इति नियमबाधनार्थञ्च। पूर्वं स्नातः पश्चादनुलिप्तः स्नातानुलिप्तः। एकनाथः। सर्वयाज्ञिकाः। जरन्नैयायिकाः। पुराणमीमांसकाः। नवपाठकाः। केवलवैयाकरणाः।

सुबन्त पूर्व, काल, एक, सर्व, जरत, पुराण, नव एवं केवल का समानविभक्तिक एवं समानार्थक सुबन्त के साथ समास होता है। यहां 'विशेषणम्' सूत्र से समास सिद्ध ही था, यह पूर्वादि की उपसर्जन द्वारा पूर्व निपातार्थ है। एवं एकशब्द का 'दिक् संख्ये' नियम से अप्राप्त समासविध्यर्थ है। स्नातश्चासौ अनुलिप्तश्च स्नातानुलिप्त 'पूर्वम्' 'पश्चात्' का विग्रहवाक्य में प्रवेश नहीं है, अन्यथा उनका लोपार्थ अपूर्ववचन करना पड़ेगा, प्रथम स्नान किया युक्त आदि अर्थ प्रकरणादिगम्य है। एकश्चासौ नाथश्च एकनाथ सर्वे याज्ञिका इति सर्वयाज्ञिकाः आदि। वृद्धावस्थायुक्त नैयायिक। प्राचीनमीमांसा शास्त्र के पढने वाले। जरन्नैयायिका। पुराणमीमांसकाः। आदि।

७२८ दिक्संख्ये संज्ञायाम् २।१।५०।

समानाधिकरणेनेत्यापादपरिसमाप्तेरधिकारः। संज्ञायामेवेति नियमार्थं सूत्रम्। पूर्वेषुकामशमी। सप्तर्षय। नेह—उत्तरा वृक्षाः। पञ्च ब्राह्मणा।

संज्ञा में दिक् एवं संख्यावाचक का समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास होता है। प्रथमपाद जब तक समाप्त न हो जाय तब तक समानाधिकरण शब्द का अधिकार है। 'विशेषण विशेष्येण' से समास सिद्ध था यह सूत्र नियमार्थ है—संज्ञा में ही दिग् वाचक एवं संख्यावाचक का समास होता है, अन्यत्र नहीं। इस नियम का फल यह है कि उत्तरा वृक्षा', पञ्च ब्राह्मणा', यहां संज्ञा न होने समासाभाव हुआ। एवं पूर्वा चासौ इषुकामशमी च यहां संज्ञा होने से समास कर 'पूर्वेषुकामशमी' एवं सप्त च ते ऋषय सप्तर्षय। यहां समास हुआ वे दोनों समस्त संज्ञावाचक है।

७२९ तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च २।१।५१।

तद्धितार्थे विषये उत्तरपदे च परतः, समाहारे च वाच्ये दिक्संख्ये प्राग्वद् वा। पूर्वस्यां शालायां भवः पौर्वशालः। समासे कृते 'दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः' इति ञः। *सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः*। आपरशालः। पूर्वा शाला प्रिया यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ कृते प्रियाशब्दे उत्तरपदे पूर्वयोस्तत्पुरुषः। तेन शालाशब्दे आकार उदात्तः। पूर्वशालाप्रियः। दिक्षु समासो नास्त्यनभिधानात्। संख्यायास्तद्धितार्थे—षण्णां मातृणाम् अपत्यं षाण्मातुरः। पञ्च गावो धनं यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहाववान्तरतत्पुरुषस्य विकल्पे प्राप्ते* द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्*।

यहां दिक् संख्या की अनुवृत्ति है। तद्धितार्थ में विषयसप्तमी है। तद्धितप्रत्ययका अर्थ प्रतीयमान रहे। एवं समासोत्तर तद्धितप्रत्यय उत्पन्न होना हो वह तद्धितार्थ विषय है। इस सूत्र के पांच उदाहरण दिये जाते हैं १—तद्धितार्थ विषय में दिग् वाचक का २—तद्धितार्थ में संख्यावाचकका ३—उत्तरपदपरक दिक्वाचक का समास एवं ४—उत्तरपदपरकसंख्या वाचक का समाहार नहीं है अनभिधान से अत संख्या का ही समाहार का उदाहरण है।

सूत्रार्थ—तद्धितार्थ विषय में, उत्तरपद पर रहने और समाहार में दिग् वाचक सुबन्त एवं संख्यावाचक सुबन्त का विकल्प से समास होता है। यथा पूर्वस्यां शालायां भवः इस अर्थ में पूर्वा ङि शाला ङि यहां तद्धितप्रत्यय का भव अर्थ प्रतीयमान प्रथमसे है, समास विभक्ति कर पूर्वा शाला यहां दिक पूर्वपदात' सूत्रसे ञप्रत्यय आदिवृद्धि शाला का आकार का यस्येति च से लोप

'सर्वनाम्नः' से पूर्वा का पुंवद्भाव से टाप् की निवृत्ति पौवशालः। अपरस्यां शालायां भवः उसी प्रकार आपरशालः। उत्तरपदपरक का उदाहरण—पूर्वा शाला प्रिया यस्य यहां पूर्वा सु शाला सु प्रिया सु 'अनेकम्' सूत्रसे त्रिपदबहुव्रीहि विभक्ति का लोप पूर्वाशालाप्रिया, यहां उत्तरपद शब्द पर रहने प्रत्ययलक्षण से पूर्व दो पदों को सुवन्त मानकर तत्पुरुषसमास हुआ, पुंवद्भाव से पूर्व के बाद के टाप् की निवृत्ति पूर्वशाला के आकार तत्पुरुष समास का अन्त होने से ह्रस्व पूर्वशाला-प्रिया अन्तिम आकार का ह्रस्व 'पूर्वशालाप्रियः'। दिक् वाचक का समाहार नहीं है, शिष्टप्रयोग नहीं मिलता। यह दो दिक्वाचक के समाहार में उदाहरण दिये गये हैं।

संख्यायास्तद्धितार्थे—यथा षष् आम् मातृ आम् अपत्य अर्थ गम्यमान है समास, विभक्ति लुक् अपत्यार्थक अण्प्रत्यय। मातृका ऋकार को उकार रपर आदि वृद्धि पाण्मातुरः। कुमार कार्तिकस्वामी शंकरजी के ज्येष्ठ पुत्र। पञ्चन् भस् गो अस् धन सु त्रिपदबहुव्रीहि के पश्चात् अवान्तर तत्पुरुष इससे प्राप्त था उसको बाध करने के लिए वार्तिक यह है कि उत्तरपद पर में रहने द्वन्द्व एवं तत्पुरुषसमास नित्य होता है, पञ्चगोधन में गोन्ततत्पुरुष से टच् करने का वक्ष्यमाण सूत्र है।

७३० गोरतद्धितलुकि ५।५।९२।

गोऽन्तात् तत्पुरुषाट्टच् स्यात् समासान्तो न तद्धितलुकि। पञ्चगवधनः।

गोशब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय होता है, तद्धितलुक् में नहीं। पञ्चगोधन यहां टच् ओकार को अवादेश पञ्चगवधनः, विभक्ति लुक् टच् पञ्चगवम्।

७३१ सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः २।१।५२।

तद्धितार्थेत्यत्रोक्तसंख्यापूर्वो द्विगुः स्यात्।

तद्धितार्थ से विहित जो त्रिविध समास उसमें संख्या वाचक शब्द पूर्वपद रहे तो उस समास का नाम द्विगु समास है। इससे द्विगुसंज्ञा करके—

७३२ द्विगुरेकवचनम् २।१।१।

द्विग्वर्थः समाहार एकवत् स्यात्। स नपुंसकमिति नपुंसकत्वम्। पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम्।

पञ्चगव को द्विगुसंज्ञा, तथा एकत्व, एवं नपुंसकत्व होता है। पञ्चानाम् गवां समाहारः यहां पञ्चन् आम् गो आम् समास।

७३३ कुत्सितानि कुत्सनैः २।१।५३।

कुत्स्यमानानि कुत्सनैः सह प्राग्वत्। वैयाकरणखसूचिः। मीमांसकदुर्दुरूटः।

निन्दावाचक शब्द के साथ कुत्स्यमान (निन्दापात्र) सुबन्त का समास होता है। वैयाकरणश्चासौ खसूचिश्चेति वैयाकरण सु खसूचि सु समास, विभक्तिलुक् वैयाकरणखसूचिः। मीमांसकश्चासौ दुर्दुरूटश्चेति समास-मीमांसकदुर्दुरूटः। व्याकरणशास्त्र का अध्येता या ज्ञाता को वैयाकरण कहते हैं। उससे किसी ने व्याकरण विद्या विषयक प्रश्न पूछा, किन्तु उत्तर न आने पर मूल प्रश्न को गौण करने के लिए वह आकाश को सूचित करता है एवं कहता है कि बादल से आकाश आच्छादित हो रहा है, इस प्रकार अप्रासङ्गिक बातें से अपनी अभ्यासाभावप्रयुक्त मूर्खता छिपाने का

यह यत्न करता है वह निन्दा में ऐसा प्रयोग होता है "य पृष्ट" सन् प्रश्न विस्मारयितु ख सूचयति, अभ्यासवैधुर्यात्, न तु व्याकरणशास्त्र निन्दितम्, वेदाङ्गेषु तस्य प्राधान्यात्। तज्ज्ञातापि न निन्दितोऽस्तीति। व्याकरण के विषय में—

'तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सकम्।
पवित्र सर्वविद्यानामधिविद्य प्रकाशते।
इय सा मोक्ष्यमाणानामजिह्मा राजपद्धति।'

व्याकरणपदार्थज्ञानद्वारा वेदादि के मर्मज्ञानद्वारा तदनुकूल अनुष्ठान जन्य मोक्षप्राप्ति में प्रधान द्वारस्वरूप है। वाणी के मलों का व्याकरण चिकित्सा शास्त्र की तरह चिकित्सक है मोक्ष प्राप्ति के इच्छुकों के लिए सरल राजमार्ग है। मीमासाशास्त्र उसके ज्ञाता को मीमासक कहते हैं *मीमासा पढकर अज्ञानवश ईश्वर का खण्डनार्थ कुतर्क करता है यहां निन्दा गम्यमान है-मीमासक* दुर्दुरूढ़।

७३४ पाणाणके कुत्सितैः २।१।५४।

पूर्वसूत्रापवादः। पापनापित। अणककुलालः।

कुत्सित वाचक सुबन्त के साथ सुबन्त पाप एव अणक का समास होता है। यह पूर्व सूत्रका निषेधक है। पापश्चासौ नापित, अणकश्चासौ कुलाल, यहाँ समास एव विभक्ति लुक् पाप एव अणक की उपसर्जन सज्ञा, पूर्वनिपात पापनापित = दुष्टनापित जो क्षौर कर्म उचित प्रकार से नहीं करता है। एव दुष्ट कुम्हार जो मिट्टी के पात्रों को उचित ढग से नहीं बनाता है अणककुलाल। उपमित समास प्रदर्शन—

७३५ उपमानानि सामान्यवचनैः २।१।५५।

घन इव श्यामो घनश्याम। इह पूर्वपद तत्सदृशे लाक्षणिकमिति सूचयितुं लौकिकविग्रहे इवशब्द प्रयुज्यते। पूर्वनिपातनियमार्थं सूत्रम्।

उप उपसर्ग पूर्वक माङ् से करण में ल्युट्प्रत्यय एव प्रादिसमास। उपमान शब्द = उपमीयते येन तद् उपमानम् = जिससे अन्य वस्तु सादृश्य से परिच्छिन्न हो। यथा गाय की तरह गवय है, यहां गो करण सादृश्य हेतु, पुरुष परिच्छेदक है वह गो सादृश्य से गवय को परिच्छिनत्ति *व्यावर्तयति। उपमान एव उपमेय उभय वृत्ति साधारण धर्म को सामान्यवचन कहते हैं। सूत्रार्थ—* उपमा उपमेय उभय साधारण धर्म वाचक सुबन्त के साथ उपमान वाचक सुबन्त का समास होता है। यथा मेघ उपमानवाचक है, उपमेय विष्णु है, इन दोनों में श्यामत्व है, अत श्याम-सुबन्त का मेघ सुबन्त का समास हुआ—घनश्चासौ श्यामश्च इति घनश्याम। यहां घनपद लक्षणावृत्ति से या अप्रसिद्ध शक्ति से घनसदृश में लाक्षणिक है इसी अर्थ द्योतनार्थ इव का प्रयोग किया, किंतु इव का विग्रहवाक्य में घटकतया प्रवेश नहीं है। यहां श्यामत्व गुण है, वह गुणी (द्रव्य) भेद से भिन्न है घनवृत्तिश्यामत्व घन में ही है वह विष्णु में नहीं है, विष्णुवृत्ति श्यामत्व गुण विष्णु में ही है मेघ में नहीं अत यहां यह अर्थ करना घनवृत्ति जो श्यामत्व तत्समान जो श्यामत्व तद् श्रीकृष्ण वृत्ति है। अथवा सादृश्यमूलक अभेद का अध्यास है। यह उपमान वाचक का पूर्वनिपात का नियमन करता है। अन्यथा अनियम होगा, यथा—खञ्जकुब्ज, कुब्जखञ्ज। की तरह। एवं प्रतिपदोक्त ही उपमान समास का ग्रहण द्वारा 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' से प्रकृति स्वरप्रवृत्तिरूप भी इसका प्रयोजन है। *यहां समानाधिकरण का सम्बन्ध है, प्रकृत में जो घनसदृश है*

वह विष्णु एवं विष्णु ही घनसदृश दोनों का एकार्थबोधकत्व है। अतः मृगी चासौ चपला यहां समानाधिकरण चपला पर रहते पुंवद्भाव से 'मृगचपला' हुआ। यहां दयानत्व या चपलत्व साधारण धर्म है।

७३६ उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे २।१।५५।

उपमेयं व्याघ्रादिभिः सह प्राग्वत् साधारणधर्मस्याप्रयोगे सति। विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थं सूत्रम्। पुरुषव्याघ्रः। नृसोमः। व्याघ्रादिराकृतिगणः। सामान्याप्रयोगे किम्? पुरुषो व्याघ्र इव शूरः।

उपमेय एवं उपमित दोनों समानार्थक हैं। उपमेय उपमान में नित्यसाकाङ्क्ष है, अतः उपमान का यहां आक्षेप अर्थापत्तिरूपदार्शनिक सम्मत प्रमाण से होता है। उपमान = व्याघ्रादि, उपमेय पुरुषादि हैं। किन्तु उपमान एवं उपमेयवृत्ति साधारण धर्मवाचक शब्द अप्रयुक्त रहें।

सूत्रार्थ—सुबन्त उपमेय का उपमान वाचक सुबन्त व्याघ्रादि शब्दों के साथ समास होता है, जहां उभयवृत्ति धर्म वाचक शब्द का अप्रयोग रहे। यह सूत्र उपमेय प्रथमान्त बोध्य विशेष्य वाचक की उपसर्जनसंज्ञा द्वारा विशेष्य का पूर्वनिपातार्थ है। व्याघ्रश्चासौ पुरुषश्चेति पुरुष—व्याघ्रः। यहां पुरुषार्थ विशेष्य है वही उपमेय है, व्याघ्र = सिंह उपमान है, उभयवृत्ति धर्म शूरत्व क्रूरत्वादि उनका वाचक शूर या क्रूर उसका यहां अप्रयोग है, समास हुआ। सोमश्चासौ ना इति नृसोमः। आह्लादकत्व-शीतत्व-निर्मलत्वादि धर्म से उभय का सादृश्य है, समास से नृसोमः। व्याघ्रादि आकृतिगण है। सामान्याप्रयोगे का प्रयोजन—पुरुषो व्याघ्र, इव शूरः। यहां उपमान एवं उपमेय उभयवृत्ति साधारणधर्म शूरत्व तद्वाचक शूरशब्द का प्रयोग है अतः वाक्य ही रहा, समास न हुआ।

यहां यह शङ्का हुई कि पुरुषपदार्थ शूर पदार्थ में सापेक्ष है सापेक्षस्थल में एकार्थीभावरूप सामर्थ्य की स्थिति नहीं; अतः समास अप्राप्त है, अप्राप्त का निषेध अनुचित है, सूत्र में सामान्याप्रयोग ग्रहण क्यों किया?,

सापेक्ष स्थल में दो प्रकार हैं, नित्यसापेक्षस्थल में सामर्थ्य की स्थिति मानकर समास करना यथा देवदत्तस्य गुरुकुलम्। दूसरा प्रकार यह है—प्रधानीभूत अर्थ = विशेष्यार्थ वह पदार्थान्तर में सापेक्ष रहे वहां एकार्थीभावरूप सामर्थ्य की स्थिति रहती ही है। इस दूसरे पक्ष में यही 'सामान्याग्रहणे' प्रमाण है।

७३७ विशेषणं विशेष्येण बहुलम् २।१।५७।

भेदकं समानाधिकरणेन भेद्येन बहुलं प्राग्वत्। नीलमुत्पलं नीलोत्पलम्। बहुलग्रहणात्क्वचिन्नित्यम्। कृष्णसर्पः। क्वचिन्न, रामो जामदग्न्यः।

विपूर्वक शिष् धातु से कर्तृत्व की अविवक्षा से करण में ल्युट् प्रत्यय है। विशिष्यते येन इति विशेषणम् = स्वयं रहकर अन्य की व्यावृत्ति करे उसको विशेषण कहते हैं, अर्थात् व्यावर्तक = रोकने वाला उसके भेदक भी कहा जाता है। जो व्यावृत्ति क्रिया करता है अर्थात् रोका जाता है उसको व्यावर्त्य = भेद्य = विशेष्य कहा जाता है। यहां एकार्थ बोधकत्वरूप समानाधिकरण का सम्बन्ध है सुप् एवं सुपा का एवं सामर्थ्य का भी सम्बन्ध है। विद्यमानत्वे सति व्यावर्तकत्वम् = विशेषणत्वम् यह परिभाषा हुई। व्यावर्त्य—व्यावर्तक = विशेष्य-विशेषण सुबन्त का समास होता है।

सूत्रार्थ—सुबन्त भेदक का समर्थ सुबन्त भेद्य का विकल्प से समानाधिकरण तत्पुरुष समास होता है। नीलम् तत् कमलम् = नीलकमलम्। यहाँ नील का नीलगुणाश्रय अर्थ है, नील शब्द से मतुप् का 'गुणवचनेभ्य' से लुक् है, 'य शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी' न्याय से। नीलगुणाश्रय से अभिन्न उत्पल = कमल है, नील विशेषण रक्तादि की व्यावृत्ति करता हुआ उत्पल में स्थित है। पक्ष में 'नीलम् उत्पलम्' वाक्य है। बहुल ग्रहण से विभाषाऽधिकार है तथापि क्वचित् नित्यसमास होता है, यथा कृष्णसर्प। कहीं बहुल से समासाभाव भी होता है, अन्य राम की व्यावृत्ति के लिए परशुराम का बोधार्थ विशेषण वाचक जामदग्न्य दिया, राम विशेष्य है समास न हुआ, वाक्य ही रहा। अनेक राम है।

अब यहां शङ्का होती है कि 'पाचकपाठक' 'पाठकपाचक' के समान विशेषण विशेष्य कामचार है, अतः उत्पल को विशेषणत्व नील को विशेष्यत्वको विवक्षा से कमल अर्थ से कमलार्थ से अभिन्न-नीलार्थ इस प्रकार अर्थबोध में 'उत्पलनीलम्' भी होना चाहिये ?, समाधान—जाति का गुण एवं क्रिया से सन्निधान में विशेष्यसमर्पकता ही रहती है। यथा-नीलोत्पलम्। पाचकब्राह्मण। गुण एवं गुण उनके वाचक में अनियम है, यथेच्छ विशेष्य विशेषणभाव है।

७३८ पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च २।१।५८।

पूर्वनिपातनियमार्थमिदम्। पूर्ववैयाकरणः। अपराध्यापक। ॐअपरस्यार्धे पश्चभावो वक्तव्य ॐ। अपरश्चासावर्धश्च पश्चार्धः। कथमेकवीर इति ?, 'पूर्वकालैक' इति बाधित्वा परत्वादनेन समासे वीरैक इति हि स्यात्। बहुल-ग्रहणाद् भविष्यति।

सुबन्त पूर्व पर, अपर, प्रथम, चरम, जघन्य, समान, मध्य, मध्यम एवं वीर का समानाधिकरण (विशेष्य) वाचक के साथ विकल्प से समास होता है। यह पूर्वादिशब्दों की उपसर्जनसंज्ञा प्रतिपादन करवाता हुआ इनका ही पूर्वनिपात को बोधन करता है। पूर्वश्चासी वैयाकरण इति पूर्ववैयाकरण। अपरश्चासो अध्यापकश्चेति अपराध्यापक। अर्धशब्द उत्तरपदमें रहते अपर को पश्च आदेश होता है। यथा अपरश्चासो अर्धश्चपश्चार्धः। यहां शङ्का करते हैं कि 'एकवीर' कैसे सिद्ध हुआ ?, यहां 'पूर्वकालैक' सूत्र से प्राप्त समास को यह परत्वात् बाध कर स्वय समास करने पर 'वीरैक' होना उचित है, किन्तु यहां पूर्वसूत्र से बहुल का सम्बन्ध है, अतः इससे समास न हुआ। अथवा एकेषु = मुख्येषु वीरयते = पराक्रमते इति एकवीर इति, । 'बाहुलकाद् भविष्यति" ऐसा भी पाठ प्राचीन पुस्तकों में है।

७३९ श्रेण्यादयः कृतादिभिः २।१।५९।

ॐश्रेण्यादिषु च्व्यर्थवचन वक्तव्यम्ॐ। अश्रेणय श्रेणय कृता श्रेणीकृता।

प्रथम आदि शब्द व्यवस्थावाची है, द्वितीय आदि शब्द प्रकारार्थक है। एक पण्य या शिल्प से जो जीवननिर्वाह करते है उनका समुदाय को श्रेणि कहते है। है, कृतादि अकृतिगण है, भाष्य प्रमाण इसमें है। कृत मित भूत आदि शब्द है।

श्रेण्यादि = एक, पूग, कुन्द, राशि, विशिख, निचय, निधन आदि। जहां अभूततद्भाव रहे = अर्थात् जो घटना नहीं हुई उसका कथन। यहां इनकी श्रेणी सम्यक् सम्पादित वास्तविक है,

वहां इससे समास नहीं होता है। न श्रेणयः,-अश्रेणयः, अश्रेणयः श्रेणयः कृता इति श्रेणीकृताः = एक शिल्प = कला या पण्य = विक्रेयवस्तु उनसे जीवन न व्यतीत करने वालों को आरोप से श्रेणीकृत बोधन यहां किया गया है।

७४० क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ् २।१।६०।

नञ्विशिष्टेन क्तान्तेन अनञ् क्तान्तं समस्यते। कृतञ्चाकृतञ्च कृताकृतम्। ॐशाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्ॐ। शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः। देवपूजकः।

नञ् विशिष्ट के साथ नञ् विहीन क्तान्त पद का समास होता है। यथा-कृताकृतम् = कुछ अंश में किया गया कार्य है, कुछ अंश में अवशिष्ट है।

सूत्र में विशिष्ट शब्द अवधारणार्थक है-नञ् मात्र ही अधिक रहे वहां समास, यहां न हुआ-सिद्धं च अभुक्तञ्च' वाक्य ही रहा। यहां भाष्यवार्तिक है-"*नुडिडधिकेनापि वक्तव्यम्*। नुट् या इट् आगम अधिक रहे वहां भी इससे समास होता है। यथा-अशितञ्च अनशितञ्चाशितानशितम्। क्लिष्टाक्लेशितम्। 'क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः' से विकल्प इट् होता है।

शाकपार्थिवादि गण पठित शब्दों की सिद्धि के अनुकूल उत्तरपद का लोप होता है, यथा—शाकं प्रियं यस्य स शाकप्रियः, शाकप्रियश्चासौ पार्थिवः यहाँ पूर्वजात बहुव्रीहि समास के अन्त में प्रिय शब्द का लोप हुआ 'शाकपार्थिवः' एवम् देवप्रियश्चासौ ब्राह्मण, यहां प्रिय का लोपसे देवब्राह्मणः। पृथ्वी का स्वामी पार्थिव में 'तस्येश्वरः' से अण् प्रत्यय है।

७४१ सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः २।१।६१।

सद्वैद्यः। वक्ष्यमाणेन महत आकारः। महावैयाकरणः। पूज्यमानैः किम्, उत्कृष्टो गौः। पङ्कादुद्धृत इत्यर्थः।

पूज्यमान वाचक सुबन्त के साथ, सत्, महत्, परम, उत्तम, उत्कृष्ट इन पदों का समास होता है, सन् चासौ वैद्यः सद्वैद्यः। महान् चासौ वैयाकरणश्च यहां समास कर महत् के तकार को आकारादेश होकर 'महावैयाकरणः'। कीच में फसा हुआ बैल का उससे उद्धार किया गया यहां उत्कृष्ट का उद्धृत अर्थ है वह उत एवं गौः का समास पूज्यमान अर्थ के अभाव से न हुआ 'उत्कृष्टो गौः' वाक्य ही है। शब्दों के साथ समास में सदादि का ही पूर्वनिपातनियम यह सूत्र करता है।

७४२ वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम् २।१।६२।

गोवृन्दारकः। व्याघ्रादेराकृतिगणत्वादेव सिद्धे सामान्यप्रयोगार्थं वचनम्।

सुबन्त वृन्दारक नाग एवं कुञ्जर के साथ पूज्यमानपद का समास होता है। सामान्यवचन = उपमा एवं उपमेय वृत्ति का साधारण वाचक शब्द प्रयोग में समासार्थ यह सूत्र है, व्याघ्रादि आकृतिगण से वहां समास नहीं होता क्योंकि 'उपमितम्' सूत्र में 'सामान्याप्रयोगे' है।

७४३ कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने ७।२।६३।

कतरकठः। कतमकलापः। गोत्रञ्च चरणैः सहेति जातित्वम्।

जातिविषयक प्रश्न रहे वहां समानाधिकरण के साथ कतरकतमसुबन्त का समास होता है। आपके मध्यमें कठशाखाध्यायी कौन है?, यहां समास हुआ-कतरकठः। किम् शब्दसे डतरच् प्रत्यय

है, वैशम्पायन का अन्तेवासी होने से कठ से णिनि प्रत्यय हुआ, उसका 'कठचरकाल्लुक्' से लुक्, कठशाखाध्यायी = कठ । यहाँ 'गोत्रञ्च' से इसको जातिवाचकत्व है।

७४४ किं क्षेपे २।१।६४।

कुत्सितो राजा किंराजा = यो न रक्षति ।

निन्दा की प्रतीति रहे वहां किम् सुबन्त का समानाधिकरण सुबन्त से समास होता है। प्रजा की रक्षा न करने वाला निन्द्य राजामें कुराजा अर्थ में 'किंराजा' हुआ।

७४५ पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्बष्कयणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकधूर्तैर्जातिः २।१।६५।

सूत्र में पठित सुबन्त पोटादि तेरह शब्दों का जातिवाचक समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास होता है।

७४६ तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः १।२।४२।

समानाधिकरण तत्पुरुष की कर्मधारय संज्ञा होती है।

७४७ पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ६।३।४२।

कर्मधारये जातीयदेशीययोश्च परतो भाषितपुंस्कात्पर ऊङभावो यस्मिं स्तथाभूत पूर्वं पुंवत् । पूरणीप्रियादिषु अप्राप्त पुंवद्भावो विधीयते । महानवमी । कृष्णचतुर्दशी । महाप्रिया । तथा कोपधादे प्रतिषिद्ध पुंवद्भाव कर्मधारयादौ प्रतिप्रसूयते । पाचकस्त्री । दत्तभार्या । पञ्चमभार्या । स्रौघ्नभार्या । सुकेशभार्या । ब्राह्मणभार्या । एव पाचकजातीया । पाचकदेशीयेत्यादि । इभपोटा । पोटा = स्त्रीपुंसलक्षणा । इभयुवति । अग्निस्तोम । उदश्वित्कतिपयम् । गृष्टि = सकृत्प्रसूता । गोगृष्टि । धेनु = नवप्रसूतिका । गोधेनु । वशा=वन्ध्या, गोवशा । वेहत्=गर्भघातिनी, गोवेहत् । बष्कयणी=तरुणवत्सा, गोबष्कयणी । कठप्रवक्ता । कठाध्यापक । कठधूर्त ।

कर्मधारय में जातीय एव देशीय प्रत्यय के पर रहते भाषितपुंस्क के उत्तर ऊङ् का अभाव हो जिसमें—ऐसे स्त्रीवाचक पूर्वपद को पुंवद्भाव होता है। इस सूत्र से पूरणी एवं प्रियादि उत्तर में रहते अप्राप्त पुंवद्भाव का विधान है। यथा महती चासौ नवमी महानवमी यहां नवाना पूरणी अर्थ में 'तस्य पूरणे डट्' से डट्प्रत्यय कर 'नान्तादसंख्यादेर्मट्' से मट आगम ङीप् नवमी पूरणप्रत्ययान्त है यहाँ महती का पुंवद्भाव से ङीप् के इकार की निवृत्ति आकारादेशसे महानवमी। यहां 'स्त्रियाः' सूत्रसे पुंवद्भाव अप्राप्त था, उसका विधान यहां है। एव कृष्णा चासौ चतुर्दशी कृष्णचतुर्दशी में पुंवद्भाव है। महती प्रिया यहां समास पुंवद्भाव है। एव कोपध में निषिद्ध 'न कोपधायाः' उसका यह बाधक है अतः पुंवद्भाव कोपध में भी हुआ यथा—पाचिका चासौ स्त्री च पाचकस्त्री। मध्यापूरण्योश्च मे पुंवद्भाव का निषेध को बाधकर पुंवद्भाव इससे होता है यथा—दत्ता भार्या इति दत्तभार्या। पञ्चमी भार्या इति पञ्चमभार्या। एव 'वृद्धिनिमित्तस्य' से अप्राप्त पुंवद्भाव का यह बाधक है। यथा स्रौघ्नी भार्या स्रौघ्नभार्या। एव 'स्वाङ्गाच्चेतः' से निषिद्ध पुंवद्भाव का यह विधा

यक है, यथा सुकेशी भार्या इति सुकेशभार्या। एवं जातेश्च से पुंवद्भाव का निषेध का यह प्रतिप्रसव = बाधक है, यथा मानगी भार्या इति मानगभार्या। एवं पाचिका प्रकारा यहां प्रकार अर्थ में जातीयर् प्रत्यय है उसके उत्तर में रहते भी बाधक प्रकृति का पुंवद्भाव से पाचिका का पाचक होकर 'पाचकजातीया' हुआ है। एवं ईषत् पाचिका यहां देशीयर् प्रत्यय पर में पूर्व का पुंवद्भाव से 'पाचकदेशीया' हुआ है। पोटा युवति से समास के एवं पुंवद्भाव जहां प्राप्त है उसके उदाहरण यथा–इभी चासौ पोटा इति इभपोटा, समास एवं पुंवद्भाव। स्त्री एवं पुरुष दोनों के लक्षण से युक्त स्त्री को पोटा कहते हैं। इभी चासौ युवतिः–इभयुवतिः। अग्निश्चासौ स्तोकः अग्निस्तोकः समास। जल देने से बढ़ने वाला मट्ठा को उदश्वित् कहते हैं संज्ञा में उदक को उद आदेश–'उदकस्योदः संज्ञायाम्' से, उदक उपपदक श्वि से क्विप् तुक् उपपद समासादि उदश्वित् का पयस् सुबन्त के साथ समास है।

गृष्टि उसका नाम है—प्रथम ब्याही हुई। गौश्चासौ गृष्टिश्च इति गोगृष्टिः। नूतनप्रसववाली को धेनु कहते हैं गौश्चासौ धेनुः = गोधेनुः। वन्ध्या को वशा कहते हैं, गोवशा में समास। गर्भ का नाश करने वाली को वेहद् कहते हैं। गोवेहद् समास। तरुणवत्सवती को बष्कयणी कहते हैं। कठश्चासौ श्रोत्रियः समास, कश्चासौ धूर्तः समास। वेद का अध्ययन करता को श्रोत्रिय कहते हैं छन्दस् शब्द से घन् एवं श्रोत्रादेश घ को इय् श्रोत्रियः। सूत्र–श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते। प्रवृत्तिनिमित्तकुत्सा में ही 'कुत्सितानि' की प्रवृत्ति है, कठः का धूर्त उससे समास अप्राप्त था अतः समासविधानार्थ पूर्वपद सार्थक है।

७४८ प्रशंसावचनैश्च २।१।६६।

एतैः सह जातिः प्राग्वत्। गोमतल्लिका। गोमचर्चिका। गोप्रकाण्डम्। गवोद्घः। गोतल्लजः। प्रशस्ता गौरित्यर्थः। मतल्लिकादयो नियतलिङ्गा न तु विशेष्यनिघ्नाः। जातिः किम्–कुमारी मतल्लिका।

प्रशंसावाचक सुबन्तसामर्थ्ययुक्त शब्दों के साथ जातिवाचक सुबन्त पद का समास होता है। अमरादि कोश प्रमाण से मतल्लिका आदि शब्द प्रशंसार्थक हैं। गौश्चासौ मतल्लिका इस प्रकार का अन्यत्र भी विग्रह कर समास में उक्त रूपों का सिद्धि है। यह श्रेष्ठ गाय अर्थ में है। प्रशंसावाचक इन शब्दों का नियतलिङ्ग है, विशेष्य वाचक शब्दाधीन इनका लिङ्ग नहीं है, अर्थात् विशेष्य इनके लिङ्ग का द्योतक नहीं है, यहां उनका स्वतः न्यायतः प्राप्त लिङ्ग का नाशकर विशेष्याधीनविशेष्यगत लिङ्ग के वे भागी न हुए। अपना नियत लिङ्ग सुरक्षित हुआ। कुमारी शब्द जातिवाचक न होने से मतल्लिका से समस्त रूप न हुआ, वाक्य ही रहा यथा 'कुमारी मतल्लिका'।

७४९ युवा खलतिपलितवलिनजरतीभिः २।१।६७।

पूर्वनिपातनियमार्थं सूत्रम्। लिङ्गविशिष्टपरिभाषया युवतिशब्दोऽपि समस्यते। युवा खलतिः–युवखलतिः। युवतिः खलती–युवखलती। युवजरती। युवत्यामेव जरतीधर्मोपलम्भेन तद्रूपारोपात् सामानाधिकरण्यम्।

सुबन्त समर्थ खलति, पलित, वलिन, एवं जरती के साथ सुबन्त युवन् शब्द का समास होता है। यहां सूत्र में पुंस्त्वयुक्त पुंल्लिङ्ग युवन् शब्द का निर्देश है, अतः 'यूनस्तिः' सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में विहित तिप्रत्ययान्त युवति का समास अप्राप्त है, उसके बोधनार्थ 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इस परिभाषा से युवन् से युवति का भी ग्रहण करना युवन् शब्दवृत्ति युवत्वधर्म युवति

में आरोप होता है। इसमें इसी सूत्रस्थ जरती ग्रहण प्रमाण है तथाहि—वृद्धावस्था युक्ता स्त्री जरती है, उसका पुरुष युवकार्थक के साथ सामानाधिकरण्य = एकार्थबोधकत्व नहीं समास अप्राप्त है अतः जरती व्यर्थ होकर ज्ञापक परिभाषा में 'अयमेव' में एवकार अप्यर्थ में है, यह भी ज्ञापक है। उत्तर सूत्र 'कुमार श्रवणादिभि' सूत्र भी इस परिभाषा में ज्ञापक है, वह स्पष्ट वहां करेंगे। शिर के बाल रहित को खलति कहते हैं। खल्वाट भाग्यवान् होता है, कोई निर्धन, अधिकांश खल्वाट् धनी, पराक्रमी, होते हैं। युवखलति = युवा चासौ खलति। युवतिश्चासौ खलती यहां समास एवं 'स्त्रिया पुंवद्भाषित' सूत्र से पुंवद्भावप्रयुक्त स्त्रीप्रत्यय ति की निवृत्ति हुई है युवखलति। रोगादिवश से अतीव दुर्बल युवति में वार्धक्य चिह्न दिख पड़ने से उस स्त्री में जरतीत्वधर्मारोप से युवति चासौ जरती यहां दोनों पदार्थों का एकार्थबोधकत्वरूप सामानाधिकरण्य का ज्ञान कर समास एवं पुंवद्भाव से 'युवजरती' की सिद्धि हुई युवती से अभिन्ना वृद्धा रोगयुक्ता स्त्री यह अर्थ है।

७५० कृत्यतुल्याख्या अजात्या २।१।६८।

भोज्योष्णम्। तुल्यश्वेतः। सदृशश्वेतः। अजात्या किम्, भोज्य ओदनः। प्रतिषेधसामर्थ्याद् विशेषणसमासोऽपि न।

कृत्यसंज्ञक प्रत्यय है अन्त में जिसको ऐसे शब्द एवं सदृशार्थक शब्द का जातिवाचक भिन्न सुबन्त के साथ समास होता है। भुज् धातु से भक्ष्य अर्थ में कर्म में ण्यत् गुण कुत्वाभाव से भोज्य = भोजनक्रिया कर्म, भोज्यञ्च तद् उष्णम् च समास भोज्योष्णम्। तुल्य श्वेत सदृश श्वेत यहां समास है। भोज्य ओदन, यहां ओदनत्व जातिवाचक ओदन है, अतः समास न हुआ। वाक्य ही रहा। 'भोज्य भक्ष्ये' सूत्र कुत्व का अभाव निपातन से करता है, अतः 'चजो' सूत्र से यहां कुत्व होकर भोग्यम् न हुआ, भक्ष्य से भिन्न अर्थ में कुत्व से भोग्यम् = राज्यम् होता है। अजात्या निषेध से इस निषेध विषय में विशेषण समास भी न हुआ। अन्यथा यह प्रतिषेध व्यर्थ होता।

७५१ वर्णो वर्णेन २।१।६९।

समानाधिकरणेन सह प्राग्वत्। कृष्णसारङ्गः।

समानाधिकरण वर्ण वाचक सुबन्त शब्द के साथ सुबन्त वर्णवाचक का समास होता है। यथा—कृष्णश्चासौ सारङ्ग—कृष्णसारङ्ग।

७५२ कडाराः कर्मधारये २।२।३८।

कडारादयः शब्दाः कर्मधारये वा पूर्वं प्रयोज्याः। कडारजैमिनिः। जैमिनि कडारः।

कर्मधारय समास में कडारादि शब्दों का पूर्वनिपात विकल्प से होता है। कडारश्चासौ जैमिनि कडारजैमिनि, जैमिनिकडार।

७५३ कुमारः श्रवणादिभिः २।१।७०।

कुमारी श्रवणा—कुमारश्रवणा। इह गणे श्रवणा, प्रव्रजिता, गर्भिणी, इत्यादय स्त्रीलिङ्गाः पठ्यन्ते। लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया एतदेव ज्ञापक बोध्यम्।

श्रवणा आदि सुबन्त शब्दों के साथ सुबन्त कुमार का समास होता है। यहां समानाधिकरण का सम्बन्ध है पुंस्त्वयुक्त कुमार का गणपठित स्त्रीलिङ्ग शब्दार्थ के साथ कथमपि एकार्थबोधकत्व

नहीं समास नहीं होगा इस सूत्र का वैयर्थ्य प्रसक्त है, यह व्यर्थ होकर लिङ्गविशिष्ट परिभाषा में ज्ञापक है, ज्ञापन करने पर समर्थ कुमारी एवं संन्यासदीक्षादीक्षिनाबौद्ध या जैन साध्वी वाचक श्रवणा के साथ समास हुआ। यहां समर्थ कुमारत्व प्रातिपदिकत्व का व्याप्य है, एकार्थीभावरूप सामर्थ्य का अपर्याप्त्या आश्रय को यहां समर्थ कुमारत्व से युक्त कहा गया है। 'कुमार क्रीडायान्' का कुमारत्व प्रातिपदिकत्वाभाव जहां है तद्वृत्ति है, अतः स्वाभाववदवृत्तित्वस्वरूपव्याप्यत्व कुमारत्व में नहीं है। ऐसा कुतर्क का यहां अनवसर ही है।

परिभाषार्थ—लिङ्ग बोधक रहित प्रातिपदिकवृत्तिधर्म या प्रातिपदिकत्व का व्याप्य धर्म का लिङ्ग बोधक प्रत्यय विशिष्ट में आरोप होता है, प्रातिपदिकत्व धर्म व्यापक धर्म है उसके अपेक्षा समर्थ कुमारत्व व्याप्य धर्म है। एवम् समर्थयुवत्व भी व्याप्य धर्म है। सामान्य को व्यापक कहते हैं, विशेष को व्याप्य कहते हैं।

७५४ चतुष्पादो गर्भिण्या २।१।७१।

चतुष्पादजातिवचनो गर्भिणीशब्देन सह प्राग्वत्। गोगर्भिणी।

चतुष्पाद जातिवाचक सुबन्त का सुबन्त गर्भिणी के साथ समास होता है। गौश्चासौ गर्भिणी यहां समास कर 'गोगर्भिणी'। इस सूत्र में 'पोटायुवति' से जाति की अनुवृत्ति है। जातिवाचक जहां नहीं वहां समासाभाव है, यथा-कालाक्षी गर्भिणी यहां वाक्य ही रहा।

७५५ मयूरव्यंसकादयश्च २।१।७२।

एते निपात्यन्ते। मयूरो व्यंसकः-मयूरव्यंसकः। व्यंसकः=धूर्तः। उदक् चावाक् च उच्चावचम्। निश्चितञ्च प्रचितञ्च निश्चप्रचम्। नास्ति किञ्चन यस्य स अकिञ्चनः। नास्ति कुतो भयं यस्य सोऽकुतोभयः। अन्यो राजा राजान्तरम्। चिदेव चिन्मयम्। *आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये*। अश्नीत पिबतेत्येवं सततं यत्राभिधीयते सा अश्नीतपिबता। पचतभृज्जता। खादतमोदता। *एहीडादयोऽन्यपदार्थे*। एहीड इति यस्मिन् कर्मणि वदेहीडम्। एहिपचम्। 'उद्धर=कोष्ठादुत्सृज देहि' इति यस्यां क्रियायां सा उद्धरोत्सृजा। उद्धमविधमा। असातत्यर्थमिह पाठः। *जहि कर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्तारं चाभिदधाति*। जहीत्येतत्कर्मणा बहुलं समस्यते आभीक्ष्ण्ये गम्ये समासेन चेत्कर्ताऽभिधीयत इत्यर्थः। जहिजोडः। जहिस्तम्बः। (अविहितलक्षणस्तत्पुरुषो मयूरव्यंसकादौ द्रष्टव्यः)।

मयूरव्यंसकादि गण पठित सुबन्त शब्दों का समास होता है। एवं सूत्रतः अप्राप्त कार्यों का निपातन होता है। धूर्त मयूर अर्थ में मयूरो व्यंसक इति मयूरव्यंसकः है। उदक् च अवाक् च यहां समास एवं निपातन से उदक् को उच्चा आदेश अवाक् को वच आदेश हुआ है 'उच्चावचम्'। निश्चितं च प्रचितं च समास कर निश्चित को निश्च प्रचित को प्रच होता है। निश्चप्रचम्। अकिञ्चन में समास नञ् का नकारलोप निपातन, विद्यमान का लोप। नास्ति कुतो भयं यस्य स अकुतोभयः। अन्यः राजा राजान्तरम्। चिदेव चिन्मयम् यहां नित्यसमास से उभयत्र अस्वपदविग्रह है।

•तिङन्त का तिङन्त के साथ समास होता है, निरन्तर जहां क्रिया की प्रतीति गम्यमान रहे। तुम लोग भोजन करो जलपान करो ऐसा निरन्तर जहां कहा जाय ऐसी क्रिया में समास हुआ, यथा अश्नीतपिबता यहां अन्यपदार्थ क्रिया है अतः टाप् है। इसी प्रकार पचतभृज्जता में समास ज्ञान करना। तुम लोग भोजन करो, हर्षयुक्त रहो ऐसा कथन में खादतमोदता क्रिया। एहि ईड आदि गणपठित शब्दों का अन्यपदार्थ में तत्पुरुष समास होता है। आवो स्तुति करो ऐसा जहां कहा जाय ऐसा कर्म में समास एहीडम्। यहिपचम्। कोठार से निकालो दान करो ऐसी क्रिया में उद्धृतोत्सृजा। शब्दार्थक च ध्मा को धम आदेश होकर लोट् म० पु० ए० व० में विपूर्वक धम रूप है विधम, उत्पूर्वक धम है, समास उद्धमविधमा क्रिया। कभी-कभी कहा जाय यहां सातत्य अर्थ नहीं है। पौन पुन्य अर्थ गम्यमान रहे एव समास से कर्ता का कथन रहे वहां कर्मवाचक सुबन्त के साथ जहि तिङन्त का बहुल प्रकार से समास होता है। 'ओदम् जहि' ऐसा बार बार कहा जाय वहां समास होकर जहिओड = यह कहने वाला कर्ता। स्तम्भ जहि यह पुन पुन. कहने वाला कर्ता को 'जहिस्तम्ब' कहते हैं। यहां कोष्ठ में दीया हुआ अंश कुछ पुस्तकों में नहीं मिलता है एव प्राचीनतम पुस्तकों में मिलता है। जिसका तत्पुरुष समास किसी से विहित नहीं है उसका मयूरव्यंसकादि में पाठ समझना, यह व्यवस्था शिष्टो- च्चारित प्रयोगों के लिए है, सर्वत्र नहीं।

७५६ ईषदकृता २।२।७।

ईषत्पिङ्गल.। ❀ईषद्गुणवचनेनेति वक्तव्यम्❀। ईषद्रक्तम्।

कृत्प्रत्ययान्त भिन्न के साथ सुबन्त ईषत् का समास होता है।

ईषत्पिङ्गल। गुणवाचक शब्द के साथ ईषत्का समास होता है, रक्तशब्द गुणवाचक है ईषद्रक्तम्। यहां से नञ् तत्पुरुष का प्रारम्भ हो रहा है।

७५७ नञ् २।२।६।

नञ् सुपा सह समस्यते।

सुबन्त के साथ निषेधार्थक अव्यय। नञ् का समास होता है।

७५८ नलोपो नञः ६।३।७३।

नञो नस्य लोप स्यादुत्तरपदे। न ब्राह्मण –अब्राह्मणः।

७५९ तस्मान्नुडचि ६।३।७४।

लुप्तनकारान्नञ उत्तरपदस्याजादेर्नुडागम स्यात्' अनश्व। अर्थाभावेऽव्ययीभावेन सहाय विकल्प्यते, रक्षोहागमलध्वसन्देहा. प्रयोजनमिति, अद्भुताया-मसहितमिति च भाष्यवार्तिकप्रयोगात्। तेनानुपलब्धिरविवादोऽविघ्नमित्यादि सिद्धम्। ❀नञो नलोपस्तिङि चेपे❀। अपचसि त्व जाल्म। नैकधेत्यादौ तु नशब्देन सह सुप्सुपेति समास।

लुप्त नकारक नञ् से पर अजादिपद को नुट् आगम होता है।

न स् अश्व स समास विभक्ति का लुक व्यञ्जन नकार का लोप नुट् आगम अनश्व। 'असन्देहा' यह भाष्यप्रयोग से अर्थाभाव में नञ् तत्पुरुष हुआ, एवम् 'असहितम्' इस वार्तिककारके

प्रयोग से अर्थाभाव में अव्ययीभाव भी हुआ है। अर्थात् भाष्यप्रमाण से एवं वार्तिकप्रमाण से यह सिद्ध हुआ कि अर्थाभाव में विकल्प से नञ् तत्पुरुष होता है। वेद की रक्षा, एवं तर्क, आगमज्ञान, लाघवार्थ संदेहनिवृत्ति व्याकरण के प्रयोजन हैं। भाष्यवार्तिक प्रयोग ज्ञापन न देते तो 'निर्मक्षिकम्' आदि में चरितार्थ अव्ययीभाव को नञ् तत्पुरुष विशेष वचन बाध करता। इस ज्ञापन का फल—असंक्षितम्, अविघ्नम्, अविवादः, अनुपलब्धिः, असंदेह आदि हुवे। 'अविवादः' में यद्यपि बहुव्रीहि समास से प्रयोगसिद्धि हो सकती है। एवमेव 'अनुपलब्धिः' 'अविघ्नम्' में भी बहुव्रीहि से कार्यनिर्वाह है। इसको फलरूप से देना चिन्त्य है, या स्वरार्थ है। निन्दा गम्यमान रहे वहाँ नञ् का तिङन्त तदादि से समास होता है एवं नकार का लोप होता है। हे अविचारपूर्वक कार्यकर्ता तुम कुत्सित पाक करते हो वहां अपचसि रवं जाल्म हुआ। न एकधा यहां नञ् समास से नकार लोप एवं नुट् से 'अनेकधा' होना चाहिये यह शङ्का हुई, किन्तु सानुबन्धक निषेधार्थक नञ् अव्यय का ही समास नञ् सूत्र से होता है यहाँ निषेधार्थ अनुबन्ध से रहित न प्रातिपदिक अव्यय भिन्न हैं। अतः सुप् की अनुवृत्ति आती है जिसमें ऐसा 'सुपा' सूत्र से समास यहाँ है। इस लिए भाष्य में शङ्का की गई है कि सानुबन्धक नञ् का उपादान क्यों किया ?, विघ्नपुत्रः, प्रश्नपुत्रः यहाँ एवं वामन-पुत्रः यहाँ 'नलोपो नञः' करने पर नकार लोप की प्रसक्ति होगी अतः नस्य न कहकर 'नञः' कहा है।

७६० नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्रनाकेषु प्रकृत्या ६।३।७५।

पादिति शत्रन्तः। वेदा इत्यसुन्नन्तः। न सत्या असत्या न असत्या नासत्या। न मुञ्चतीति नमुचिः। न कुलमस्य नकुलम्। न खम् अस्य नखम्। न स्त्री पुमान्, नपुंसकम्, स्त्रीपुंसयोः स्त्रीपुंसकभावो निपातनात्। न क्षरतीति नक्षत्रम्। क्षीयतेः क्षरतेर्वा क्षत्रमिति निपात्यते। न क्रामतीति नक्रः। क्रमेर्डः। न अकमस्मिन्निति नाकः।

नभ्राट्, नपात्, नवेदाः, नासत्याः, नमुचि, नकुल, नख, नपुंसक, नक्षत्र, नक्र, नाक इनके नञ् तत्पुरुष में नकारका लोप नहीं होता है। अर्थात् स्वाभाविक नकारयुक्त रहता है। यहाँ पाद् शतृप्रत्ययान्त है। वेदाः यह असुन् प्रत्ययान्त है। नकारका असत्या के साथ प्रथम समास कर पुनः न असत्या का नञ्तत्पुरुषसमास से नासत्या की सिद्धि है। नञ् तत्पुरुष में स्त्रीपुम् को पुंसक आदेश से 'नपुंसकम्'। क्रम् धातु से डप्रत्यय नक्रः। क = सुख अकः = दुःख, दुःख जहां नहीं इसको 'नाकः' स्वर्लोक कहते हैं।

७६१ नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम् ६।३।७७।

नग इत्यत्र नञ्प्रकृत्या वा। नगाः-अगाः पर्वताः। अप्राणिष्विति किम्, अगो वृषभः शीतेन। नित्यं क्रीडेत्यतो नित्यमित्यनुवर्तमाने।

अप्राणी अर्थ में नञ् नकार का विकल्प से लोप होता है। पर्वत अर्थमें नगाः, अगाः। शीत से वृषभ चलने में असमर्थ है, यहाँ नकार का लोप नित्य करने के लिए सूत्र में 'अप्राणिषु' कहा है। उत्तरसूत्र जो वक्ष्यमाण है उसमें नित्य की अनुवृत्ति 'नित्यं क्रीडा' से है।

७६२ कुगतिप्रादयः २।२।१८।

एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते । कुत्सितः पुरुषः कुपुरुषः । गतिश्चेत्यनुवर्तमाने ।

कु, गतिसंज्ञक एवं प्रादि का सुबन्त के साथ समास होता है नित्य । कुत्सित = निन्दित पुरुष अर्थ में कुपुरुष । उत्तरसूत्र में 'गतिश्च' से गति की अनुवृत्ति कर के—

७७३ ऊर्यादिच्विडाचश्च १।४।६१

एते क्रियायोगे गतिसंज्ञा स्यु । ऊरीकृत्य । उररीकृत्य । शुक्लीकृत्य । पटपटाकृत्य । *कारिकाशब्दस्योपसंख्यानम्* । कारिकाक्रिया । कारिकाकृत्य ।

ऊरी आदि शब्द, च्विप्रत्ययान्तशब्द, एवं डाच प्रत्ययान्त इनकी क्रिया के साथ सम्बन्ध रहते गति संज्ञा होती है । जहाँ गतिसंज्ञा वहाँ पूर्वसूत्र से समाससंज्ञा है। स्वीकार कर यह गया इस अर्थ में ऊरी की कृ धातु का अर्थ क्रिया उससे योग होने से गति संज्ञा है, कृ धातु से क्त्वाप्रत्यय ऊरी कृत्वा का कुगति से समासकर 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' से ल्यप् आदेश अनुबन्ध लोप 'ह्रस्वस्य पिति कृति' से तुक् आगम ऊरीकृत्य अव्यय है । कृ भू अस् धातु के योग में च्वि एवं डाच् प्रत्यय होते हैं शुक्ली कृत्वा यहां शुक्लसे च्विप्रत्यय का सर्वापहारी लोप 'अस्य च्वौ' से ईकार शुक्ली की गतिसंज्ञा समास कृत्वा के साथ क्त्वा को ल्यप् तुक् शुक्लीकृत्य । द्वित्व एवं डाच् प्रत्ययान्त पटपटा की कृत्वा में कृञ् धात्वर्थ क्रियायोग से गति संज्ञा समासादि पटपटाकृत्य । कारिका शब्द की गतिसंज्ञा कृत्वा के साथ समास क्त्वा को ल्यप् कारिकाकृत्य । अनेक क्रियाओं का एक कर्ता रहे वहाँ पूर्वकालीन क्रिया के वाचक धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है । सूत्र—"समानकर्तृकयोः पूर्वकाले प्राचां क्त्वा" ।

७६४ अनुकरणं चानितिपरम् १।४।६२।

खाट्कृत्य । अनितिपरं किम् , खाडिति कृत्वा निरष्ठीवत् ।

इति शब्द से भिन्न शब्द पर रहते अनुकरण की गति संज्ञा होती है क्रियायोग में । 'खाट्' यह अनुकरणशब्दार्थक क्रिया, गति संज्ञा कृत्वा के योग में, गतिसमास, ल्यप् तुक् खाट् कृत्य । इति शब्द के योग में गतित्वाभाव से इति खाड् कृत्वा यह हुआ ।

विमर्श—यहां अनितिपरं किम् इस प्रश्न कर्ता का आशय यह है कि 'ते प्राग्धातो' सूत्र में १ संज्ञानियम पक्ष है, धातु के पूर्व रहनेपर ही गतिसंज्ञा एवं उपसर्गसंज्ञा प्राप्त ही नहीं यहाँ अनिति पर शब्द सूत्र में व्यर्थ है, अप्राप्त संज्ञा (गति) का निषेध व्यर्थ है ? समाधानवादि—२ प्रयोग नियमपक्ष 'ते प्राग्धातो' मानता है एवं गति तथा उपसर्ग संज्ञा का यह नियमन नहीं करता है, वे संज्ञाएँ स्वतन्त्ररूप से होती है केवल प्रयोग का नियम करता है यथा—धातु के पूर्व में ही गतिसंज्ञक शब्द एवं उपसर्ग संज्ञक शब्द का प्रयोग होता है तब यहाँ खाट् की गति संज्ञा होकर वह इति के बाद कृत्वा के पूर्व होकर 'इति खाट् कृत्वा' बनकर समासादि से इति खाट्कृत्य' न बन जाय एतदर्थ अनिति आवश्यक है । गले से खाखार खाट शब्द कर थूक दिया यह इसका अर्थ है ।

७६४ आदरानादरयोः सदसती १।४।६३।

सत्कृत्य । असत्कृत्य ।

आदर अर्थ में सत् एवं अनादर अर्थ में असत् को क्रियायोग में गतिसंज्ञा होती है। सत् कृत्वा यहाँ सत् की गतिसंज्ञा॰ समास क्त्वा को ल्यप् तुक् अव्ययसंज्ञा सत्कृत्य। इसी प्रकार असत्कृत्य। सन्मान कर वह गया। अपमानकर वह गया।

७६६ भूषणेऽलम् १।४।६४।

अलंकृत्य। भूषणे किम् ?, अलं कृत्वेदनं गतः। पर्याप्तमित्यर्थः। अनुकरणमित्यादि त्रिसूत्री स्वभावाद् कृञ्विषया।

भूषणार्थक 'अलम्' की क्रिया योग में गति संज्ञा होती है। भूषित कर वह गया इस अर्थ में गतिसंज्ञा समास से 'अलंकृत्य' हुआ है। पर्य्याप्त्यर्थक अलं की गतिसंज्ञा का अभाव है। अलंकृत्वा = पर्य्याप्तं कृत्वा गतः। शब्दशक्तिस्वभाव से 'अनुकरणम्' से लेकर तीन सूत्र कृञ् धातु के योग में गतिसंज्ञा करते हैं।

७७६ अन्तरपरिग्रहे १।४।६५।

अन्तर्हत्य = मध्ये हत्वेत्यर्थः। अपरिग्रहे किम्, अन्तर्हत्वा गतः। हतं परिगृह्य गत इत्यर्थः।

परिग्रहभिन्न अर्थ में अन्तर् की क्रिया योग में गति संज्ञा होती है।

मध्य में हनन कर गया अर्थ में मध्यार्थक अन्तर् गतिसंज्ञक से हत्वा का कुगति से समासआदि कर अन्तर्हत्य। मारे हुए को लेकर गया अर्थ में परिग्रह अर्थ है अतः अन्तर् की गतिसंज्ञा का अभाव से समासादि कार्य का भी अभाव है। अन्तर्हत्वा।

७६८ कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते १।४।६६।

कणेहत्य पयः पिबति। मनोहत्य। कणेशब्दः सप्तमीप्रतिरूपको निपातोऽभिलाषातिशये वर्तते। मनःशब्दोऽप्यत्रैव।

श्रद्धा का विघात हो तो क्रिया योग में कणे एवं मनस् शब्द की गतिसंज्ञा होती है। यहां 'कणे' शब्द सप्तमी एकवचन का विभक्त्यन्त प्रतिरूपक अव्यय है, अर्थ इसका अधिक अभिलाषा = इच्छा है। अत्यधिक प्यासा व्यक्ति जलकणों के नाशपूर्वक प्रभूत जल को पी कर गया। मन में अत्यधिक शत्रु नाश विषय इच्छा कर गया। उभयत्र कणे मनस् की गतिसंज्ञा है।

७६९ पुरोऽव्ययम् १।४।६७।

पुरस्कृत्य।

अव्यय पुरस् की क्रियायोग में गतिसंज्ञा होती है। अग्रसर कर गया। पुरस् की गतिसंज्ञा पुरःकृत्वा इति पुरस्कृत्य।

७७० अस्तञ्च १।४।६८

अस्तमिति मान्तमव्ययं गतिसंज्ञं स्यात्। अस्तंगत्य।

मान्त 'अस्तम्' अव्यय की गति संज्ञा होती है। नाश करके गया। अस्तं गत्वा इति अस्तंगत्य। -यहाँ गम् का मकार का 'अनुदात्तोपदेश' से लोप है।

७७१ अच्छगत्यर्थवदेषु १।४।६९।

अव्ययमित्येव । अच्छगत्य । अच्छोद्य । अभिमुखं गत्वा उक्त्वा चेत्यर्थः । अव्ययं किम्, जलमच्छं पिबति ।

गत्यर्थक एवं वद धातु पर रहते अच्छ अव्यय की गतिसंज्ञा होती है। अच्छ गत्वा इति अच्छगत्य, अच्छ उक्त्वा इति अच्छोद्य। यहां अच्छ की गतिसंज्ञा समास कर ल्यप, गम् का मकार का लोप अच्छगत्य अच्छ पूर्वक वद् से क्त्वा अच्छ की गतिसंज्ञा वद् का वकार का सम्प्रसारण पूर्वरूप 'उक्त्वा' बनाकर के अच्छ उक्त्वा का समास ल्यप से अच्छ+उद्य गुण अच्छोद्य। सामने जाकर, सामने कह कर, यथा अध्याहार्थ। स्वच्छ जल को पीता है यह अच्छ अनव्यय है अत गतिसंज्ञा न हुई जलम् अच्छम् पिबति । यहां गतिसंज्ञा होती तो निपात संज्ञा होकर 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' से अव्यय संज्ञा होकर, 'अव्ययादाप्' से विभक्ति का लोप होकर अच्छ पिबति होता। अत अव्यय का ग्रहण सू में है

७७२ अदोऽनुपदेशे १।४।७०।

अदःकृत्य, अदःकृतम्। परं प्रति उपदेशे प्रत्युदाहरणम्। अदः कृत्वा, अदः कुरु।

उपदेशार्थक से भिन्न अदः की गति संज्ञा होती है। जब स्वयं ही विषय पर्यालोचन करता है तब इसका उदाहरण यथा अदः कृत्वा इति अदःकृत्य। अदः कृत्वा अदः कुरु यहां स्वयं पर्यालोचन नहीं किन्तु दूसरे को उपदेश देता है कि यह कार्य करके या करो। यहां अदः कृत्वा, अदः कुरु यहां गति संज्ञा नहीं है। प्रथमोदाहरण में क्त्वा को ल्यबादि का अभाव, एवं द्वितीय उदाहरण में गतित्वाभाव से गतिसंज्ञामूलक स्वराभाव है।

७७३ तिरोऽन्तर्धौ १।४।७१।

तिरोभूय।

अन्तर्धान अर्थ में तिरस् की क्रियायोग में गतिसंज्ञा होती है। तिरोभूत्वा = तिरोभूय।

७७४ विभाषा कृञि १।४।७२।

तिरस्कृत्य, तिरःकृत्य। तिरः कृत्वा।

कृञ् धातु के योग में तिरस् की गतिसंज्ञा विकल्प से होती है। जहाँ गतिसंज्ञा वहां समासादि एवं 'तिरसोऽन्यतरस्याम्' सूत्र से गतिसंज्ञक तिरस् सम्बन्धी विसर्ग को विकल्प से सकारादेश से गतिपक्ष में तिरस्कृत्य तिरःकृत्य गतित्वाभाव में तिरःकृत्वा।

७७५ उपाजेऽन्वाजे १।४।७३।

एतौ कृञि वा गतिसंज्ञौ स्तः। उपाजेकृत्य, उपाजे कृत्वा। अन्वाजेकृत्य, अन्वाजे कृत्वा। दुर्बलस्य बलमादायेत्यर्थः।

कृञ् धातु के योग में उपाजे एवं अन्वाजे की विकल्प गति संज्ञा होती है। दुर्बल को बल का आधान अर्थ में उपाजे, अन्वाजे विभक्त्यन्त प्रतिरूपक अव्यय है। उपाजे कृत्वा एवं उपाजे कृत्य दो रूप है, अन्वाजेकृत्य, अन्वाजे कृत्वा।

७७६ साक्षात्प्रभृतीनि च १।४।७४।

कृञि वा गतिसंज्ञानि स्युः। ॐच्व्यर्थ इति वाच्यम्ॐ। साक्षात्कृत्य, साक्षात्कृत्वा। लवणंकृत्य। लवणं कृत्वा। मान्तत्वम्, निपातनात्।

कृ धातु के योग में अभूततद्भावरूप अर्थ में (च्विप्रत्ययार्थ में) साक्षात्प्रभृति गण पठित शब्दों की गतिसंज्ञा होती है। साक्षात् कृत्वा इति साक्षात्कृत्य, पक्ष में गतित्वाभाव से साक्षात् कृत्वा। न साक्षात् असाक्षात्, असाक्षात् साक्षात् कृत्वा इति साक्षात्कृत्य दो रूप हैं।

७७७ अनत्याधाने उरसिमनसी १।४।७५।

उरसिकृत्य, उरसि कृत्वा। अभ्युपगम्येत्यर्थः। मनसिकृत्य। मनसि कृत्वा, निश्चित्येत्यर्थः। अत्याधानम्=उपश्लेषणम्, तत्र न। उरसि कृत्वा पाणिं शेते।

अनत्याधान अर्थ में उरस् एवं मनस् को कृधातु के योग में गति संज्ञा होती है। स्वीकार कर गया अर्थ में विभक्त्यन्त प्रतिरूपक उरसि को विकल्प से गति संज्ञा कर कृत्वा से समासादि से उरसिकृत्य, पक्ष में उरसि कृत्वा। मन में निश्चय कर गया अर्थ में मनसिकृत्य। गतिपक्ष में मनसिकृत्य। अत्याधान में वक्षःस्थल पर हाथ को रखकर सोता है। यहां उपश्लेष अर्थ है। गति संज्ञा का अभाव है।

७७८ मध्ये पदे निवचने च १।४।७६।

एते कृञि वा गतिसंज्ञाः स्युरनत्याधाने। मध्येकृत्य, मध्ये कृत्वा। निवचनेकृत्य, निवचने कृत्वा=वाचं नियम्येत्यर्थः।

कृधातु के योग में (कृधात्वर्थ योग में) अनत्याधान अर्थ में मध्ये पदे एवं निवचने को विकल्प से गति संज्ञा होती है। ये तीनों सप्तम्यन्त विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय हैं। गति संज्ञा एवं उसके अभाव में प्रत्येक के दो दो रूप हैं।

७७९ नित्यं हस्ते पाणावुपयमने १।४।७७।

कृञि। उपयमनम्=विवाहः। स्वीकारमात्रमित्यन्ये। हस्तेकृत्य। पाणौकृत्य।

कृ के योग में विवाह अर्थ में हस्ते एवं पाणौ की गति संज्ञा होती है। उपयमन शब्दार्थ विवाह है, शास्त्रोक्त विधि द्वारा वह सम्पन्न होता है। कोई आचार्य केवल स्वीकार अर्थ मानते हैं। हस्ते एवं पाणौ विभक्त्यन्त प्रतिरूपक अव्यय हैं। नित्यगति से एक एक रूप हैं।

७८० प्राध्वं बन्धने १।४।७८।

प्राध्वमित्यव्ययम्। प्राध्वंकृत्य। बन्धनेनानुकूल्यं कृत्वेत्यर्थः। प्रार्थनादिना चानुकूल्यकरणे प्राध्वं कृत्वा।

कृधातु के योग में बन्धन अर्थ में 'प्राध्वम्' को गति संज्ञा होती है। बन्धन से प्रतिकूल को अपने अनुकूल बनाकर गया अर्थ में प्राध्वंकृत्य, गति संज्ञादि कार्य। प्रार्थना आदि से अनुकूल करने में गति संज्ञा नहीं होती है वहां प्राध्वं कृत्वा यही होता है।

७८१ जीविकोपनिषदावौपम्ये १।४।७९।

जीविकामिव कृत्वा जीविकाकृत्य। उपनिषदमिव कृत्वा उपनिषत्कृत्य। औपम्ये किम्?, जीविकां कृत्वा। प्रादिग्रहणमगत्यर्थम्। सुपुरुषः। अत्र वार्तिकानि—*प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया*। प्रगत आचार्यः प्राचार्यः। *अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया*। अतिक्रान्तो मालाम् अतिमालः। *अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया*। अवक्रुष्टः कोकिलया अवकोकिलः। *पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या*। परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः। *निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या*। निष्क्रान्तः कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बिः। *कर्मप्रवचनीयानां प्रतिषेधः।* वृक्षं प्रति।

उपमार्थक जीविका एवं उपनिषद् शब्द की क्रियायोग में गतिसंज्ञा होती है। अपनी जीविका की तरह समझ कर कार्य कर स्वकर्तव्य में निष्ठ रहता है। एवं वेद मूलक उपनिषद् के समान मान कर गया। उपमा के अभाव में जीविकां कृत्वा यहाँ गतिसंज्ञा का अभाव है। 'कुगतिप्रादयः' में प्रादिको भी गतिसंज्ञा है, गति से ही समास होता पुनः प्रादि ग्रहण वहाँ इस लिए किया कि जहां क्रिया योग नहीं वहाँ गतिका अभाव से प्र परा आदि का समासार्थ यह है यथा—सुपुरुष। यहाँ पाँच वार्तिक है।

गतादि अर्थ में प्र परा आदि का प्रथमान्त के साथ समास होता है। यथा—आचार्य चले गये अर्थ में प्राचार्य, प्र एवं आचार्य का समास से एकपदत्व एवं स्वर आदि होते हैं। क्रान्त आदि अर्थमें अत्यादिका द्वितीयान्त के साथ समास होता है। यथा—माला का अतिक्रमण करने वाला अर्थ में अतिमाल। माला अम् अति समासादि कार्य कर गो स्त्रियो से आकार का ह्रस्व हुआ यहाँ विग्रह में नियतविभक्त्यन्त माला अम् है, एकविभक्ती से उपसर्जन संज्ञा माला की है। क्रुष्टादि अर्थ में अवादि का तृतीयान्त के साथ समास होता है यथा कोकिलासे हीन अर्थ में अवकोकिलः कोकिला आ अव समासादि मे अवकोकिल। पर्यादि का ग्लान आदि अर्थ में चतुर्थ्यन्तसे समास होता है। यथा अध्ययन के लिए अनुत्साही अर्थ में अध्ययन ए परि समासादि पर्यध्ययन। निर् आदि का क्रान्त आदि अर्थ में पञ्चम्यन्त के साथ समास होता है यथा—कौशाम्बी नामक नगरी से निकल चुका व्यक्ति में कौशाम्बी अस् निर समासादि टिका का ह्रस्व निष्कौशाम्बि। कर्मप्रवचनीय संज्ञक का समर्थ सुबन्त के साथ समास नहीं होता है, यथा वृक्ष प्रति यहां लक्षणेत्थम् से कर्मप्रवचनीय संज्ञा है। इसके बाद उपपद तत्पुरुष समास का प्रारम्भ हो हो रहा है यथा—

७८२ तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् ३।२।९२।

सप्तम्यन्ते पदे कर्मणीत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं कुम्भादि तद्वाचकं पदमुपपदसंज्ञं स्यात् तस्मिंश्च सत्येव वक्ष्यमाणः प्रत्ययः स्यात्।

'कर्मण्यण्' में सप्तम्यन्त तदादि जो 'कर्मणि' आदि पद उनका वाच्य जो कुम्भ आदि अर्थ उनका वाचक जो कुम्भादि शब्द उनकी उपपदसंज्ञा होती है, एवं वे उपपद में रहगें तब ही धातु से प्रत्यय होगें। अन्यथा नहीं।

७८३ उपपदमतिङ् २।२।१९।

उपपदं सुबन्तं समर्थेन नित्यं समस्यते। अतिङन्तश्चायं समासः। कुम्भं

करोतीति कुम्भकारः। इह कुम्भ अस् कार इत्यलौकिकं प्रक्रियावाक्यम्। अतिङ् किम्, मा भवान् भूत्। 'माङि लुङ्' इति सप्तमीनिर्देशान्माङ् उपपदम्। अतिङ्ग्रहणं ज्ञापयति-सुपेत्येतन्नेहानुवर्तते इति। पूर्वसूत्रेऽपि गतिग्रहणं पृथक्कृत्य अतिङ्ग्रहण तत्रापकृष्यते सुपेति च निवृत्तम्। तथाच "गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेरिति सिद्धम्। व्याघ्री। अश्वक्रीती। कच्छपी।

उपपद संज्ञक सुबन्त का तिङन्ततदादि से भिन्न एवं सामर्थ्ययुक्त के साथ नित्य समास होता है। सूत्र में अतिङ् ग्रहण से उत्तर पद तिङन्ततदादिभिन्न लेना। कुम्भं करोति अर्थ में 'कर्मण्यण्' सूत्र कुम्भादि कर्म वाचक उपपदसंज्ञक पूर्व में रहते क्रिया वाचक धातु से कर्ता में अण् प्रत्यय करता है। विधायक उस सूत्र में सप्तम्यन्त पद कर्मणि है, उसका वाच्य अर्थ घड़ा आदि तद्वाचकशब्द यहां कुम्भ है उसकी उपपद संज्ञा हुई, यहां कर्म संज्ञक एवं उपपद संज्ञक कुम्भ है, उसके पूर्व रहते अण् प्रत्यय, वृद्धि से कार हुआ, वह कृदन्त तदादि है, इसके योग में कर्मवाचक कुम्भ से द्वितीया प्राप्त थी, उसको बाध कर 'कर्तृकर्मणोः' से षष्ठी हुई कुम्भ अस् कार यह अलौकिक विग्रह वाक्य है। यहां उपपदमतिङ् से समास किया। विभक्ति अस् का लोप कुम्भकारः = कुम्हार जो मिट्टी का घड़ा बनाता है, यह शब्द योगरूढ है। अतिङ् का प्रयोजन मा भूत् यहां 'माङि' से बोध्य निषेध का वाचक मा यद्यपि उपपद है, किन्तु उत्तर पद भूत् (लुङ् का) तिङन्त तदादि भिन्न नहीं अतः समासाभाव है, मा के योग में अट् नहीं होता है अतः अभूत् न हुआ भवान् बीच में अट् की सत्ता के अभाव बोधनार्थ रक्खा है। इस सूत्र में कृत जो अतिङ् ग्रहण यह ज्ञापन करता है की 'सुपा' सूत्र से यहां तृतीयान्त 'सुपा' की अनुवृत्ति नहीं है, उसकी अनुवृत्ति करने पर अतिङ् ग्रहण निष्प्रयोजनक होता। एवम् 'कुगतिप्रादयः' में गति अंश को योगविभाग से अलग कर इसमें इस अतिङ् का अपकर्ष कर यह अर्थ हुआ—गतिसंज्ञकं सुबन्तं समर्थेन तिङन्ततदादि भिन्नेन सह समस्यते = गतिसंज्ञा से युक्त सुबन्त का सामर्थ्य युक्त अतिङ् से समास होता है, इस गतिश्च विभक्ति सूत्र में 'अतिङ्' ग्रहण से इसमें भी 'सुपा' तृतीयान्त की अनुवृत्ति नहीं है। इस प्रकार वक्ष्यमाण परिभाषा के दो अंश सिद्ध हुए, तृतीयांश = कारकांश में स्थालीपुलाकन्याय या 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' में बहुल ग्रहण प्रमाण मानकर यह सिद्ध हुआ कि "गति संज्ञक का उपपद संज्ञक का कृदन्ततदादि के साथ समास उस अवस्था में होता है कि उत्तर पद से सुप् की उत्पत्ति के पूर्व में एवं कारक का भी। संस्कृत में परिभाषा स्वरूप यह है 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः"। पूर्वपद तो सुबन्त अपेक्षित ही है अर्थात् 'सुबामन्त्रिते' से प्रथमान्त सुप् का अनुवृत्ति इनमें भी आती है। अतः चर्मन् टा क्रीत यहां समास विभक्ति लुक् होने पर भी प्रत्यय लक्षण से चर्मन् को सुबन्त मानकर 'सुप्तिङन्तम्' से पद संज्ञा से 'चर्मक्रीती' की सिद्धि हुई है। परिभाषा के फल—

व्याघ्री व्याजिघ्रतीति व्याघ्री विपूर्वक आपूर्वक गन्धग्रहणार्थक घ्रा धातु से 'आतश्चोपसर्गे' से कप्रत्यय। 'पाघ्राध्मा' सूत्र से घ्राके जिघ्र आदेश संज्ञा में नहीं होता है, 'व्याघ्रादिभिः' निर्देश से। व्याङ् का घ्र के साथ गतिसमास है। यहां गतिसमास में उत्तर पद घ्र सुबुत्पत्ति की अपेक्षा नहीं करता है। यदि सुबुत्पत्ति की अपेक्षा करता तो सुप् की उत्पत्ति के पूर्व अन्तरङ्ग टाप् घ्रसे होता तब सुप् आता तब समास करने पर व्याघ्रा इस्व अकारान्त नहीं है। जातिलक्षण ङीप् न होकर अनिष्ट 'व्याघ्रा' होता। यह फल है। अश्वेन क्रीता यहां भी अश्व टा क्रीत यहां

कर्तृकरण से कारक का समास क्रीत से सुबुत्पत्ति पूर्व हुआ समाससे अश्वक्रीत बना, तब 'क्रीतात् करण-पूर्वात्' से ङीप् से अश्वक्रीती, यहां उत्तरपद यदि सुबुत्पत्ति की अपेक्षा करता तो सुबुत्पत्ति से पूर्व अन्तरङ्गटाप् कर विभक्ति लाकर समास कर ह्रस्व अकारान्त नहीं ङीष् न होकर अनिष्ट अश्वक्रीता रूप होता, अश्वक्रीती यह इस परिभाषा का फल है। गति का उदाहरण व्याघ्री दे चुके। कारक का उदाहरण अश्वक्रीती दे चुके अब उपपद का उदाहरण यह है—कच्छेन पिबतीति उस अर्थ में 'सुपि [illegible]' सूत्र में 'सुपि' योगविभाग कर सुबन्त उपपद रहते धातु से कप्रत्यय होता है उसमें कच्छ उपपद संज्ञक है पासे कप्रत्यय आकार का लोप उपपद समास करने में उत्तरपद 'प' को सुप् की अपेक्षा नहीं समास ङीष् कच्छपी। यहां पसे विभक्ति की अपेक्षा होती तो अन्तरङ्ग टाप् होता तब विभक्ति आती समास के बाद टाप् का श्रवण एवं ईकार का अश्रवण रहता यह कच्छपी इस परिभाषा का फल है।

७८४ अमैवाव्ययेन २।२।२०।

अमैव तुल्यविधानं यदुपपदं तदेवाव्ययेन सह समस्यते। स्वादुङ्कारम्। नेह-कालसमयवेलासु तुमुन्। कालः समयो वेला वा भोक्तुम्। अमैवेति किम्, अग्रे भोजम्। अग्रे भुक्त्वा। विभाषाऽग्रेप्रथमपूर्वेष्विति क्त्वाणमुलौ। अमा चान्येन च तुल्यविधानमेतत्।

अम् से ही समान विधान जो उपपद अर्थात् जिस उपपद में जिस वाक्य से अम् ही विहित हो ऐसे उपपद का अव्यय के साथ समास होता है। यथा स्वादुङ्कारम्, 'स्वादुमि णमुल्' से णमुल् प्रत्यय भावे में धातु से होता है स्वादु का वाच्यार्थ वाचक स्वादु की उपपद संज्ञा है यहां उपपद संज्ञा एवं णमुल् का अम् दोनों का तुल्य विधान ही है अतः समास स्वादुङ्कारम्। काल समय एवं वेला उपपद रहते धातु से तुमुन् होता है, वहां समासाभाव ही रहता है कालादिका भोक्तुम् के साथ समास नहीं। सूत्र में एवकार का ग्रहण इस लिए किया है जो एक ही सूत्र क्त्वाप्रत्यय एवं णमुल् दोनों का विधायक है वहां उपपद संज्ञा का अम् (णमुल्) एवं अन्य प्रत्यय क्त्वा का तुल्य विधान है जहां अम् से ही तुल्य विधान नहीं अतः वहां भी वाक्य ही रहता है, इससे समास नहीं होता है। यथा अग्रे भोजम्। अग्रे भुक्त्वा, यहां विभाषा' सूत्र से क्त्वा णमुल् दोनों का विधान है।

७८५ तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम् २।२।२१।

'उपदंशस्तृतीयायाम्' इत्यादीन्युपपदान्यमन्तेनाव्ययेन सह वा समस्यन्ते। मूलकोपदंशम्, मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते।

उपदंशस्तृतीयायाम्' इत्यादि सूत्र विषयक उपपदों का अमन्त अव्यय के साथ विकल्प कर के समास होता है। मूलकेन उपदंशम् भुङ्क्ते यहां 'उपदंशस्तृतीयायाम्' सूत्र में सप्तम्यन्त पद 'तृतीयायाम्' उसका प्रकृत में अर्थ मूली तद्वाचक शब्द मूलक उसकी उपपदसंज्ञा मूलकेन उपपद रहते उपपूर्वक दन्तव्यापारार्थक दंश् धातु से णमुल् प्रत्यय भाव में हुआ है। समास एवं समासाभाव से दो रूप यहां हुए हैं। यहां मूली को चढ़ुहा दांत से काट कर उसके साथ रोटी आदि को वह खाता है। यहां भुज धातु वाच्य क्रिया भोजन उसमें मूलक प्रकृष्ट उपकारक है, अतः मूलकेन यहां करण में तृतीया हुई है, यद्यपि जो कि उपदंश पदार्थ के साथ मूलक का शब्द अन्य

सीधा सम्बन्ध नहीं है, किन्तु अर्थकृत सम्बन्ध है वह यह है कि उपदंशन क्रिया का मूलक कर्म है। चैत्र भोजन करता है, किसके साथ मूली के साथ, क्या कर के काट कर किस को मूली को। चैत्र मूली को काटकर उसके टुकड़ों के साथ रोटी खाता है। शाब्द सम्बन्ध के अभावमें एवं आर्थ सम्बन्ध में समास एवं णमुल् की उत्पत्ति में समास विधायक एवं णमुल् विधायक सूत्र ही प्रमाण है, उपदंशन क्रिया का कर्म मूलक से द्वितीया कर्मार्थक नहीं होती है शाब्दबोधमें प्रधानीभूत भोजन क्रिया है तन्निरूपित करणत्वनिमित्तक तृतीया ही होती है, 'प्रधानमनुरुध्यते' न्याय से 'सर्वे सेवका राजानम् उपकुर्वन्ति सेवन्ते च' यह भी न्याय है। अर्थात् कर्मत्व मूलक का अनुद्भूत एवं करणत्व उद्भूत है। क्रियान्वयी उद्भूत करणत्वादि वाचक कारकों से तृतीया आदि विभक्तियां होती हैं। यह 'अनभिहिते' सूत्रखण्डनप्रसङ्ग से अन्यत्र वर्णित है।

७८६ क्त्वा च २।२।२२।

तृतीयाप्रभृतीन्युपपदानि क्त्वान्तेन सह वा समस्यन्ते। उच्चैः कृत्य, उच्चैः-कृत्वा, अव्यये यथाभिप्रेतेति क्त्वा। तृतीयाप्रभृतीनीति किम्, अलं कृत्वा, खलु कृत्वा।

क्त्वाप्रत्ययान्त के साथ तृतीयाप्रभृति आदि सूत्रों में सप्तम्यन्त बोध्य बोधक जो उपपदसंज्ञक शब्द हैं उन सुबन्तों का विकल्प से समास होता है। उच्चैः कृत्वा इति उच्चैःकृत्य। पक्षमें उच्चैः कृत्वा है। यहां अव्यये यथाभिप्रेत' से क्त्वाप्रत्यय हुआ है, यह अव्यय अधिकरण शक्ति प्रधान उच्चैस् उपपदसंज्ञक है। अलं कृत्वा खलु कृत्वा यहां क्त्वा अन्य सूत्र 'अलंखल्वोः' से हुआ है, वह तृतीया प्रभृति में नहीं अतः एवं समासाभाव यहां है। 'अलंखल्वोः' सूत्र 'उपदंश-स्तृतीयायाम्' से पूर्व है।

७८७ तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः ५।४।८६।

संख्याव्ययादेरङ्गुल्यन्तस्य तत्पुरुषस्य समासान्तोऽच् स्यात्। द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलं दारु। निर्गतम् अङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम्।

जिस तत्पुरुषसमासमें संख्यावाचक या अव्यय संज्ञक सुबन्त शब्द पूर्व में रहे एवं अङ्गुलि सुबन्त समर्थ अन्त में रहे वहां समासान्त अच् प्रत्यय होता है। द्वे अङ्गुली प्रमाणम् अस्य यहां तद्धितार्थ में समास प्रमाणार्थक मात्रच् का लुक् 'द्विगोर्नित्यम्' से अच्, इकारलोप द्व्यङ्गुलम् दारु। निर् अङ्गुली अच् अम् निरङ्गुलम् = जो अङ्गुली से निकल गया।

७८८ अहस्सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः ५।४।८७।

एभ्यो रात्रेऽच् स्याच्चात् संख्याव्ययादेः। अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम्। अहश्च रात्रिश्चाहोरात्रः। सर्वा रात्रिः सर्वरात्रः। पूर्वं रात्रेः पूर्वरात्रः। संख्यातरात्रः। पुण्यरात्रः। द्वयो रात्र्योः समाहारो द्विरात्रम्। अतिक्रान्तो रात्रिम् अतिरात्रः।

सुबन्त अह, सर्व एकदेश, संख्यात, एवं पुण्य ये हैं आदि में जिसको एवं सुबन्त रात्रिशब्द है अन्त में जिसको ऐसा समास से समासान्त अच् प्रत्यय होता है। दिवस की रात्रि यह अर्थ असंभव है अतः अहन् का रात्रि शब्द द्वन्द्वसमास अहश्च रात्रिश्च यहां अच् से एवं न् को र, उकार गुण इकारलोप 'अहोरात्रः'। अथवा ब्रह्मा के दिवस की मनुष्य सम्बन्धिनी रात्रि यहां षष्ठी तत्पु-

इव समास भी होता है। पूर्वकालैक समास एव अच् से सर्वरात्र । पूर्वापरेति समास अच् पूर्वरात्र । रात्रे पूर्वम् यह एकदेशिसमास है। कर्मधारय में पूर्वरात्रि यही होता है। सख्याता चासौ रात्रिश्च विशेषणसमास अच संख्यातरात्र पुण्या चासौ रात्रिश्च समास अच पुण्यरात्र । तद्धितार्थ से समाहार में समास अच् द्विरात्रम् । द्वितीयातत्पुरुष अच् अतिरात्र ।

७८९ राजाहस्सखिभ्यष्टच् ५।४।९१।

एतदन्तात् तत्पुरुषाट्टच् स्यात् । परमराज. । अतिराजी । कृष्णसख ।

राजन् अहन् एव सखि इन शब्द है अ तमें जिसके ऐसे तत्पुरुष समास से टच् प्रत्यय होता है। सन्महत से समास परमश्चासौ राजा इति परमराजन् टच (अ) लोप परमराज । राजान अतिक्रान्ता को अतिराजन् टच टिलोप, टिड्ढाणञ से ङीप् अलोप अतिराजी = राजा को अतिक्रमण करनेवाली स्त्री । टच् के टित् का फल है ङीप्, चकार का फल 'चित' से अन्तोऽदात्त है।

७९० अह्नष्टखोरेव ६।४।१४५।

टिलोप' स्यान्नान्यत्र । उत्तमाह्. । द्वे अहनी भूतो द्व्यहीनः क्रतु , तद्धितार्थे द्विगु । तमधीष्ट इत्यधिकारे द्विगोर्वेरयनुवृत्तौ राज्यहःसंवत्सराच्चेति ख । लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया अनित्यत्वान्नेह—मद्राणा राज्ञी मद्रराज्ञी ।

'नस्तद्धिते' सूत्रसे टिलोप यहां सिद्ध ही था पुन टिलोपार्थ यह सूत्र नियमार्थ है। अहन् की टिका लोप हो तो टच् या ख प्रत्यय पर रहते ही। उत्तमश्च तत् अह यहा 'अह सर्वैकदेश-स्याल' से समास 'राजाह' से टच टिलोप उत्तमाह । द्वि ओ अहन् ओ यहा भूत अर्थ में 'तद्धितार्थ' इति समास कर द्विगोर्वा का अनुवृत्तियुक्त य तमधीष्ट सूत्र की अनुवृत्ति युक्त जा 'राज्यह सवत्सरात' सूत्र है उससे ख प्रत्यय इनादेश टिलोप से 'द्व्हीन ' सिद्ध हुआ है। दो दिवस में सम्पादन किया गया यह । मद्राणा राज्ञि यहा समास, टच् 'भस्याढे' वा० से पुवद्भाव टिलोप से मद्रराज्ञी ऐसा क्यों नहीं हुआ ? लिङ्गविशिष्ट परिभाषा 'हादिलाकुक' वा० में धट से कार्य होने पर घटी ग्रहण से अनित्य है, अत यहा टच् न होकर मद्रराज्ञी बना है।

७९१ अह्नोऽह्न एतेभ्यः ५।४।८८।

सर्वादिभ्य परस्याहन् शब्दस्य अह्नादेश' स्यात् समासान्ते परे ।

सर्व एकदेशादि शब्दों से पर अहन् शब्द को अह्नादेश होता है समासान्त प्रत्यय पर रहते।

७९२ अह्नोऽदन्तात् ८।४।७।

अदन्तपूर्वपदस्थाद् रेफात् परस्याह्नोऽह्नादेशस्य नस्य णः स्यात् । सर्वाह्ण । पूर्वाह्ण. । सख्याताहः । द्वयोरह्नो भव , कालाट्ठञ् , द्विगो लुगनपत्य इति ठञो लुक् द्व्यहः । स्त्रियाम् अदन्तत्वाट्टाप्—द्व्यह्ना । द्व्यह्नप्रिय । अत्यह्न ।

अदन्त पूर्वपद में स्थित रेफ से पर अहन् शब्द के साथ में जायमान अह्न आदेश के नकार को णकार होता है। सर्वञ्च तत् अह समास 'अह्नोऽह्न' से अह्न आदेश, णकार सर्वाह्ण । अह्न पूर्वम् एकदेशिसमास अह्न आदेश, णकार पूर्वाह्ण । सख्यातञ्च तद् अह सख्याताह । यहा पूर्वपद रेफ युक्त नहीं है अत णकार न हुआ। तद्धितार्थोत्तरपद से समास द्वयो अह्नो भव यहां द्व्यहन्

से 'कालाव' सूत्र से ठन् का लुक् अह आदेश द्व्यहः इस में भवा कन्या अर्थ में 'द्व्यह्न' टाप्। लुप्त तद्धित में 'राजाह्नाहा' की प्रवृत्ति नहीं अतः उससे यहां पुंस्त्व बोधन नहीं किया, अतः टाप् होता है। इसमें 'लुपि युक्तवत्' से लिङ्ग का अतिदेश ही प्रमाण है यहां प्रत्ययलक्षणाभाव से लुप्ततद्धित निमित्तक ङीप् की आशा दुराशा मात्र ही है। द्वे अह्नी प्रिये यस्य यहां त्रिपद बहुव्रीहि कर उत्तर पद परक अवान्तर तत्पुरुष कर अहन् को अह्न आदेश से द्व्यह्नप्रियः। अहः अतिक्रान्तः अत्यह्नः टच् अह्नादेश है।

७९३ क्षुम्नादिषु च ८।४।३९।

एषु णत्वं न स्यात्। दीर्घाह्नी प्रावृट्। एवं चैतदर्थमह्न इत्यदन्तानुकरणे क्लेशो न कर्तव्यः। प्रातिपदिकान्तेति णत्ववारणाय क्षुभ्नादिषु पाठस्यावश्यकत्वात्। अदन्तादिति तपदग्रहणान्नेह—परागतम् अहः पराह्नः।

क्षुम्नादि गणपठित शब्दों के नकार को णकार नहीं होता है। दीर्घम् अहः यस्यां ऋतौ प्रावृषि इति दीर्घ सु अहन् सु बहुव्रीहि समास कर दीर्घाहन् शब्द से स्त्रियां ङीप् भसंज्ञा अन् के अकार का लोप दीर्घाह्नी यहां नकार को 'प्रातिपदिकान्त' से णकार प्राप्त है, उसका क्षुम्नादिषु से निषेध हुआ है। एतदर्थं अह्न अदन्त रहे वहां ही णत्व, हलन्त रहे वहां णत्वाभावार्थ अकारान्त अह्न का णत्वविधायक में अनुकरण है णत्व यहां प्राप्त ही नहीं है क्षुभ्नादि में इसका पाठ (दीर्घाह्न) का व्यर्थ है वह सब कथन असङ्गत है, यहां तो प्रातिपदिकान्त से प्राप्त णत्व निषेधार्थ ही पाठ है। अतः अदन्त का अनुकरण आदि प्रयास निष्प्रयोजनक एवं गौरवग्रस्त है, उसका अनाश्रयण ही उचित है। पराह्न में पूर्वपद ह्रस्व अकारान्त नहीं है अतः णत्व का अभाव है। अदन्तात् का अर्थ है ह्रस्वत्व अत्व दोनों एकत्र विद्यमान रहें अर्थात् ह्रस्व अकारान्त पूर्वपद णत्वविधान में अपेक्षित है। यहां दीर्घत्व अत्व आकार में है।

७९४ न संख्यादेः समाहारे ६।४।८९।

समाहारे वर्तमानस्य संख्यादेरह्नादेशो न स्यात्। संख्यादेरिति स्पष्टार्थम्। द्वयोरह्नोः समाहारो द्व्यहः। त्र्यहः।

समाहार में विद्यमान संख्या वाचक से पर अहन् को अह्न आदेश नहीं होता है। समाहार में संख्या का ही सम्भव है पुनः संख्यादि ग्रहण स्पष्ट ज्ञान के लिए है। अर्थात् व्यर्थ ही है। द्वि ओस् अहन् ओस् तद्धितार्थ से समास विभक्ति लुक्, टच्, टिलोप अह्न आदेश का निषेध द्व्यहः। तीन दिन का समाहार में त्र्यहः।

७९५ उत्तमैकाभ्यां च ५।४।९०।

आभ्याम् अह्नादेशो न। उत्तमशब्दोऽन्त्यार्थः पुण्यशब्दमाह। 'पुण्यैकाभ्याम्' इत्येव सूत्रयितुमुचितम्। पुण्याहम्। सुदिनाहम्। सुदिनशब्दः प्रशस्तवाची। एकाहः। उत्तमग्रहणमुपान्त्यस्यापि संग्रहार्थमित्येके। संख्याताहः।

उत्तम तथा एक शब्द से पर अहन् को अह्न आदेश नहीं होता है। अह्नः सर्वैकदेश सूत्र में अन्तिम पठित पुण्य शब्द को उत्तम शब्द कहता है। कोई उत्तम का अर्थ उस सूत्र में अन्तिम से

पूर्व स्थान को उत्तम शब्द कहता है, इस मतभेद ज्ञानार्थ उत्तमैकाभ्याम् नहीं किया गया है अत यथाश्रुत न्यासकरण में ही औचित्य है। 'उचितम्' शब्द विपरीत लक्षणा वृत्ति से अनुचित परक ही है यथा 'उपकृत बहु तत्र' की तरह शत्रु के प्रति यह उक्ति—है मित्र का अर्थ शत्रु उपकृत का अर्थ अपकृत, सुजनता का अर्थ दुष्टता हान जीव का अर्थ अभी तुम मृत्यु को प्राप्त करो। पुण्यञ्च तत् अह समास टच् टिलोप पुण्याहम्। शुभदिवस बोधक सुदिन शब्द है, सुदिनञ्च तत् अह सुदिनाहम्। एकञ्च तत् अह एकाह। सख्यातञ्च तद् अह सख्याताह।

७९६ अग्राख्यायामुरसः ५।४।९३।

टच् स्यात्। अश्वानामुर इव अश्वोरसम्। मुख्योऽश्व इत्यर्थः।

यहा अग्र शब्दार्थ प्रधान है। प्रधानार्थक उरस् शब्द से पर में टच् प्रत्यय होता है। मुख्य अश्व अर्थ में अश्वाना उर अश्वोरसम् टच् टिलोप अश्वोरसम्।

७९७ अनोऽश्मायस्सरसां जातिसंज्ञयोः ५।४।९४।

टच् स्यात्, जातौ संज्ञायां च। उपानसम्। अमृताश्मम्। कालायसम्। मण्डूकसरसम्, इति जातिः। महानसम्। पिण्डाश्मम्। लोहितायसम्। जलसरसम्, इति संज्ञा।

जाति एव संज्ञा में अनस, अश्मन्, अयस् सरस् इन से टच् समासान्त होता है। उपगतम् अन, अमृतस्य अश्मा, कालञ्च तत् अय, मण्डूकस्य सर, ये जाति के उदाहरण है। महत् च तत् अन, पिण्डस्य अश्मा लोहितञ्च तत् अय, जलस्य सर यहा सर्वत्र समास एव टच् प्रत्यय है। संज्ञा शब्द में प्रवृत्तिनिमित्त अन्य एव वाच्यार्थ अन्य रहता है, अवयवार्थ से भिन्न समुदायार्थ सकेतितार्थ बोधक होता है।

७९८ ग्रामकौटाभ्यां च तक्ष्णः ५।४।९५।

ग्रामस्य तक्षा ग्रामतक्षः। साधारण इत्यर्थः। कुट्या भवः कौटः = स्वतन्त्रः स चासौ तक्षा च कौटतक्षः।

ग्राम एव कौट से पर तक्षन् शब्द को टच् समासान्त प्रत्यय होता है। ग्राम अस् तक्षन् सु षष्ठीसमास टच् ग्राम का साधारण बढई = ग्रामतक्ष। अपनी कुटीया में रह कर शिल्प कला निपुण बढइ है वह = कौटतक्ष है। कुटी वाचक कुटी सप्तम्यन्त से भवार्थक अण् वृद्धि इकार लोप से कौट। स चासौ तक्षा समास टच् कौटतक्ष। मुख्य बढई। विश्वकर्मा भी बढइ का नाम है। गुर्जर भाषा में उसको 'सुथार' कहते है।

७९९ अतेः शुनः ५।४।९६।

अतिश्वो वराहः। अतिश्वी सेवा (सेना)।

अति के उत्तर श्वन् शब्द को समासान्त टच् प्रत्यय होता है। कुत्ते की दौड को भी निरस्कार करने वाला अर्थ में श्वानम् अतिक्रान्त में द्वितीया तत्पुरुष समास टच् टिलोप अतिश्व क? वराह। श्वानम् अतिक्रान्ता सेवा यहा भी समास टच् कुत्ते स भी अधम = नीच सेवा है। कुत्ता तो स्वतन्त्र विचरण करता है सेवक तो उससे भी वञ्चित है अत इन दोनों से भी अधमतम सेवा है। दोनों की समता वर्णन करनेवाले कवि ने अन्याय किया है। जोर से मागनेवाली सेना ऐसा अर्थ भी है 'सेना' यह भी मूल में पाठ है। टच् टित् है, स्त्रियाम् ङीप्।

८०० उपमानादप्राणिषु ५।४।९७।

अप्राणिविषयकोपमानवाचिनः शुनष्टच् स्यात् । आकर्षः श्वेव आकर्षश्वः । अप्राणिषु किम् ?, वानरः श्वेव वानरश्वा ।

प्राणिभिन्नार्थक उपमावाचक श्वन् शब्द से टच् प्रत्यय होता है । आकर्षः श्वा इव यहां श्वन् का ही अर्थ सदृशगर्भित है आकर्ष सु श्वन् सु 'उपमितम्' से समास टच् आकर्षश्वः = खरिहान में धान्य आदि को खींच करने वाला लकड़ी से बना हुआ काठ जिसको पांचा कहते हैं जिसमें पांच काठ के अलग २ एक लकड़ी में संयुक्त है उसका नाम आकर्षश्वः है । गुर्जरभाषा में 'दन्तावली' कहते हैं । यह अर्थ चिन्त्य है । जहां उपमानार्थक नहीं यथा निष्क्रान्तः शुनः इति निश्वा' रूप ही होता है । प्राणिविषयक उपमा में टच् नहीं होता है, यथा-वानरश्वा ।

८०१ उत्तरमृगपूर्वाच्च सक्थ्नः ५।४।९८।

चादुपमानात् । उत्तरसक्थम् । मृगसक्थम् । पूर्वसक्थम् । फलकमिव सक्थि फलकसक्थम् ।

उत्तर, पूर्व, मृग पूर्व से पर सक्थि शब्दान्त तत्पुरुष से टच् प्रत्यय होता है । काठ की चौड़ी पटिया की तरह सक्थियुक्त को फलकसक्थम् कहते हैं ।

८०२ नावो द्विगोः ५।४।९९।

नौशब्दान्ताद् द्विगोष्टच् स्यात् न तु तद्धितलुकि । द्वाभ्यां नौभ्यामागतो द्विनावरूप्यः । 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इत्यत्र अचीत्यस्यापकर्षणाद्धलादे र्न लुक् । पञ्चनावप्रियः । द्विनावम् । त्रिनावम् । अतद्धित लुकि किम् , पञ्चभि र्नौभिः क्रीतः पञ्चनौः ।

नौशब्दान्त द्विगु से टच्प्रत्यय होता है किन्तु तद्धितप्रत्यय का जहां लुक् होता है वहां टच्प्रत्यय नहीं होता है । तद्धितार्थ में समास 'हेतुमनुष्य' से रूप्यप्रत्यय से द्विनौरूप्य यहां नौशब्दान्त को टच् आव् आदेश द्विनावरूप्यः = दो नौकाओं से आया हुआ । अजादिप्रत्यय का ही 'द्विगोः' से लुक् होता है हलादि प्रत्यय का नहीं । पञ्चन् जस् नौ जस् प्रिय सु बहुव्रीहि समास कर विभक्ति का लोप, उसका प्रत्ययलक्षण से प्रिय उत्तर पदपरक अवान्तर तद्धितार्थ से समास इससे टच् पञ्चनावप्रियः = पाँच नौकाएं प्रिय हैं जिस मनुष्य को वह । समाहार समास में द्विगोः टच् द्विनावम् त्रिनावम् । पञ्चभिः नौभिः क्रीतः यहां समास आर्हीय टक् 'अध्यर्धपूर्व' से लुक् है, अत टच् न हुआ । पञ्चनौः ।

८०३ अर्धाच्च ५।४।१००।

अर्धान्नावष्टच् स्यात् । नावोऽर्धम् , अर्धनावम् । क्लीबत्वं लोकात् ।

अर्धशब्द से उत्तर नौ शब्दान्त तत्पुरुष को समासान्त टच् प्रत्यय होता है । यथा—

एकदेशि समास से नावः अर्धम् यहां टच् से अर्धनावम् । 'अर्धं नपुंसकम्' से समास होता है । नौशब्द को नपुंसकत्व लोकाधीन है, लिङ्गनिर्णय व्यवहार लोक से होता है ।

८०४ खार्याः प्राचाम् ५।४।१०१।

द्विगोरर्धाच्च खार्याष्टच् वा स्यात्। द्विखारम्। द्विखारि। अर्धखारम्। अर्धखारि।

खारीशब्दान्त द्विगु से एव अर्धशब्दान्त समास से टच् प्रत्यय होता है। द्वयो खार्यो समाहार द्विखारम्, तद्धितार्थ से समाहार में समास टच ईकारलोप। पक्ष मे द्विखारि यहां नपुंसक ह्रस्व है। एकदेशि समास टच् अर्धखारम्। अर्धखारि।

८०५ द्वित्रिभ्यामञ्जलेः ५।४।१०१।

टच् वा स्यात् द्विगौ। द्व्यञ्जलम्। द्व्यञ्जलि। अतद्धितलुकीत्येव। द्वाभ्याम् अञ्जलिभ्या क्रीतो द्व्यञ्जलि।

द्विगुसमास में द्वि एव त्रि से पर अञ्जलि को विकल्प से टच होता है। जहां तद्धितप्रत्यय उत्पन्न होकर उसका लोप होता है वहां टच नहीं होता है। द्व्यञ्जलम् यहां समाहार में द्विगु है। पक्ष में द्व्यञ्जलि। द्वि औ अञ्जलि औ क्रीतार्थ में तद्धितार्थ विषयमें समास एव ठक् प्रत्यय उसका लुक् करने पर यहां टच न हुआ द्व्यञ्जलि। यहां अञ्जलिशब्द पाणिद्वयार्थक नहीं क्योंकि उसमें क्रयण क्रिया असम्भव है एव उसका कर्म कौन यह भी सम्भव नहीं है अत अञ्जलि शब्द अञ्जलि परिमित धान्यादि अर्थक है परिच्छेद्य धान्य में परिच्छेदकत्व – अञ्जलित्व का आरोप है।

८०६ ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम् ५।४।१०४।

ब्रह्मान्तात् तत्पुरुषाट्टच् स्यात् समासेन जानपदत्वमाख्यायते चेत्। सुराष्ट्रे ब्रह्मासुराष्ट्रब्रह्म।

समास से देशत्व प्रतीयमान रहे वहां ब्रह्मन् शब्दान्त तत्पुरुष से टच् प्रत्यय होता है सामीप्य से ब्राह्मण का ही जनपदस्थ प्रतीयमान रह। 'सप्तमी शौण्डै' से सप्तमी का योगविभाग से यहां समास टच नस्तद्धिते से टिलोप सुराष्ट्रब्रह्म।

८०७ कुमहद्भ्यामन्यतरस्याम् ५।४।१०५।

आभ्या ब्रह्मणो वा टच् स्यात् तत्पुरुषे। कुत्सितो ब्रह्मा कुब्रह्म। कुब्रह्मा।

कु एव महत् शब्द से पर टच् तत्पुरुष में होता है कुगति से समास टच् कुब्रह्म। पक्ष में कुब्रह्मा।

८०८ आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ६।३।४६।

महत आकारोऽन्तादेशः स्यात समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये च परे। महाब्रह्म। महाब्रह्मा। महादेव। महाजातीय। समानाधिकरणे किम् ?, *महत सेवा, महत्सेवा। लाक्षणिक विहाय प्रतिपदोक्त सन्महदिति समासो* गृह्यत इति चेत् महाबाहुर्न स्यात् तस्माल्लक्षणप्रतिपदोक्तयो प्रतिपदोक्तस्येति परिभाषा नेह प्रवर्तते, समानाधिकरणसामर्थ्यात्। आदिति योगविभागादात्व प्रागेकादशभ्य इति निर्देशाद्वा। एकादश। महतीशब्दस्य पुंवत्कर्मधारयेति पुंवद्भावे कृते आत्वम्। महाजातीया।

❀महदात्वे घासकरविशिष्टेषूपसंख्यानं पुंवद्भावश्च❀। असामानाधिकरण्यार्थमिदम्। महतो महत्या वा घासो महाघासः। महाकरः। महाविशिष्टः। ❀अष्टनः कपाले हविषि❀। अष्टाकपालः। ❀गवि च युक्ते❀। गोशब्दे परे युक्त इत्यर्थे गम्येऽष्टन आत्वं स्यात्। अष्टागवं शकटम्। अच् प्रत्यन्ववेत्यत्राजिति योगविभागाद् बहुव्रीहावप्यच्। अष्टानां गवां समाहारः—अष्टगवम्। तद्युक्तत्वाच्छकटमष्टागवमिति वा।

महत् शब्द के अन्त्य अल् को आकारादेश होता है, समानविभक्त्यन्त होते हुए एकार्थबोधक शब्द उत्तर पद में रहते या जातीयर् प्रत्यय उत्तर रहते। महान् चासौ ब्रह्मा यहां सन्महत्' से कर्मधारय समास कर '-महत्' से टच् टिलोप आत्व से महाब्रह्मः। टच् के अभाव में महाब्रह्मा। महान् देवः आत्व महादेवः। महान् प्रकारः जातीयर् आत्व महाजातीयः। बड़े की सेवा यहां षष्ठीतत्पुरुष में महतः सेवा महत्सेवा यहां समानार्थक नहीं, न यहां समान विभक्ति ही है, न एकार्थबोधकत्व है। अतः आत्व न हुआ। आत्व विधायक सूत्र में महत् शब्द को उच्चारण कर समास विधान स्थल में आत्व करने पर महान्तौ बाहू यस्य सः यहां बहुव्रीहि में प्रतिपदोक्त महत् शब्द का उच्चारण कर समास नहीं वहां आत्व न हो कर इष्ट प्रयोग महाबाहुः नहीं बनेगा अतः इस सूत्र में कृत समानाधिकरण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा अनित्य है यहां आत्वविधायक शास्त्र में नहीं लगेगी। आत्व से महाबाहु की सिद्धि हुई है। यदि वह परिभाषा लगती तो कर्मधारय समास में उत्तरपद समानार्थक समानविभक्त्यन्त ही मिलता समानाधिकरण सर्वथा व्यर्थ ही हो जाता, एक अधिक दृष्ट यहां 'आत्' योगविभाग से आत्व में एकादश। अथवा 'प्रागेकादशभ्यः' इस निर्देश सामर्थ्य से आत्व हुआ है। महती प्रकारा महाजातीया यहां जातीयर् प्रत्यय कर स्त्रियाः पुंवत् से पुंवद्भाव करके आत्वविधान हुआ है।

•घास कर विशिष्ट उत्तरपद रहते महत् के अन्त्य अल् को आत्व होता है। जहां समानाधिकरण उत्तरपद नहीं वहां आत्वार्थ यह वार्तिक है। महतः घासः महत्याः घासः यहां पूर्व से अप्राप्त आत्व था उसका इसने विधान कर उभयत्र महाघासः सिद्ध हुआ। महतो महत्या वा करः महाकरः। करोति इति करः पचादित्वात् अच्प्रत्यय है। विशिष्ट का अर्थ युक्त है, महतः महत्याः विशिष्टः महाविशिष्टः। षष्ठी तत्पुरुष है।• अष्टन् शब्द को आत्व होता है कपाल शब्द उत्तरपद रहते हवि-पुरुष अन्न में। अष्टसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः अष्टाकपालः, तद्धितार्थविषय में समास, 'संस्कृतं भक्षाः' से अण्, 'द्विगोर्लुगनपत्ये' से लुक्।

यहां अर्घ्यधंपूर्वात् लुक् यह व्याख्यान असङ्गत है, 'संस्कृतं भक्षाः यह अनार्दीय है। •गो शब्द पर रहते युक्त अर्थ गम्यमान रहते अष्टन् को आत्व होता है। अष्टागवम्। यहां अष्टानां गवाम् समाहार में 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे' से समास आत्व टच् अष्टागवम्। अष्टौ गावः वर्तन्ते यत्र शकटे यहां बहुव्रीहि समास में आत्व एवं अच्प्रत्यन्ववेति अच् योगविभाग से बहुव्रीहि में भी करना। अष्टागवम् समाहार में है उसका शकट से सम्बन्ध संयोग है, तत्संयुक्त में तद् शब्द व्यवहार होता है, ताद्धर्म्य से। यह भी एक पक्ष है।

८०९ द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः ६।३।४७।

आत् स्यात्। द्वौ च दश द्वादश। द्व्यधिका दशेति वा। द्वाविंशतिः।

अष्टादश । अष्टाविंशतिः । अबहुव्रीह्यशीत्योः किम् ?, द्वित्राः । द्व्यशीतिः ।❀ ❀प्राक् शतादिति वक्तव्यम्❀ । नेह द्विसहस्रम् ।

संख्या वाचक द्विशब्द एवं अष्टन् शब्द को आत्व होता है, किन्तु बहुव्रीहि में या अशीति शब्द उत्तरपद रहते आत्व नहीं होता है। द्वि और दशन् का द्वन्द्व समास आत्व द्वादश। द्वाभ्याम् अधिका दश यहां मध्यमपद अधिक का लोप करना। संख्यावाचक एवं संख्यावाचक का साक्षात् समास नहीं यह भी एक पक्ष है उस मत से यह कथन है। द्वौ च विंशतिश्च द्वाविंशति'। समास आत्व। द्वौ वा त्रयो वा 'द्वित्रा' यहां संख्या व्ययासन्न' से सुजर्थ में बहुव्रीहि समास हुआ है, अतः आत्व न हुआ। दो या तीन तीन या चार ये द्वित्रा। पांच या छः मे षड्वा। आदि का ज्ञान करना। द्विरधिका अशीति या द्वौ च अशीति च यहां आत्व न हुआ यण् से द्व्यशीति' = बयासी। उत्तरपद संख्यावाचक शतसंख्या से पूर्व संख्यावाचक रहे वहां ही आत्व होता है अतः 'द्विसहस्रम्' यहां आत्व न हुआ।

८१० त्रेस्त्रयः ६।३।४८।

त्रिशब्दस्य त्रयस् स्यात् पूर्वविषये। त्रयोदश। त्रयोविंशतिः। बहुव्रीहौ तु त्रिदशाः। सुजर्थे बहुव्रीहिः। त्रिर्दश। अशीतौ तु त्र्यशीतिः। प्राक्शतादित्येव। त्रिशतम्। त्रिसहस्रम्।

त्रिशब्द को त्रयस् आदेश होता है पूर्वविषय में अबहुव्रीहि एवं अशीति में। यह आदेश सान्त त्रयस् है। 'मन्थिवेला' सूत्र में 'त्रयोदशो' इस पाठ से। त्रिदशा में 'संख्यया' सूत्र से सुजर्थ में बहुव्रीहि समास है।

८११ विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम् ६।३।४९।

द्व्यष्टनोस्त्रेश्च प्रागुक्तं वा स्यात्, चत्वारिंशदादौ परे। द्विचत्वारिंशत्, द्वाचत्वारिंशत्। अष्टचत्वारिंशत्। अष्टाचत्वारिंशत्। त्रिचत्वारिंशत्। त्रयश्चत्वारिंशत्। एवं पञ्चाशत् षष्टि-सप्तति नवतिषु।

चत्वारिंशत् आदि शब्द पर रहते द्वि, अष्टन्, त्रिशब्द को पूर्वोक्त कार्य विकल्प से होते हैं। अर्थात् आत्व एवं त्रयस् आदेश रूप कार्य विकल्प से। उदाहरणों में कार्य स्पष्ट है। पञ्चाशत् आदि पर रहते भी यह कार्य होता है।

८१२ एकादेश्चैकस्य चादुक् ६।३।७६।

एकादिर्नञ् प्रकृत्या स्यादेकस्य चादुगागमश्च। नञो विंशत्या सह समासे कृते एकशब्देन सह तृतीयेति योगविभागात् समासः। अनुनासिकविकल्पः। एकेन न विंशतिः-एकान्नविंशतिः। एकादूनविंशतिः। एकोनविंशतिरित्यर्थः। ❀षष उत्व दतृदशधासूत्तरपदादेः ष्टुत्वं च धासु वेति वाच्यम्❀। षोडन्। षोडश। षोढा। षड्धा।

एक शब्द है आदि में जिसके ऐसा नञ् का नकार का लोप नहीं होता है अर्थात् प्रकृतिभाव होता है। एवं एक शब्द को अदुक् आगम भी होता है। यहां अपवाद का विषय भविष्य में आनेवाला है वहां अन्तरङ्ग भी नलोप नञ् का नहीं होता है, उपसञ्जनिष्यमाण न्याय से। वह भविष्यद् अपवादविषयातिरिक्तत्वेन उत्सर्ग शास्त्रीय उद्देश्यतावच्छेदक धर्म में संकोच करता है।

यथा प्रकृत में—पूर्व नञ् का विंशति का समास-'न विंशति तु' नविंशतिः इसका 'तृतीया' योगविभाग से 'एक आ नविंशति' का तृतीयातत्पुरुष समास कर के एक को अदुक् आगम अनुनासिक 'यरोऽनुनासिके' से विकल्प होकर एकान्नविंशतिः एकाद्नविंशतिः रूप बने हैं। एक का न विंशति के समास के बाद यहां 'नलोपो नञः' से प्राप्त नलोप को प्रकृतिभाव से रोकता है किन्तु तृतीया तत्पुरुष के पूर्व में ही नकार का लोप अन्तरङ्ग है वह होना चाहिये किन्तु पूर्व कथनानुसार न हुआ। *दत्, दश, धा, पर रहने षष् का अन्त्यवर्ण को उकारादेश होता है, एवं उत्तर पद के आदि वर्ण को ष्टुत्व होता है, धा के धकार को विकल्प से ष्टुत्व जहां ष्टुत्व वहां ही उत्व होता है उत्व एवं ष्टुत्व दोनों सन्नियोग शिष्ट, हैं अतः सदैव प्रवृत्ति इन दोनों की। षट् दन्ता अस्य यहां बहुव्रीहि समास कर 'वयसि दन्तस्य दतृ' से दतृ (दत) आदेश कर षष् दत उत्व गुण से षोदत का आदि दकार का टकार ष्टुत्व से कर षोडत का प्रथमैकवचन में षोडन् होता है। षष् जश् दशन् जस का समास कर उत्व ष्टुत्व से षोडश। प्रकार अर्थ में षष् से 'संख्याया विधार्थे धा' से धाप्रत्यय कर उत्व ष्टुत्व से षोढा, पक्ष में षष् धा जश्त्व से ट् षड्धा।

८१३ परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः २।४।२६।

एतयोः परपदस्येव लिङ्गं स्यात्। कुक्कुटमयूर्याविमे। मयूरकुक्कुटाविमौ। अर्धपिप्पली। ❀द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः❀। पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः पुरोडाशः। प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविकः। आपन्नजीविकः। अलं कुमार्यै अलंकुमारिः। अत एव ज्ञापनात्समासः। निष्कौशाम्बिः।

द्वन्द्व एवं तत्पुरुष समास में परपद का ही लिङ्ग होता है। कुक्कुट शब्द पुंलिङ्ग है, मयूरी शब्द स्त्रीलिङ्ग है, जहां अनुप्रयुज्यमान 'इमे' रहे वहां स्त्रीलिङ्गज्ञान करना, एवं अनुप्रयुज्यमान इमौ रहे वहां पुंलिङ्ग ज्ञान करना। आदि उदाहरण में स्त्रीलिङ्ग है, द्वितीय उदाहरण में पुंलिङ्ग है। अर्धपिप्पली में उत्तरपद स्त्रीलिङ्ग से अर्धपिप्पली स्त्रीलिङ्ग है इस सूत्र का बाधक वार्तिक कहता है कि॰ द्विगु समास में एवं प्राप्त, आपन्न, अलंपूर्वक समास और गति समास में पर पद का लिङ्ग नहीं होता है। जैसे पञ्चकपालः यहां कपाल शब्द नपुंसक होने हुवे भी समासार्थ गत पुंलिङ्ग हुआ है, पञ्चकपालः (पात्र) पकाया हुआ पुरोडाश। प्राप्तजीविकः पुरुषः। इस ज्ञापक से कुमार्यै एवं अलम् का चतुर्थी तत्पुरुष होता है। निष्कौशाम्बिः यहां समासार्थगत लिङ्ग पुंलिङ्ग हुआ है।

८१४ पूर्ववदश्ववडवौ २।४।२७।

द्विवचनमतन्त्रम्। अश्ववडवौ। अश्ववडवान्। अश्ववडवैः।

अश्व एवं वडवाशब्द के समास में पूर्वपद के समानलिङ्ग समास से होता है। सूत्र में द्वित्व अविवक्षित है, परिभाषा 'सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्' इसमें अर्थ नपुंसकत्व का नपुंसकग्रहण ही प्रमाण है, समाहारवाचक अर्धशब्द नित्य नपुंसक ही है पुनः नपुंसक ग्रहण इस परिभाषा ज्ञापनार्थ है, अतः तस्यापत्यम् में एकवचन एवं अपत्य में नपुंसकत्व दोनों अविवक्षित हैं। अश्वश्च वडवा च इति द्वन्द्व में पूर्व अश्व पुंलिङ्ग है समास से भी पुंस्त्व की ही प्रतीति हुई—अश्ववडवौ। यह 'परवत्' सूत्र का बाधक है।

८१५ रात्राह्नाहाः पुंसि २।४।२९।

एतदन्तौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ पुंस्येव । अनन्तरत्वात्परवल्लिङ्गताऽपवादोऽप्यय पर-त्वात्समाहारनपुंसकता बाधते । अहोरात्र । रात्रे पूर्वभाग पूर्वरात्र । पूर्वाह्ण । द्व्यह । सख्यापूर्वं रात्र क्लीबम् । द्विरात्रम् । गणरात्रम् ।

रात्र एव अह्न इन शब्दान्त द्वन्द्व एव तत्पुरुष समास पुल्लिङ्ग में ही होता है। बाध्यविशेष चिन्तापक्ष में यह समीपस्थ 'परवल्लिङ्ग' का ही अपवाद है तो भी समाहार में प्राप्त 'स नपुंसकम्' को भी परत्व के कारण बाध करता है। अहश्च रात्रिश्च अहोरात्र । रात्र पूर्वम्-पूर्वरात्र । यहा पूर्वशब्द अवयवार्थक है। अह्न पूर्व पूर्वाह्ण । द्वयोरह्नो भव द्व्यह । सख्यावाचक पूर्वपद से परपदस्थित रात्रिशब्दान्त तत्पुरुष नपुंसक है। यथा द्वयो रात्र्यो समाहार द्विरात्रम्, तद्धितार्थ में में समास इन्द्व नपुंसकत्व है। इसी प्रकार त्रिरात्रम्। गणरात्रम् है।

८१६ अपथं नपुंसकम् २।४।३०।

तत्पुरुष इत्येव । अन्यत्र तु अपथो देश । कृतसमासान्तनिर्देशान्नेह-अपन्था ।

मकासान्त अपथशब्द तत्पुरुष में नपुंसक लिङ्ग होता है। अन्यत्र समासार्थगत लिङ्गभाक् है, यथा न विद्यते पन्था यत्र देशे अपथो देश, यहा अन्य पदार्थ देशगत पुंस्त्व है। 'पथो विभाषा' से समासान्तप्रत्यय विकल्प है, पक्ष में अपन्था यहा समासान्त प्रत्यय नहीं इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं है। 'पथ संख्याऽव्ययादे' वक्ष्यमाण सूत्र से यहां गतार्थ है इस 'अपथम्' सूत्र अनावश्यक होने से खण्डनीय है।

८१७ अर्धर्चा पुंसि च २।४।३१।

अर्धर्चादय शब्दा पुंसि क्लीबे च स्यु । अर्धर्च । अर्धर्चम् । ध्वज । ध्वजम् । एव तीर्थ, शरीर, मण्ड, पीयूष, देह, अङ्कुश कलश, इत्यादि ।

अर्धर्चादिगणपठित शब्द पुल्लिङ्ग एव नपुंसक होता है। ऋच अर्धम् समास कर 'ऋक् पूरब्धू' से अ प्रत्यय समासान्त है, नपुंसकत्व पक्ष में अर्धर्चम्। 'पुल्लिङ्ग में अर्धर्च । ध्वजादि शब्द उभय लिङ्गक है।

८१८ जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् १।२।५८।

एकोऽप्यर्थो वा बहुवद् भवति । ब्राह्मणा पूज्या । ब्राह्मण पूज्य ।

जातिवाचक शब्द में एकत्व अर्थ में बहुवचन विकल्पसे होता है। सकल ब्राह्मण वृत्ति एव ब्राह्मण से इतर में रहनेवाली जाति ब्राह्मणत्व है, इस जातिवाचक ब्राह्मण से एकवचन न्यायत प्राप्त था किन्तु बहुवचन विकल्प से हुआ है, यथा—ब्राह्मणा पूज्या । पक्षमें ब्राह्मण पूज्य । नित्य एव अनेक में रहने वाली जाति है चार प्रकारके शब्द है जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द, एव सज्ञाशब्द । सज्ञाशब्द को यदृच्छाशब्द भी कहते है नामार्थ=प्रातिपदिकार्थ के विषय में छ पक्ष है १ जाति २ व्यक्ति ३ लिङ्ग ४ सख्या ५ कारक ६ शब्द । 'न ब्राह्मण हन्यात्' यहा जातिगत-एकत्व अनेक ब्राह्मणवाचकशब्दमें आरोपित है, अत जातिगत एकत्व का बोधक एकवचन है।

८१९ अस्मदो द्वयोश्च १।२।५९।

एकत्वे द्वित्वे च विवक्षितेऽस्मदो बहुवचनं वा स्यात्। वयं ब्रूमः। पक्षे अहं ब्रवीमि आवां ब्रूव इति वा। ॐसविशेषणस्य प्रतिषेधः॥। पटुरहं ब्रवीमि।

एकत्व या द्वित्व विवक्षित हो तो अस्मद् शब्द से बहुवचन विकल्प से होता है। अहं ब्रवीमि अर्थ में पक्षमें वयं ब्रूमः। आवां ब्रूवः। विशेषण विशिष्ट अस्मद् शब्द से एकत्व या द्वित्व विवक्षित रहते बहुवचन विकल्प से नहीं होता है। यथा—निपुण मैं कहता हूँ यहां 'पटुरहम्' यही होता है।

८२० फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे १।२।६०।

द्वित्वे बहुत्वप्रयुक्तं कार्यं वा स्यात्। पूर्वे फल्गुन्यौ-पूर्वाः फल्गुन्यः। पूर्वे प्रोष्ठपदे, पूर्वाः प्रोष्ठपदाः। नक्षत्रे किम्. पूर्वफल्गुन्ये माणविके।

नक्षत्र वाचक फल्गुनी एवं प्रोष्ठपदा शब्द के द्वित्व अर्थ में बहुत्व प्रयुक्त कार्य विकल्प से होता है। पूर्वफल्गुन्यौ, पूर्वाः फल्गुन्यः आदि। पूर्वा फल्गुनी में उत्पन्न कन्याद्वय यहां फल्गुनी तृतीयान्त से युक्त अर्थ में अण् प्रत्यय है "नक्षत्रेण युक्तः कालः" सूत्रसे हुआ, उसका 'लुबविशेषे' से लुप्=अदर्शन है, 'यः शिष्यते' न्याय से युक्त तद्भावार्थ अर्थ का बोधक है यहां इस सूत्रकी प्रवृत्ति नहीं है। अतः द्वित्व ही रहेगा।

८२१ तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम् १।२।६३।

बहुत्वं द्वित्ववद् भवति। तिष्यश्च पुनर्वसू च तिष्यपुनर्वसू। तिष्येति किम्, विशाखानुराधाः। नक्षत्रेति किम्, तिष्यपुनर्वसवो माणवकाः।

तिष्य एवं द्विवचनान्तपुनर्वसूका नक्षत्रार्थ में द्वन्द्व समास में बहुवचन का नित्य ही द्विवचन होता है। तिष्य एक, पुनर्वसु दो, दो एक तीन मिल कर द्वन्द्वोत्तर बहुवचन प्राप्त था किन्तु इस ने द्विवचन ही बोधन किया। एक विशाखा एवं दो अनुराधा यहां बहुवचन हुआ विशाखानुराधाः यहां इसकी प्रवृत्ति नहीं है।

तिष्य नक्षत्रयुक्त कालोद्भव एवं पुनर्वसू कालोद्भव में अण्, लुक् से माणवकार्थ वाचक विशेष्य तया है यहां इसकी प्रवृत्ति नहीं है, अतः बहुवचन नहीं होता है तिष्यपुनर्वसवो माणवकाः।

८२२ स नपुंसकम् २।४।१७।

समाहारे द्विगु द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यात्। परवल्लिङ्गापवादः। पञ्चगवम्। दन्तोष्ठम्। ॐअकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः॥। पञ्चमूली। ॐआबन्तो वा॥ पञ्चखट्वी। पञ्चखट्वम्। ॐअनो नलोपश्च वा च द्विगुः स्त्रियाम्॥ पञ्चतक्षी। पञ्चतक्षम्। ॐपात्राद्यन्तस्य न॥। पञ्चपात्रम्। त्रिभुवनम्। चतुर्युगम्। ॐपुण्यसुदिनाभ्यामह्नः क्लीबतेष्टा॥ पुण्याहम्। सुदिनाहम्। ॐपथः संख्याव्ययादेः॥। संख्याव्ययादेः परः कृतसमासान्तः पथशब्दः क्लीबमित्यर्थः। त्रयाणां पन्थाः-त्रिपथम्। विरूपः पन्थाः-विपथम्। कृतसमासान्तनिर्देशान्नेह, सुपन्थाः। अतिपन्थाः। ॐसामान्ये नपुंसकम्॥। मृदु पचति। प्रातः कमनीयम्।

समाहार में द्विगु एवं द्वन्द्व नपुंसक लिङ्ग होता है। यह सूत्र परपदगतलिङ्ग बोधक 'परवल्लिङ्गम्' सूत्र का निषेधक है। पञ्चगवम्, पञ्चानां गवां समाहारः इति तद्धितार्थ सूत्र से समाहार समास कर, गोऽतत्पुरुष होने से टच् प्रत्यय इससे नपुंसकत्व बोधन से पञ्चगवम्। दान्ताश्च ओष्ठौ च यहां समाहार द्वन्द्व इससे नपुंसत्व से दन्तोष्ठम्। अकारान्त शब्द है उत्तर पद में जिसको ऐसा द्विगु समास स्त्रीलिङ्ग है ऐसा समझना चाहिये। पञ्चानां मूलानां समाहारः पञ्चमूली, समाहार में समास, वार्तिक से स्त्रीत्वबोधन 'द्विगोः' सूत्र से ङीप्, यसचा अकार लोप, पूर्वपद में सुबवि भक्तिका प्रत्यय लक्षण से पदत्व, नलोप से पञ्चमूली। आबन्तरोत्तर पद द्विगु में स्त्रीत्व वैकल्पिक है। पञ्चखट्वम् पञ्चखट्वी, पञ्चानां खट्वानां समाहारः। अन् है उत्तरपद का अवयव जिसका ऐसा अन्नन्तोत्तरपदक द्विगु में विकल्प से स्त्रीत्व है, एवं अन् का न लोप विकल्प से होता है। पञ्चतक्षी पञ्चतक्षम्। पात्रान्त उत्तरपदक द्विगु में स्त्रीत्व इष्ट नहीं है। स नपुंसकम् से नपुंसक ही होगा। पञ्चानां पात्राणां समाहारः पञ्चपात्रम्। त्रयाणां भुवनानां समाहारः त्रिभुवनम्। समाहार में समास नपुंसकत्व है। चतुर्णाम् युगानां समाहारः चतुर्युगम्। पुण्य एवं सुदर्शन शब्द से पर अहन् तदन्त में नपुंसकत्व इष्ट है। पुण्यञ्च तद् अहः पुण्याहम्। सुदिनञ्च तद् अहः सुदिनाहम्। संख्यावाचक शब्द से पर एवं अव्यय से पर कृतसमासान्तपथिद् शब्द में क्लीवत्व = नपुंसत्व इष्ट है। त्रयाणां पथां समाहारः त्रिपथम् यहां 'ऋक्पूरब्धूः' से अ प्रत्यय है। 'न पूजनात्' से समासान्त निषेध होने पर इसकी प्रवृत्ति नहीं है यथा सुपन्था, अतिपन्था। जहां पुंस्त्व एवं स्त्रीत्व आदि की अविवक्षा रहे वहां नपुंसकलिङ्ग ही रहता है, यथा मृदु पचति पच धातु का अर्थ है—विक्लित्ति जनक व्यापार। यहां फल है—विक्लित्ति = रूपान्तरप्राप्ति। उसमें अभेद सम्बन्ध से विशेषण है मृदुपदार्थ, वह फलरूप क्रिया का विशेषण है अतः क्रिया है, अतः क्रियाविशेषण है क्रियाविशेषण में भी व्यपदेशिवद्भाव से कर्मत्व है, उसमें द्वितीया है 'सामान्ये नपुंसकम्' से नपुंसत्व मान कर विभक्ति अम् का लुक् कुशर है, 'फलमपि कर्माश्रय' आश्रय शब्द नित्य पुंल्लिङ्ग है। एतन्मूलक है—'क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकत्वम्, एकवचनत्वञ्च' इति। प्रातः कमनीयम् यहां कमु धातु का अर्थ—इच्छाजनक व्यापार है, उसमें इच्छा का विशेषण प्रातः पदार्थ है, इससे अम् विभक्ति का लुक् से प्रातः कमनीयम्।

८२३ तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः २।४।१९।

अधिकारोऽयम्।

यहां से अग्रिम सूत्रों में नञ् समास एवं कर्मधारय से भिन्न तत्पुरुषाधिकार है।

८२४ संज्ञायां कन्थोशीनरेषु २।४।२०।

कन्थान्तस्तत्पुरुषः क्लीबं स्यात् सा चेत् उशीनरदेशोत्पन्नाया कन्थायाः संज्ञा। सुशमस्यापत्यानि सौशमयस्तेषां कन्था सौशमिकन्थम्। संज्ञायां किम्, वीरणकन्था। उशीनरेषु किम्, दाक्षिकन्था।

उशीनर देश में उत्पन्न यदि कन्था है तो कन्थान्त तत्पुरुष नपुंसक लिङ्ग होता है। मूलग्रन्थ में व्युत्पत्ति का प्रदर्शन है किन्तु यह संज्ञा वाचक है, संज्ञावाचक का प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न है एवं अर्थविशेष समुदाय से भिन्न है (यहां संज्ञा अनादि गृहीत है, आधुनिक नहीं। संज्ञा न होने पर नपुंसकत्वाभाव है, यथा वीरणकन्था, उशीनरदेश से भिन्न संज्ञा में दाक्षिकन्था, यहां नपुंसकत्व का अभाव है।

८२५ उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम् २।४।२१।

उपज्ञान्त उपक्रमान्तश्च तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात् तयोरुपज्ञायमानोपक्रम्यमाणयोरादिः = प्राथम्यं चेदाख्यातुमिष्यते। पाणिनेरुपज्ञा—पाणिन्युपज्ञं ग्रन्थः। नन्दोपक्रमं द्रोणः।

आद्य ज्ञान को उपज्ञा कहते हैं। उपज्ञायते इति इति उपज्ञा, 'आतश्चोपसर्गे' से अङ् प्रत्यय है। जिस प्रकार का उपदेश के बिना ही श्लोक निर्माण में वाल्मिकि का ज्ञान। उपक्रम = एक का ज्ञान करके प्रथम। उपपूर्वक 'क्रमु पादविक्षेपे' से भावमें घञ् प्रत्यय है।

उपज्ञान्त उपक्रमान्त तत्पुरुष नपुंसक होता है, उपज्ञायमान एवं उपक्रम्यमाण का आदि अर्थात् प्राथम्य के आख्यान की इच्छा हो तो। इच्छा ही विवक्षित है। वस्तुतस्तु स्थिति की अपेक्षा नहीं भी हो तो भी कार्य होता है यथा 'त्वदुपक्रमं सौजन्यम्" पाणिनेः उपज्ञा, यहां षष्ठीतत्पुरुष है। पाणिन्युपज्ञा इससे नपुंसकत्व है पाणिन्युपज्ञम् ग्रन्थ = पाणिनिसम्बन्धि आद्य-आद्य ज्ञानविषयीभूत ग्रन्थ अष्टाध्यायी है। पाणिनि को किसी अन्य के उपदेश बिना ही यह प्राप्त है। नन्दस्य उपक्रमः नन्दोपक्रमम्। नन्दसम्बन्धी आदि ज्ञान से जन्य ज्ञान का विषय द्रोण है। यहां उभयत्र षष्ठी कर्ता है।

८२६ छाया बाहुल्ये २।४।२२।

छायान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात् पूर्वपदार्थबाहुल्ये। इक्षूणां छाया इति इक्षुच्छायम्। 'विभाषा सेना' इति विकल्पस्यायमपवादः। 'इक्षुच्छायानिषादिन्यः' इति तु आ=समन्तात् निषादिन्य इत्यत्राङ् प्रश्लेषो बोध्यः।

पूर्वपदार्थगत बाहुल्य में छायाशब्दान्त तत्पुरुष नपुंसक होता है। यह सूत्र 'विभाषा सेना' का बाधक है कवि कालिदास की रचना में इक्षुच्छायनिषादिन्यः यही पाठ है उचित, व्यर्थ की शङ्का एवं उसके समाधनार्थ यत्न भी व्यर्थ है। किन्तु कुत्रचित् ऐसा पाठ है तो आनिषादिन्यः से समाधान करना।

८२७ सभाराजाऽमनुष्यपूर्वा २।४।२३।

राजपर्य्यायपूर्वोऽमनुष्यपूर्वश्च सभान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात्। इनसभम्। ईश्वरसभम्। ❀पर्यायस्यैवेष्यते❀। नेह—राजसभा, चन्द्रगुप्तसभा। अमनुष्यशब्दो रूढ्या रक्षःपिशाचादीन् आह। रक्षःसभम्। पिशाचसभम्।

राजपर्याय पूर्वमें रहे या अमनुष्य पूर्व में रहे ऐसा सभान्त तत्पुरुष नपुंसक होता है। इनस्य = राज्ञः सभा इति इनसभम्। यहां राजपर्याय का ही ग्रहण है। राज्ञः सभा यही रूप रहता है, एवं राजविशेषवाचक रहे वहां भी नहीं, यथा—'चन्द्रगुप्तसभा'। अमनुष्य शब्द रूढिशक्ति से राक्षस एवं पिशाच आदि का बोधक है, केवल यौगिक नहीं। योगरूढ हो सकता है। रक्षःसभम्। पिशाचसभम्।

८२८ अशाला च २।४।२४।

संघातार्था या सभा तदन्तस्तत्पुरुषः क्लीबं स्यात्। स्त्रीसभम्=स्त्रीसंघात इत्यर्थः। अशाला किम्? धर्मसभा = धर्मशालेत्यर्थः।

समाशब्द के दो अर्थ है—शाला एव सघात, उभयवाचक समान्त तत्पुरुष का नपुसक 'सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा' से कह चुके है। यहा शाला भिन्नार्थक अर्थात सघात=समूह उसका वाचक कर ही ग्रहण है। सूत्रार्थ समुदायार्थक जो समाशब्द तदन्ततत्पुरुष नपुसक होता है। स्त्रीणा सभा इति स्त्रीसभम्=स्त्रिया का समुदाय। 'धर्मसभा' यहा सभा शब्द का अर्थ गृह है। अत परपद शाला का ही लिङ्ग स्वाल है।

८२९ विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम् २।४।२५।

एतदन्तस्तत्पुरुष क्लीब वा स्यात्। ब्राह्मणसेनम्। ब्राह्मणसेना। यवसुरम्, यवसुरा। कुड्यच्छायाम्। कुड्यच्छाया। गोशालम्। गोशाला। श्वनिशम्। श्वनिशा। 'तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारय' इत्यनुवृत्तेर्नेह–दृढसेनो राजा। असेना। परमसेना।

इति तत्पुरुष

सेना, सुरा, छाया, शाला एव निशा इन शब्द है अन्त में जिनके ऐसा तत्पुरुष नपुसक विकल्प से होता है। ब्राह्मणस्य सेना षष्ठी तत्पुरुष नपुसकशब्द इस रूप से ब्राह्मणसेनम्। पक्ष में ब्राह्मणसेना आदि। कुड्य=दिवाल=भित्ति। इस सूत्र में पूर्वत 'तत्पुरुषोऽनञ् कर्मधारय' की अनुवृत्ति है। अत 'दृढा सेना यस्य स' यहा बहुव्रीहि समास है दृढसेन अन्यपदार्थ राजा है इससे नपुसकत्व बोधन न हुआ। 'अशाला' यहाँ नञ् तत्पुरुष में नपुसक नहीं है। परमा चासौ सेना परमसेना यहाँ कर्मधारय है। तत्पुरुष के अधिकार में पठित समास को तत्पुरुष कहते हैं।

प० श्री शा० कु० पञ्चालिविरचित रत्नप्रभा में तत्पुरुष समास समाप्त।



अथ बहुव्रीहिसमासप्रकरणम् ॥ १७ ॥

८३० शेषो बहुव्रीहिः २।२।२३।

अधिकारोऽयम्। द्वितीयाश्रितेत्यादिना यस्य त्रिकस्य विशिष्य समासो नोक्तः स शेषः=प्रथमान्तमित्यर्थः।

जिन पदों का जिस अर्थ में अव्ययीभाव आदि समास नहीं कहा गया है उसको शेष कहते हैं, बहुव्रीहि प्रायः अन्य पदार्थ प्रधान होता है, किन्तु यह लक्षण 'उन्मत्तगङ्गम्' अव्ययीभाव में अतिव्याप्त है। शेष ग्रहण से 'उन्मत्तगङ्गो देशः' न हुआ वहाँ अव्ययीभाव विधान से शेष नहीं है। यह अधिकार सूत्र है, उत्तरोत्तर सूत्र जो इस प्रकरण के समास संज्ञा विधायक है उनमें जाकर समाससंज्ञा के पश्चात् उसकी बहुव्रीहि संज्ञा होती है इसको यह बोधन कराता है।

सूत्रार्थ—जहाँ द्वितीयाश्रित आदि सूत्रों से समास जिस अनेक सुबन्तों का अविहित है ऐसे प्रथमान्तों को शेष कहते हैं। बहुव्रीहि पद का अधिकार कर के विहित समास को बहुव्रीहि कहते हैं।

८३१ अनेकमन्यपदार्थे २।२।२४।

अनेकं प्रथमान्तमन्यपदार्थे वर्तमानं वा समस्यते स बहुव्रीहिः। अप्रथमाविभक्त्यर्थे बहुव्रीहिरिति समानाधिकरणानामिति च फलितम्। प्राप्तमुदकं यं प्राप्तोदको ग्रामः। ऊढरथोऽनड्वान्। उपहृतपशुः रुद्रः। उद्धृतोदना स्थाली। पीताम्बरो हरिः। वीरपुरुषको ग्रामः। प्रथमार्थे तु न। वृष्टे देवे गतः। व्यधिकरणानामपि न। पञ्चभि भुक्तमस्य। ॐप्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपःॐ। प्रपतितपर्णः प्रपर्णःॐ। नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपःॐ। अविद्यमानपुत्रः—अपुत्रः। अस्तीति विभक्तिप्रतिरूपकम् अव्ययम्। अस्तिक्षीरा गौः।

अन्यपदार्थ का बोधक अनेकप्रथमान्त पद का विकल्प समास होता है, यह बहुव्रीहिसंज्ञक है। अप्रथमाविभक्त्यर्थ में एवं समानाधिकरण सुबन्तों का बहुव्रीहि समास होता है यहां इसका सारांश है। प्राप्तमुदकम् यं सः प्राप्तोदकः ग्रामः। प्रपूर्वक आप् धातु से कर्ता में क्त प्रत्यय से प्राप्त का अर्थ प्राप्ति का कर्ता, कर्म यहां ग्राम है। कर्तृभूत उदक है। विग्रहार्थ यह हुआ कि 'ग्रामकर्मकप्राप्ति कर्तृकम् उदकम्'। 'प्राप्त सु उदक सु समास, विभक्ति का लुक् प्राप्तोदकः = उदककर्तृकप्राप्तिकर्मः=ग्रामः।

ऊढः रथः येन ऊढरथः अनड्वान्। ऊढः का वहन कर्म अर्थ है। वहन क्रिया कर्ता अनुडुह् (बैल) है—अनुडुहकर्तृक वहन कर्मीभूतः रथः यह विग्रहार्थ है। समास करने के बाद ऊढरथः अनड्वान् यहाँ रथकर्मकवहनकर्ता यह अर्थ है। उपहृतः पशुः यस्मै इति उपहृतपशुः रुद्रः। यहाँ विग्रहार्थ यह है—रुद्रसंप्रदानकोपहार कर्मीभूतः पशुः। समासार्थ—पशुकर्मकोपहरणसम्प्रदानम्।

उद्धृत ओदन यस्या सा उद्धृतोदना स्थाली। स्थाल्यवधिकोद्धरणकर्म ओदन, विग्रहार्थ। ओदनकर्मकोद्धरणावधि स्थाली समासार्थ है। यहाँ कर्मादि समास से अभिहित है, अत प्रथमा विभक्ति हुई है।

पीतम् अम्बर यस्य स पीताम्बर =पीतगुणाश्रय जो वस्त्र उसका धारणकर्ता हरि है। वीरा पुरुषा वर्तन्ते यस्मिन् ग्रामे स वीरपुरुषको ग्राम =पौरुषार्थयुक्त पुरुषों का आश्रयभूत ग्राम। प्रथमान्तार्थ में समास नहीं होता है। वृष्टे देवे गत'—मेघवृष्टि के समय वह गया। व्यधिकरणों का भी बहुव्रीहि समास नहीं होता है। पाँच पुरुष कर्तृक भोजन का अधिकरण स्थान वाला यहाँ 'पञ्चभि भुक्तम् अस्य 'यह वाक्य ही है।

पञ्चन् शब्दार्थ पञ्चत्वसंख्यायुक्त पुरुषरूप कर्तृ अर्थ का प्रत्यायक है। भुक्त में अधिकरणार्थक भोजनार्थक भुज् धातूत्तर क्तप्रत्यय है, विभिन्न विभक्तियाँ दोनों से है, एकार्थबोधकत्व नहीं है दोनों का। विभिन्नम् अधिकरणम् येषा तेषां न समास = 'व्यधिकरण का अर्थ है। प्रादि उपसर्ग से पर जो धातुजन्यरूप तदन्त का अन्यपद के साथ समास होता है। उत्तरपद का लोप होता है। प्रपतित पर्ण यस्य स प्रपर्ण, यहाँ पतित का लोप हुआ है। नञ् से पर अस्त्यर्थवाची शब्दों का समास होता है एव अस्त्यर्थक धातुजन्य शब्द का लोप होता है।

इस वार्तिक में दो अश है समासांशतो सूत्र सिद्ध है, अपूर्व नहीं, वह सिद्धवस्तु का अनुवादमात्र है, धातुजशब्दरूप का लोप यह द्वितीयांश अपूर्व इसका विधेय है। न विद्यमान अविद्यमान अविद्यमान पुत्र यस्य, समास, विद्यमान का लोप अपुत्र =जिसको पुत्र नहीं है।

पुम् = नामक नरक प्रोक्तम्, तस्मात् त्रायते इति पुत्र नरक से पिता की रक्षा करनेवाला को पुत्र कहते हैं, शास्त्रोंमें कहा है कि "अपुत्रस्य गति नास्ति' किन्तु वह सुपुत्र रहे तब। कुपुत्र से अपुत्र रहना ही उचित है। पुत्र का लक्षण जीवित पिता की आज्ञा पालन करना, पिता के मृत होने पर सविधि श्राद्धादि क्रियाओं को एक वर्ष तक करना, वर्षान्त में गया में मोक्षार्थ पिता आदि का श्राद्ध करना "त्रिभि पुत्रस्य पुत्रता' इन तीनों से पुत्र का पुत्रत्व है। अस्त्यर्थ जहाँ नहीं वहाँ इसकी प्रवृत्ति नहीं है। यथा 'अनुपनीतपुत्र' यहाँ केवल बहुव्रीहि समास है 'अनेकम्' सूत्र से। पदलोप नहीं। एव जहाँ नञ् नहीं वहाँ भी लोपाभाव है, यथा निर्विद्यमानपुत्र' अस्ति शब्द जहाँ तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय है वहाँ अस्ति सुबन्त का सु का लोप से प्रत्ययलक्षण से सुबन्त है, समास से अस्ति क्षीर यस्या सा 'अस्तिक्षीरा गौ'।

८३२ स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियाम-पूरणीप्रियादिषु ६।३।३४।

भाषितपुंस्कादनूङ् ऊङोऽभावोऽस्यामिति बहुव्रीहि, निपातनात्पञ्चम्या अलुक् षष्ठ्याश्च लुक्। तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते यदुक्तपुंस्क तस्मात् पर ऊङभावो यत्र तथाभूतस्य स्त्रीवाचकस्य शब्दस्य पुंवाचकस्येव रूप स्यात् समानाधिकरणे स्त्रीलिङ्गे उत्तरपदे, न तु पूरण्यां प्रियादौ च परत। गो स्त्रियोरिति ह्रस्व। चित्रा गावो यस्येति लौकिकविग्रहे चित्रा अस् गो अस् इत्यलौकिकविग्रहे चित्रगु। रूपवद्भार्य। चित्रा जरती गौर्यस्येति विग्रहे अनेकोक्तेर्बहूनामपि बहुव्रीहि। अत्र केचित्—चित्राजरतीगु। जरतीचित्रागुर्वा। एव दीर्घातन्वी जङ्घा, तन्वीदीर्घाजङ्घ। त्रिपदे बहुव्रीहौ प्रथम न पुंवत्, उत्तरपदस्य

मध्यमेन व्यवधानात्। द्वितीयमपि न पुंवत्, पूर्वपदत्वाभावात्। उत्तरपदशब्दो हि समासस्य चरमावयवे रूढः। पूर्वपदशब्दस्तु प्रथमावयवे इति वदन्ति।

वस्तुतस्तु नेह पूर्वपदमाक्षिप्यते। आनङ् ऋत इत्यत्र यथा। तेनोपान्त्यस्य पुंवदेव। चित्राजरद्गुरित्यादि। अत एव चित्राजरत्यौ गावौ यस्येति द्वन्द्वगर्भेऽपि चित्राजरद्गुरिति भाष्यम्। कर्मधारयपूर्वपदे तु द्वयोरपि पुंवत्. जरच्चित्रगुः। कर्मधारयोत्तरपदे तु चित्रजरद्गवीकः। स्त्रियाः किम्, ग्रामणि कुलं दृष्टिरस्य ग्रामणिदृष्टिः। भाषितपुंस्कात् किम्, गङ्गाभार्यः। अनूङ्किम्, वामोरूभार्यः। समानाधिकरणे किम्, कल्याण्या माता कल्याणीमातः। स्त्रियां किम्, कल्याणी प्रधानं यस्य सः कल्याणीप्रधानः। पूरण्यान्तु—

यहां भाषितपुंस्काद् अनूङ्=ऊङोऽभावो यस्यान् ऐसा बहुव्रीहि है। नोत्रत्वलक्षण निपातन से यहां पञ्चमी विभक्ति का न्यायतः प्राप्त लुक् का अभाव है, एवं समासोत्तर षष्ठी का लुक् अप्राप्त है उसका लुक् है। प्रथम भाषितपुंस्क की व्याख्या विस्तृत कर चुके हैं। तुल्य प्रवृत्तिनिमित्त में उक्त पुंस्क से पर ऊङ् का अभाव हो जहां ऐसे स्त्रीवाचक शब्दों को पुंवद्भाव होता है, किन्तु पूरणार्थ प्रत्ययान्त (पूरणी) एवं प्रियादि से भिन्न समानाधिकरण स्त्रीलिङ्क शब्द उत्तरपद रहते। गोःस्त्रियोः से ह्रस्व हुआ उदाहरण में।

समास में द्विविध विग्रह है—लौकिक एवं अलौकिक। यहां स्पष्ट ज्ञानार्थ द्विविध विग्रह प्रदर्शन करते हैं, समासादि सर्वविध शास्त्रीय कार्य अलौकिक विग्रह में ही होता है। अलौकिक नाम इस लिए हुआ कि उस विग्रह लोक में उपयुक्त नहीं है। चित्रगुरिति चित्रा अस् गो अस् यहां अन्यपदार्थ स्वामी है, समास, विभक्ति का लुक्, से चित्रागो' चित्र शब्द पुंलिङ्ग स्त्रीलिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग, है, इसका प्रवृत्ति निमित्त=धर्म चित्रत्व है, तद्युक्त,चित्रशब्द भाषित पुंस्क होने से पुंवद्भाव से टाप् की निवृत्ति हुई, एवं अन्त्य अच् ओकार का ह्रस्व से उकार हुआ समुदाय से चित्रगुः' रूप की सिद्धि हुई है। रूपवती भार्या यस्य स यहां रूपवती सु भार्या सु समास, विभक्ति लुक्, पुंवद्भाव, ह्रस्व, समुदाय से विभक्ति लुक रूपवद्भार्यः।

अनेकमन्यपदार्थे में अनेक ग्रहण से तीन पदों का भी बहुव्रीहि समास होता है। यथा—'चित्रा जरती गौः यस्य सः' यहां बहुव्रीहि समास विभक्ति का लुक् गोका ओकार का ह्रस्व से 'चित्राजरतीगुः'। जरती चित्रा गौर्यस्य स समास एवं ह्रस्व से जरतीचित्रागुः।

इसी प्रकार दीर्घे तन्व्यौ जङ्घे यस्य सः दीर्घातन्वीजङ्घः। तन्वी दीर्घा जङ्घाः यहां तीन पदों का बहुव्रीहि हुआ है, यहां प्रथम का इस लिए पुंवद्भाव नहीं होता है कि उत्तरपद से प्रथम शब्द अव्यवहित पूर्व नहीं है मध्यमपद व्यवधायक है। द्वितीयपद (मध्यम पद का पुंवद्भाव इस लिए न हुआ कि वह पूर्वपद नहीं है। उत्तरपद शब्द यहां यौगिकार्थमात्र प्रत्यायक नहीं है किन्तु समास चरमावयव में रूढ़ है। इसी प्रकार पूर्वपद भी समासाद्यवयव पद में रूढ़ है।

यद्यपि सूत्र में पूर्वपद नहीं है, केवल उत्तरपदे का ही अधिकार यहां प्राप्त है। किन्तु पूर्वपद बिना अनुपपन्न उत्तरपद है, अतः उत्तरपद से पूर्वपद का यहां आक्षेप है अर्थापत्तिरूप प्रमाण से। यथा पीनत्व से रात्रि भोजनवत्। तत्त्वविद् लोक कहते हैं कि

यहां उत्तरपद से पूर्वपद का आक्षेप नहीं है, जिस प्रकार आनङ् विधायक 'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' में। ऐसी अवस्था में उत्तर पद से अव्यवहित जो अन्त्य समीप मध्यम पद है उसका पुंवद्भाव इस सूत्र से होता ही है।

यथा—चित्राजरद्गुः। जरतीचित्रगु। दीर्घातनुजङ्घ। तन्वीदीर्घजङ्घ। इस प्रकार द्वन्द्व में चित्रा च जरती च चित्राजरत्यौ, चित्राजरत्यौ गावौ यस्य स यहां भी चित्राजरद्गुः। मध्यम पद का पुंवद्भाव गो पर रहते है। यह भाष्य प्रयोग से भी ज्ञात होता है कि पूर्वपद का आक्षेप यहां नहीं है। कर्मधारय समास कर बहुव्रीहि में यथा जरती चासौ चित्रा च यहां पूर्वपद जरती का पुंवद् भावकर जरच्चित्रा का गो के साथ बहुव्रीहि में गो पूर्व चित्रा का पुंवद्भाव से जरच्चित्रगु। कर्मधारय पूर्वपद का उदाहरण देकर सम्प्रति कर्मधारय उत्तरपद का उदाहरण बता रहे हैं।

जरती चासौ गौ कर्मधारय समास गो उत्तर में जरती का 'पुंवत् कर्मधारय' सूत्र से पुंवद्भाव *ह्रस्व जायमानी चित्रा जरद्गवी यस्य स पुंवद् भाव कप् से चित्रजरद्गवीकः। कर्मधारयसमासोत्तर* 'गोरतद्धितलुकि' से टच् प्रत्यय में अकार शेष ओ का अवादेश 'टिड्ढाणञ्' से ङीप् चित्रजरद्गवीकः। ग्राम नयति यत् कुलम् तत् ग्रामणि (कुल) दृष्टिर्यस्य स' यहां पूर्वपद नपुंसक लिङ्ग है, अतः पुंवद्भाव न हुआ यहां 'स्त्रियाः' का प्रयोजन है। पुंवद्भाव होने पर ग्रामणी होता नपुंसक ह्रस्व की निवृत्ति होती सो न हुई। भाषितपुंस्क सूत्र में कहने से नित्यस्त्रीलिङ्ग गङ्गा है गङ्गा भार्या यस्य स यहां पुंवद्भाव न हुआ। *गङ्गाभार्य।* अनूङ् से जहां ऊङ् प्रत्यय ऊङ् है वहां पुंवद्भाव न हुआ ऊङ् की निवृत्ति न हुई यथा वामोरूभार्यः। षष्ठी तत्पुरुष में पुंवद्भाव न हो एतदर्थ सूत्र में समानाधिकरणे कहा है, पूर्वपदार्थ उत्तरपदार्थ ये दोनों एकार्थवाचक रहें एवं पूर्वपद उत्तरपद समान विभक्त्यन्त रहें ऐसा यहां नहीं है यथा कल्याण्याः माता=कल्याणीमाता। उत्तरपद स्त्रीलिङ्ग रहे यह कहने से जहां उत्तरपद नपुंसक है वहां पूर्वपद का पुंवद्भाव न हुआ, यथा कल्याणी प्रधानं यस्या सा, 'कल्याणीप्रधाना'। पूरणार्थक प्रत्ययान्त रहे वहां तो—

८३३ अप् पूरणीप्रमाण्योः ५।४।११६।

पूरणार्थकप्रत्ययान्तं यत् स्त्रीलिङ्ग तदन्तात् प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेरप् स्यात्। *कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः।* स्त्री प्रमाणं यस्य स स्त्रीप्रमाणः। पुंवद्भावप्रतिषेधोऽप्प्रत्ययश्च प्रधानपूरण्यामेव। रात्रिः पूरणी वाच्या चेत्युक्तोदाहरणे मुख्या। अन्यत्र तु।

पूरण प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द, तदन्त एवं प्रमाण्यन्त से बहुव्रीहि समास में अप् प्रत्यय होता है। कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः कल्याणीपञ्चमाः रात्रयः। यहां पञ्चमी शब्द पञ्चन् से डट् अन्लोप ङीप से सिद्ध है, यहां डट प्रत्यय को मट् आगम है (अप् प्रत्यय परमें ईकारलोप) जिन रात्रियों में पाँचवी रात्रि कल्याण युक्त मङ्गलप्रद है। स्त्री प्रमाणं यस्य स यहां समास अप् ईकार लोप, प्रमाणं=कर्तव्याकर्तव्य में निर्णायक स्त्री है जिस देश में यथा—भारत में सम्प्रति विदुषी प्रधान मन्त्रिणी है, वह उच्चकोटि के निर्णय में प्रमाणीभूता है—श्रीइन्दिरा देवी। पुंवद्भाव का प्रतिषेध एवं अप् प्रत्यय वहां होता है। जहां प्रधान पूरणी हो। रात्रि शब्द उक्तोदाहरण में पूरणी है, इससे पूरण प्रत्ययान्त का प्राधान्य ज्ञान करना, अन्यत्र नहीं यह न कपि के व्याख्यान समय स्पष्ट किया जायगा।

८३४ नद्यृतश्च ५।४।१५३।

नद्युत्तरपदाद् ऋदन्तोत्तरपदाच् च बहुव्रीहेः कप् स्यात्। पुंवद्भावः।

नदी संज्ञक या ह्रस्व ऋकार तदन्त उत्तर पद रहते बहुव्रीहि समास से कप् प्रत्यय समासान्त होता है।

८३५ केऽणः ७।४।१३।

के परेऽणो ह्रस्वः स्यात्। इति प्राप्ते।

कप् प्रत्यय पर रहते अण् का ह्रस्व होता है। ऐसी प्राप्ति होने पर।

८३६ न कपि ७।४।१४।

कपि परेऽणो ह्रस्वो न स्यात्। कल्याणपञ्चमीकः पक्षः। अत्र तिरोहितावयवभेदस्य पक्षस्यान्यपदार्थतया रात्रिरप्रधानम्। बहुकर्तृकः। अप्रियादिषु किम्? कल्याणीप्रियः। प्रिया, मनोज्ञा, कल्याणी, सुभगा, दुर्भगा, भक्तिः, सचिवा स्वसा, कान्ता, क्षान्ता, समा चपला, दुहिता, वामा, अबला. तनया, प्रियादिः। सामान्ये नपुंसकम्। दृढं भक्ति र्यस्य स दृढभक्तिः। स्त्रीत्वविवक्षायान्तु दृढाभक्तिः।

कप् प्रत्यय पर रहते अण् का ह्रस्व नहीं होता है।

कल्याणी पञ्चमी यस्य सः। यहां अन्यपदार्थ पक्ष है, पन्द्रह रात्रि के समुदाय को पक्ष कहते है, जब पक्ष शब्द अवयव गत भेद को तिरोहित करके पक्षत्वेन पक्ष रूप अर्थ का बोधक है तब पक्ष ही प्रधान है, पूरणप्रत्ययान्त पञ्चमी उसका अर्थ पाँचवीं रात्रि यह अर्थ अप्रधान है, अतः यहां अप् प्रत्यय एवं पुंवद् भाव का निषेध न हुआ कप् प्रत्यय पर रहते पञ्चमी के इकार का ह्रस्व न हुआ। ऋकारान्तोतरपद में कप् प्रत्यय का उदाहरण-बहवः कर्तारः यत्र बहुकर्तृकः। प्रियादि गण पठित जहाँ उत्तरपद रहे वहां पुंवद्भाव न हुआ। कल्याणी प्रिया यस्य सः कल्याणीप्रियः। भक्ति का विशेषण स्त्रीलिङ्ग दृढा होना चाहिये किन्तु 'सामान्ये नपुंसकम्' से दृढं भक्ति र्यस्य सः दृढभक्तिः। स्त्रीत्वकी विवक्षा में तो दृढाभक्तिः।

८३७ तसिलादिष्वाकृत्वसुचः ६।३।३५।

तसिलादिषु आकृत्वसुजन्तेषु परेषु स्त्रियाः पुंवत स्यात्। परिगणनं कर्तव्यम्, अव्याप्त्यतिव्याप्तिपरिहाराय। त्रतसौ तरप्तमपौ। चरट्जातीयरौ। कल्पब्देशीयरौ। रूपप्पाशपौ। थाल्। तिल्थ्यनौ। बह्वीषु बहुत्र। बहुतः। दर्शनीयतरा। दर्शनीयतमा, घरूपेति वक्ष्यमाणो ह्रस्वः परत्वात्पुंवद्भावं बाधते। पट्वितरा। पट्वितमा। पटुजातीया। दर्शनीयकल्पा। दर्शनीयदेशीया। दर्शनीयरूपा। दर्शनीयपाशा। बहुथा। प्रशस्ता वृकी वृकतिः। अजाभ्यो हिता अजथ्या। ❀ शसि बह्वल्पार्थस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः ❀। बह्वीभ्यो देहि बहुशः। अल्पाभ्यो देहि अल्पशः। ❀ त्वतलो र्गुणवचनस्य ❀। शुक्लाया भावः शुक्लत्वम्। गुणवचनस्य किम्?, कर्त्र्या भावः कर्त्रीत्वम्। शरदः कृता-

तार्थेत्यादौ तु सामान्ये नपुंसकम्। ❀ भस्याढे तद्धिते ❀। हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम्। अढे किम्, रौहिणेयः। स्त्रीभ्यो ढगिति ढोऽत्र गृह्यते। अग्ने र्ढकि तु पुंवदेव। अग्नायी देवताऽस्य स्थालीपाकस्याग्नेयः।

तसिलादि कृत्वसुच् प्रत्यय पर्यन्त प्रत्यय पर रहते स्त्रीवाचक का पुंवद्भाव होता है। लक्ष्य में अप्रवृत्तिरूप अव्याप्ति दोष एवं अलक्ष्य में प्रवृत्ति रूप अतिव्याप्ति दोष के परिहार के लिए यहां प्रत्ययों का परिगणन अत्यावश्यक है। मूलग्रन्थ में प्रत्यय निर्देश स्पष्ट किया है। सप्तम्यन्त किमादिसर्वनाम से त्रल् प्रत्यय–बह्वीषु इति बहुत्र, पुंवद्भाव। पञ्चम्यन्त से तसिल् बह्वया इति बहुतः। अनयोर्मध्ये इयं दर्शनीया तरप्, पुंवद् भाव। तमप् पुंवद्भाव –दर्शनीयतमा। अनयोर्मध्ये इयम् अतिशयेन पट्वी इति यहां पुंवद्भाव को घरूप सूत्र विहित ह्रस्वबाध करता है अतः ह्रस्व ही हुआ पट्वितरा, पट्वितमा। पट्वी प्रकारा पट्वजातीया। ईषद् असमाप्ता दर्शनीया दर्शनीयकल्पा। एवं देशीयर् से दर्शनीयदेशीया। प्रशस्ता दर्शनीया इति दर्शनीयरूपा। कुत्सिता दर्शनीया दर्शनीयपाशा। बह्वी प्रकारा बहुधा। प्रशस्ता पृथ्वी इति पृथ्वति। अजाभ्यो हिता अजथ्या। शस प्रत्यय पर रहते बहु अर्थ अल्प अर्थक स्त्रीवाचक का पुंवद्भाव होता है। मङ्गलमें बह्वीभ्य देहि बहुशः। अमङ्गलमें अल्पाभ्यो देहि अल्पशः। त्व एवं तल् प्रत्यय पर रहने गुणविशिष्टगुणी (द्रव्य) वाचक स्त्रीलिङ्ग का पुंवद्भाव होता है। शुक्ला से भावार्थकत्वप्रत्यय एवं पुंवद्भाव। शुक्लत्वम्। कर्त्रीत्वम् यहां गुणवाचकत्व नहीं पुंवद्भाव का अभाव है। कृतार्थता भ हुआ यहां अर्थशब्द नपुंसक है। ❀ ढभिन्न तद्धित प्रत्यय विवक्षित रहे वहां भसंज्ञक स्त्रीवाचक शब्द का पुंवद्भाव होता है। अढे में ढे विवक्षितार्थपरक है, अतः प्रत्ययोत्पत्ति के पूर्व में ही पुंवद्भाव होता है। यथा—हस्तिनीनां समूहः हास्तिकम्। यहां पुंवद्भावकर हस्तिन् से 'अचित्तहस्ति' सूत्र से ठक् इकादेश आदिवृद्धि 'नस्तद्धिते' से टिलोप हास्तिकम्।

विमर्श—यहां कोई शङ्का करता है कि पुंवद्भाव न कर ठक् इकादेशकर के यस्येति च से ईकार का लोपकर हास्तिन् की टिका लोपसे प्रयोगसिद्धि होती है इसको पुंवद्भाव बोधन व्यर्थ है, इस शङ्का का समाधान—यस्येति लोप 'असिद्धवदत्राभात्' से आभीयत्वेन असिद्ध होने से टिलोप नहीं होगा। अथवा स्थानिवद् भाव से भी टिलोप नहीं होगा। शस् साहचर्य से ठक् भी भवद शब्द विहित का ही ग्रहण है, अतः 'ठक्छसो' से यहां पुंवद्भाव सिद्ध नहीं है। एवं सूत्रप्राप्तपुंवद्भाव का ही 'भाषितः' निषेधक है, यहां तो वार्तिक प्राप्त पुंवद्भाव होता ही है 'हास्तिकम्' भाष्य प्रयोग-सिद्ध हुआ।

रोहिण्या अपत्यम् रौहिणेय यहां पुंवद्भाव ढक् होने से न हुआ। यदि पुंवद्भाव होता तो रौहितेय बनता। रोहित से 'वर्णाद' सूत्र से ङीष् एवं नकारादेश विहित है। रोहिणी। यहां प्रतिपदोक्त परिभाषासे स्त्रीभ्यो ढक् का ग्रहण है वहां पुंवद्भाव का प्रतिषेध। अन्य ढक् में पुंवद्भाव होता ही है यथा अग्नायी देवता अस्य पाकस्य यहां अग्नेर्ढक् से ढक्प्रत्यय है, पुंवद्भाव हुआ—आग्नेयः।

सपत्नीशब्दस्त्रिधा। शत्रुपर्य्यायात्सपत्नशब्दाच्छार्ङ्गरवादित्वात् ङीन्येकः। समानः पतिर्यस्या इति विग्रहे विवाहनिबन्धनं पतिशब्दमाश्रित्य नित्यस्त्रीलिङ्गो द्वितीयः। स्वामिपर्य्यायपतिशब्देन भाषितपुंस्कस्तृतीयः। आद्ययोः शिवाद्यण्। सपत्न्या अपत्यं सापत्नः। तृतीयात्तु लिङ्गविशिष्टपरिभाषया पत्युत्तरपदलक्षणो ण्य एव, न त्वण्। शिवादौ रूढयोरेव ग्रहणात्, सापत्यः। ❀ठक्छसोश्च❀। भवत्याश्छात्रा भावत्काः। भवदीयाः। एतद्वार्तिकम्, एक-

तद्धिते चेति सूत्रं न कर्तव्यम्, ❀सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः❀। इति भाष्यकारेष्ट्या गतार्थत्वात्। सर्वमयः। सर्वकाम्यति। सर्विका भार्या यस्य सः सर्वकभार्यः। सर्वप्रियः, इत्यादि। पूर्वस्यैवेदम्, भस्त्रैषाजाद्वेति लिङ्गात्। तेनाकचि एकशेषवृत्तौ च न। सर्विका। सर्वाः। ❀कुक्कुट्यादीनामण्डादिपु❀। कुक्कुट्या अण्डं कुक्कुटाण्डम्। मृग्याः पदं मृगपदम्। मृगक्षीरम्। काकशावः।

सपत्नी शब्द तीन प्रकार का है—सपत्नः शत्रुः। इस अर्थ का वाचक सपत्न शब्द से ङीन् प्रत्ययान्त सपत्नी शब्दः। विवाहप्रयुक्त तुल्यपति युक्त में सपत्नी अर्थ में नित्यस्त्रीलिङ्ग है, स्वामिपर्याय वाचक भाषितपुंस्क तृतीय है। पूर्वोक्त दो शिवादिगण पठित होने से अण् प्रत्यय होता है, 'योगाद्रूढिर्बलीयसी' न्याय से। यौगिकार्थ विलम्ब से रूढि अर्थ का शीघ्रता से ज्ञान इस अन्तरङ्ग परिभाषा मूलक ही योगाद्रूढिर्बलीयसी है, अपूर्व नहीं है। सपत्नी से अण् एवं पुंवद्भाव हुआ–सापत्नः। तृतीय से लिङ्गविशिष्टपरिभाषा बल से ण्य प्रत्यय ही है, अण् नहीं। शिवादिगण में रूढ का ही ग्रहण है वह प्रथम कह चुके हैं। तृतीयमें सापत्यः। •ठक् एवं छस् प्रत्यय की विवक्षा में या पर रहते स्त्री वाचक का पुंवद्भाव होता है। भवत्याः छात्राः यहां भावत्काः ठक् पुंवद्भाव इकादेश को बाधकर 'इसुस्' से कादेश है। छस् में भवदीयाः। यहां भवती का भवद् पुंवद्भाव से। यह वार्तिक एवं 'एकतद्धिते' ह्रस्वविधायक दोनों की आवश्यकता नहीं है। व्यापक वचन यह है - 'सर्वनाम्नोः' उससे पुंवद्भाव में भावत्काः, भवदीयाः, एकस्या आगतम् एकरूप्यम्। एकस्याः क्षीरम्–'एकक्षीरम्' आदि की सिद्धि होती है। नामधातुरूपा वृत्ति –सर्वा काम्यति सर्वकाम्यति। सर्विका भार्या यस्य सर्वकभार्यः। उभयत्र पुंवद्भाव हुआ। वृत्तिघटक अनेक भाग मध्य में पूर्व सर्वनाम रहे वहां ही पुंवद्भाव 'सर्वनाम्नोः' से होता है। अन्यथा एषा द्वा इनको क से पूर्व आप् पर रहते इकार विधान निर्विषय हो जायगा। भस्त्रैषा सूत्र व्यर्थ होगा अतः 'पूर्वस्यैवेदम्'। यह भाष्य वचन सिद्ध हुआ।

इससे सर्विका यहां अकच् में पुंवद्भाव न हुआ। एवं सर्वा च सर्वा च सर्वा च, इति सर्वाः यहां एकशेष रूपा वृत्ति में पुवद्भाव न हुआ, वृत्ति घटक अनेक अंश नहीं एवं उन अंशों के अभाव से तन्निरूपितपूर्वत्व का तो अत्यन्ताभाव यहां है। •अण्डादि उत्तरपद रहते स्त्रीलिङ्ग कुक्कुटी आदि का पुंवद्भाव होता है। कुक्कुट्याः अण्डम् यहां समास, पुंवद्भाव से कुक्कुटाण्डम्। जातिमात्रपरक कुक्कुट से अण्ड का समास होकर प्रयोगसिद्धि हो ही जाती है। स्त्रीलिङ्ग कुक्कुटी का अण्ड के साथ समास नहीं होता है अनभिधान से। इस वार्तिक की आवश्यकता नहीं है, "यथालक्षणमप्रयुक्ते"।

८३८ क्यङ्मानिनोश्च ६।३।३६।

एतयोः परतः पुंवत्। एनीवाचरति एतायते। श्येनीवाचरति श्येतायते। स्वभिन्नां काञ्चिद् दर्शनीयां मन्यते दर्शनीयमानिनी। दर्शनीयां स्त्रियं मन्यते दर्शनीयमानी चैत्रः।

वर्णवाचक एत एवं श्येत से ङीप् तकार को नकार से एनी एवं श्येनी स्त्रीलिङ्ग में रूप है। क्यङ् तथा पुंवद्भाव से एतायते। श्येतायते। अपने से भिन्न स्त्री को दर्शनीय माननेवाली भी दर्शनीयामानिनी पुंवद्भाव यहां हुआ। मनश्च से णिनि प्रत्यय से मानिन् इससे ङीप् मानिनी। पुंलिङ्गमें मानी होता है, दर्शनीया मानी पुंवद्भाव दर्शनीयमानी चैत्रः।

८३९ न कोपधायाः ६।३।३७।

कोपधाया स्त्रिया न पुवत् । पाचिकाभार्य । रसिकाभार्य । मद्रिकायते । मद्रिकामानिनी । ॐकोपधप्रतिषेधे तद्धितवुग्रहणम्ॐ । नेह-पाका भार्या यस्य स पाकभार्य ।

ककारोपध स्त्री वाचक का पुवद्भाव नहीं होता है। पचतीति पाचिका ण्वुल् अक टाप् इकार 'प्रत्ययस्थात्' से हुआ । पाचिका भार्या यस्य स यहां स्त्रियाः पुवत्' से प्राप्त पुवद्भाव का निषेध है। रस अस्ति अस्या ठन्प्रत्यय, इकादेश रसिका, रसिका भार्या यस्य स रसिकाभार्य पुवद्भाव न हुआ । टाप इकार की निवृत्ति न हुई । मद्रे भवा मद्रिका क्यङ्प्रत्यय है—मद्रिकायते यहां 'क्यङ्मानिनोश्च' से प्राप्त पुवद्भाव का निषेध है। मद्रिकामानिनी यहां णिनि प्रत्ययान्त मानिन् स्त्रियां मानिनी पुवद्भाव निषेध है। ॐन कोपधायाः से कोपध में जो पुवद्भाव का प्रतिषेध होता है वहां तद्धित ग्रहण करना एवं वु ग्रहण करना। तद्धित एवं वु का द्वन्द्व समास है, ग्रहण का प्रत्येक से सम्बन्ध है । तद्धितप्रत्यय घटक ककार या वुस्थानिक अकादेश का ककार कोपध से गृहीत है। अन्य नहीं । पाका में ककार धातु का चकार की 'चजोः' सूत्र से कुत्व हुआ है अतः पाका भार्या यस्य सः पाकभार्य यहां पुवद्भाव हुआ । निषेध का विषय नहीं है।

८४० संज्ञापूरण्योश्च ६।३।३८।

एतयोर्न पुवत् । दत्ताभार्या । दत्तामानिनी । दानक्रियानिमित्त॰ स्त्रिया पुंसि च सञ्ज्ञाभूतोऽयमिति भाषितपुंस्कत्वमस्ति । पञ्चमीभार्य । पञ्चमीपाशा ।

सञ्ज्ञावाचक एवं पूरणप्रत्ययान्त स्त्रीवाचक का पुवद्भाव नहीं होता है। दान देनेवाली स्त्री की संज्ञा दत्ता है, दत्ता भार्या यस्य स दत्ताभार्य । स्वां दत्तां मानिनी यहां भी पुवद्भाव का अभाव है, दत्तामानिनी । दत्ता शब्द भाषितपुंस्क एवं यौगिक है। क्योंकि दानक्रिया कर्तृत्व इसका प्रवृत्तिनिमित्त है। वह पुरुष साधारण भी है। पञ्चानां पूरणी पञ्चमी, पञ्चमी भार्या यस्य स पञ्चमीभार्य यहां भी पुवद्भाव प्रतिषेध है।

८४१ वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे ६।३।३९।

वृद्धिशब्देन विहिता या वृद्धिस्तद्धेतुर्यस्तद्धितोऽरक्तविकारार्थस्तदन्ता स्त्री न पुवत् । स्रौघ्नीभार्य । माथुरीयते । माथुरीमानिनी । वृद्धिनिमित्तस्य किम् , मध्यमभार्य । तद्धितस्य किम् , काण्डलावभार्य॰ । वृद्धिशब्देन किम् , तावद्भार्य । रक्ते तु कापायी कन्था यस्य स कापायकन्थ । विकारे तु हैमी मुद्रिका यस्येति हैममुद्रिक । वृद्धिशब्देन वृद्धिं प्रति फलोपधानाभावादिह पुवत्—वैयाकरणभार्य । सौवश्वभार्य ।

वृद्धिशब्द को उच्चारण करके जो वृद्धि उसका कारणीभूत जो रक्तार्थक एवं विकारार्थ भिन्न तद्धित प्रत्यय तदन्त स्त्रीवाचक शब्द का पुवद्भाव नहीं होता है। स्रुघ्ने भवा स्रौघ्नी यहां भवार्थक अण् प्रत्यय है, एवं आदि वृद्धि ङीप् अकारलोप से स्रौघ्नी सा भार्या यस्य स स्रौघ्नीभार्य । यहां पुवद्भाव न हुआ। माथुरीयते यहां क्यङ्मानिनोश्च का यह निषेधक है । माथुरीमानिनी । मध्ये भवा मध्यमा सा भार्या यस्य स मध्यमभार्य यहां मप्रत्यय वृद्धिनिमित्त न होने से 'स्त्रियाः' से पुवद्भाव हुआ है । काण्ड लुनातीति यहां कर्मण्यण् से अण् प्रत्यय, उपपदसमास ङीप् काण्डलावी भार्या यस्य स

यहां वृद्धिनिमित्तक कृत् प्रत्यय है। पुंवद्भाव हुआ है। तावती भार्या यस्य सः यहां आ सर्वनाम्नः से तद् के दकार को आकारादेश, वह वृद्धिशब्दोच्चरित वृद्धिशब्द से विधीयमान नहीं है, अतः पुंवद्भाव हुआ। रक्तार्थक अण् में काषायी कन्या यस्य स काषायकन्यः पुंवद्भाव है। हेम्नः विकारा हैमी सा मुद्रिका यस्य स हैममुद्रिकः, पुंवद्भाव हुआ यहां विकारार्थ अण् है। तस्य विकारः से।

विमर्श—निमित्त कारण को कहते हैं, निमित्तवृत्तिधर्म को निमित्तता या कारणता कहते हैं। कारणता दो प्रकार की है—स्वरूपयोग्यतारूपा, एवं फलोपधानतारूपा। यथा घटं प्रति दण्डः कारणम् यहां जिस दण्ड से घट रूप कार्य की उत्पत्ति होती है उस दण्ड में घट निर्माणरूप फलोपधायकता रूपा कारणता है। एवं कुलाल के गृह कोण में रक्खा हुआ जो दण्ड है उनमें स्वरूपयोग्यत्वरूपा कारणता है। कारणता में रहनेवाला धर्म = कारणतावच्छेदक धर्मवत्वरूपा कारणता स्वरूप योग्यतारूपा कारणता कहते हैं, प्रकृत में कारण दण्ड है कारणता दण्ड में है कारणताऽवच्छेदक धर्म है दण्डत्व तद्वान् गृह कोण स्थित दण्ड भी है। प्रकृत में जिस तद्धितनिमित्त वृद्धिरूप कार्य रूप में हुआ हो वहां ही यह पुंवद्भाव का निषेधक है यहां निमित्तता = कारणता फलोपधायकतारूपा ही गृहीत है। वैयाकरणी भार्या यस्य सः यहां वैयाकरणभार्यः पुंवद्भाव का निषेध न हुआ। एवं सौवश्वी भार्या यस्य यहां भी पुंवद्भाव से सौवश्वभार्यः। क्योंकि अण् निमित्त वृद्धि को 'न य्वाभ्याम्' से ऐच् ने बाध किया है, अतः यहां तद्धित प्रत्यय अण् निमित्तक वृद्धि रूप कार्य नहीं हुआ है।

८४२ स्वाङ्गाच्चेतः ६।३।४०।

स्वाङ्गाद् य ईकारस्तदन्ता स्त्री न पुंवत्। सुकेशीभार्यः। स्वाङ्गात् किम्, पटुभार्यः। ईतः किम्, अकेशभार्यः। ॐअमानिनीति वक्तव्यम्ॐ। सुकेशमानिनी।

स्वाङ्गवाचक से विहित जो ईकार तदन्त स्त्रीवाचक का पुंवद्भाव नहीं होता है सुकेशी भार्या यस्य सः सुकेशीभार्यः। यहां स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद् से सुकेश से ङीप् प्रत्यय है। यहां 'स्त्रियाः पुंवद् भाषित' से प्राप्त पुंवद्भाव का निषेध हुआ है। गुणवाचक से ङीप् पट्वी सा भार्या यस्य स यहां पूर्वपद स्वाङ्ग वाचक नहीं है। पुंवद्भाव से पटुभार्यः। अकेशा भार्या यस्य सः अकेशभार्यः यहां ईकार नहीं है। मानिनी पर रहते पुंवद्भाव निषेध नहीं होता है। सुकेशमानिनी।

८४३ जातेश्च ६।३।४१।

जातेश्च परो यः स्त्रीप्रत्ययस्तदन्तं न पुंवत्। शूद्राभार्यः। ब्राह्मणीभार्यः। सौत्रस्यायं निषेधः। तेन हस्तिनीनां समूहो 'हास्तिकम्' इत्यत्र 'भस्याढे' इति तु भवत्येव।

जातिवाचक शब्द से पर जो स्त्रीप्रत्यय तदन्त का पुंवद्भाव नहीं होता है।

शूद्रा भार्या यस्य स शूद्राभार्यः, यहां 'स्त्रियाः पुंवद्' से प्राप्त पुंवद्भाव का निषेध है। ब्राह्मणी भार्या यस्य सः ब्राह्मणीभार्यः। 'हास्तिकम्' इति भाष्यप्रयोग से यह सूत्र सूत्रप्राप्त पुंवद्भाव का ही निषेधक है। यहां हस्तिनीनां समूहः अर्थ में ठक् की उत्पत्ति पूर्व ही 'भस्याढे' वा० से पुंवद्भाव ततः ठक्, इक, नस्तद्धिते से टिलोप—हास्तिकम्।

८४४ संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः सङ्ख्येये २।२।२५।

सङ्ख्येयार्थया सङ्ख्यया अव्ययादय. समस्यन्ते स बहुव्रीहिः। दशाना समीपे ये सन्ति ते उपदशाः। नव एकादश चेत्यर्थः। 'बहुव्रीहौ सङ्ख्येये' इति वक्ष्यमाणो डच्।

सङ्ख्याविशिष्ट द्रव्यार्थक सङ्ख्यावाचक से अव्यय, आसन्न, दूर, अधिक एव सङ्ख्या का समास होता है एव उसकी बहुव्रीहि सज्ञा होती है। उपशब्द समीपार्थक है, यहा अव्ययीभाव है। समीपिनि = सामीप्यवद् में बहुव्रीहि। दशानाम् = वृक्षाणा समीपे ये सन्ति वृक्षादय उपदशा, यहाँ 'बहुव्रीहौ' से डच प्रत्यय है, एव टिलोप। नव या ग्यारह।

८४५ ति विंशतेर्डिति ६।४।१४२।

विंशतेर्भस्य तिशब्दस्य लोप. स्याड्डिति। आसन्नविंशा। विंशतेरासन्ना इत्यर्थ। अदूरत्रिंशा। अधिकचत्वारिंशा। द्वौ वा त्रयो वा द्वित्रा। द्विरावृत्ता दश द्विदशा। विंशतिरित्यर्थ।

पूर्व सूत्र से समास डच् कर 'ति' का लोप है। विंशत अदूरा अदूरविंशा। अदूरा त्रिंशत अदूरत्रिंशा। द्वौ वा त्रयो वा यहा पूर्व से सुजर्थ में बहुव्रीहि समास, समास से सुजर्थ उक्त है अत यहा सुच् न हुआ। विंशति अर्थ में दिरावृत्ता दश समास द्विदशा डच् एव टिलोप हुआ।

८४६ दिङ्नामान्यन्तराले २।२।२६।

दिशो नामान्यन्तराले वाच्ये प्राग्वत्। दक्षिणस्या पूर्वस्याश्च दिशोऽन्तरालं दक्षिणपूर्वा। नामग्रहणाद् यौगिकाना ग्रहण न। ऐन्द्र्याश्च कौबेर्याश्चान्तराल दिक्।

मध्यार्थक अन्तराल शब्द है, प्रत्यासत्त्या = सामीप्यमूलक सम्बन्ध से अन्तराल भी दिशा ही लेना, अन्य नहीं। अन्तराल वाच्य होने पर दिक् वाचक शब्दों का समास होता है। यथा–दक्षिणपूर्वा। सूत्र में नामग्रहण में यौगिकार्थ बोधक दिक्वाचक का ग्रहण नहीं है। वहाँ समास न होकर वाक्य ही रहता है। इन्द्रो देवता अस्या = दिश ऐन्द्री, कुबेरः देवता यस्या कौबेरी। साऽस्य देवता से अण्, वृद्धयादि, ङीप्।

८४७ तत्र तेनेदमिति सरूपे २।२।२७।

सप्तम्यन्ते ग्रहणविषये सरूपे पदे तृतीयान्ते च प्रहरणविषये इद युद्ध प्रवृत्तमित्यर्थे समस्येते कर्मव्यतिहारे द्योत्ये स बहुव्रीहि। इतिशब्दादयं विषयविशेषो लभ्यते।

समानरूपवाले सप्तम्यन्त के ग्रहण विषय में, एव समानरूप वाले तृतीयान्त के प्रहरणविषय में 'इद युद्ध प्रवृत्तम्' = अर्थात यह युद्ध प्रवृत्त हुआ इस अर्थ में कर्मव्यतिहार द्योत्य हो तो बहुव्रीहि समास होता है। इति शब्द निपात है, निपात अनेकार्थक है, उससे यह विशेष काया वाला अर्थ निष्पन्न हुआ है, इष्टानुरोध से।

८४८ अन्येषामपि दृश्यते ६।३।१३७।

आशीर्वाद अर्थ में सह को स आदेश नहीं होता है, किन्तु स्वरूपस्थिति सह की रहती है। *गो, वत्स, एवं हल विषयक आशीर्वाद में सहको सादेश होता है वहाँ सह का स्वरूपावस्थान नहीं रहता, आदेश से सह स्वरूप नष्ट हुआ यथा 'सगवे' आदि।

८५३ बहुव्रीहौ सङ्ख्येये डजबहुगणात् ५।४।७३।

सङ्ख्येये यो बहुव्रीहिस्तस्माड्डच् स्यात्। उपदशाः। अबहुगणात् किम्, उपबहवः। उपगणाः। अत्र स्वरे विशेषः। *संख्यायास्तत्पुरुषस्य वाच्यः* निर्गतानि त्रिंशतो निस्त्रिंशानि वर्षाणि चैत्रस्य। निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंशः खड्गः।

सङ्ख्येयार्थक बहुव्रीहि समास के उत्तर डच् प्रत्यय होता है। दशानां उप = समीपे ये सन्ति अर्थ में 'संख्यया' सूत्र से समास कर डच् प्रत्यय, टिलोप से उपदशाः। 'उपबहवः' 'उपगणाः' यहां डच् न हुआ। रूप में भेद न होने पर भी डच होता तो चित से अन्तोऽदात्त होता सा न हुआ किन्तु पूर्वपद प्रकृतिस्वर रहा। *संख्यावाचक शब्द के उत्तर तत्पुरुष समास से डच् प्रत्यय होता है। निस्त्रिंशः में पञ्चमी तत्पुरुष कर डच् हुआ।

८५४ बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् ५।४।११३।

व्यत्ययेन षष्ठी। स्वाङ्गवाचिसक्थ्यक्ष्यन्ताद् बहुव्रीहेः षच् स्यात्। दीर्घे सक्थिनी यस्य स दीर्घसक्थः। जलजाक्षी। स्वाङ्गात् किम्, दीर्घसक्थि शकटम्। स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः। अक्ष्णोऽदर्शनादित्यच्।

प्रत्यय विधान में प्रकृति वाचक से पञ्चमी विभक्ति उचित है 'सक्थ्यक्षिभ्याम्' न कहकर षष्ठ्यन्त निर्देश जो है वह 'व्यत्ययो बहुलम्' से यहां षष्ठी पञ्चम्यर्थ में लाघवार्थ है। अर्थ करने में पञ्चम्यन्तता है। इसी प्रकार 'बहुव्रीहे' पञ्चम्यन्त न कर सप्तम्यन्त है यहां भी व्यत्यय से सप्तमी है लाघवार्थ।

शरीरावयव वाची सक्थि एवं अक्षि ये है अन्त में जिसको ऐसे बहुव्रीहि से षच् समासान्त होता है। दीर्घे सक्थिनी यस्य यहां समासादि षच् (अ) ईकार लोप से दीर्घसक्थः जलज=कमल समान दो नेत्रों से युक्त स्त्री यहां समास षच् षित्वात् ङीष् जलजाक्षी। स्वाङ्गवाचक नहीं जहां वहां षच् होता है। स्थूलाक्षा में अच् प्रत्यय है-बेंतकी छड़ी।

७५५ अङ्गुलेर्दारुणि ५।४।११४।

अङ्गुल्यन्ताद् बहुव्रीहेः षच् स्यात् दारुण्यर्थे। पञ्चाङ्गुलयो यस्य तत् पञ्चाङ्गुल दारु। अङ्गुलिसदृशावयव धान्यादिविक्षेपणकाष्ठमुच्यते। बहुव्रीहेः किम्, द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्या द्व्यङ्गुला यष्टिः। तद्धितार्थे तत्पुरुषस्याङ्गुलेरित्यच्। दारुणि किम्। पञ्चाङ्गुलि हस्तः।

अङ्गुलि शब्द है अन्त में जिसको ऐसा बहुव्रीहि से षच् प्रत्यय होता है, दारु अर्थ में। पञ्चाङ्गुलम् यहाँ षच प्रत्यय हुआ है—पांचा भाषा में कहते है। तद्धितार्थोत्तरपद से समास तत्पुरुष में अच प्रत्यय से पञ्चाङ्गुला यष्टि। हस्त अर्थ में पञ्चाङ्गुलि।

७५६ द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः ५।४।११५।

आभ्यां मूर्ध्नः षः स्याद् बहुव्रीहौ। द्विमूर्द्धः। त्रिमूर्द्धः। *नेतुर्नक्षत्रे अब् वक्तव्य* मृगो नेता यासां ता मृगनेत्रा रात्रयः। पुष्यनेत्राः।

बहुव्रीहि समास में द्वि एवं त्रिशब्द से पर मूर्द्धन् शब्द को समासान्त ष प्रत्यय होता है द्वौ मूर्द्धानौ यस्य स द्विमूर्द्धः। त्रिमूर्द्धः। •नक्षत्रवाचक नेतृ शब्दान्त बहुव्रीहि में अप् प्रत्यय होता है। मृगनेत्राः रात्रयः। पुष्यः नेता यस्य पुष्यनेत्राः।

८५७ अन्तर्बहिर्भ्यांश्च लोम्नः ५।४।११७।

आभ्यां लोम्नोऽप् स्याद् बहुव्रीहौ। अन्तर्लोमः। बहिर्लोमः।

अन्तर् एवं बहिस् शब्द से पर लोमन् वह है अन्त में जिसको ऐसा बहुव्रीहि से अप्। होता है। अप् कर टिलोप अन्तर्लोमः।

८५८ अञ् नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात् ५।४।११८।

नासिकान्ताद् बहुव्रीहेरच् स्यात् नासिकाशब्दश्च नसं प्राप्नोति न तु स्थूलपूर्वात्।

नासिकाशब्दान्त बहुव्रीहिसे अच् होता है, एवं नासिका को नस् आदेश होता है, किन्तु स्थूल-शब्द पूर्व में रहे तब नहीं होता है।

८५९ पूर्वपदात् संज्ञायामगः ८।४।३

पूर्वपदस्थान्निमित्तात् परस्य नस्य णः स्यात् संज्ञायां न तु गकारव्यवधाने। द्रुरिव नासिकाऽस्य द्रुणसः। खरणसः। अगः किम्, ऋचामयनम् ऋगयनम्। अणृगयनादिभ्य इति निपातनाण् णत्वाभावमाश्रित्य अग इति प्रत्याख्यातं भाष्ये। अस्थूलात् किम् स्थूलनासिकः। *खुरखराभ्यां वा नस्* । खुरणाः। खरणाः। पक्षे अजपीष्यते। खुरणसः। खरणसः।

संज्ञा में पूर्वपद में स्थित रेफरूप निमित्त से पर नकार को णकार होता है, किन्तु गकारके व्यवधान में णत्व नहीं होता है। शाखा पेड़ की डाली वाचक द्रुशब्द है, द्रुरिव नासिका यहां द्रुणा द्रुसदृश में लक्षणा है, द्रुः नासिका अस्य समास, पूर्व सूत्र से अच् प्रत्यय नकार को णकार द्रुणसः। गकार का व्यवधान से ऋगयनम्। यहां णकार न हुआ। 'ऋगयन' निपात से णत्व का बाध हो जाता "निपातनानि बाधकानि" पुनः 'अगः' सूत्र में न करना। स्थूल के बाद नासिका को अच् नहीं हुआ स्थूलनासिकः। •खुर एवं खर से पर नासिका को नस् आदेश विकल्प से होता है। अच् पूर्व से नित्य है वह तो होगा ही। खुरणाः। खरणाः। पक्ष में खुरणसः। खरणसः।

८६० उपसर्गाच्च ५।४।११९।

प्रादेर्यो नासिकाशब्दस्तदन्ताद् बहुव्रीहेरच् नासिकाया नसादेशश्च। असंज्ञायां वचनम्। उन्नता नासिका यस्य स उन्नसः। 'उपसर्गादनोत्परः' इति सूत्रं भङ्क्त्वा भाष्यकार आह—

प्रादि उपसर्ग से पर स्थित जो नासिका तदन्त बहुव्रीहि से अच् एवं नासिका को नस् आदेश होता है। संज्ञा में जहां नहीं है उसके लिए सूत्र है। पूर्व संज्ञा में कार्य करता है। अनोत्पर को

न कर उसके स्थान में 'बहुलम्' पढ़कर 'उपसर्गादनोत्व' के स्थान पर 'उपसर्गाद् बहुलम्' सूत्र सम्प्रति है, उसी को बता रहे हैं।

८६१ उपसर्गाद् बहुलम् ८।२।२८।

उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य नसो नस्य णः स्याद् बहुलम्। प्रणसः। ॐवेर्ग्रो वक्तव्य.ॐ। विगता नासिका अस्य विग्रः। ॐख्यश्चॐ। विख्यः। कथं तर्हि 'विनसा हतबान्धवा' इति भट्टिः, विगतया नासिकयोपलक्षितेति व्याख्येयम्।

उपसर्ग में स्थित जो रेफ उससे पर नस् के नकार को णकार विकल्प से होता है। प्रणस, समास, अच् नसादेश, णकार। •वि से पर नासिका को ग्र आदेश होता है। विगता नासिका अस्य विग्र। वि से पर नासिका को ख्य होता है। विख्य। विनसा क्यों हुआ? ग्र या ख्य होना चाहिये, यह प्रथमान्त भट्टि वाक्य नहीं है किन्तु पद्दन्नोमास् से नसादेश युक्त तृतीयान्तरूप नासिका का है विनसया नासिकया युक्ता सा शूर्पणखा। यह भाव है।

८६२ सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रैणीपदाजपदप्रोष्ठपदाः ५।४।१२०।

एते बहुव्रीहौ अच् प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। शोभनं प्रातरस्य सुप्रातः। शोभनं श्वोऽस्य सुश्वः। शोभनं दिवा अस्य सुदिवः।

शारेरिव कुक्षिरस्य शारिकुक्षः। चतस्रोऽश्रयोऽस्य चतुरश्रः। एण्या इव पादावस्य एणीपदः। अजपदः। प्रोष्ठो गोस्तस्येव पादावस्य प्रोष्ठपदः।

सुप्रात आदि शब्द बहुव्रीहि समास से अच् प्रत्ययान्त निपातित होते हैं। यहां 'भस्यटानाम्' से टिलोप है।

८६३ नञ् दुःसुभ्यो हलिसक्थ्योरन्यतरस्याम् ५।४।१२१।

अच् स्यात्। अहलः। अहलिः। असक्थः। असक्थिः। एवं दुःसुभ्याम्। शक्त्योरिति पाठान्तरम्। अशक्तः। अशक्तिः।

बहुव्रीहि समास में नञ् दुस् एवं सुशब्द से पर हलि एवं सक्थि शब्द से अच् प्रत्यय होता है विकल्प से। सूत्र में शक्ति ऐसा भी पाठ है। अशक्त। अशक्ति।

८६४ नित्यमसिच् प्रजामेधसोः ५।४।१२२।

नञ्दुःसुभ्य इत्येव। अप्रजाः। दुष्प्रजाः। सुप्रजाः। अमेधाः। दुर्मेधाः। सुमेधाः।

नञ्, दुर्, सु से पर प्रजा एवं मेधा को नित्य असिच् प्रत्यय होता है।

८६५ धर्मादनिच् केवलात् ५।४।१२४।

केवलात् पूर्वपदात् परो धर्मशब्दस्तदन्ताद् बहुव्रीहेरनिच् स्यात्। कल्याणधर्मा। केवलात् किम्, परमः स्वो धर्मो यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ मा भूत्। स्व-

शब्दो हीह न केवलं पूर्वपदं किन्तु मध्यमत्वादापेक्षिकम्। संदिग्धसाध्यधर्मेत्यादौ तु कर्मधारयोत्तरपदो बहुव्रीहिः। एवञ्च परमस्वधर्मेत्यपि साध्येव निवृत्तिधर्मा अनुच्छित्तिधर्मेत्यादिवन। पूर्वपदन्तु बहुव्रीहिणाऽऽक्षिप्यते।

केवल पूर्व पद से पर स्थित धर्म शब्द तदन्त बहुव्रीहि से अनिच् प्रत्यय होता है। जहां दो पद पूर्व में रहे धर्म अन्त में रहे ऐसा बहुव्रीहि में अनिच् नहीं होता है केवल ग्रहण त्रिपद बहुव्रीहि में परम सु स्व सु धर्म सु यहां समास कर अनिच् नहीं होता है केवल ग्रहण से यहां मध्यमपदापेक्षया आपेक्षिक पूर्वपदत्व परम में है। यदि प्रथम पदद्वय का कर्मधारय समास कर कर्मधारय समास संज्ञक पद का धर्म से बहुव्रीहि समास करने पर वहां कर्मधारय समास संज्ञक एक पूर्वपद है उसके उत्तर धर्म है। वहां अनिच् प्रत्यय होना ही है यथा संदिग्ध साध्य का प्रथम कर्मधारय, बाद में सन्दिग्धसाध्यो धर्मः यस्य यहां अनिच् हुआ, उसी प्रकार परमश्चासौ स्वश्च तदनन्तर परमस्वः धर्मो यस्य यहां समास में अनिच् परमस्वधर्मा। दृष्टान्त प्रदर्शन करते हैं, वादि एवं प्रतिवादी उभय सम्मत अर्थ को दृष्टान्त कहते हैं—"वादिप्रतिवादिनोर्यत्र साम्यधीः" तद् दृष्टान्तम्। प्रकृत में न उच्छित्तिः अनुच्छित्तिः अनुच्छित्तिः धर्मः यस्य सः अनुच्छित्तिधर्मा। निवृत्तिधर्मा उसी प्रकार। यहां बहुव्रीहि से पूर्वपद का आक्षेप है।

८६६ जम्भा सुहरिततृणसोमेभ्यः ५।४।१२५।

जम्भेति कृतसमासान्तं निपात्यते। जम्भो भक्ष्ये दन्ते च। शोभनो जम्भोऽस्य सुजम्भा। हरितजम्भा। तृणं भक्ष्यं यस्य तृणमिव दन्ता अस्येति वा तृणजम्भा। सोमजम्भा। स्वादिभ्यः किम्, पतितजम्भः।

सु, हरित, तृण, सोम से उत्तर कृतसमासान्त जम्भा शब्द निपातित होता है। जम्भ शब्द का भक्ष्य एवं दन्त अर्थ है, सु= शोभनो जम्भो यस्य स सुजम्भा। अनिच् प्रत्यय है। स्वादि से पर नहीं वहां पतितजम्भः है।

८६७ दक्षिणेर्मा लुब्धयोगे ५।४।१२६।

दक्षिणे ईर्मम्=व्रणं यस्य दक्षिणेर्मा मृगः। व्याधेन कृतव्रण इत्यर्थः।

व्याध सम्बन्ध होने पर दक्षिणेर्मा निपातित होता है (अनिच् प्रत्यय होता है) मृगविशेष या व्याधकृत व्रण युक्त।

८६८ इच् कर्मव्यतिहारे ५।४।१२७।

कर्मव्यतिहारे यो बहुव्रीहिस्तस्मादिच् स्यात् समासान्तः। केशाकेशि। मुसलामुसलि।

कर्मव्यतिहार में जो बहुव्रीहि उसके उत्तर समासान्त इच् प्रत्यय होता है। केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तमिति केशाकेशि 'तत्र' से समास पूर्वपद का दीर्घश्च।

८६९ द्विदण्ड्यादिभ्यश्च ५।४।१२८।

तादर्थ्ये चतुर्थ्येषा। एषां सिद्ध्यर्थमिच्प्रत्ययः स्यात्। द्वौ दण्डौ यस्मिन् प्रहरणे तद् द्विदण्डि प्रहरणम्। द्विमुसलि। उभाहस्ति। उभयाहस्ति।

इस सूत्र में तादर्थ्य में चतुर्थी है। इस गण में पठित शब्दों की सिद्धि के लिए इच् होता उभाहस्ति में पूर्वपद का दीर्घ एवं उभयाहस्ति में भी समास इच् दीर्घ।

८७० प्रसंभ्यां जानुनोर्ज्ञुः ५।४।१२९।

आभ्यां परयोर्जानुशब्दस्य 'ज्ञु' आदेशः स्याद् बहुव्रीहौ। प्रगते जानुनी यस्य प्रज्ञुः। संज्ञुः।

बहुव्रीहि समास में प्र एवं सम् से पर जानु को ज्ञु आदेश होता है।

८७१ ऊर्ध्वाद् विभाषा ५।४।१३०।

ऊर्ध्वज्ञुः। ऊर्ध्वजानुः।

बहुव्रीहि में ऊर्ध्व से उत्तर जानु को ज्ञु आदेश विकल्प से होता है। ऊर्ध्वे जानुनी यस्य ऊर्ध्वज्ञु। पक्ष में ऊर्ध्वजानु।

८७२ धनुषश्च ५।४।१३२।

धनुरन्तस्य बहुव्रीहेरनङादेशः स्यात्। शार्ङ्गधन्वा।

धनुरन्त बहुव्रीहि को अनङ् आदेश होता है। शार्ङ्गं धनु यस्य स शार्ङ्गधन्वा।

८७३ वा संज्ञायाम् ५।४।१३३।

शतधन्वा। शतधनुः।

संज्ञा में धनुष को अनङादेश विकल्प से होता है। शतं धनूंषि यस्य स शतधन्वा, शतधनु।

८७४ जाया या निङ् ५।४।१३४।

जायान्तस्य बहुव्रीहेर् निङादेशः स्यात्।

जाया शब्द है अन्त में जिसके ऐसे बहुव्रीहि को निङादेश होता है। अलोऽन्त्यस्य से अन्त आकारको यह होगा।

८७५ लोपो व्योर्वलि ६।१।६६।

यकारवकारयोर्लोपः स्याद् वलि। पुंवद्भावः। युवति र्जायाऽस्य युवजानिः।

वल पर रहते यकार एवं वकार का लोप होता है। पुंवद्भाव भी होता है स्त्रिया पुंवत् सूत्र से। 'यूनस्ति' से तिप्रत्यय औरिङ् होकर युवति। युवति जाया-पत्नी यस्य स में निङ् आदेश एवं यकार लोप युवजानि। कोई यहां 'जाया' को लुप्तषष्ठ्यन्त मानकर उसके 'या' को निङ् आदेश करता है तब यहां यलोपकी आवश्यकता नहीं है, पुंवद्भाव से युवति का युवन् उसका नकार लोप। जायाया या इति जायाया='या' को ही निङ् हुआ।

८७६ गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः ५।४।१३५।

एभ्यो गन्धस्येकारोऽन्तादेशः स्यात्। उद्गन्धिः। पूतिगन्धिः। सुगन्धिः। सुरभिगन्धिः। * गन्धस्येत्त्वे तदेकान्तग्रहणम् *। एकान्तः=एकदेश इव अविभागेन लक्ष्यमाण इत्यर्थः। सुगन्धि पुष्पं सलिलं च। सुगन्धि र्वायुः। नेह—शोभना गन्धाः=द्रव्याण्यस्य सुगन्ध आपणिकः।

उद्, पूति, सु, सुरभि इनसे पर गन्ध शब्द को समासान्त इकारादेश होता है। गन्ध शब्द को इत्व विधान में एकदेश के समान अविभाग से लक्ष्यमाण रहते। दूकानके एक कोने में गन्धक नामद्रव्य रक्खा है वहां सुगन्धः ही होगा, इत्व नहीं।

८७७ अल्पाख्यायाम् ५।४।१३६।

सूपस्य गन्धः=लेशो यस्मिन् तत् सूपगन्धि भोजनम्। घृतगन्धि। गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः" इति विश्वः।

अल्पार्थ बोधन में गन्धशब्दान्त बहुव्रीहि को इकार समासान्त होता है। अनेकार्थक गन्ध शब्द विश्वकोशकारके कथन से है। गन्धक, आमोद, लेश, सम्बन्ध एवं गर्व।

८७८ उपमानाच्च ५।४।१३७।

पद्मस्येव गन्धोऽस्य पद्मगन्धिः।

उपमानवाचक गन्धशब्दान्त बहुव्रीहि से इकारादेश समासान्त होता है। यहां उदाहरण में कमलार्थ पद्म शब्द सदृशार्थक है। व्यधिकरण बहुव्रीहि का यह उदाहरण है।

८७९ पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः ५।४।१३८।

हस्त्यादिवर्जितादुपमानात्परस्य पादशब्दस्य लोपः स्याद् बहुव्रीहौ। स्थानिद्वारेणायं समासान्तः। व्याघ्रस्येव पादौ अस्य व्याघ्रपात्। अहस्त्यादिभ्यः किम्, हस्तिपादः। कुसुलपादः।

बहुव्रीहि समास में हस्त्यादि भिन्न उपमावाचक शब्द से पर स्थित पाद का अन्त्य वर्ण का लोप होता है, यद्यपि लोप अभावस्वरूप या शून्यस्वरूप है वह किसी का अवयव नहीं हो सकता है। उसका समासान्ताधिकार में पाठ अनुपयुक्त है तो भी यहां आदेशरूप लोप में पाद का अकार में समासावयवत्व या उसका आदेश लोप में आरोप कर लोप को भी समासान्त मानना चाहिये। व्यधिकरण बहुव्रीहि में व्याघ्रपाद्। हस्त्यादि उपमान रहने पर लोपाभाव है। यथा—हस्तिपादः।

८८० कुम्भपदीषु च ५।४।१३९।

कुम्भपद्यादिषु पादस्य लोपो ङीप् च निपात्यते स्त्रियाम्। पादः पत्। कुम्भपदी। स्त्रियां किम्, कुम्भपादः।

स्त्रीलिङ्ग में कुम्भपदी इत्यादि में पाद शब्द का अकार का लोप होता है एवं ङीप् भी। पादशब्द की जहां भसंज्ञा वहां पद आदेश होता है 'पादः पद्' सूत्र से। कुम्भस्य (इव) पादौ यस्याः सा कुम्भपदी। पुरुष में कुम्भपादः।

८८१ संख्यासुपूर्वस्य ५।४।१४०।

पादस्य लोपः स्यात् समासान्तो बहुव्रीहौ। द्विपात् सुपात्।

संख्या वाचक शब्द पूर्व में या सु पूर्व में रहते पाद के अन्त्य का लोप होता है। द्वौ पादौ यस्य स द्विपाद्। शोभनौ पादौ यस्य सुपाद्।

८८२ वयसि दन्तस्य दतृ ५।४।१४१।

संख्यासुपूर्वस्य दन्तस्य दतृ इत्यादेशः स्याद् वयसि। द्विदन्। चतुर्दन्। षट् दन्ता अस्य षोडन्। सुदन्, सुदती। वयसि किम्?, द्विदन्तः करी। सुदन्तो नटः।

वय = अवस्था गम्यमान रहे वहां दन्त को दतृ आदेश बहुव्रीहि में होता है। पशुओं में दांत गिन कर वय का निर्णय होता है। द्विदन् वृषभ। द्वौ दन्तौ यस्य स द्विदन्। दतृ में ऋकार की इत्संज्ञा से उगित् मानकर स्त्रीलिङ्ग में उगितश्च से ङीप् यथा सुदती। हाथी आजीवन दो दांतों से युक्त है यहां अवस्था गम्यमान नहीं, अतः दन्त को दतृ न हुआ।

८८३ स्त्रियां संज्ञायाम् ५।४।१४३।

दन्तस्य दतृ स्यात् समासान्तो बहुव्रीहौ। अयोदती। फालदती। संज्ञायां किम्, समदन्ती।

संज्ञा में दन्त को दतृ आदेश बहुव्रीहि में होता है। अयोदती फालदती संज्ञा है। समान दांत वाली में समदन्ती। नासिकोदर से ङीष्।

८८४ विभाषा श्यावारोकाभ्याम् ५।४।१४४।

दन्तस्य दतृ स्याद् बहुव्रीहौ। श्यावदन्। श्यावदन्तः। अरोकदन्। अरोकदन्तः।

कपिश वर्ण को श्याव कहते है। छिद्र रहित को अरोक कहते है। बहुव्रीहि में श्याव एवं अरोक के बाद का दन्त को दतृ आदेश होता है विकल्प से।

८८५ अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च ५।४।१४५।

एभ्यो दन्तस्य दतृ वा। कुड्मलाग्रदन्। कुड्मलाग्रदन्तः।

अग्रान्त, शुद्ध, शुभ्र, वृष एवं वराह से पर दन्त को विकल्प दतृ आदेश होता है पुष्प की कलियों के अग्रभाग समान दांत वाला अर्थ में कुड्मलाग्रदन्।

८८६ ककुदस्यावस्थायां लोपः ५।४।१४६।

अजातककुत्। पूर्णककुत्।

अवस्था गम्यमान होने पर ककुद शब्द के अन्त्य अल् का लोप होता। बाल्यावस्था यहां अजात ककुद यस्य अजातककुत् से गम्यमान है। युवावस्था पूर्णककुद् से गम्यमान है।

८८७ त्रिककुत्पर्वते ५।४।१४७।

त्रीणि ककुदानि अस्य त्रिककुत्। संज्ञैषा पर्वतविशेषस्य। त्रिककुदोऽन्यः।

पर्वत विशेष की संज्ञा में त्रिशब्दोत्तर ककुद का अन्त्य अकार का लोप होता है।

८८८ उद्विभ्यां काकुदस्य ५।४।१४८।

लोपः स्यात्। उत्काकुत् विकाकुत्। काकुदम् = तालु।

बहुव्रीहि में उत् एवं वि से पर काकुद का अन्त्यलोप होता है। मुखावयवस्थानविशेष को यहां काकुद तालु को कहता है।

८८९ पूर्णाद् विभाषा ५।४।१४९।

पूर्णकाकुद् । पूर्णकाकुदः ।

पूर्ण शब्द से पर काकुद का अन्त्य लोप होता है ।

८९० सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः ५।४।१५०।

सुदुर्भ्याम् हृदयस्य हृद्भावो निपात्यते । सुहृन्=मित्रम् । दुर्हृद्=अमित्रः । अन्यत्र सुहृदयः । दुर्हृदयः ।

मित्र अर्थ में सु से उत्तर हृदय शब्द को हृद् आदेश होता है । एवं अमित्र=शत्रु अर्थ में दुर् के उत्तर हृदय को हृद् आदेश होता है । जहां मित्रता या शत्रुता नहीं उस उदासीन में 'सुहृदयः' यही होता है । एवं दुर्हृदयः ।

८९१ उरः प्रभृतिभ्यः कप् ५।४।१५१।

व्यूढोरस्कः । प्रियसर्पिष्कः । इह पुमान् , अनड्वान् , पयः नौः, लक्ष्मीरिति एकवचनान्तानि पठ्यन्ते । द्विवचनबहुवचनान्तेभ्यस्तु शेषाद् विभाषेति विकल्पेन कप् । द्विपुमान् द्विपुंस्कः । *अर्थान्नञः* अनर्थकम् । नञः किम् । अपार्थम् । अपार्थकम् ।

बहुव्रीहि समास में उरः प्रभृति शब्दों से कप् प्रत्यय विकल्प से होता है । व्यूढम् = विपुलम् उरः = वक्षस्तलम् यस्य असौ व्यूढोरस्कः । प्रियं सर्पिः यस्य प्रियसर्पिष्कः । इस गण में एकवचनान्त जो शब्द पठित हैं उन्हीं को नित्य कप् इससे । अर्थात् द्विवचनादि में विकल्प कप् । नञ्पूर्वक जो अर्थ तदन्त बहुव्रीहि से कप् होता है । अनर्थकम् । अपगतः अर्थः यस्मिन् तत् अपार्थकम् , यह नञ् नहीं अतः कप् न हुआ । न विद्यते अर्थो यस्मिन् वाक्ये तत् अनर्थकम् वाक्यम् यहां इस से कप् हुआ है ।

८९२ इनः स्त्रियाम् ५।४।१५२।

बहुदण्डिका नगरी । अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेनापि तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति । बहुवाग्मिका । स्त्रियां किम् ? बहुदण्डी । बहुदण्डिको ग्रामः ।

इन् प्रत्ययान्त से स्त्रीलिङ्ग में कप् प्रत्यय होता है । बहवो दण्डिनो वर्तन्ते यस्यां नगर्यां सा नगरी बहुदण्डिका । अर्थवान् या अनर्थक अन् इन् अस् मन् रहे वहां तदन्तविधि द्वारा अन्नन्त इनन्त असन्त मनन्त का ग्रहण करना चाहिए । अर्थात् 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' परिभाषा यहां अनित्यत्व के कारण नहीं प्रवृत्त होती । अनित्य में प्रमाण 'इनः षोध्वम्' सूत्र में अग्रहण है । प्रत्यय अर्थवान् उसका अंश=अवयव अनर्थक है । यथा वाच् से ग्मिनि प्रत्यय का इन् निरर्थक है । सुन्दर प्रवचन अधिक करने वाले पुरुष युक्ता नगरी बहुवाग्मिका । पुंलिङ्ग में यथा बहवो दण्डिनो यस्मिन् ग्रामे बहुदण्डी यहां कप् नित्य न हुआ, विकल्प से हुआ है ।

८९३ शेषाद् विभाषा ५।४।१५४ ।

अनुक्तसमासान्ताच्छेषाधिकारस्थाद् बहुव्रीहेर्वा कप् स्यात् । महायशस्कः । महायशाः । अनुक्तेत्यादि किम् , व्याघ्रपात् । सुगन्धिः । प्रियपथः । शेषाधिकारस्थात् किम् , उपबहवः । उत्तरपूर्वा । सुपुत्रः । तन्त्रादिना शेषशब्दोऽर्थद्वयपरः ।

जहाँ समासान्त न कहा गया हो एवं शेषाधिकार में विद्यमान रहे वहाँ बहुव्रीहि के उत्तर कप् प्रत्यय समासान्त विकल्प से होता है। यथा महद् यशो यस्य सः महायशस्कः। महायशाः। व्याघ्रपात् में लोपरूप समासान्त उक्त है। सुगन्धि में इकारादेशरूप समासान्तविहित है। प्रियपथः में 'ऋक्पूः' से अप् प्रत्ययविहित है। इन सब में अनुक्त नहीं अतः विकल्प से इसमें कप् न हुआ। 'उपदश, में 'संख्ययाऽव्यया' से समास है। वह शेषाधिकारस्थ नहीं है। उत्तरपूर्वा में दिङ्नामान्यन्तराले समास है। सपुत्र में 'तेन सह' से समास है। शेषो बहुव्रीहिः शेष का अधिकार 'संख्यया' आदि में नहीं है। शेष का अनेकमन्यपदार्थे में ही सम्बन्ध है। अन्यत्र उसकी निवृत्ति है। यहाँ अनुक्त एवं शेषाधिकार दो अर्थ तन्त्र या आवृत्ति से है। सकृदुच्चरितन्याय से एक शब्द से एक ही अर्थ का एक काल में बोध होता है अतः यहाँ आवृत्ति का आश्रयण करना वस्तुतः अनुक्तार्थक शेष की आवश्यकता यहाँ नहीं है तत् तत् समासान्त अपने अपने विषय में कप् का बाध करेंगे अतः अवशिष्ट में ही यह कप् होगा, शेष की आवृत्ति के बिना ही यह शेष शब्द शेषाधिकार परक होगा।

८९४ आपोऽन्यतरस्याम् ७।४।१५।

कप्याबन्तस्य ह्रस्वो वा स्यात्। बहुमालकः। बहुमालाकः। कबभावे बहुमालः।

कप् प्रत्यय पर रहते आबन्त का ह्रस्व विकल्प से होता है। ह्रस्व [illegible] कप् पक्ष में बहुमालाकः। ह्रस्वाभाव में बहुमालकः। कप् के अभाव में बहुमालः। दो विकल्प में तीन रूप है।

८९५ न संज्ञायाम् ५।४।१५५।

शेषादिति प्राप्तः कप् न स्यात् संज्ञायाम्। विश्वे देवा अस्य विश्वेदेवः।

संज्ञा में 'शेषात्' से प्राप्त कप् नहीं होता है। समास में एकार निपातन है।

८९६ ईयसश्च ५।४।१५६।

ईयसन्तोत्तरपदात् न कप्। बह्वः श्रेयांसोऽस्य बहुश्रेयान्। गोः स्त्रियोरिति ह्रस्वत्वे प्राप्ते ॐईयसो बहुव्रीहेर्नेति वाच्यम्ॐ। बह्व्यः श्रेयस्योऽस्य बहुश्रेयसी। बहुव्रीहेः किम्, अतिश्रेयसिः।

ईयसन्तोत्तरपदक बहुव्रीहि से कप् नहीं होता है। अर्थात् ईयस है उत्तर पद में जिसको ऐसा उत्तर पद युक्त बहुव्रीहि से कप् नहीं होता है। प्रशस्य से ईयसुन् प्रशस्य को श्र आदेश प्रकृतिभाव, गुण से श्रेयस् के बहुवचन में स्त्रीलिङ्ग में श्रेयस्यः। ईयसुन् उगित् है स्त्रीलिङ्ग में ङीप्। बहुश्रेयसी में 'गोस्त्रियो' सूत्र से ह्रस्व प्राप्त था किन्तु ईयसन्त बहुव्रीहि में ह्रस्व नहीं होता है। बहुश्रेयसी। श्रेयसीम् अतिक्रान्तः या स्त्री द्वितीया तत्पुरुष में ह्रस्व होता है। यथा—अतिश्रेयसिः।

८९७ वन्दिते भ्रातुः ५।४।१५७।

पूजितेऽर्थे यो भ्रातृशब्दस्तदन्तात् कप् न स्यात्। प्रशस्तो भ्राता यस्य प्रशस्तभ्राता। न पूजनादिति निषेधस्तु बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णो' प्रागेव वक्ष्यते। वन्दिते किम्?, मूर्खभ्रातृकः।

पूजित अर्थ में जो भ्रातृ शब्द वह है उत्तरपद में जिसको ऐसे बहुव्रीहि से कप् प्रत्यय नहीं होता है। प्रशस्तभ्राता यहां कप् न हुआ। मूर्खभ्रातृकः यहां कप् हुआ।

८९८ नाडीतन्त्र्योः स्वाङ्गे ५।४।१५९।

स्वाङ्गे यौ नाडीतन्त्रीशब्दौ तदन्तात् कप् न स्यात्। बहुनाडिः कायः। बहुतन्त्री ग्रीवा। तन्त्री=धमनी। ङीप्रत्ययान्तत्वाभावाद् ह्रस्वो न। स्वाङ्गे किम्? बहुनाडीकः स्तम्भः। बहुतन्त्रीका वीणा।

स्वाङ्ग वाचक नाडी एवं तन्त्री वे है उत्तरपद में जिसको ऐसे बहुव्रीहि से कप् प्रत्यय समासान्त नहीं होता है। बहुनाडिः में 'गोः स्त्रियोः' से उपसर्जन ह्रस्व है। तन्त्री में ईप्रत्यय 'स्त्रियाम्' के अधिकार में विहित नहीं है। अतः ह्रस्व न हुआ, स्वाङ्गवाचक न होने से कप् होता है, यथा— स्तम्भ एवं वीणा अर्थ में।

८९९ निष्प्रवाणिश्च ५।४।१६०।

कबभावोऽत्र निपात्यते। प्रपूर्वाद् वयतेर्ल्युट्। प्रवाणी = तन्तुवायशलाका। निर्गता प्रवाण्यस्य निष्प्रवाणिः पटः। समाप्तवान्=नव इत्यर्थः।

निष्प्रवाणि में कप् का अभाव निपातन से होता है। प्रपूर्व वेञ् तन्तुसन्ताने से ल्युट् प्रत्ययान्त प्रवाणी है। जुलाहा की बीननेकी शलाका को प्रवाणी कहते हैं। नवीन पट को निष्प्रवाणि कहते हैं यहां उपसर्जन ह्रस्व है,

९०० सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ २।२।३५।

सप्तम्यन्तं विशेषणं बहुव्रीहौ पूर्वं प्रयोज्यम्। कण्ठेकालः। अत एव ज्ञापनाद् व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः। चित्रगुः। *सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानम्* सर्वश्वेतः। द्विशुक्लः। *मिथोऽनयोः समासे संख्यापूर्वम्, शब्दपरविप्रतिषेधात्* द्व्यन्यः। *संख्याया अल्पीयस्याः* द्वित्राः। द्वन्द्वेऽपि द्वादश। *वा प्रियस्य* प्रियगुडः। गुडप्रियः। *गड्वादेः परा सप्तमी* गडुकण्ठः। *क्वचिन्न* बहेगडुः।

बहुव्रीहि समास में सप्तम्यन्त पद एवं विशेषण वाचक पद का पूर्वनिपात करना चाहिये। यथा कण्ठे कालः=सदाशिव भगवान् शङ्कर आशुतोष हैं। समुद्रमथन से उत्पन्न हालाहल विष का पान करने से गले में नीलिमा हो गई इस लिए उनका नाम शितिकण्ठ, नीलकण्ठ हुआ है। इस सूत्रारम्भ से ज्ञापन होता है कि अप्रथमान्त का भी व्यधिकरण बहुव्रीहि होता है। यथा कण्ठे सप्तम्यन्त का प्रथमान्त काल का यहां समास कर 'हलदन्तात्' से सप्तमी का अलुक् हुआ है। चित्राः गावो यस्य 'चित्रगुः' 'गोःस्त्रियोः' से ह्रस्व हुआ है। सर्वनाम एवं संख्या का भी पूर्वनिपात होता है। सर्वश्वेतः। द्विशुक्लः। सर्वनाम एवं संख्यावाचक के समास में शब्दकृत परत्व के कारण संख्यावाचक का ही पूर्वनिपात होता है। सूत्रकृत परत्व के कारण विप्रतिषेध' ऐसे लगता है वैसा ही [illegible] शब्द कृतपरत्व को लेकर भी परशब्द हो [illegible] बोधन होती है। यथा द्व्यन्यः। दोनों संख्यावाचक समासान्तर्गत रहें वहां [illegible] [illegible] संख्यावाचक का ही पूर्वनिपात होता है। यथा द्वौ च त्रयश्च इति द्वित्राः, यहां [illegible] में बहुव्रीहि है, बहुव्रीहि में [illegible], अतः [illegible] न हुआ, द्वन्द्व में भी अल्पतर बोधक संख्यावाचक का पूर्वनिपात होता है, यथा द्वादश। प्रिय में

विकल्प करके पूर्वनिपात बहुव्रीहि में होता है। प्रियगुड । गुडप्रिय । गड्डु कण्ठे यस्य यहां गड्डु आदि में सप्तम्यन्त का परनिपात होता है। गड्डुकण्ठ । क्वचित् नहीं भी होता है—वहेगुड्डु ।

९०१ निष्ठा २।२।३६।

निष्ठान्त बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् । कृतकृत्य । *जातिकालसुखादिभ्य परा निष्ठा वाच्या* सारङ्गजग्धी । मासजाता । सुखजाता । प्रायिक चेदम् । कृतकट । पीतोदक ।

बहुव्रीहि समास में निष्ठा प्रत्ययान्त पद का पूर्वनिपात होता है। कृत कृत्य येन इति कृत कृत्य ।*जाति वाचक, कालवाचक एव सुख आदि शब्द जहां समास घटक रहे वहां निष्ठा प्रत्ययान्त पद का परनिपात होता है। यथा जग्ध सारङ्ग यथा सारङ्गजग्धी ।

मासजाता । सुखजाता । क्वचित् यह वार्तिक नहीं लगता है। कृत कट येन स यहां निष्ठान्तपद का ही पूर्वनिपात हुआ है, आहिताग्निस्थ की कल्पना से। सकर्मक कृधातु से कर्म की अविवक्षा कर भाव में क्तिन् तत अर्श आदिभ्य से अच्प्रत्यय है, करणम् कृति सा अस्ति अस्य इति कृत । पीतम् उदकम् येन स । यहां पानम् पीति सा अस्य अर्थ में पा धातु से भावार्थक क्तिन् कर अर्श आदिभ्य से अच प्रत्यय है। पान क्रिया युक्त अर्थ हुआ। अन्यथा पा धातु सकर्मक है कर्म में क्तप्रत्यय से उदक कम उक्त है एव पीतपदार्थ उदकार्थ में सापेक्ष है सापेक्ष स्थल में सामर्थ्य नहीं। समासाभाव होगा। पीतोदक ।

९०२ वाहिताग्न्यादिषु २।२।३७।

आहिताग्नि । अभ्याहित । आकृतिगणोऽयम् । *प्रहरादिभ्य परे निष्ठासप्तम्यौ* । अस्युद्यत । दण्डपाणि । क्वचिन्न विवृतासि ।

इति बहुव्रीहि ।

आहिताग्नि आदि में विकल्प से पूर्व निपात होता है। यह आकृति गण है। *प्रहरणार्थक के उत्तर निष्ठान्त एव सप्तम्यन्त का प्रयोग होता है। यथा उद्यता असि येन उद्यतासि अस्युद्यत । दण्ड पाणौ यस्य दण्डपाणि । क्वचित् नहीं भी होता है। विवृतासि ।

प० श्रीवा० कृ० पञ्चोक्तिकृतरत्नप्रभामें बहुव्रीहि प्रकरण समाप्त



अथ द्वन्द्वसमासप्रकरणम् ॥ १८ ॥

९०३ चार्थे द्वन्द्वः २।२।२९।

अनेकं सुबन्तं चार्थे वर्तमानं वा समस्यते स द्वन्द्वः । समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः । परस्परनिरपेक्षस्यानेकस्य एकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः । अन्यतरस्यानुषङ्गिकत्वेऽन्वाचयः । मिलितानामन्वय इतरेतरयोगः । समूहः=समाहारः । तत्र ईश्वरञ्च गुरुञ्च भजस्वेति समुच्चये, भिक्षामट गाञ्चानयेत्यन्वाचये च न समासोऽसामर्थ्यात् । धवखदिरौ । संज्ञापरिभाषम् । अनेकोक्तेर्होतृपोतृनेष्टोद्गातारः । द्वयोर्द्वयोर्द्वन्द्वं कृत्वा पुनर्द्वन्द्वे तु होतापोतानेष्टोद्गातारः ।

चार्थ में विद्यमान अनेक सुबन्त का समास होता है । एवं इस समाससंज्ञक की द्वन्द्व संज्ञा भी होती है । चार्थ चार है—१–समुच्चय, २–अन्वाचय, ३–इतरेतरयोग, ४–समाहार । १ परस्पर-अपेक्षा न रखने वाले पदों के अर्थों का एक में सम्बन्ध को समुच्चय कहते हैं । दो पदार्थों में एक का प्राधान्य अन्य का अप्राधान्य को अन्वाचय कहते हैं । मुख्यप्रवृत्तिम् उद्दिश्य प्रवृत्तस्य पुरुषस्य अन्यार्थलाभः = अन्वाचयः । एकार्थीभाव रूप सामर्थ्य के अभाव से समुच्चय एवं अन्वाचय में समास नहीं होता है । परस्परमिलित पदार्थ बोधक को इतरेतरयोग कहते हैं । अनेक पदार्थों का समुदाय को समाहार कहते हैं ।

यथा ईश्वर एवं गुरु की सेवा करो यहां ईश्वरार्थ एवं गुरु का अर्थ दोनों अर्थों का परस्पर सम्बन्ध नहीं है किन्तु इन दोनों अर्थों का साक्षात् भजन क्रिया में ही सम्बन्ध है, यथा ईश्वरं च गुरुं च भजस्व यहां समुच्चय में सामर्थ्य नहीं, समास न हुआ, वाक्य ही रहा । प्रवृत्ति का मुख्य उद्देश्य भिक्षा है, यदि मिले तो गाय को भी लेते आना यहां गाय का आनयन अप्रधान है, यथा भिक्षाम् अट, गाञ्चानय । यहां भी समासाभाव असामर्थ्य से है । इतरेतरयोग का उदाहरण—धवश्च खदिरश्च धवखदिरौ यहां समुदित धवखदिर का छेदनादि क्रिया में कर्मत्व सम्बन्ध से अन्वय है, सहविवक्षा है, द्वन्द्व हुआ । पृथक् ज्ञात पदार्थों का परस्पर अन्वय को सहविवक्षा कहते हैं, सह विवक्षा साहित्य रूप है । साहित्य उसको कहते हैं कि—एक धर्म युक्त कारक सम्बन्ध से एक पदार्थ में अन्वय को । यथा प्रकृत में धवखदिर समुदाय का कर्मत्व रूप एक सम्बन्ध से छेदन रूप अध्याहृत एक क्रिया में अन्वय है । संस्कृत में यह स्वरूप है -"एकधर्मावच्छिन्नस्य एकधर्मावच्छिन्नसम्बन्धेन एकधर्मावच्छिन्नेऽन्वयः = सामर्थ्यम् । सहविवक्षा पदार्थ = पृथक्ज्ञातयोः पदार्थयोः परस्परम् अन्वयः । इतर शब्द अन्यार्थक है, दूसरे इतर का भी अन्यार्थ है । योग का अर्थ है सम्बन्धः मिलकर अर्थ परस्पर सम्बन्ध वाच्यार्थ है, इतरेतर योग द्वन्द्व में अवयव गत संख्या द्वित्व एवं बहुत्वादि उद्भूत होती है तदर्थक संख्या वाचक विभक्ति द्वन्द्व समासोत्तर आती है ।

यथा धवगत एकत्व खदिरगत एकत्व यह दोनों एकत्व मिलकर द्वित्व संख्या के उत्पादक हुए, अतः धवखदिर का द्वन्द्व के बाद औ विभक्ति द्वित्वार्थक आई है । समाहार द्वन्द्व का

उदाहरण — यथा संज्ञा च परिभाषा च एतयोः समाहारः = समूह इति संज्ञापरिभाषम्। समाहार द्वन्द्व में समस्यमान पदार्थगत संख्या तिरोहित होती है। एवं उन वस्तुओं का समुदाय उस समुदाय एक होने से एक वचन ही आता है यहां अनुद्भूतावयवार्थगत संख्या है। एवं समाहार द्वन्द्व में 'स नपुंसकम्' से नपुंसकत्व रहता है। यथा संज्ञापरिभाषा का समुदाय = संज्ञापरिभाषम्। कुछ विशेष बाधक स्थलोंको छोड़कर सर्वत्र इतरेतर योग विवक्षा, या समाहार द्वन्द्व विवक्षा, या उभय विवक्षा होती है। अपवाद इतरेतर योग के पश्चात् बताये जायेंगे।

चार्थे द्वन्द्व' में 'अनेकम्' की अनुवृत्ति में दो सुबन्त तीन सुबन्त या इनसे भी अधिक सुबन्तों का द्वन्द्व होता है, यथा होता च पोता च नेष्टा च उद्गाता च इति यहां इतरेतरयोग द्वन्द्व से होतृपोतृनेष्टोद्गातारः। यहां उद्गातृ उत्तर पद से पूर्व नेष्ट को 'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' से आनङ् आदेश ऋकार को होकर नकार का लोप हुआ है 'नेष्टोद्गातारः' में। आनङ् ऋतो द्वन्द्वे में पूर्वपद यौगिकार्थ मात्र बोधक है रूढ नहीं है। एवं यहां उत्तरपद से पूर्वपद सन्निहितार्थ का आक्षेप भी नहीं है। केवल पूर्वपद = पूर्वस्थ उत्तर पदस्थ देखा चाहिये। इस परिस्थिति में पूर्वोक्त चार में दो दो का द्वन्द्व करने पर पूर्व तीन पदों के ऋकार का आनङ् आदेश होता ही है यथा होता च पोता च इति यहां द्वन्द्व समास विभक्तिका लुक् होतृ के ऋकार को आनङ् (आन्) हुआ है—

होतापोतारौ, एवं नेष्टा च उद्गाता च यहां भी द्वन्द्व समास करके विभक्ति लुक से नेष्टृ उद्गातृ भी पूर्व ऋकार को आन् नलोप नेष्टोद्गातारौ, पुनः द्वन्द्व होतापोतारौ च नेष्टोद्गातारौ च होतापोतानेष्टोद्गातारः। यहां अवयवार्थगत बहुत्व संख्या उद्भूत होने से इतरेतरयोग द्वन्द्व के बाद समुदायार्थ बोधक बहुवचन विभक्ति उत्पन्न हुई है।

९०४ राजदन्तादिषु परम् २।२।३१।

एषु पूर्वप्रयोगार्हं परं स्यात्। दन्तानां राजा इति राजदन्तः। ॐधर्मादिष्वनियमः ॐ अर्थधर्मौ। धर्मार्थौ। दम्पती। जम्पतिः। जायापती। जायाशब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च वा निपात्यते। आकृतिगणोऽयम्।

राजदन्तादि शब्दों में जो शब्द पूर्वप्रयोग के योग्य हो उसका परनिपात होता है। यथा षष्ठीतत्पुरुष में षष्ठ्यन्त की उपसर्जन संज्ञा होकर पूर्वनिपात प्राप्त था इसने परनिपात किया दन्तानां राजा इति राजदन्तः। धर्मादि शब्द विषय में पूर्वनिपात या परनिपात का कोई नियम नहीं है। यथा—अर्थश्च धर्मश्चेति अर्थधर्मौ, धर्मार्थौ। जाया च पतिश्च यहां द्वन्द्व कर जाया के स्थान में जम् आदेश विकल्प से होता है जहां वे नहीं होंगे वहां जाया रहता है यथा दम्पती। जम्पती। जायापती। राजदन्तादि आकृतिगण है।

९०५ द्वन्द्वे घि २।२।३२।

द्वन्द्वे घिसंज्ञं पूर्वं स्यात्। हरिश्च हरश्च हरिहरौ। ॐ अनेकप्राप्तावेकत्र नियमोऽनियमश्च शेषे ॐ। हरिगुरुहराः। हरिहरगुरवः।

द्वन्द्व समास में घिसंज्ञक का पूर्वनिपात होता है। हरिशब्दघिसंज्ञक है। जहां अनेक का निपात प्राप्त रहे वहां एक में नियम अन्यत्र यथेच्छ प्रयोग होता है। हरि एवं गुरु दोनों घि क हैं, यहां जब हरिका पूर्व निपात तब गुरु का नहीं। जब गुरु का तो हरि का नहीं, पूर्वोनिपातित पद को छोड़कर बाकी में यथेच्छ प्रयोग यथा—हरिगुरुहराः। हरिहरगुरवः। यह इसमें अनियम है।

९०६ अजाद्यदन्तम् २।२।३३।

इदं द्वन्द्वे पूर्वं स्यात्। ईशकृष्णौ। बहुष्वनियमः। अश्वरथेन्द्राः। इन्द्राश्वरथाः। ❀ घ्यन्तादजाद्यन्तं विप्रतिषेधेन❀। इन्द्राग्नी।

द्वन्द्व समास में अजादिरूप अदन्त का पूर्वनिपात होता है। ईशकृष्णौ। अनेक अजादिरूप अदन्त का युगपद् द्वन्द्वसमास में यह नियम नहीं है। यथा अश्वरथेन्द्राः। इन्द्राश्वरथाः। जिस स्थल में घि संज्ञक रहे एवं अजादिरूप अदन्त रहे वहाँ 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' से अजाद्यन्तम् से परत्व के कारण अजादि रूप अदन्त का ही पूर्व निपात होता है' यथा इन्द्रश्च अग्निश्च इन्द्राग्नी।

९०७ अल्पाच्तरम् २।२।३४।

शिवकेशवौ। ❀ऋतुनक्षत्राणां समानाक्षराणामानुपूर्व्येण❀। हेमन्तशिशिरवसन्ताः। कृत्तिकारोहिण्यौ। समानाक्षराणां किम्? ग्रीष्मवसन्तौ। ❀लघ्वक्षरं पूर्वम्❀। कुशकाशम्। अभ्यर्हितञ्च❀। तापसपर्वतौ। ❀वर्णानामानुपूर्व्येण❀। ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः। ❀भ्रातुर्ज्यायसः❀। युधिष्ठिरार्जुनौ।

द्वन्द्व समास में अल्प अच् युक्त का पूर्वनिपात होता है। शिवश्च केशवश्च शिवकेशवौ। समानाक्षर युक्त जो ऋतुवाचकशब्द एवं नक्षत्र वाचक शब्द उनका उत्पत्तिक्रमानुसार पूर्वनिपात होता है। अर्थात् ऋतुओं में प्रादुर्भाव क्रम एवं नक्षत्रों में उदयक्रमतः पूर्वनिपात में कारण है। प्रथम हेमन्त द्वितीय शिशिर तृतीय वसन्त इसका द्वन्द्व में 'हेमन्तशिशिरवसन्ताः' हुआ है। कृत्तिका के बाद रोहिणी का उदय होता है कृत्तिकारोहिण्यौ। समान अक्षर = अच् नहीं वहां इस नियम नहीं है। वहां अल्पाच् का ही पूर्वनिपात होता है। यथा ग्रीष्मवसन्तौ। यहां वसन्त का प्रादुर्भाव पूर्व में होते हुए तीन अच् युक्त है, अतः परनिपात ग्रीष्मापेक्षया हुआ है। द्वन्द्व में लघुअक्षरयुक्त का पूर्वनिपात होता है कुश का काश की अपेक्षा पूर्वप्रयोग से कुशकाशम्। द्वन्द्व में पूज्य का पूर्वनिपात है। यथा तापसपर्वतौ। यहां पर्वत लघु अक्षर युक्त है किन्तु पूज्य नहीं अतः परनिपात इसका हुआ है। चारवर्ण हैं उनमें उत्पत्ति क्रम से पूर्वनिपात होता है। यहां वर्णपद से ब्राह्मणादि का ग्रहण होता है। यथा ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः। द्वन्द्व में भ्राताओं के मध्य में ज्येष्ठ का पूर्वनिपात होता है। युधिष्ठिरार्जुनौ। युधि तिष्ठतीति युधिष्ठिरः, यहां सप्तमी समास एवं सप्तमी का अलुक् एवं स्थिर का सकार का षकार एवं ष्टुत्व है, 'हलदन्तात्' से अलुक्। गवि-युधिभ्यां स्थिरः से षत्व है।

९०८ द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् २।४।२।

एषां द्वन्द्व एकवत् स्यात्। पाणिपादम्। मार्दङ्गिकवैणविकम्। रथिकाश्वारोहम्। समाहारस्यैकत्वादेकत्वे सिद्धे नियमार्थं प्रकरणम्। प्राण्यङ्गादीनां समाहार एव यथा स्यात्।

सूत्र में द्वन्द्वसमास का अङ्ग से अङ्ग का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है। अङ्ग का अर्थ अवयव है। द्वन्द्व समास में प्राणी के अङ्गवाचक का तूर्याङ्ग का एवं सेनाङ्ग का समाहार भाव अर्थात् एक वचन ही होता है यथा पाणी दो हैं पाद दो हैं [illegible] से पाणिपादम् ही हुआ। मृदङ्ग बजाने का शिल्पयुक्त एवं वेणुनिर्मित वंशी के बजानेवाला अर्थ में मार्दङ्गिकश्च वैणविकश्च मार्दङ्गिकवैणविकम्। रथ से भ्रमण करनेवाला एवं अश्वारोही इनके वाचक का द्वन्द्व

रथिकाश्वारोहम्। समाहार द्वन्द्व से समूह एक होने से एकवचन सिद्ध ही था यह सूत्र नियमार्थ है — प्राण्यङ्ग तूर्य के अङ्ग एवं सेनाङ्ग का समाहार द्वन्द्व ही होता है। वैकल्पिक इतरेतरयोग द्वन्द्व जो प्राप्त था वह इनका कथमपि नहीं होता है। समाहार में नपुंसकत्व एकवचनत्व ही रहता सदा है।

९०९ अनुवादे चरणानाम् २।४।३।

चरणानां द्वन्द्व एकवत् स्यात् सिद्धस्योपन्यासे। *स्थेणोर्लुङिति वक्तव्यम्*। उदगात् कठकलापम्। प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम्।

सिद्ध का कथन होने पर चरणवाचक शब्दों का द्वन्द्व एकवत् होता है। लुङन्त स्था धातु तथा लुङन्त इण् धातु के प्रयोग में ही। शाखा के अध्येता का वाचक को चरण कहते हैं। छात्रावस्था में परस्पर वार्तालाप प्रसङ्ग का स्मरण दिलाना है कि कठों के प्रतिष्ठित होने पर एवं कलापों का उदय होने पर हम दोनों को वहां जाना चाहिए वह काल उपस्थित हो गया था, अतः तुम इस बात को भूल गये हो यह अपने सहयोगी सहपाठी को कह रहा है। कठप्रोक्त शाखा के अध्ययन करने वालों को भी कठा' कहा जाता है यहां वैशम्पायन छात्र होने से णिनिप्रत्यय हुआ उसका'कठचरणात्' से लुक् हुआ है। अध्येता अर्थ का अण् का प्रोक्ताल्लुक् से लुक् हुआ है। कलापिन् से अण् 'नान्तस्य टिलोपे 'सब्रह्मचारि' वा० से टिलोपाभाव है।

९१० अध्वर्युक्रतुरनपुंसकस्य २।४।४।

यजुर्वेदे विहितो यः क्रतुस्तद्वाचिनामनपुंसकलिङ्गानां द्वन्द्व एकवत् स्यात्। अर्काश्वमेधम्। अध्वर्युक्रतुः किम्, इषुवज्रौ सामवेदे विहितौ। अनपुंसकं किम्, राजसूयवाजपेये। अर्धर्चादि।

यजुर्वेद में विहित जो क्रतु तद्वाचक अनपुंसकलिङ्ग का द्वन्द्व एकवत् होता है। उदाहरण स्पष्ट है।

९११ अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम् २।४।५।

अध्ययनेन प्रत्यासन्ना आख्या येषां तेषां द्वन्द्व एकवत्। पदकक्रमकम्।

अध्ययनकृत सामीप्य जिनका हो उनका द्वन्द्व एकवत् होता है। पदों का अध्ययन करनेवाले को 'पदक' कहते हैं, यहां क्रमादिभ्यो वुन् से वुन्प्रत्यय है। क्रम के अध्येता को क्रमक कहते हैं यहां भी वुन्प्रत्यय है। यहां पद एवं क्रम का सामीप्य है।

९१२ जातिरप्राणिनाम् २।४।६।

प्राणिवर्जजातिवाचकानां द्वन्द्व एकवत्। धानाशष्कुलि। प्राणिनान्तु विट्शूद्राः। द्रव्यजातीयानामेव। नेह—रूपरसौ। गमनाकुञ्चने। जातिप्राधान्ये एवायम् एकवद्भावः। द्रव्यविशेषविवक्षायान्तु बदरामलकानि।

प्राणिभिन्न जातिवाचक शब्दों का द्वन्द्व में एकवत् होता है। धानाश्च शष्कुल्यश्च धानाशष्कुलि। प्राणी का एकवद् भाव नहीं विट्शूद्राः। द्रव्यवृत्तिजातिवाचक का ही इससे एकवद्भाव होता है, गुणवृत्ति जातिवाचक का नहीं। यथा रूपरसौ। क्रियावाचक में एकवद् भाव नहीं होता है। गमनाकुञ्चने। जाति का प्राधान्य में एकवद्भाव, व्यक्ति के प्राधान्य में एकवद्भाव का अभाव है यथा

इमानि एव बदरामलकानि मह्यं रोचयन्ते यहां यही बेर यही आंवले मुझे रुचिकर हैं यहां व्यक्ति का ही प्राधान्य है। जाति का नहीं। जाति वाच्यवयव में भी जाति का आरोप है। अप्राणिनाम्-पर्युदास से नञिवयुक्तन्याय से द्रव्यजातीय का लाभ है, अन्यथा जातिग्रहण ही व्यर्थ है, यह अर्थ पर्युदास से ही लाभ होता।

९१३ विशिष्टलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामाः २।४।७।

ग्रामवर्जनदीदेशवाचिनां भिन्नलिङ्गानां समाहारे द्वन्द्व एकवत् स्यात्। उद्ध्यश्च इरावती च, उद्ध्येरावति। गङ्गा च शोणश्च गङ्गाशोणम्। कुरवश्च कुरुक्षेत्रञ्च कुरुकुरुक्षेत्रम्। भिन्नलिङ्गानां किम्, गङ्गायमुने। मद्रकेकयाः। अग्रामाः किम्, जाम्बवं नगरम्। शाल्कूकिनी ग्रामः। जाम्बवशाल्कूकिन्यौ।

ग्रामभिन्न भिन्नलिङ्ग नदी एवं देशवाचक का द्वन्द्व एकवत् होता है। नद का भी नदी से ग्रहण है उद्ध्य नद है। शोण भी नद है। उद्ध्यश्च इरावती च उद्ध्येरावति। देशवाचक का कुरवश्च कुरुक्षेत्रञ्च कुरुकुरुक्षेत्रम्। एकलिङ्गक का इतरेतरयोग—गङ्गायमुने। मद्रकेकयाः। ग्रामवाचक का भी इतरेतरयोग ही होता है, यथा—जाम्बवशाल्कूकिन्यौ।

९१४ क्षुद्रजन्तवः २।४।८।

एषां समाहारे द्वन्द्व एकवत् स्यात्। यूकालिक्षम्। आनकुलात् क्षुद्रजन्तवः।

क्षुद्रजन्तु वाचक शब्दों का द्वन्द्व में एकवद् भाव ही होता है। जिनको हड्डी नहीं या आकृति में अतिक्षुद्र हो उसमें ही इसकी प्रवृत्ति है। कोई नकुलतक क्षुद्रजन्तु माने गये हैं ऐसा कहते हैं।

९१५ येषां च विरोधः शाश्वतिकः २।४।९।

एषां प्राग्वत्। अहिनकुलम्। गोव्याघ्रम्। काकोलूकम् इत्यादौ परत्वाद् विभाषा वृक्षमृगेति प्राप्तं चकारेण बाध्यते।

जिन जन्तुओं का विरोध परस्पर स्वाभाविक है उनका द्वन्द्व एकवत् होता है। अहयश्च नकुलाश्च अहिनकुलम्। गावश्च व्याघ्राश्च गोव्याघ्रम्। काकाश्च उलूकाश्च काकोलूकम्। यहां इसको बाधकर परत्व के कारण 'विभाषा वृक्षमृग' प्राप्त था किन्तु यहां 'च' यह पृथक् सूत्र है इसमें इसके सभी अंशों की अनुवृत्ति है दो अंश समानार्थक है यहां 'च' सूत्र 'येषाम्' का बाधक जो 'विभाषा' उसको बाध करता है, अर्थात् च सूत्र बाधक बाधनार्थ ही है।

९१६ शूद्राणामनिरवसितानाम् २।४।१०।

अबहिष्कृतानां शूद्राणां प्राग्वत्। तक्षायस्कारम्। पात्राद् बहिष्कृतानान्तु चाण्डालमृतपाः।

पात्र से जो बहिष्कृत नहीं हैं ऐसे शूद्रजातिवाचक शब्दों का द्वन्द्व एकवत् होता है। बढ़ई एवं लुहार इनसे पात्र अबहिष्कृत हैं इन तक्ष एवं अयस्कार का द्वन्द्व एकवत् हुआ। एवं पात्र से बहिष्कृतों का एकवद् भाव न होकर यहां इतरेतरयोग से द्विवचनादि। जिनके भोजन करने पर थाली आदि धातुओं से निर्मित पात्र भस्मादि से शुद्ध होकर ... हों वह अबहिष्कृत पात्र वाले कहे जाते हैं। 'नरलना गुडये कांस्यम्' इति अन्यत्र एकवद् भाव नहीं होता है।

विमर्श—सम्प्रति मिट्टी के पात्र में अनेक वर्ण एक ही पात्र में भोजनरूप अनाचार जो करते हैं व अपने मान्य ग्रन्थों का अनुशीलन करें। आहार शुद्धि पात्रशुद्धि सत्त्वशुद्धि द्रव्यशुद्धिका प्रभाव मन पर पड़ता है एवं ध्रुवा बुद्धि पर पड़ता है। आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा मति अन्नमय हि सौम्य मन। भारतीय पैर धोकर कौशेयवस्त्र धारणकर पवित्र भूमि में बलि वैश्वदेव पूर्वक भोजन करते हैं वे भारतीय वास्तविक हैं। अन्यथा अनुकरणकर शिष्टाचार को तिलाञ्जलि देकर अपने को आङ्ग्लों के मानस पुत्र बनने का जो क्रम है वह हिन्दुत्व भारतीयत्व आयत्व के विरुद्ध है। जूते पहनकर भोजन में वे लज्जा का अनुभव नहीं करते हैं। अपने पूर्वजों का सदा उपहास में ही सभ्य बनने का दम्भ करते हैं वे नेत्रों को विकसित कर इस सूत्र एव इसका भाष्य को देखें भाई भाई। एक साथ भोजन करने पर भी भयानक द्वेष देखा गया है, अत यह भोजनप्रेम का परिचायक नहीं है समाज में स्थित सभी के साथ बन्धुत्व रक्खो घृणा नहीं। ऊच नीच भाव न रक्खो किन्तु धार्मिक मर्यादा का पालन करना स्वास्थ्य दृष्टि से भी अनुकूल है। अपने यहा मिट्टी से भी प्रेम करना उनके बीलों पर आटे का वितरण लिखा है। घृणास्पद वातावरण अनेक कुटिल राजनीतिज्ञों ने फैलाया है, स्वस्वार्थवश। अपने अपने अधिकार क्षेत्र में ऊच एव नीच का भाव भारत में न था, न है, न रहेगा। यह शास्त्रीय सिद्धान्त है। सभी मानवों में ईश्वर की मूर्ति देखो।

९१७ गवाश्वप्रभृतीनि च २।४।११।

यथोच्चारितानि साधूनि स्यु। गवाश्वम्। दासीदासम् इत्यादि।

गवाश्व प्रभृति शब्द जहा जैसे शिष्टों से उच्चरित है वे वैसे ही रहते हैं। इसमें उन प्रयोग के विरुद्ध शास्त्र प्रवृत्ति का प्रयास नहीं करना चाहिये। यथा गवाश्वम्। दासीदासम्।

९१८ विभाषा वृक्ष-मृग-तृण-धान्य-व्यञ्जन-पशु-शकुन्यश्वबडव-पूर्वापराधरोत्तराणाम् २।४।१२।

वृक्षादीना सप्ताना द्वन्द्व, अश्वबडवेत्यादित्रयश्च प्राग्वद् वा। वृक्षादौ विशेषाणामेव ग्रहणम्। प्लक्षन्यग्रोधम्। प्लक्षन्यग्रोधा। रुरुपृषतम्। रुरुपृषता। कुशकाशम्। कुशकाशा। व्रीहियवम्। व्रीहियवा। दधिघृतम्। दधिघृते। गोमहिषम्। गोमहिषा। शुकबकम्। शुकबका। अश्ववडवम्। अश्ववडवौ। पूर्वापरम्। पूर्वापरे। अधरोत्तरम्। अधरोत्तरे। ❀फलसेनावनस्पतिमृगशकुनिक्षुद्रजन्तुधान्यतृणाना बहुप्रकृतिरेव द्वन्द्व एकवदिति वाच्यम्❀। बदराणि च आमलकानि च बदरामलकम्। जातिरप्राणिनामित्यत्रैकवद्भाव। नेह, बदरामलके। रथिकाश्वारोहौ। प्लक्षन्यग्रोधा। इत्यादि। विभाषा वृक्षेति सूत्रे येऽप्राणिनस्तेषा ग्रहण *जातिरप्राणिनामिति नित्ये प्राप्ते विकल्पार्थम्।* पशुग्रहण हस्त्यश्वादिषु सेनाङ्गत्वान्नित्ये प्राप्ते मृगाणा मृगैरेव, शकुनीना तैरेवो भयत्र द्वन्द्व। अन्येस्तु सहेतरतरयोग एवेति नियमार्थं मृगशकुनिग्रहणम्। एव पूर्वापराधरोत्तरमित्यपि। अश्ववडवग्रहणन्तु पक्षेनपुसकत्वार्थम्। अन्यथा परत्वात् पूर्ववदश्ववडवाविति स्यात्।

वृक्ष, मृग, तृण, धान्य, व्यञ्जन, पशु एवं शकुनि इन सात शब्दों का द्वन्द्व एवं अश्ववडव, पूर्वापर, अधरोत्तर यह तीन का द्वन्द्व विकल्प से एकवत् होता है। शिष्टोक्तव्याख्यान से वृक्ष में विशेष ग्रहण है। वृक्षविशेष वाचक का द्वन्द्व एकवत् होता है। विकल्प से एकबार ने पक्ष में इतरेतर योग में अवयव गत सङ्ख्या प्रयुक्त द्विवचनादि होते हैं।•फल, सेना, वनस्पति, मृग, शकुनि, क्षुद्रजन्तु, धान्य, तृण इन शब्दों के बहुवचन प्रकृतिक द्वन्द्व को एकवत् होता है। यथा बदराणि च आमलकानि च बदरामलकम् यहां 'जातिरप्राणिनाम्' सूत्र से एकवद्भाव हुआ है। द्विवचन में एकवद्भाव नहीं होता है बदरामल के। रथिकाश्वारोहौ यहां द्वन्द्वश्च सूत्र से एकवद्भाव का अभाव है। प्लक्षन्यग्रोधौ में विभाषा से एकवद्भाव का अभाव है यहां अप्राणिवाचक शब्दों का ग्रहण नित्यार्थ है, विकल्प को बाध करके। पशुग्रहण सेनाङ्गत्व के कारण नित्य एकवद्भाव प्राप्त था, यहां नियमार्थ ही है मृगों का मृगों के साथ ही द्वन्द्व एवं एकवद्भाव। एवम् शकुनियों का शकुनियों के साथ द्वन्द्व पूर्वक एकवद्भावार्थ है। अन्यों के साथ इतरेतरयोग द्वन्द्व ही होता है इस नियम के लिए मृग एवं शकुनि का यहां ग्रहण है। इसी प्रकार पूर्व अपर अधर उत्तर में समझना चाहिये। पक्ष में नपुंसकत्व के लिए अश्ववडव ग्रहण यहां किया है, यहां इसका ग्रहण न करने पर परत्व के कारण 'पूर्ववद' सूत्र से एक ही रूप 'अश्ववडवौ' यही होता।

९१९ विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाची २।४।१३।

विरुद्धार्थानामद्रव्यवाचिनां द्वन्द्व एकवद् वा स्यात्। शीतोष्णे। वैकल्पिकः समाहारद्वन्द्वश्चार्थे इति सूत्रेण प्राप्तः स विरुद्धार्थानां यदि भवति तर्हि अद्रव्यवाचिनामेवेति नियमार्थमिदम्। तेन द्रव्यवाचिनामितरेतरयोग एव। शीतोष्णे उदके स्तः। विप्रतिषिद्धं किम्, नन्दकपाञ्चजन्यौ। इह पाक्षिकः समाहारद्वन्द्वो भवत्येव।

परस्पर विरुद्धार्थक एवं अद्रव्य वाचक शब्दों का द्वन्द्व विकल्प से एकवत् होता है शीतञ्च तत् उष्णञ्च शीतोष्णम्। पक्ष में शीतोष्णे। चार्थे द्वन्द्वः से वैकल्पिक समाहार द्वन्द्व प्राप्त ही था यह सूत्र व्यर्थ होकर नियम के लिए है। "यदि विरुद्धार्थक शब्दों का समाहार द्वन्द्व समास हो तो अद्रव्यार्थ का ही" इससे सिद्ध यह हुआ कि द्रव्य वाचकों का इतरेतरयोग द्वन्द्व ही होगा। कभी भी समाहार द्वन्द्व नहीं होगा। नियम इतर व्यावर्तक होता है, व्यावर्त्य यहां समाहार द्वन्द्व द्रव्यार्थकों का हुआ। द्रव्यार्थक शीत एवं उष्ण का इतरेतरयोग से 'शीतोष्णे उदके'। नन्दक भी [illegible] का नाम एवं पाञ्चजन्य भी शङ्ख का ही नाम है दोनों एकार्थक पर्याय हैं, विरुद्धार्थक नहीं यहां इतरेतर योग से नन्दकपाञ्चजन्यौ। यहां पक्ष में इस नियम की अप्रवृत्ति से 'नन्दकपाञ्चजन्यम्' होता ही है।

९२० न दधिपयादीनि २।४।१४।

एतानि नैकवत्स्युः। दधिपयसी। इध्माबर्हिषी। निपातनात् दीर्घः। ऋक्सामे। वाङ्मनसे।

व्यञ्जन न होने से विकल्प प्राप्त एकवद् भाव दधि पयादि का नहीं होता है द्वन्द्व में। दधि च पयश्च इति दधिपयसी। इध्माबर्हिषी यहां पूर्वपद के अन्तिम का निपातन से दीर्घ है यहां जिन जिन सूत्रों से इसके विषय में एकवद्भाव प्राप्त है उन उन समस्त शास्त्रों का यह बाधक है, अतः यहां बहुवचन निर्देश है। अनेक बाध्य है। ऋक्सामे। वाङ्मनसे यहां 'अचतुर' से समासान्त अच् प्रत्यय है।

९२१ अधिकरणैतावत्त्वे च २।४।१५।

द्रव्यसंख्यावगमे एकवदिति नियमो न स्यात्। दश दन्तोष्ठाः।

'द्वन्द्वश्च' का यह बाधक है। द्रव्य की संख्या का अवगम=ज्ञान होने पर एकवत् यह नियम की प्रवृत्ति नहीं होती है, प्राण्यङ्ग के कारण एकवद्भाव प्राप्त था उसका निषेध हुआ, 'चार्थे' से समाहार द्वन्द्व यहां समाहार में प्राप्त नहीं है क्योंकि—"सविशेषणानां वृत्तिर्न, वृत्तस्य विशेषणयोगो न" से द्वन्द्व की अप्राप्ति है। इतरेतरयोगद्वन्द्व में सामान्यप्रयोग से प्रधान सापेक्ष में वृत्ति होती ही है।

९२२ विभाषा समीपे २।४।१६।

अधिकरणैतावत्त्वस्य सामीप्येन परिच्छेदे समाहार एवेत्येवंरूपो नियमो वा स्यात्। उपदशं दन्तोष्ठाः।

द्रव्यगत संख्या के अवगम का सामीप्य से परिच्छेदन होने पर समाहार द्वन्द्व ही हो यह नियम की प्रवृत्ति विकल्प से नहीं होती है। उपदशं दन्तोष्ठम्। उपदशा दन्तोष्ठा। अव्ययीभाव का ही अनुप्रयोग होता है। बहुव्रीहि में तो उपदशस्य दन्तोष्ठस्य। यहाँ षष्ठी ही होती है।

९२३ आनङ् ऋतो द्वन्द्वे ६।३।२५।

विद्यायोनिसम्बन्धवाचिनाम् ऋदन्तानां द्वन्द्वे आनङ् स्यादुत्तरपदे परे। होतापोतारौ। होतृपोतृनेष्टोद्गातारः। मातापितरौ। पुत्रेऽन्यतरस्यामित्यतो मण्डूकप्लुत्या पुत्र इत्यनुवृत्तेः पितापुत्रौ।

विद्या एवं योनिसम्बन्ध वाचक ऋकारान्त शब्दों के द्वन्द्व में उत्तरपद पर रहते आनङ् आदेश होता है। अनेक का द्वन्द्व में उत्तरपद से जो पूर्व उसी को आनङ्। चार का यहाँ द्वन्द्व किया तीसरे के ऋकारको आन् कर नलोप करना। आनङ् न कर केवल ऋकार को आ करने में यद्यपि लाघव है किन्तु रपरत्व अनिष्ट की प्रसक्ति होती। आन् विधानमें यह अण् नहीं अतः रपरत्व यहाँ न हुआ। योनिसम्बन्ध में मातापितरौ। यहां 'पुत्रे' सूत्र से मण्डूकप्लुति से पुत्र की अनुवृत्तिकर पितापुत्रौ यहाँ भी आनङ् हुआ है।

९२४ देवताद्वन्द्वे च ६।३।२६।

इहोत्तरपदे आनङ्। मित्रावरुणौ। ॐवायुशब्दप्रयोगे प्रतिषेधःॐ। अग्निवायू। वाय्वग्नी। पुनर्द्वन्द्वग्रहणं प्रसिद्धसाहचर्यस्य परिग्रहार्थम्। तेन ब्रह्मप्रजापती' इत्यादौ नानङ्। एतद्धि नैकहविर्भागत्वेन श्रुतं नापि लोके प्रसिद्धं साहचर्यम्।

देवतावाचक शब्दों के द्वन्द्व में उत्तरपद पर रहते आनङ् होता है। मित्रश्च वरुणश्च मित्रावरुणौ। वायुशब्द के प्रयोग में पूर्वपद को आनङ् नहीं होता है। अग्निवायू। अथवा वाय्वग्नी। 'द्वन्द्वे च' से द्वन्द्व की अनुवृत्ति से कार्यनिर्वाह होता पुनः इसमें जो द्वन्द्व ग्रहण है वह प्रसिद्ध देवता साहचर्य का ग्रहण के लिए है। 'ब्रह्मप्रजापती' का लोक में या वेद में एक हवि का उपयोग रूप साहचर्य नहीं है, अतः यहाँ आनङ् न हुआ।

९२५ ईदग्नेः सोमवरुणयोः ६।३।२७।

देवताद्वन्द्वे इत्येव ।

देवतावाचक शब्द में सोम या वरुण उत्तर पद रहते अग्निशब्द के अन्त्य इकार को ईकारादेश होता है ।

९२६ अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः ८।३।८२।

अग्नेः परेषामेषां सस्य षः स्यात् समासे ।

यह सात्पदाद्योः का बाधक है । अग्निरूप कर्मोपपदक स्तुञ् से सम्पदादित्वात् क्विप् समास तुक् अग्निस्तुत् षत्व ष्टुत्व अग्निष्टुत् । अग्नीनां स्तोमः = अग्निष्टोमः ।

सोम याग की संस्थाओं में प्रथम संस्था को सोम कहते हैं । अग्नीषोमौ यहां पूर्वपद के इकार को ईकारादेश एवं सोम के सकार को षकारादेश है । अग्नीवरुणौ यहां भी इकार को ईकारादेश है ।

९२७ इद्वृद्धौ ६।३।८२।

वृद्धिमत्युत्तरपदे अग्नेरिदादेशः स्यात् देवताद्वन्द्वे । अग्नामरुतौ देवते अस्य आग्निमारुतं कर्म । अग्नीवरुणौ देवते अस्य आग्निवारुणम् । देवताद्वन्द्वे चेत्युभयपदवृद्धिः । अलौकिकवाक्ये आनङ् ईत्वञ्च बाधित्वा इः । वृद्धौ किम् आग्नेन्द्रः । नेन्द्रस्य परस्येत्युत्तरपदवृद्धिप्रतिषेधः । ॐविष्णौ नॐ । आग्नावैष्णवम् ।

देवता वाचक शब्दों के द्वन्द्व समास में वृद्धियुक्त पद उत्तर में रहते अग्नि शब्द के अन्तिम वर्ण को इकारादेश होता है । यथा अग्निश्च मरुतश्च अग्नामारुतौ, ते देवते अस्य कर्मणः अणप्रत्यय । यहां समासार्थ अलौकिक विग्रह वाक्य में प्राप्त आनङ् एवं ईत्व को बाधकर स्वरूपस्थित इकार की रक्षार्थ इकार को इकारादेश किया है, आग्निमारुतं कर्म । इसी प्रकार आग्निवारुणम् । यद्यपि यहां वृद्धि के पूर्व आनङ् एवं ईत्व की प्रवृत्ति अन्तरङ्गत्व प्रयुक्त है, उस समय निषेध की प्राप्ति नहीं होती तो भी अपवाद विषय भविष्यत है वहां अन्तरङ्ग कार्य की पूर्व अप्रवृत्ति ही है ।

'आग्नेन्द्रः' यहां उत्तर पद वृद्धि युक्त नहीं है, यहां 'नेन्द्रस्य परस्य' से उत्तर इन्द्र के आदि अच् इकार को वृद्धि का निषेध है । यहां शङ्का हुई कि इन्द्र में दो अच् हैं एक अकार एवं इकार इनमें अकार का यस्येति से लोप है । इकार का अन्तरङ्ग गुण से अपहार है, 'न्द्र' अच् रहित है यहां वृद्धि का प्रसङ्ग ही नहीं है 'नेन्द्रस्य परस्य' सूत्र क्यों किया, वह व्यर्थ हो कर ज्ञापन करता है कि पूर्वोत्तर पद सम्बन्धि वर्ण निमित्तक अन्तरङ्ग भी एकादेश अपवाद विषय में पूर्व प्रवृत्त नहीं होता है अतः गुण प्रथम नहीं होता है ।

•विष्णु शब्द उत्तरपद रहते यह इत्व नहीं होता है, अतः पूर्व को आनङ् । यथा आग्नावैष्णवम् ।

९२८ दिवो द्यावा ६।३।२९।

देवताद्वन्द्वे उत्तरपदे । द्यावाभूमी । द्यावाक्षमे ।

देवता वाचक द्वन्द्व उत्तर में रहने दिव को द्यावा आदेश होता है । द्यावाभूमी । द्यावाक्षमे ।

९२९ दिवसश्च पृथिव्याम् ६।३।३०।

दिव इत्येव । चाद् द्यावा । आदेशे अकारोच्चारणं सकारस्य रुत्वं मा भूदित्येतदर्थम् । द्यौश्च पृथ्वी च दिवस्पृथिव्यौ । द्यावापृथिव्यौ । छन्दसि दृष्टानुविधिः । द्यावाचिदस्मै पृथिवी । दिवस्पृथिव्योररतिमित्यत्र पदकारा विसर्गं पठन्ति ।

पृथ्वी शब्द पर रहते दिव् का दिवस आदेश होता है एवं चकार से द्यावा आदेश भी होता है । आदेश दिवस में अकार का उच्चारण रुत्व को निवारणार्थ है, पदन्तसकार नहीं है । वेद में प्रयोगाधीन सूत्र है । लोकवत् सूत्राधीन प्रयोग नहीं है । अत दिवस् के सकार को वेद में पदान्त मान कर रुत्व विसर्ग कर विसर्गान्त पदकार पढते हैं मन्त्र में ।

९३० उपासोषमः ६।३।३१।

उपस् शब्दस्योषासादेशो देवताद्वन्द्वे । उषासासूर्यम् ।

देवता वाचक शब्द के द्वन्द्व में उषस को उषासा आदेश होता है । यथा उषाश्च सूर्यश्च उषासा-सूर्यम् । समाहारद्वन्द्व है ।

९३१ मातरपितरावुदीचाम् ६।३।३२।

मातरपितरौ । उदीचां किम् , मातापितरौ ।

उदीचों के मत में 'मातरपितरौ' इसमें मातृशब्द को निपातन से अरङ् आदेश होता है । उदीचों के मत में ऐसा क्यों कहा ?, तो अन्यमत में 'मातापितरौ' रूप हुआ है ।

९३२ द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे ५।४।१०६।

चवर्गान्ताद् दषहान्ताच्च द्वन्द्वाट्टच् स्यात् समाहारे । वाक् च त्वच् च वाक्त्वचम् । वाक्स्रजम् । शमीदृषदम् । वाक्त्विषम् । छत्रोपानहम् । समाहारे किम् , प्रावृट्शरदौ ।

इति द्वन्द्वसमासप्रकरणम्

समाहार द्वन्द्व में चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त हकारान्त शब्दों के उत्तर टच् प्रत्यय होता है इतरेतर योग में इसकी प्रवृत्ति नहीं होता है । अनेक के द्वन्द्व में यथा वाक्त्वक्स्रज् यहाँ होता है । द्वन्द्व गर्भित द्वन्द्व में वाक्त्वचस्रजम् ।

पं० श्री बा० कृ० पञ्चोलिविरचित रत्नप्रभा में द्वन्द्व समास समाप्त ।

अथैकशेषप्रकरणम् ॥ १९ ॥

सरूपाणाम् । रामौ । रामाः । ॐविरूपाणामपि समानार्थानाम्ॐ । वक्रदण्डश्च कुटिलदण्डश्च वक्रदण्डौ । कुटिलदण्डौ ।

सम्पूर्ण विभक्तियों में समानरूपवाले समानार्थक-शब्दों में अनेक में से एकशेष रहता है। अर्थात् अन्यों का या अन्य का लोप होता है। एवं जो शेष रहता है वह स्वार्थ एवं लुप्त इन दोनों का अर्थ का बोधक है "यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी'। शब्दवृत्ति वर्णमाला असमान रहते हुए भी यदि एकार्थ बोधक है तो वहां भी एकशेष होता है। यथा वक्रदण्डः एवं कुटिलदण्डः में भी एकशेष हुआ है।

९३३ वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः १।२।६५।

यूना सहोक्तौ गोत्रं शिष्यते गोत्रयुवप्रत्ययमात्रकृतं चेत्तयोः कृत्स्नं वैरूप्यं स्यात्। गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ । वृद्धः किम्, गर्गगार्ग्यायणौ । यूना किम्, गर्गगार्ग्यौ । तल्लक्षणः किम्, भागवित्तिभागवित्तिकौ । कृत्स्नं किम्, गार्ग्यवात्स्यायनौ ।

युव प्रत्ययान्त के साथ वृद्ध = गोत्र प्रत्ययान्त की उक्ति होने पर गोत्र प्रत्ययान्त का ही अवशेष रहता है, किन्तु गोत्र प्रत्यय एवं युवप्रत्ययमात्रकृत ही वैरूप्य रहने पर। यथा गार्ग्य यह गोत्र-प्रत्ययान्त यञन्त का रूप है, यञन्त से युवापत्य में फक् उसको आयन् से गार्ग्यायण युवप्रत्ययान्त है, इन दोनों में प्रत्ययमात्रकृत ही वैरूप्य अन्यांश में साम्य है, अतः गार्ग्यायण का लोपपूर्वक गोत्रप्रत्ययान्त गार्ग्य का शेष रहा—गार्ग्यौ = का अर्थ गर्ग के गोत्रापत्य एवं गर्ग के युवापत्य का बोधक, 'यः शिष्यते' न्याय से है। गर्गश्च गार्ग्यायणश्च गर्गगार्ग्यायणौ यहां गर्ग गोत्रप्रत्ययान्त नहीं है। अतः एकशेष न हुआ। 'गर्गगार्ग्यौ' यहां युवार्थक प्रत्यय न होने से एकशेष न हुआ। भगवित्तस्य गोत्रापत्यम् भागवित्तिः से युवार्थक 'वृद्धाट्' से ठक यहां कुत्सा एवं सौवीरत्व का अधिक मान, है अतः एकशेष न हुआ तल्लक्षण ग्रहण से। कृत्स्न से गार्ग्यवात्स्यायनौ यहां एकशेष न हुआ।

९३४ स्त्रीपुंवच्च १।२।६६।

यूना सहोक्तौ वृद्धा स्त्री शिष्यते, तदर्थश्च पुंवत्। गार्गी च गार्ग्यायणी च गर्गाः। अस्त्रियामित्यनुवर्तमाने यञञोश्चेति लुक्। दाक्षी च दाक्षायणश्च दाक्षी।

युवप्रत्ययान्त के साथ गोत्रप्रत्ययान्त स्त्रीवाचक शब्द की उक्ति = कथन होने पर स्त्रीवाचक ही अवशिष्ट रहता है। एवं उसका अर्थ पुंवाचक समान होता है। यथा—स्त्रियान् में गार्गी होता है वह गोत्रप्रत्ययान्त है, गार्ग्यायण युवप्रत्ययान्त है यहां एकशेष एवं पुंवत् से 'गर्गाः' यही हुआ है। अस्त्रियान् की अनुवृत्ति होने पर यहां यञञोश्च से यञ् प्रत्यय का लुक् पुंल्लिङ्ग में है। दक्ष से इञ् दाक्षि से इतो मनुष्यजातेः। से ङीप् दाक्षी च दाक्षायणश्च दाक्षी।

९३५ पुमान् स्त्रिया १।२।६७।

स्त्रिया सहोक्तौ पुमान् शिष्यते, तल्लक्षण एव विशेषश्चेत्। हंसी च हंसश्च हंसौ।

स्त्रीवाचक एवं पुंवाचक में पुंवाचक का एकशेष होता है। यदि स्त्रीत्व पुंस्त्वकृत ही विशेष हो। हंसी च हंसश्च इति हंसौ।

९३६ भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम् १।२।६८।

भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ। पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ।

स्वसृ एवं दुहितृ के साथ उक्ति होने पर भ्रातृ एवं पुत्र का एकशेष रहता है। भ्रातरौ। पुत्रौ।

९३७ नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् १।२।६९।

अक्लीबेन सहोक्तौ क्लीबं शिष्यते तच्च वा एकवत् स्यात्तल्लक्षण एव विशेषश्चेत्। शुक्लः पटः, शुक्ला शाटी, शुक्लं वस्त्रम् तदिदं शुक्लं तानीमानि शुक्लानि।

अक्लीब के साथ (पुंलिङ्ग स्त्रीलिङ्ग के साथ) उक्ति होने पर नपुंसक अवशिष्ट रहता है वह एकवत् विकल्प से होता है। शुक्लम् वा शुक्लानि। तीनों लिङ्ग शुक्ल शब्द है।

९३८ पिता मात्रा १।२।७१।

मात्रा सहोक्तौ पिता वा शिष्यते। माता च पिता च पितरौ। मातापितरौ।

मातृ एवं पितृ ऋकारान्त द्वय का एकशेष में पितृशब्द का विकल्प से एकशेष होता है। यथा- पितरौ। मातापितरौ।

९३९ श्वशुरः श्वश्र्वा १।२।७०।

श्वश्र्वा सहोक्तौ श्वशुरो वा शिष्यते तल्लक्षण एव विशेषश्चेत्। श्वश्रूश्च श्वशुरश्च श्वशुरौ। श्वश्रूश्वशुरौ।

श्वश्रू के साथ उक्ति होने पर विकल्प करके श्वशुर शब्द शेष रहता है। यदि स्त्रीत्व एवं पुंस्त्व कृत विशेषमात्र हो तब। ऊङ् प्रत्ययान्त सासवाचक श्वश्रू है।

९४० त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् १।२।७२।

सर्वैः सहोक्तौ त्यदादीनि नित्यं शिष्यन्ते। स च देवदत्तश्च तौ।

त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते। स च यश्च यौ। पूर्वशेषोऽपि दृश्यत इति भाष्यम्। स च यश्च तौ। *त्यदादितः शेषे पुंनपुंसकतो लिङ्गवचनानि*। सा च देवदत्तश्च तौ। तच्च देवदत्तश्च यज्ञदत्ता च तानि। पुंनपुंसकयोस्तु परत्वान्नपुंसकं शिष्यते। तच्च देवदत्तश्च ते। *अद्वन्द्वतत्पुरुषविशेषणानामिति वक्तव्यम्*। कुक्कुटमयूर्याविमे। मयूरीकुक्कुटाविमौ। तच्च सा च अर्धपिप्पल्यौ च ते।

सब शब्दों के साथ उक्ति होने पर त्यदादि नित्य शेष रहता है। स च देवदत्तश्च तौ। त्यदादि शब्दों का कथन होने पर, पर जो त्यदादि वही अवशिष्ट रहता है। स च यश्च यौ। किसी

स्थलविशेष में पूर्वशेष भी रहता है यह भाष्यमत है। स च यश्च तौ। त्यदादि शब्दों का एकशेष होने पर पुंल्लिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग के अनुसार लिङ्गवचन होता है। स्त्रीलिङ्ग भी पुंल्लिङ्ग एवं स्त्रीलिङ्ग भी नपुंसक होता है एकशेष में। यथा सा च देवदत्तश्च तौ। तत् देवदत्तः यज्ञदत्ता यहां तानि। पुंलिङ्ग एवं नपुंसक का एकशेष में परत्व के कारण नपुंसक का शेष रहता है। तच्च देवदत्तश्च ते। द्वन्द्व एवं तत्पुरुष में पूर्वोक्त कार्य नहीं होता है। वहां विशेष्यगत लिङ्ग ही होता है। उत्तरपद मयूरीगत स्त्रीत्व से अनुप्रयोग मे इमे। उत्तरपद कुक्कुट होने से तद्गत लिङ्ग से अनुप्रयोग में इमौ। उत्तरपद अर्धपिप्पलीगत स्त्रीत्व से 'ते'।

९४१ ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री १।२।७३।

एषु सहविवक्षायां स्त्री शिष्यते। पुमान् स्त्रियेत्यस्यापवादः। गाव इमाः। ग्राम्येति किम्, रुरव इमे। पशुग्रहणं किम्, ? ब्राह्मणाः। सङ्घेषु किम्, एतौ गावौ। अतरुणेषु किम्, वात्सा इमे। ॐअनेकशफेष्विति वाच्यम्ॐ। अश्वा इमे। इह सर्वत्र एकशेषे कृतेऽनेकसुबन्तत्वाभावाद् द्वन्द्वो न। तेन शिरसी शिरांसीत्यादौ समासस्येत्यन्तोदात्तः, प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावश्च न। पन्थानौ, पन्थान इत्यादौ समासान्तो न।

इत्येकशेषप्रकरणम्

अतरुण ग्रामीण पशु समुदाय की सहविवक्षा में स्त्रीवाचक शब्द का एकशेष होता है। यह सूत्र पूर्वोक्त 'पुमान् स्त्रियाः' का बाधक है। यथा इमा गावः। ग्राम्य पशु का अभाव में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। अनेक खुर विशिष्ट पशुसमूह में सहविवक्षा में यह एकशेष करता है एक खुर वाले पशुओं में नहीं। अन्तरङ्ग एकशेष प्रातिपदिकावस्था में सुबुत्पत्ति से पूर्व होता है अन्तरङ्गत्व के कारण, अब अनेक सुबन्त ही नहीं, अतः द्वन्द्व की अप्राप्ति है, अप्राप्ति लक्षण एकशेष द्वन्द्वापवाद यह प्रवाद है, अप्राप्ति लक्षण अपवाद शब्द अपवाद सदृश परक है। इस कारण शिरसी आदि में 'समासस्य' से अन्तोदात्त न हुआ। एवं प्राण्यङ्ग मानकर एकवद्भाव भी न हुआ। पन्थानौ आदि में 'ऋक्पूरब्धू' से अप्प्रत्यय समासान्त न हुआ।

[पं० श्री बा० कृ० पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में एकशेष प्रकरण समाप्त।



अथ सर्वसमासशेषप्रकरणम् ॥ २० ॥

कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्चवृत्तयः । परार्थाभिधानं वृत्तिः । वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः । स द्विधा लौकिकोऽलौकिकश्च । परिनिष्ठितत्वात् साधुर्लौकिकः । प्रयोगानर्होऽसाधुरलौकिकः । यथा राज्ञः पुरुषः । राजन् अस् पुरुष सु इति । अविग्रहो नित्यसमासः, अस्वपदविग्रहो वा ।

समासश्चतुर्विध इति प्रायोवादः । अव्ययीभावतत्पुरुषबहुव्रीहिद्वन्द्वाधिकारबहिर्भूतानामपि सह सुपेति समासविधानात् । पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः । उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः । अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः । उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः । इत्यपि प्रायः प्रवादः प्रायोवादः । 'सूपप्रति' उन्मत्तगङ्गमित्याद्यव्ययीभावे, अतिमालादौ तत्पुरुषे 'द्वित्राः' इत्यादि बहुव्रीहौ, दन्तोष्ठमित्यादि द्वन्द्वे, चाभावात् । तत्पुरुषविशेषः कर्मधारयः । तद्विशेषो द्विगुः । अनेकपदत्वं द्वन्द्वबहुव्रीह्योरेव । तत्पुरुषस्य क्वचिदेवेत्युक्तम् । किञ्च,

सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाऽथ तिङां तिङा ।
सुबन्तेनेति विज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः ॥ १ ॥

सुपां सुपा–राजपुरुषः । तिङा–पर्यभूषयत् । नाम्ना–कुम्भकारः । धातुना–कटप्रूः, अजस्रम् । तिङां तिङा–पिबतखादता, खादतमोदता । तिङां सुपा–कृन्तविचक्षणेति यस्यां क्रियायां सा कृन्तविचक्षणा । एहीडादयोऽन्यपदार्थे इति मयूरव्यंसकादौ पाठात् समासः ।

इति सर्वसमासशेषप्रकरणम् ।

पाँचों की वृत्तिसंज्ञा है, यह पूर्वाचार्यों ने कहा था, उसका इन्होंने भी समाश्रयण किया है। कृत, तद्धित, समास, एकशेष, सनाद्यन्त धातुरूप यह पांच वृत्तियाँ है। इसीको पदविधि कहते है, वे सब सामर्थ्य में ही होते है यहां एकार्थीभाव रूप ही सामर्थ्य गृहीत है। जिससे दूसरा पदार्थ अभिहित हो उसे वृत्ति कहते है। वृत्ति के अर्थ का ज्ञापक वाक्य को विग्रह कहते है। वह विग्रह दो प्रकार का है। लौकिक, एवं अलौकिक परिनिष्ठित इनमें लौकिक साधु है।

अप्रवृत्त जो नित्यशास्त्र का उद्देश्य जहां न रहे उसको परिनिष्ठित कहते है– 'अप्रवृत्तनित्यविध्युद्देश्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्व परिनिष्ठितत्वम्" यह परिनिष्ठित का लक्षण है। लोक में प्रयोग के लिए अयोग्य को अलौकिक कहते है। यथा राज्ञः पुरुषः यह लौकिक है। राजन् अस् पुरुष सु यह अलौकिक है। शास्त्रीय सब विध कार्य अलौकिक विग्रह वाक्य में ही होते है। लौकिक में नहीं, वहां वाक्यस्थिति है। नित्यसमास उसको कहते है जहां विग्रह ही न हो, या विग्रह हो तो भी समस्यमान के साथ नहीं, किन्तु उसका पर्याय वाचक किसी शब्द के साथ।

समास चार प्रकार के है, यह भी प्राय एवमन्=इस प्रकार का वाद कथन है अर्थात प्रायिक है, अन्य भी समास है। जो अव्ययीभाव के अधिकार में नहीं है, एवं तत्पुरुष के अधिकार में नहीं है।

बहुव्रीहि के अधिकार में नहीं है, द्वन्द्व के अधिकार में नहीं है एवं समास संज्ञक है। यथा 'सह' यथा 'सुपा' दो विभक्त सूत्रों से विहित समास को सामान्य समास नाम से व्यवहृत हैं।

एवं वक्ष्यमाण समासों का लक्षण भी प्रायोवाद अर्थात् प्रायिक है। 'व्यावृत्ति र्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्'। लक्षण में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भव ये तीन दूषण न रहे उसे लक्षण कहते है, लक्ष्य में लक्षण की अप्रवृत्ति को अव्याप्ति कहते है। अलक्ष्य में लक्षण प्रसक्ति को अतिव्याप्ति कहते है। किसी भी अभिमत लक्ष्य में लक्षण न जाय उसे असम्भव कहते है।

प्राचीनोक्त लक्षणनिर्देश कर पश्चात् इसमें दूषणों का उपन्यास किया जाता है। प्रकृत में पूर्वपद का अर्थ प्रधान रहे उसको अव्ययीभाव कहते हैं। प्रधान का अर्थ मुख्य, मुख्य का अर्थ विशेष्य। अप्रधान का अर्थ विशेषण है, विशेषण गौण उपसर्जन अप्रधान ये सब शब्द एकार्थ बोधक पर्य्याय है। उत्तरपदार्थ प्रधान को तत्पुरुष कहते हैं। समस्यमान पदों के अर्थ से अतिरिक्त जो अन्यपदार्थ वह प्रधान जहां रहे उसे बहुव्रीहि कहते है। उभय पदार्थ प्रधान को द्वन्द्व कहते है।

'सूपप्रति' 'उन्मत्तगङ्गम्' यहां अव्ययीभाव समास में पूर्वपदार्थ प्राधान्य का अभाव है, अतिमालः तत्पुरुष में उत्तरपदार्थ प्राधान्य का अभाव है। दन्तोष्ठम् द्वन्द्व में उभयपदार्थ प्रधानत्व का अभाव है। समूह का वहां प्राधान्य है। अतः प्राचीनोक्त लक्षण दोष ग्रस्त होने से उपेक्ष्य है। किन्तु 'अव्ययीभावादि अधिकार पठितत्वम्' अव्ययीभावादि यही लक्षण ठीक है। तत्पुरुष का व्याप्यभेद कर्मधारय है, एवं वह यदि संख्या पूर्वक रहे तब द्विगु नाम से कहलाता है। अनेक = तीन आदि पद बहुव्रीहि एवं द्वन्द्व में ही है। तत्पुरुष में कचित् है।

छः प्रकार का समास इस कारिका में कहा गया है 'उदाहरण भी दिये गये हैं यथा पदद्वयसुबन्त का समास राजपुरुषः। पूर्वपदसुबन्त उत्तरपद तिङन्त का समासोदाहरण— पर्यभूषयत् यहां सह योगविभाग से छन्द में एवं लोक में भी कचित् समास होता है। पूर्वपद सुबन्त उत्तरपद प्रातिपदक का समास—कुम्भकारः। पूर्वपद सुबन्त उत्तरपद धातु का समास—कटप्रूः। तिङन्त तिङन्त का समास—पिबतखादता क्रिया। तिङन्त सुबन्त का समास कृन्त-विचक्षणा। 'एहीडादयोऽन्यपदार्थे' यह मयूरव्यंसक का अवान्तर गणसूत्र है, वहां उसी से समास होता है।

पं० श्री बा० कृ० पञ्चोलिविरचित रत्नप्रभा में सर्वसमास शेष प्रकरण समाप्त।



अथ समासान्तप्रकरणम् ॥ २१ ॥

९४२ ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे ५।४।७४।

अ अनक्षे इति च्छेदः । ऋगाद्यन्तस्य समासस्य अ प्रत्ययोऽन्तावयवः स्यात् । अक्षे या धूस्तदन्तस्य तु न । अर्द्धर्चः । अनृचबह्वृचावध्येतर्येव । नेह, अनृक् साम, बह्वृक् सूक्तम् । विष्णोः पूः विष्णुपुरम् । क्लीबत्वं लोकात् । विमलाप सरः ।

'मानक्षे' यहां अ अनक्षे ऐसा पदच्छेद है। ऋच् शब्दान्त, पूर् शब्दान्त अप् शब्दान्त धुर् शब्दान्त एवं पथिन् शब्दान्त समास को समासावयव अ प्रत्यय होता है, किन्तु शकट का अक्ष बोधक जो धुर् शब्द है तदन्त समास में अ प्रत्यय नहीं होता है। ऋच अर्धम् इति अर्धर्च । यहां 'अर्धर्चा पुंसि च' से पुंस्त्व बोधन हुआ है। अनृच एवं बह्वृच इन दोनों को अध्ययन कर्ता अर्थ में अ प्रत्यय होता है। अन्यत्र नहीं। ऋक मन्त्र रहित साम अनृक् साम यहां अ प्रत्यय न हुआ। अनेक ऋचा है जिस सूक्त में है वहां भी अ प्रत्यय नहीं हुआ। विष्णो पूः विष्णुपुरम् षष्ठीतत्पुरुष एवं अप्रत्यय। यहां नपुंसक लोक से प्राप्त है। विमला आप यस्मिन् सरसि तद् विमलाप सर ।

९४३ द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् ६।३।९७।

अप इति कृतसमासान्तानुकरणम् षष्ठ्यर्थे प्रथमा । एभ्यो अप ईत् स्यात् । द्विर्गता आपो यस्मिन् इति द्वीपम् । अन्तरीपम् । प्रतीपम् । समीपम् । समापो देवयजनमिति तु समा आपो यस्मिन्निति बोध्यम् । कृतसमासान्त-ग्रहणान्नेह । स्वप् स्वपी । ❀अवर्णान्ताद्वा❀ प्रेपम् । परेपम् । प्रापम् । परापम् ।

'अप' सूत्र में समासान्तप्रत्यय से निष्पन्न रूप का अनुकरण है इससे षष्ठी के अर्थ में प्रथमा है। द्वि एवं अन्तर तथा उपसर्ग से पर अप के अकार को ईत होता है, यथा द्वीपम् आदि। 'समाप'। यहां उपसर्गपूर्वक न होने से ईकार न हुआ। स्वप् में समासान्त नहीं है अतः ईकार न हुआ। न ग्रहणात् से समासान्त अ प्रत्यय न हुआ। अवर्णान्त उपसर्ग से पर अप के अकार को ईकार विकल्प होता है। यथा प्रेपम् प्रापम् इत्यादि।

९४४ ऊदनोर्देशे ६।३।९८।

अनो परस्यापस्य ऊत् आदेशः स्याद् देशे । अनूपो देशः । राजधुरा । अक्षे तु अक्षधूः । दृढधूरक्षः । सखिपथ, रम्यपथो देश ।

देश अर्थ में अनु से पर अप के अकार को ऊत आदेश होता है। अनूपो देश । ऋक' सूत्र के उदाहरण कहते है—राज्ञः धूः राजधुरा यहां समास अप्रत्यय टाप् दीर्घ। धुर शब्द रथ के अक्ष वाचक है वहां समास अप्रत्यय नहीं होता है यथा अक्षधू । दृढधूः। सख्युः पन्था इति सखिपथः। रम्य = पन्था यस्मिन् देशे स रम्यपथ ।

९४५ अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्नः ५।४।७५।

एतत्पूर्वात् सामलोमान्तात् समासात् अच् स्यात्। प्रतिसामम्। अवसामम्। प्रतिलोमम्। अनुलोमम्। ॐकृष्णोदक्पाण्डुसंख्यापूर्वाया भूमेरजिष्यतेॐ। कृष्णभूमः। उदग्भूमः। पाण्डुभूमः। द्विभूमः प्रासादः। ॐसंख्यायाः नदीगोदावरीभ्याञ्चॐ। पञ्चनदम्। सप्तगोदावरम्। अजिति योगविभागादन्यत्रापि पद्मनाभः।

प्रति अनु अव पूर्वक सामन् एवं लोमन् शब्दान्त समास से अच् प्रत्यय होता है। प्रतिसामम्, यहां अव्ययीभाव समास, या प्रादिसमास या बहुव्रीहिसमास में अन्यतम समास है। इसी प्रकार अनु एवं सामादि में भी समझना चाहिए। कृष्ण, उदक्, पाण्डु एवं संख्या वाचक शब्द इनसे पर जो भूमि शब्द तदन्त समास से अच् प्रत्यय होता है। कृष्णा भूमिर्यत्र कृष्णभूमः। द्वे भूमी यत्र द्विभूमः प्रासादः = दो तल्ला मकान। संख्यापूर्वक नदी एवं गोदावरी तदन्त समास से अच् प्रत्यय होता है। पञ्चानां नदीनाम् समाहारः पञ्चनदम्। सप्तानां गोदावरीणां समाहारः सप्तगोदावरम्। सूत्र में अच् पृथक् सूत्र मान कर पूर्व उक्त स्थल से अन्यत्र में अच् प्रत्यय होता है। पद्मनाभः।

९४६ अक्ष्णोऽदर्शनात् ५।४।७६।

अचक्षुपर्य्यायाद् अक्ष्णोऽच् स्यात् समासान्तः। गवामक्षीव गवाक्षः।

चक्षुः के पर्य्याय वाचक जो अक्षि शब्द न हो वह उत्तरपदक समास से अच्प्रत्यय होता है गवामक्षीव गवाक्षः = वातायन में यह रूढ है। यहां व्यवस्थितविभाषा से अवङ् नित्य है। रोशनदान भाषा में इसका अर्थ है।

९४७ अचतुरविचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुहर्क्सामवाङ्मनसाक्षिभ्रुवदारगवोर्वष्ठीवनक्तन्दिवरात्रिन्दिवाहर्दिवसरजसनिःश्रेयसपुरुषायुषद्व्यायुषत्र्यायुषर्ग्यजुषजातोक्षमहोक्षवृद्धोक्षोपशुनगोष्ठश्वाः ५।४।७७।

एते पञ्चविंशतिरजन्ता निपात्यन्ते।

आद्यास्त्रयो बहुव्रीहयः। अविद्यमानानि चत्वार्यस्य अचतुरः। विचतुरः। सुचतुरः।ॐत्र्युपाभ्यां चतुरोऽजिष्यतेॐ। त्रिचतुराः। चतुर्णां समीपे ये सन्ति ते उपचतुराः।तत एकादश द्वन्द्वाः। स्त्रीपुंसौ। धेन्वनडुहौ। ऋक्सामे। वाङ्मनसे। अक्षिणी च भ्रुवौ च अक्षिभ्रुवम्। दाराश्च गावश्च दारगवम्। ऊरू च अष्ठीवन्तौ च ऊर्वष्ठीवम्। निपातनाट्टिलोपः।

पदष्ठीवम्। निपातनाद् पादशब्दस्य पद्भावः। नक्तञ्च दिवा च नक्तन्दिवम्। रात्रौ च दिवा च रात्रिन्दिवम्। रात्रेर्मान्तत्वं निपात्यते। अहनि च दिवा च अहर्दिवम्। वीप्सायां द्वन्द्वो निपात्यते। अहन्यहनीत्यर्थः। सरजसमिति साकल्येऽव्ययीभावः। बहुव्रीहौ तु सरजः पङ्कजम्। निश्चितं श्रेयो निःश्रेयसम्। तत्पुरुष एव।

नेह—निश्रेयान् पुरुषः । पुरुषस्यायु पुरुषायुषम् । ततो द्विगु—द्व्यायुषम् । त्र्यायुषम् । ततो द्वन्द्व—ऋग्यजुषम् । ततस्त्रयः कर्मधारया—जातोक्षः । महोक्ष । वृद्धोक्ष । शुन समीपम् उपशुनम् । टिलोपाभाव सम्प्रसारणञ्च निपात्यते । गोष्ठे श्वा गोष्ठश्व· ।

अचतुरादि पचीस शब्द अच्प्रत्ययान्त निपातन से सिद्ध होते हैं । इनमें पहले तीन बहुव्रीहि है । अविद्यमानानि चत्वारि यस्य अचतुर । विद्यमानानि अर्थ में विशब्द, शोभनानि अर्थ में सुशब्द से विचतुर । सुचतुर । त्रि एव उपपूर्वक चतुर् शब्द को अच्प्रत्यय होता है । यथा त्रिचतुरा । चतुर्णाम् उप-समीपे ये ते इति उपचतुरा । इसके पश्चात ग्यारह शब्दों में द्वन्द्व है । ऊरू च अष्ठीवन्तौ च ऊर्वष्ठीवम् ।

यहां निपातन से टिलोप हुआ है । पादको निपातन से पदादेश पदष्ठीवम् में हुआ है । रात्रिन्दिवम् यहा निपातन से पूर्वपदको मान्तत्व है । वीप्सा अर्थ में द्व द्व निपातित है अहरहः अहादवम् । सरोजम् में साकल्य अर्थ में अव्ययीभाव है । बहुव्रीहि में यह अच्प्रत्यय नहीं करता है वहां सरज पङ्कज' यही होता है । तत्पुरुष समास में हो निश्रेयसम् होता है । अन्यसमास में निश्रेयान् पुरुष यहां बहुव्रीहि समास है । उपशुनम् यहा टिलोप का अभाव एवं सम्प्रसारण निपातित है । गोष्ठश्व यहा अच्प्रत्यय एव 'नस्तद्धिते' से अन् का लोप है ।

९४८ ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः ५।४।७२।

अच् स्यात् । ब्रह्मवर्चसम । हस्तिवर्चसम् । ॐपल्यराजभ्या चेति वक्तव्यम्ॐ । पल्यवर्चसम् । राजवर्चसम् ।

ब्रह्मन् एव हस्ति शब्द से पर वर्चस् शब्द तदन्त समास से अच प्रत्यय समासान्त होता है । ब्रह्मण = ब्राह्मणस्य वर्चः तेजः अर्थ में समास अच प्रत्यय नपुंसकत्व विवक्षा में ब्रह्मवर्चसम् । पल्य एव राजन् शब्द से पर वर्चस् शब्द तदन्त समास से अच् प्रत्यय होता है । पल्यवर्चसम् । राजवर्चसम् । पल शब्द मास वाची है । पलम्=मासम् अर्हतीति पल्य ।

९४९ अवसमन्धेभ्यस्तमसः ५।४।७९।

अवतमसम् । सन्तमसम् । अन्धयतीत्यन्धम्, पचाद्यच् । अन्ध तम = अन्धतमसम् ।

अव, सम् अन्ध इन पूर्व में स्थित रहे वहा तमस शब्दोत्तर समास को अच् प्रत्यय होता है । अन्ध दृष्ट्युपघाते धातु से 'पचादि' अच् प्रत्यय से यहा दृष्टि का उपघात करने वाला अर्थ अन्ध का है । अन्धम् तम अन्धतमसम् ।

९५० श्वसो वसीयश्श्रेयसः ५।४।८०।

वसुशब्द प्रशस्तवाची तत ईयसुनि वसीय । श्वस् शब्द=उत्तरपदार्थ प्रशंसामाशीर्विषयतामाह । मयरव्यंसकादित्वात् समास । श्वोवसीयसम्= श्व श्रेयस ते भूयात् ।

वसु शब्द प्रशस्त वाचक है । उसमे अतिशय अर्थ में ईयसुन् प्रत्यय टिलोप से वसीय की सिद्धि है । श्वस् शब्दार्थ यहां आशीर्वाद विषय जो उत्तर पदार्थ प्रशंसा उसका बोधक है । श्वस्

शब्द के उत्तर वसीयस् एवं श्रेयस् तदन्त समास को अच् प्रत्यय होता है। श्वोवसीयसम्। श्वःश्रेयसम्। यहां मयूर व्यंसकादि मान कर समास है।

९५१ अन्ववतप्ताद्रहसः ५।४।८१।

अनुरहसम्। अवरहसम्। तप्तरहसम्।

अनु, अव, तप्त इन शब्द पूर्व में रहे इनके पश्चात् रहस् शब्द तदन्त समास से अच् प्रत्यय होता है। रहः = अप्रकाश्य, अनुहीनम् अवहीनम् वा तमः अनुरहसम्। अवरहसम्। प्रादि समास है। अनुगतं रहः यस्मिन् यहां बहुव्रीहि भी सम्भव है।

दूसरे से अनधिगम्यम् = तप्तञ्च तत् रहः तप्तरहसम्।

९५२ प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात् ५।४।८२।

उरसि प्रति प्रत्युरसम्। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः।

प्रतिपूर्वक सप्तम्यन्त उरस् शब्द के उत्तर समासान्त अच् प्रत्यय होता है। विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव, एवं अच् से प्रत्युरसम् = वक्षःस्थल में।

९५३ अनुगवमायामे ५।४।८३।

एतन्निपात्यते दीर्घत्वे। अनुगवं यानम्। यस्य चायाम इति समासः।

दीर्घ अर्थ होने पर अनुपूर्वक जो गोशब्द तदन्त समास को अच् प्रत्यय होता है। गोगत दीर्घ सम दीर्घतायुक्त यान = वाहन = अनुगवम्।

९५४ द्विस्तावा त्रिस्तावा वेदिः ५।४।८४।

अच्प्रत्ययष्टिलोपः समासश्च निपात्यते। यावती प्रकृतौ वेदिस्ततो द्विगुणा त्रिगुणा वाऽश्वमेधादौ तत्रेदं निपातनम्। वेदिरिति किम्, द्विस्तावती, त्रिस्तावती रज्जुः।

द्विस्तावत् एवं त्रिस्तावत् से समासान्त अच् प्रत्यय होता है एवं टिलोप भी निपातन से होता है। वेदि अर्थ में। याग दो प्रकार के हैं प्रकृति एवं विकृति, जहां साङ्गोपाङ्गविधिनिर्दिष्ट सम्पूर्ण हैं वह प्रकृति याग है, जहां कुछ अपूर्वविधि के बाद कर दिया गया है कि शेषविधि प्रकृति यागवत् वह विकृति याग हैं। प्रकृत में प्रकृति याग में जितनी बड़ी वेदि विहित है उससे दुगुनी या तिगुनी वेदि बड़ी अश्वमेधादि विकृति याग में बनानी चाहिये। वहां 'द्विस्तावा वेदिः' यहां अच् प्रत्यय एवं टिलोप हुआ है। इसी प्रकार त्रिस्तावा वेदिः। तद् वतुप् आत्व तावत्। वेदि से भिन्न में द्विस्तावती उगित् वतुप् होने से ङीप्।

९५५ उपसर्गादध्वनः ५।४।८५।

प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः।

प्र उपसर्ग से पर जो अध्वन् शब्द तदन्त समास से अच्प्रत्यय समासान्त होता है। प्रगतोऽध्वानम् प्राध्वो रथः।

९५६ न पूजनात् ५।४।६९।

पूजनार्थात् परेभ्यः समासान्ता न स्युः। सुराजा। अतिराजा। ॐस्वतिभ्यामेवॐ परमराजः। पूजनात् किम्?, गामतिक्रान्तोऽतिगवः। बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोरित्यतः प्रागेवाय निषेधः। नेह—सुसक्थ्यः। स्वक्षः।

पूजनार्थक शब्द से पर स्थित जो शब्द तदन्त समास से समासान्त नहीं होता है। सुराजा में टच न हुआ। अतिराजा में भी टच् का अभाव है। सु एवं अति से पर शब्द तदन्त से ही यह समासान्त प्रत्यय का निषेधक है। अन्यत्र नहीं। परमश्चासौ राजा यहां कर्मधारय में टच् होकर टिलोप से परमराज। अति का जहां अतिशय अर्थ है वहां पूजा प्रतीयमान है एवं अतिक्रान्तार्थक अति जहां है यथा गाम् अतिक्रान्त" द्वितीयातत्पुरुष में वहां निषेध नहीं है, टच हुआ अतिराज"। अतिगव। यह निषेधक सूत्र की प्रवृत्ति 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णो' के पूर्वसूत्र विहित समासान्त हुआ हो वहां ही है। स्वक्ष में अच् प्रत्यय हुआ।

९५७ किम् क्षेपे ५।४।७०।

क्षेपे य" किम् शब्दस्ततः परं यत् तदन्तात् समासान्ता न स्युः। कुत्सितो राजा किंराजा। किंसखा। किंगौः। क्षेपे किम् किंराजः। किंसखः। किंगवः।

निन्दार्थक किम् शब्द से पर जो शब्द तदन्त समास से समासान्त प्रत्यय नहीं होते हैं। किंराजा में टच् न हुआ। किंसखा में भी टच् का अभाव। किंगौ यहां भी टच् का अभाव प्रश्नार्थक किम् वहां समास में टच एवं टिलोप किंराज। किंसख। किंगव। इनमें पूर्व दो में 'राजाह' से टच्, किंगव' 'गोरतद्धित' से टच हुआ है।

९५८ नञस्तत्पुरुषात् ५।४।७१।

समासान्तो न। अराजा। असखा। तत्पुरुषात् किम्, अधुरं शकटम्।

नञ् तत्पुरुष समास से समासान्त प्रत्यय नहीं होने है। अधुरम् में बहुव्रीहि है, 'ऋक्पूरब्धू' से अप्रत्यय हुआ है।

९५९ पथो विभाषा ५।४।७२।

नञ्पूर्वात् पथो वा समासान्तः। अपथम्। अपन्थाः। तत्पुरुषादित्येव। अपथो देशः। अपथं वर्तते।

इति समासान्तप्रकरणम्।

नञ पूर्वक पथिन् जो शब्द तदन्त समास से समासान्त प्रत्यय विकल्प से होते हैं। तत्पुरुष में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति। अन्य समास में नहीं।

अविद्यमान पन्था यस्मिन् देशे, स्थाने वा यहां नित्यसमासान्त अप्रत्यय हुआ। यथा- अपथो देश। अपथ स्थान वर्तते।

प० श्रीबा० कृ० पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभामें समासान्त प्रकरण पूर्ण



अथालुक्समासप्रकरणम् ॥ २२ ॥

९६० अलुगुत्तरपदे ६।३।१।

अलुगधिकारः प्रागानङ्, उत्तरपदाधिकारस्त्वापादसमाप्तेः।

'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' के पूर्व तक अलुक् का अधिकार है। एवं तृतीयपाद समाप्ति तक उत्तरपद का अधिकार है। यहाँ अलुक् में प्रसज्य प्रतिषेध है, 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से प्राप्त लुक् का निषेधक उत्तरसूत्र होते हैं। प्राप्ति का निषेध यह बोधनार्थ उत्तरोत्तर सूत्र में 'अलुक्' का सम्बन्ध करता है।

९६१ पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ६।३।२।

एभ्यः पञ्चम्या अलुक् स्यादुत्तरपदे। स्तोकान्मुक्तः। एवमन्तिकार्थदूरार्थ-कृच्छ्रेभ्यः। उत्तरपदे किम्, निष्क्रान्तः स्तोकान्निःस्तोकः *ब्राह्मणाच्छंसिन उपसंख्यानम्* ब्राह्मणे विहितानि शस्त्राणि उपचाराद् ब्राह्मणानि तानि शंसतीति ब्राह्मणाच्छंसी=ऋत्विग्विशेषः। द्वितीयार्थे पञ्चम्युपसंख्यानादेव।

स्तोकादि शब्दों से पर पञ्चमी विभक्ति का लुक् नहीं होता है उत्तरपद पर रहते। यहाँ 'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रा'णि इस समास विधायक शास्त्रपठित ही स्तोकादि का ग्रहण होता है। 'करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्र' का नहीं। समासत्व निबन्धप्रातिपदिक संज्ञा के अवयव सुप् का 'सुपोः' से प्राप्त लुक् का प्रतिषेध है, तकार को नकार अनुनासिक से है 'स्तोकान्मुक्तः' स्तोकान्मुक्तस्यापत्यम् स्तोकान्मुक्तिः। यह समास का फल है। एवं अन्तोदात्त एकपदत्वादि अनेक फल हैं, ऐसी परिस्थित में यहाँ समास असमास में विशेषता नहीं यह भ्रम न करना। अन्तिकान्मुक्तः। दूरान्मुक्तः। कृच्छ्रान्मुक्तः। पञ्चमी तत्पुरुष में निःस्तोकः में उत्तरपद परक स्तोक नहीं प्रत्युत स्वयं स्तोक ही उत्तरपद है अतः यहाँ अलुक् न हुआ। ब्राह्मण से पर पञ्चमी का अलुक् शंसिन् उत्तरपद पर रहते होता है। ब्राह्मण ग्रन्थ में विहित शस्त्रों को भी लक्षणया ब्राह्मण ही कहकर उनका कथन कर्ता ऋत्विक को ब्राह्मणाच्छंसी यहाँ पञ्चमी का लुक् न हुआ। यहाँ कथनकर्म ब्राह्मण है, अतः द्वितीया कर्मार्थक प्राप्त थी किन्तु पञ्चमी का अलुक् बोधन से यहाँ कर्मार्थक पञ्चमी ही हुई है, पञ्चमी का अर्थ द्वितीयार्थ ही होता है।

९६२ ओजः सहोऽम्भस्तमसस्तृतीयायाः ६।३।३।

ओजसाकृतम्। *अञ्जस उपसंख्यानम्*। अञ्जसाकृतम्=आर्जवेन कृतमित्यर्थः। *पुंसानुजो जनुषान्ध इति च*। यस्याग्रजः पुमान् स पुंसानुजः। जनुषान्धो जात्यन्धः।

ओजस्, सहस्, अम्भस्, तमस् इनसे पर तृतीया का उत्तरपद पर रहते अलुक् होता। ओजसाकृतम्। सहसाकृतम्। अम्भसाकृतम्। तमसाकृतम्। कार्य्यम् यह विशेष्य है।

अञ्जस् शब्दोत्तर तृतीया का अलुक् होता है उत्तर पद पर रहते। सरलतापूर्वक सम्पन्न कार्य में अञ्जसाकृतम्। पुंस शब्द से पर तृतीया का अलुक् होता है अनुज उत्तरपद रहते।

एव जनुष् से पर तृतीया का अलुक होता है अन्ध उत्तर पद पर रहते। जिसकी उत्पत्ति के पूर्व भ्राता ही उत्पन्न है वह पुंसानुज है। जन्म से ही अन्ध वहाँ जनुषान्ध =जात्यन्ध।

९६३ मनसः संज्ञायाम् ६।३।४।

मनसागुप्ता।

समस्त शब्द से संज्ञा अर्थ की प्रतीति होती हो वहाँ उत्तरपद पर रहते मनस् शब्द से पर तृतीया का अलुक् रहता है।

९६४ आज्ञायिनि च ६।३।५।

मनस इत्येव। मनसा आज्ञातु शीलमस्य मनसाज्ञायी।

आज्ञायिन् शब्द उत्तर पद पर रहते मनस् शब्द से पर तृतीया का लुक् नहीं होता है। वचन से नहीं केवल मन से आज्ञा देने का स्वभाव = प्रकृतियुक्त पुरुष को मनसाज्ञायी कहते हैं। इङ्गितमात्र से आज्ञापक।

९६५ आत्मनश्च ६।३।६२।

आत्मनस्तृतीयाया अलुक् स्यात्। ॐपूरण इति वक्तव्यम्ॐ। पूरणप्रत्ययान्ते उत्तरपदे इत्यर्थः। आत्मनापञ्चमः। 'जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव इति बहुव्रीहिर्बोध्यः'। पूरणे किम्, आत्मकृतम्।

आत्मन् से पर तृतीया का अलुक् है, पूरण प्रत्ययान्त उत्तरपद पर रहते। आत्मनापञ्चमः। आत्मा चतुर्थ यस्य यहाँ बहुव्रीहि है तृतीया का लुक् होता ही है। काशिका में सूत्र 'आत्मनश्च पूरणे' ऐसा है। स्वयकृत अर्थ में आत्मकृतम्।

९६६ वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः ६।३।७।

आत्मन इत्येव। आत्मनेपदम्। आत्मनेभाषा। तादर्थ्ये चतुर्थी। 'चतुर्थी' इति योगविभागात्समासः।

व्याकरण सम्बन्धिनी संज्ञा में उत्तरपद पर रहते आत्मन् से उत्तर चतुर्थी का लुक नहीं होता है। तादर्थ्य में चतुर्थी समास लुगभाव से आत्मनेपदम्। प्राचीन व्याकरण में आत्मनेभाषा यह भी संज्ञा है। यहां 'चतुर्थी तदर्थ' सूत्र में 'चतुर्थी' ऐसा योगविभाग से समास है।

९६७ परस्य च ६।३।८।

परस्मैपदम्। परस्मैभाषा।

व्याकरण की संज्ञा में उत्तरपद पर रहते पर से पर चतुर्थी का लुक् नहीं होता है, संज्ञा में। यथा-परस्मैपदम्, परस्मैभाषा।

९६८ हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् ६।३।९।

हलन्तादन्ताच्च सप्तम्या अलुक् संज्ञायाम। त्वचिसारः।

हलन्त एव ह्रस्व अकारान्त से पर सप्तमी का अलुक् संज्ञा में होता है। त्वचिसार।

९६९ गवियुधिभ्यां स्थिरः ८।३।९५।

आभ्यां स्थिरस्य सस्य षः स्यात्। गविष्ठिरः। अत्र गवीतिवचनादेवालुक्। युधिष्ठिरः। अरण्येतिलकः। अत्र संज्ञायामिति सप्तमीसमासः। ॐहृद्द्युभ्यां ङेःॐ। हृदिस्पृक्। दिविस्पृक्।

गवि और युधि इनसे पर स्थिर शब्द उसका सकार को षकारादेश होता है। गवि से पर स्थिर के सकार को षत्व विधान से ही गो शब्द से पर समासावयव सप्तमी का लुक् नहीं होता है ऐसा ज्ञापन करना। अन्यथा गो से पर ही स्थिर मिलेगा षत्व विधान व्यर्थ है। यद्यपि यहां पदद्वय सम्बन्धी समासत्व निबन्धन प्रातिपदिक निमित्तक लुक् बहिरङ्ग है अन्तरङ्ग अवादेश होकर गव् हलन्त है उससे पर इकार विभक्ति का है यहां 'हलदन्तात्'से अलुक् हो ही जाता पुनः गवीति वचनारम्भ से अपूर्व ज्ञापक का क्या उपयोग है ?, तथापि यहां अन्तरङ्ग परिभाषा की बाधक एक अन्य परिभाषा है, "अन्तरङ्गान् अपि विधीन् बहिरङ्गो लुक् बाधते' से अन्तरङ्ग कार्य अवादेश उसका अभाव से यहां गो ओकारान्त ही है, हलन्त नहीं।

यहां 'सात्पदाद्योः' से निषेध प्राप्त था, अतः इस सूत्र का आरम्भ किया है। युधिष्ठिरः। समास अलुक् षत्व पूर्ववत् है। अदन्त का उदाहरण—'अरण्येतिलकाः' समास अलुक्। यह किसी की संज्ञा है। हृद् एवं दिव् शब्द से पर सप्तमी का अलुक् होता है उत्तरपद पर रहते। हृदिस्पृक्। दिविस्पृक्।

९७० कारनाम्नि च प्राचां हलादौ ६।३।१०।

प्राचां देशे यत्कारनाम तत्र हलादौ उत्तरपदे हलदन्तात् सप्तम्या अलुक्। मुकुटेकार्षापणम्। दृषदिमाषकः। पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थम्। कारनाम्न्येव, प्राचामेव, हलादावेवेति। कारनाम्नि किम्, अभ्याहितपशुः। कारादन्यस्यैनद्देयस्य नाम। प्राचां किम्, यूथपशुः। हलादौ किम्, अविकटोरणः। हलदन्तात् किम्, नद्यां दोहो नदीदोहः।

वैश्य, पशुपालक, कृषक आदि से राजग्राह्य भाग को कारनाम कहते हैं। करोति=करः, पचाद्यच् करः एव कारः स्वार्थिक अण्, कारस्य नाम तस्मिन् कारनाम्नि। यहां कारे कहना था, संज्ञायाम् की अनुवृत्ति है नाम ग्रहण व्यर्थ है।

पूर्वदेश में जो कारनाम (कर) वहां हलादि उत्तरपद पर रहते हलन्त एवं अदन्त से पर सप्तमी का संज्ञा में अलुक् होता है। मुकुट धारण में कार्षापण द्रव्य दान की रीति कर रूप से देने की रही या संज्ञा में विभक्ति का अलुक् मुकुटेकार्षापणम्। दृषदिमाषकः। पूर्व से सिद्ध ही था यह नियमार्थ है, तीन नियम यहां होते हैं। १—हलन्त एवं अदन्त से पर सप्तमी का अलुक् होता है किन्तु यदि वह प्राचीन देश प्रसिद्ध कारनामक हलादि उत्तरपद पर में रहे तब ही।

'अभ्याहितपशुः' यहां लुक् होगा। क्योंकि यह कर से अन्य दान क्रिया कर्म=देय का नाम है। 'यूथपशुः' यह पूर्वदेश का राजदेय कर नहीं यहां लुक् हो जाता है। अवि से संघ अर्थ में कटच् प्रत्यय है। अविकटे उरणः=मेषः यहां अविकटोरणः उत्तरपद हलादि न होने से सप्तमी का लुक् हुआ है। नदीदोहः यहां सप्तमी का लुक् हुआ है, पूर्वपद ईकारान्त है।

९७१ मध्याद् गुरौ ६।३।११।

मध्येगुरुः। ॐअन्ताच्चॐ अन्तेगुरुः।

गुरु शब्द उत्तर में रहते मध्य एवं अन्त से पर सप्तमी का लुक् नहीं होता है।

९७२ अमूर्द्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे ६।३।१२।

कण्ठेकालः। उरसिलोमा। अमूर्द्धमस्तकात् किम्, मूर्द्धशिख। मस्तकशिख। अकामे किम्, मुखे कामोऽस्य मुखकामः।

मूर्द्ध एव मस्तक से भिन्न स्वाङ्गवाचक से पर सप्तमी का अलुक् होता है काम से भिन्न उत्तरपद पर रहते।

९७३ बन्धे च विभाषा ६।३।१३।

हलदन्तात् सप्तम्या अलुक्। हस्तेबन्ध। हस्तबन्ध। हलदन्तात् इति किम्, गुप्तिबन्ध।

बन्ध शब्द पर रहते हलन्त एव अदन्त से पर सप्तमी का अलुक् विकल्प से होता है।

९७४ तत्पुरुषे कृति बहुलम् ६।३।१४।

स्तम्बेरम। स्तम्बरम। कर्णेजपः। कर्णजप। क्वचिन्न, कुरुचर।

तत्पुरुष समास में कृत् प्रत्ययान्त पर रहते बहुल सप्तमी का अलुक् होता है। बहुल से विकल्प एव क्वचित् लुक् हो भी जाता है। विकल्पार्थ एवं अप्रवृत्त्यर्थक बहुल ग्रहण यहां है।

९७५ प्रावृट्शरत्कालदिवां जे ६।३।१५।

प्रावृषिजः। शरदिजः। कालेज। दिविजः। पूर्वस्याय प्रपञ्च।

कृत्प्रत्ययान्त ज उत्तरपद पर रहते प्रावृष्, शरत्, काल, दिव् इनसे पर सप्तमी का अलुक् होता है। यह पूर्वसूत्र का ही प्रपञ्च = स्पष्ट ज्ञानार्थ है। व्यर्थ है।

९७६ विभाषा वर्षक्षरशरवरात् ६।३।१६।

एभ्यः सप्तम्या अलुक् जे। वर्षेज। वर्षज। क्षरेज। क्षरज। शरेजः। शरजः। वरेजः। वरजः।

वर्ष क्षर, शर, वर इन से पर सप्तमी का विकल्प से अलुक् होता है ज पर रहते।

९७७ घकालतनेषु कालनाम्नः ६।३।१७।

सप्तम्या विभाषा अलुक् स्यात्। घे—पूर्वाह्णेतरे। पूर्वाह्णतरे। पूर्वाह्णेतमे। पूर्वाह्णतमे। पूर्वाह्णेकाले। पूर्वाह्णकाले। तने—पूर्वाह्णेतने। पूर्वाह्णतने।

तरप् एव तमप् की घ संज्ञा होती है अत घपद से पूर्वोक्त दो प्रत्ययों का ग्रहण करना। घसञ्ज्ञक, कालवाचक, एव तन पर रहते सप्तमी का अलुक होता है। ट्यु या ट्युल प्रत्यय होकर तुट् आगम से 'तन' बनता है, सूत्र—'साय चिरम्' है।

९७८ शयवासवासिष्वकालात् ६।३।१८।

खेशय। खशय। ग्रामेवासः। ग्रामवासः। ग्रामेवासी। ग्रामवासी। हलदन्तादित्येव भूमिशयः॥अपोयोनियन्मतुपु॥ अप्सु योनिः=उत्पत्तिर्यस्य सोऽप्सुयोनिः। अप्सु भवोऽप्सव्यः। अप्सु मन्तावाज्यभागौ।

यह पाठ हरदत्तानुसारी है, वार्तिक में मतिषु यह पाठ ही उचित है। शय, वास, वासिन्,

उत्तरपद पर रहते कालवाचक से भिन्न शब्द से पर सप्तमी का विकल्प से अलुक् होता है। पूर्वपद हलन्त या अदन्त रहे तब ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है भूमिशय में लुक् हो गया। •योनि, यत्प्रत्यय, मतुप् प्रत्यय पर रहते अप् शब्द से पर सप्तमी का अलुक् होता है•। अप्सुयोनिः। यत् प्रत्यय—अप्सव्यः। ओर्गुण से गुण एवं अवादेश है। भवार्थक यत् प्रत्यय है। एविषान्न के भागद्वय अर्थ में अप्सुमन्तौ।

९७९ नेन्सिद्धबध्नातिषु च ६।३।१९।

इन्नन्तादिषु सप्तम्या अलुक् न। स्थण्डिलशायी। सांकाश्यसिद्धः। चक्रबन्धः।

इन् प्रत्ययान्त शब्द, सिद्धशब्द, एवं बन्धनार्थकबन्ध धातु निष्पन्न बन्ध पर रहते सप्तमी का अलुक नहीं होता है। अकृत्रिमभूमि को स्थण्डिल कहते हैं। संकाशदेशोद्भव को सांकश्य कहते हैं। चक्रबन्धः यहां तत्पुरुष है। बहुव्रीहि में तो बन्धे विभाषा से विकल्प लुक् से दो रूप होते हैं।

९८० स्थे च भाषायाम् ६।३।१९।

सप्तम्या अलुक् न। समस्थः। भाषायां किम्, कृष्णोऽस्याखरेष्ठः।

स्थ शब्द पर रहते लोक में सप्तमी का अलुक् नहीं होता है। अर्थात् लुक् होता है। समे तिष्ठति समस्थ, , 'सुपि स्थः' से कप्रत्यय आकारलोप उपपद समास सप्तमी का लुक् समस्थः। यह निषेध 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' का ही है, अनन्तरस्य न्याय से। अतः कण्ठेस्थः यहां अमूर्द्धमस्तकेति अलुक् हुआ, यह भाष्य प्रयोग है। 'अनेकम्' सूत्र पर भाष्यकार ने इसका उच्चारण किया है। भाषा कथन से वेदमन्त्र में अलुक् है। आखरेष्ठः।

९८१ षष्ठ्या आक्रोशे ६।३।२१।

चौरस्य कुलम्। आक्रोशे किम्, ब्राह्मणकुलम्। ॐवाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषुॐ। वाचोयुक्तिः। दिशोदण्डः। पश्यतोहरः। ॐआमुष्यायणाऽऽमुष्यपुत्रिकाऽऽमुष्यकुलिकेति चॐ। अमुष्यापत्यम्—आमुष्यायणः। नडादित्वात् फक्। अमुष्य पुत्रस्य भावः—आमुष्यपुत्रिका। मनोज्ञादित्वाद् वुञ्। एवम् आमुष्यकुलिका। ॐदेवानां प्रिय इति च मूर्खेॐ। अन्यत्र देवप्रियः। ॐशेपपुच्छलाङ्गुलेषु शुनःॐ। शुनःशेपः। शुनःपुच्छः। शुनोलाङ्गुलः। ॐदिवश्च दासेॐ। दिवोदासः।

निन्दा गम्यमान होने पर षष्ठी का अलुक् होता है। चौर का कुल से निन्दा की प्रतीति हुई। ब्राह्मणकुलम् यहां निन्दा नहीं विभक्ति का लुक् हो गया है। युक्ति, दण्ड, हर शब्द उत्तरपद रहते वाक्, दिक्, पश्यत् इनसे पर षष्ठी का अलुक् होता है। वाचोयुक्तिः = वचन का प्रामाण्य। दिशासम्बन्धी दण्डः दिशोदण्डः। पश्यत्=दृश् लट् शतृ पश्यादेश पश्यतोहरः। देखनेवाले का अनादर कर दिखते दिखते चुरा लेने वाला चौर। या स्वर्णकारादि। यह असत् पक्ष में उदाहरण है, 'षष्ठी चानादरे' से, षष्ठी विभक्ति यहां है।

आयनप्रत्यय, पुत्रिका, कुलिका, पर रहते अदस् शब्दोत्तर षष्ठी का अलुक्। अमुष्य स्वरूपस्थित रहता है। नडादि मानकर फक् उसको आयन्, आदि वृद्धि से आमुष्यायण की सिद्धि है। मनोज्ञादि मानकर वुञ् प्रत्यय आमुष्यपुत्रिका, वु को अक टाप् प्रत्ययस्थात् से इत्व है। इसी

प्रकार आमुष्यकुलिका यहां षष्ठी का अलुक् है। मूर्ख अर्थ में प्रिय उत्तरपद पर रहते देव से पर षष्ठी का लुक नहीं होता है, देवानां प्रियः। मूर्ख लोग देवप्रीति सम्पादनार्थ यज्ञ करते हैं, वह उनकी उपासना फलपरक होने से संसारगर्त में लम्बनरूप है। कोम्य कर्म का निषेध परक यह वाक्य है। या बौद्धमत खण्डनार्थ प्रवृत्ति प्रसङ्ग में बौद्धों की निन्दार्थ प्रयुक्त है। बाह्य पूजा योगविद्या द्वारा आराधनापेक्षया अधम है। शेप, पुच्छ, लांगुल पर रहते शुन् शब्द से पर षष्ठी का अलुक् होता है। शुनः शेपः। शुन इव शेपम् अस्य। शेपस् सकारान्त है ("गोलिङ्गचिह्नशेपसो." यह अमरकोशकारोक्ति है। शुन. पुच्छम्, यहां बहुव्रीहि है। यह तीनों ऋषिविशेष की संज्ञायें हैं। दास शब्द से पूर्व दिवस् शब्द की षष्ठी जो विभक्ति है उसका अलुक होता है। दिवोदासः।

९८२ पुत्रेऽन्यतरस्याम् ६।३।२२।

षष्ठ्याः पुत्रे परेऽलुग्वा निन्दायाम्। दास्याःपुत्रः। दासीपुत्रः। निन्दायां किम्, ब्राह्मणीपुत्रः।

निन्दा अर्थ गम्यमान हो तो पुत्र शब्द पर रहते षष्ठी का अलुक् होता है।

९८३ ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः ६।३।२३।

विद्यासम्बन्धयोनिसम्बन्धवाचिन ऋदन्तात् षष्ठ्या अलुक्। होतुरन्तेवासी। होतु पुत्र.। पितुरन्तेवासी। पितुःपुत्रः। ॥विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यस्तत्पूर्वोत्तरपदग्रहणम्॥। नेह—होतृधनम्।

विद्यासम्बन्ध वाचक ऋकारान्त शब्द से पर षष्ठी का अलुक् होता है, विद्यासम्बन्ध या योनिसम्बन्ध वाचक शब्द ही उत्तरपद रहने चाहिये। पितृधनम् में उत्तरपद धन होने से यहाँ लुक् ही गया है।

९८४ विभाषा स्वसृपत्योः ६।३।२४।

ऋदन्तात् षष्ठ्या अलुक् वा स्वसृपत्योः परयोः।

ऋकारान्त शब्द से पर षष्ठी का अलुक् होता है स्वसृ या पतिशब्द पर में रहते।

९८५ मातुःपितुर्भ्यामन्यतरस्याम् ८।३।८५।

आभ्यां परस्य स्वसुः सस्य षो वा स्यात् समासे। मातुःष्वसा। मातुःस्वसा। पितुःष्वसा। पितुः स्वसा। लुक् पक्षे तु—

समास में मातृ एवं पितृ शब्द से पर जो स्वसृशब्द है उसका सकार को विकल्प से षकार होता है।

९८६ मातृपितृभ्यां स्वसा ८।३।८४।

आभ्यां परस्य स्वसु सस्य षः स्यात् समासे। मातृष्वसा। पितृष्वसा। *असमासे तु मातुः स्वसा। पितुः स्वसा।*

समास में मातृ एवं पितृ से पर स्वसृ के सकार को षकार होता है। असमास में नहीं। मातुः स्वसा = मौसी। पितुः स्वसा = पिता की बहन।

पं० श्री बा० कु० पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में अलुक् समास समाप्त

अथ समासाश्रयविधिप्रकरणम् ॥ २३ ॥

९८७ घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः ६।३।४३।

भाषितपुंस्काद् यो ङी तदन्तस्यानेकाचो ह्रस्वः स्याद् घरूपकल्पप्प्रत्ययेषु, चेलडादिषु चोत्तरपदेषु। ब्राह्मणितरा। ब्राह्मणितमा। ब्राह्मणिरूपा। ब्राह्मणिकल्पा। ब्राह्मणिचेली। ब्राह्मणिब्रुवा। ब्राह्मणिगोत्रेत्यादि। ब्रुवः पचाद्यचि वच्यादेशगुणयोरभावोऽपि निपात्यते। चेलडादीनि वृत्तिविषये कुत्सनवाचीनि तैः 'कुत्सितानि कुत्सनैः' इति समासः। ङ्यः किम्, दत्तातरा। भाषितपुंस्कात्किम्, आमलकीतरा। कुवलीतरा।

घसंज्ञकप्रत्यय, रूपप्, कल्पप्, तथा चेलट्, ब्रुव, गोत्र, मत, हत, इतने शब्द पर रहते भाषितपुंस्क शब्दोत्तर जो ङी तदन्त जो अनेकाच् उसका ह्रस्व होता है। 'अतिशायने' सूत्र से तमप् प्रत्यय होता है, 'द्विवचनविभज्य' सूत्र से तरप्। तरप् तमप् की घसंज्ञा होती है, सूत्र–'तरप्तमपौ घः'। ब्राह्मण शब्द जातिवाचक से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् अकारलोप से ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टा जो उसमें उत्कृष्टा दोनों में एक, ह्रस्व से ब्राह्मणितरा। अनेक में एक उत्कृष्टा स्त्री ब्राह्मणितमा। प्रशस्ता ब्राह्मणी ब्राह्मणिरूपा यहां प्रशंसायां रूपप् प्रत्यय है। ब्राह्मणिकल्पा में ह्रस्व है। ईषदसमाप्ति अर्थ में ईषद् असमाप्ता ब्राह्मणी। समासावयव चेलडादि निन्दार्थक है। नीचा ब्राह्मणी ब्राह्मणिचेली, 'टिड्ढाण्' से ङीप्। ब्राह्मणिब्रुवा। यहां अच्प्रत्यय है, वच् आदेश गुण का अभाव निपातन से है। यहां निन्दा में 'कुत्सितानि' सूत्र से समास है। दत्तातरा में ङयन्त नहीं, अतः ह्रस्वाभाव है, आमलकी शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग है, भाषितपुंस्क नहीं, अतः आमलकीतरा यहाँ ह्रस्व का अभाव है। इसी प्रकार कुवलीतरा में ही ह्रस्वाभाव है। इन दोनों शब्द वृक्षार्थक है।

९८८ नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम् ६।३।४४।

अङ्यन्तनद्या ङ्यन्तस्यैकाचश्च घादिषु ह्रस्वो वा स्यात्। ब्रह्मबन्धुतरा। ब्रह्मबन्धूतरा। स्त्रितरा। स्त्रीतरा। *कृन्नद्या न* । लक्ष्मीतरा।

घ, रूप, कल्प, चेलट्, ब्रुव, गोत्र, मत, हत इन शब्दपर रहते अङ्यन्त नदीसंज्ञक का एवं ङ्यन्त एकाच् शब्द का विकल्प से ह्रस्व होता है। कृदन्त नदी संज्ञक का ह्रस्व नहीं होता है। लक्ष् से कृत् ईप्रत्यय एवं मुट् आगम से लक्ष्मी शब्द सिद्ध है।

९८९ उगितश्च ६।३।४५।

उगितः परा या नदी तदन्तस्य घादिषु ह्रस्वो वा स्यात्। विदुषितरा। ह्रस्वाभावपक्षे तु तसिलादिष्विति पुंवत्, विद्वत्तरा। वृत्त्यादिषु विदुषीतरेत्युदाहृतं तन्निर्मूलम्।

घादि पर रहते उगित् से पर जो नदी तदन्त का ह्रस्व विकल्प से होता है। 'यूस्त्र्याख्यौ' आदि नदी संज्ञा विधायक सूत्रों में दो पक्ष हैं, वर्ण संज्ञा पक्ष, एवं तदन्तसंज्ञा पक्ष है। वर्णसंज्ञा

पक्ष में ङीप् ङीष् ङीन् आदि का ईकार की नदी संज्ञा है। इस पक्ष का समाश्रय से यहाँ 'ङगित' परा नदी' यह लिखा है। विद ज्ञाने से लट्, शतृ, वसु, वस् विद्वस् उगित्त्व से ङीप्, सम्प्रसारण, पूर्वरूप षत्व से विदुषी से अतिशयार्थक तरप् टाप् ह्रस्व विदुषितरा। ह्रस्व के अभाव में पुंवद् भाव से स्त्रीत्व प्रयुक्त ङीप् की निवृत्ति–विद्वत्तरा। विदुषीतरा यह तो अनुचित रूप है।

९९० हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु ६।३।५०।

हृदय लिखतीति हृल्लेख । हृदयस्य प्रिय हृद्यम्। हृदयस्येदं हार्दम्। हृल्लास'। लेखेत्यणन्तस्य ग्रहणम्। घञि तु हृदयलेख'। लेखग्रहणमेव ज्ञापकम्—उत्तरपदाधिकारे तदन्तविधिर्नास्तीति।

लेखशब्द, यत्प्रत्यय अणप्रत्यय, लास शब्द इन उत्तरपद में रहते हृदय को हृद् आदेश होता है। हृदय कर्म उपपद रहते अक्षरविन्यासार्थक लिख धातु से 'कर्मण्यण्' से अण् प्रत्यय लघूपध गुण, उपपद समास, हृदय को हृद् आदेश, परसवर्ण से हृल्लेख'। प्रिय अर्थ में यत् प्रत्यय हृदादेश से हृद्यम्। अण् प्रत्यय इदमर्थ में हृदादेश वृद्धि हार्दम्। हृल्लास।

विमर्श—यहां लेख शब्द से अणन्त तदादि का ही ग्रहण है। घञन्त तदादि का नहीं है। लेख ग्रहण ही उत्तरपदाधिकारे परिभाषा में ज्ञापक है। अन्यथा अण् प्रत्यय से अणन्त-तदादि ग्रहण से कार्य निर्वाह होता पुन सूत्र में लेख ग्रहण व्यर्थ है, वह ज्ञापन करता है कि उत्तरपद के अधिकार में प्रत्ययग्रहणे परिभाषा तदादि शब्द स्वरूप की उपस्थिति कर तदादि विशेष्य प्रत्यय विशेषणक तदन्त विधि नहीं करती है, अत' अणरूप उत्तरपद ही अर्थ होकर हृल्लेख में अण् से कार्य निर्वाह नहीं होता एतदर्थ लेख ग्रहण स्वांश में चरितार्थ हुआ।

परिभाषा का स्वरूप—"उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे न तदन्तग्रहणम्"। इसमें लेख ग्रहण ज्ञापक है। लेखान्त उत्तर पद अर्थ यहां नहीं है "उत्तरपदाधिकारे प्रातिपदिकग्रहणे न तदन्त—ग्रहणम्" से उत्तरपद विशेष्य प्रातिपदिक विशेषणक तदन्तविधि नहीं होती है, अत लेखान्त उत्तरपद परमलेख पर में रहते हृद् आदेशार्थ लेख है यह नहीं कह सकते है, लेख ग्रहण ज्ञापक है इसको भाष्यकार भी मानते है, "यदय लेखग्रहण करोति तद् ज्ञापयति–आचार्य उत्तरप दाधिकारे प्रत्ययग्रहणे न तदन्तग्रहणमिति' यह भाष्यानुपूर्वी लभ्यार्थ है। तेन अण् स्वरूप का ही बोधक है, अणन्त अर्थ का बोधक नहीं है।

९९१ वा शोकष्यञ्रोगेषु ६।३।५१।

हृच्छोक । हृदयशोक । सौहार्दम्। सौहृदयम्। हृद्रोगः। हृदयरोगः। हृदयपर्यायो हृच्छब्दोऽप्यस्ति। तेन सिद्धे प्रपञ्चार्थमिदम्।

शोक, ष्यञ्प्रत्यय, रोग इन शब्दों के उत्तरपद पर रहते हृदय शब्द के स्थान में हृद् आदेश विकल्प से होता है। हृदय का समानार्थक हृद् शब्द है पुन यह सूत्र स्पष्टार्थ है अर्थात् अनावश्यक है पारायण जन्य अदृष्टमात्र फलार्थ है जिस क्रम से आचार्य ने अष्टाध्यायी का निर्माण किया उसका आदित अन्त तक अध्ययन रूप पारायण से अदृष्ट सिद्धि होती है, दृष्ट फल, अदृष्ट फल दृष्ट अदृष्ट उभय फलों में उत्तम दृष्ट फल पूर्वक अदृष्ट फल है।

९९२ पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु ६।

एष्वुत्तरपदेषु पादस्य पद इत्यदन्त आदेशः स्यात्। पदाभ्यामजतीति पदाजिः। पदातिः। अज्यतिभ्यां पादे चेतीण् प्रत्ययः। अजे र्व्यभावो निपातनात्। पदगः। पदोपहतः।

आजि, आति, ग, उपहत इन परे रहते पाद को पद आदेश होता है। पादाभ्याम अजति = गच्छति अर्थ में अज् से इण् प्रत्यय उपधावृद्धि से आजि = गमनकर्ता, पाद के अकारान्त पद आदेश दीर्घ पदाजिः। पादाभ्याम् अततीति पदातिः। अज् के स्थान में वि आदेश प्राप्त था उसका अभाव निपातन से हुआ है। पदाभ्यां गच्छति पदगः। पादाभ्याम् उपहतः पदोपहतः।

९९३ पद्यत्यतदर्थे ६।३।५३।

पादस्य पत् स्यादतदर्थे यति परे। पादौ विध्यन्ति इति पद्याः शर्कराः। अतदर्थे किम्, पादाभ्यामुदकं पाद्यम्। पादार्घाभ्यां चेति यत्। *इके चरतावुपसंख्यानम्*। पादाभ्यां चरति पदिकः। पर्पादित्वात् ष्ठन्।

अतदर्थक यत् प्रत्यय पर रहते पाद शब्द को पत् आदेश होता है। तदर्थक यत् में पदादेश का अभाव है। 'विध्यत्यधनुषा' से यत् प्रत्यय पदादेश पद्याः शर्कराः = कंकण। पाद से तदर्थ अर्थ में यत्, अकार लोप पाद्यम् = पैर धोने के लिये जल। *'चरति' = गच्छति अर्थ में विहित यत् प्रत्यय पर रहते पाद को पत् आदेश होता है। पादाभ्याम् से ष्ठन् विभक्तिलोप इकादेश पदादेश पदिकः = पैर से गमन कर्ता।

९९४ हिमकाषिहतिषु च ६।३।५४।

पद्धिमम्। पत्काषी, पद्धतिः।

हिम, काषि, हति पर रहते पाद को पदादेश होता है। पत्काषी णिनि प्रत्ययान्त काषी है, 'सुप्यजातौ' से णिनि। पद्धतिः = पादाभ्यां हन्यते यः सः मार्गः। हन् धातु से कर्मार्थक क्तिन् प्रत्यय है।

९९५ ऋचः शे ६।३।५५।

ऋचः पादस्य पत्स्याच्छे परे। गायत्रीं पच्छः शंसति, पादम्पादमित्यर्थः। ऋचः किम्, पादशः कार्षापणं ददाति।

श पर रहते मन्त्र सम्बन्धी पाद को पदादेश होता है। लोमादि से विहित शस् को 'श' अनुकरण है यह कहना उचित नहीं है लोमादि में पाद का पाठ नहीं है। अतः शस् प्रत्यय का अनुकरण है, 'श' पच्छः पादं पादं शंसति = एक एक करके पढता है। मन्त्र सम्बन्धी भिन्न में पादशः। 'संख्यैकवचनाच्च' सूत्र से शस् प्रत्यय यहाँ होता है।

९९६ वा घोषमिश्रशब्देषु ६।३।५६।

पादस्य पत्। पद्घोषः। पादघोषः। पन्मिश्रः। पादमिश्रः। पच्छब्दः। पादशब्दः। *निष्के चेति वाच्यम्*। पन्निष्कः। पादनिष्कः।

घोष, मिश्र, शब्द इनके पर रहते पादको पत् आदेश विकल्प से होता है। निष्कशब्द पर रहते भी पादको पदादेश होता है।

९९७ उदकस्योदः संज्ञायाम् ६।३।५७।

उदमेघः । ॐउत्तरपदस्येति वक्तव्यम्ॐ । क्षीरोदः ।

संज्ञा में पूर्वपदस्थ उदक शब्द को उदादेश होता है । उदकमेघ = उदमेघः । सादृश्य से यह पुरुष की संज्ञा है । क्षीरम् उदकं यस्य क्षीरोदः । यहां उत्तरपदस्थ उदक को भी उदादेश वार्तिक मत से हुवा है । समुद्र की संज्ञा है ।

९९८ पेषं वासवाहनधिषु च ६।३।५८।

उदपेषं पिनष्टि । उदवासः । उदवाहनः । उदधिर्घटः । समुद्रे तु पूर्वेण सिद्धम् ।

णमुल्प्रत्ययान्त पेषम्, वास, वाहन, किप्रत्ययान्त धि, इन उत्तर पद रहते उदक को उदादेश होता है । पिष धातु का अर्थ है अवयवों को चूर्ण युक्त करना = पिसना । उदकम् पिनष्टि अर्थ में 'स्नेहने पिषः' से णमुल् प्रत्यय है । उदक को उदादेश है । उदके वासो यस्य उदकवासः । उदकस्य वाहन, यस्य उदवाहन । उदकं धीयतेऽस्मिन् उदधिः किप्रत्यय अधिकरण में 'कर्मण्यधिकरणे च' से हुवा है । उदधि = समुद्र इस अर्थ में तो संज्ञा में पूर्व सूत्र से ही सिद्ध है ।

९९९ एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम् ६।३।५९।

उदकुम्भः । उदककुम्भः । एकेति किम्, उदकस्थाली । पूरयितव्येति किम्, उदकपर्वतः ।

पूरयितव्य अर्थ में एक हल्मात्र आदि में रहते उदक को उदादेश विकल्प से होता है । उदकुम्भः । यहां भरने योग्य घड़ा है, जल से भरने योग्य घड़ा । पर्वत पूरयितव्य नहीं है अतः उदकपर्वतः ।

१००० मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु च ६।३।६०।

उदमन्थः । उदकमन्थः । उदौदनः । उदकौदनः ।

मन्थ, ओदन, सक्तु, बिन्दु, वज्र, भार, हार, वीवध, गाह इन शब्द उत्तरपद पर रहते उदक को उदादेश विकल्प से होता है । मथन करने का दण्ड को मन्थ कहते हैं । 'मन्थो मन्थनदण्डश्च' ।

१००१ इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य ६।३।६१।

इगन्तस्य ङ्यन्तस्य ह्रस्वो वा स्यादुत्तरपदे । ग्रामणिपुत्रः । ग्रामणीपुत्रः । इकः किम्, रमापतिः । अङ्य इति किम्, गौरीपतिः । गालवग्रहणं पूजार्थम्, अन्यतरस्यामित्यनुवृत्तेः । ॐइयङुवङ्भाविनामव्ययानां च नेति वक्तव्यम्ॐ । श्रीमदः । भ्रूभङ्गः । शुक्लीभावः । ॐभ्रूकुंसादीनामिति वक्तव्यम्ॐ । भ्रुकंसः, भ्रुकुटिः । भ्रूकंसः । भ्रूकुटिः । अकारोऽप्यनेन विधीयते इति व्याख्यान्तरम् । भ्रकंसः । भ्रकुटिः । भ्रुवा कंसो भाषणं शोभा वा यस्य सः स्त्रीवेशधारी नर्तकः । भ्रुवः कुटिः = कौटिल्यम् ।

इगन्त जो ङ्यन्त उसका ह्रस्व विकल्प से होता है, उत्तर पद पर रहते। ग्रामणिपुत्रः। पक्ष में ग्रामणीपुत्रः। रमापति यहां पूर्वपद इगन्त नहीं है। गौरीपति में पूर्वपद ङ्यन्त है। गालव ग्रहण यहां प्रशंसार्थ है, क्योंकि अन्यतरस्याम् की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र से होकर विकल्प का लाभ है। •इयङ् उवङ् स्थानी का तथा अव्यय के अन्त्य अच् का ह्रस्व नहीं होता है। श्रिया मदः—श्रीमदः। भ्रुवः भङ्गः—भ्रूभङ्गः। अशुक्लं शुक्लं भवतीति शुक्लीभावः यहां च्व्यन्त अव्यय है अतः ह्रस्व न हुआ। •भ्रूकंसादि शब्दों में ह्रस्व का निषेध की प्रवृत्ति नहीं अर्थात् ह्रस्व विकल्प होता ही है। अतः भ्रुकंसः भ्रूकंस रूप द्वय हैं। भ्रुकुटिः भ्रूकुटिः। यहां अकार का विधानक भी है इस अन्यव्याख्या मत में भ्रकंसः। भ्रकुटिः। भौंवो के इशारे से कथनीय भावो को व्यक्त करने वाला स्त्रीवेश को धारण कर्ता नट विशेष। कुटिः का अर्थ वक्रता = कुटिलता।

१००२ एकतद्धिते च ६।३।६२।

एकशब्दस्य ह्रस्वः स्यात् तद्धिते उत्तरपदे। एकस्या आगतम् एकरूप्यम्। एकक्षीरम्।

तद्धित प्रत्यय पर रहते एक शब्द का ह्रस्व होता है। एकशब्द स्वतः ह्रस्वान्त है, अतः एका शब्दान्त का ह्रस्वोदाहरण है। यहां एकस्या आगतम् एकरूप्यम। एकस्याः क्षीरम् = एकक्षीरम्।

१००३ ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् ६।३।६३।

रेवतिपुत्रः। अजक्षीरम।

ङी एवं आप् तदन्त का संज्ञा या छन्द में ह्रस्व होता है विकल्प से। रेवत्याः पुत्रः रेवतिपुत्रः। अजायाः क्षीरम् अजक्षीरम्।

१००४ त्वे च ६।३।६४।

त्वे प्रत्यये ङ्यापोर्वा ह्रस्वः। अजत्वम। अजात्वम्। रोहिणित्वम्। रोहिणीत्वम्।

ङ्यन्त एवं आबन्त का ह्रस्व विकल्प से होता है।

१००५ ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे ६।१।१३।

ष्यङन्तस्य पूर्वपदस्य सम्प्रसारणं स्यात् पुत्रपत्योरुत्तरपदयोस्तत्पुरुषे।

तत्पुरुषसमास में पुत्र एवं पति उत्तर पद रहते ष्यङन्त का सम्प्रसारण होता है।

१००६ सम्प्रसारणस्य च ६।३।१३९।

सम्प्रसारणस्य दीर्घः स्यादुत्तरपदे। कौमुदगन्ध्यायाः पुत्रः कौमुदगन्धीपुत्रः। कौमुदगन्धीपतिः। व्यवस्थितविभाषया ह्रस्वो न, 'स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न' इति तदादिनियमप्रतिषेधात्। परमकारीषगन्धीपुत्रः। उपसर्जने तु तदादि-नियमान्नेह—अतिकारीषगन्ध्यापुत्रः।

सम्प्रसारण का दीर्घ होता है उत्तरपद पर रहते। कुमुदस्य गन्ध इव गन्धो यस्य = कुमुदगन्धिः यहां समासान्त इकारादेश है। कुमुदगन्धेरपत्यं स्त्री कौमुदगन्ध्या 'तस्यापत्यम्' से अण् प्रत्यय करके 'अणिञोः' से ष्यङादेश है। 'यङश्चाप्' से चाप् स्त्री प्रत्यय है।

कौमुदगन्ध्याया पुत्र यहां 'ष्यङ' से सम्प्रसारण, पूर्वरूप दीर्घ कौमुदगन्धीपुत्र। इसी प्रकार कौमुदगन्धीपति। इन दोनों स्थलों में 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' से ह्रस्ववैकल्पिक होना चाहिये। ह्रस्वाभावपक्ष में दीर्घ विधान सावकाश है, अत व्यवस्थितविभाषा मानकर यहां ह्रस्व का सदा अभाव ही रहता है।

विमर्श—परमा चासौ कारीषगन्ध्या तस्या पुत्र यहां परमकारीषगन्ध्या ष्यङन्त तदादि नही है, 'प्रत्ययग्रहणे' परिभाषा से तदादि विशेष्य ष्यङ विशेषणक तदन्तविधि से 'ष्यङन्ततदादि' अर्थ होता है किन्तु "प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्' इसी परिभाषा की बाधिका परिभाषा है—'स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न' स्त्रीरूपार्थ बोधक प्रत्यय स्त्रीरूप अर्थ को प्रधान रूप से बोधन करता है वहां तदादि की उपस्थिति नहीं होती है अर्थात् तदादि विशेष्यक तदन्त विधि नहीं है। वहां ष्यङन्त पूर्वपद यही अर्थ होता है अनुपसर्जन में सम्प्रसारण करने वाले 'ष्यङ' सूत्र का एव उपसर्जन में सम्प्रसारण करने वाला 'ष्यङ' सूत्र का अर्थ—ष्यङन्त तदादि का अवयव निर्दिश्यमानावयव ष्यङ् का सम्प्रसारण होता है। एक अनुपसर्जनार्थ सूत्र है। परमकारीषगन्ध्या यहां परमपदोत्तर टाबन्त परमा का 'पुंवत्कर्मधारय' से पुंवद्भाव हुआ है, उससे टाप् की निवृत्ति स्त्रीत्वविशिष्ट उत्कृष्टगुणाश्रय से अभिन्न स्त्रीत्व विशिष्ट करीषगन्धिसम्बन्धि स्त्रीत्वविशिष्टापत्यपुत्र,। यह अर्थ परमकारीषगन्धीपुत्र का है। यहां ष्यङ अनुपसर्जन है, अत ष्यङन्तपूर्वपदमात्र अर्थ [illegible]। सम्प्रसारण हुआ है। 'अतिकारीषगन्ध्यापुत्र' यहां अर्थ यह है—करीषगन्धिसम्बन्धि-स्त्रीत्वविशिष्टअपत्यकर्मक अतिक्रमणकर्त्री का पुत्र। यहां अत्यर्थ = अतिक्रमणकर्त्री विशेष्य है, इसमें विशेषण कारीषगन्ध्या पदार्थ = करीष गन्धिसम्बन्धि स्त्रीत्वविशिष्ट अपत्य है प्रकारता अपत्य में तन्निरूपता अवच्छेदकता = प्रकारतावच्छेदकता स्त्रीत्व में है। ष्यङ उपसर्जन है अत ष्यङन्त तदादि अतिकारीषगन्ध्या नहीं है यहां सम्प्रसारणाभाव है। उपसर्जनलक्षण—स्वान्त-पच्चाविशक्तिनिरूपकार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतानिरूपितस्त्रीत्वनिष्ठावच्छेदकताप्रयोजकत्वम्। स्व पद से जिसको उपसर्जन बनाना है वह लेना। यथा प्रकृत ष्यङ्। परिष्कार में प्रकारता अभेद सम्बन्धातिरिक्ता लेनी चाहिये।

१००७ बन्धुनि बहुव्रीहौ ६।१।१४।

बन्धुशब्दे उत्तरपदे ष्यङः सम्प्रसारणं स्याद् बहुव्रीहौ। कारीषगन्ध्या बन्धुरस्येति कारीषगन्धीबन्धुः। बहुव्रीहाविति किम्, कारीषगन्ध्याया बन्धुः कारीषगन्ध्याबन्धु। क्लीबनिर्देशस्तु शब्दस्वरूपापेक्षया। ॐमातज्मातृक-मातृषु वा॥। कारीषगन्धीमात। कारीषगन्ध्यामात। कारीषगन्धीमातृक। कारीषगन्ध्यामातृक। कारीषगन्ध्यामाता। अस्मादेव निपातनान्मातृशब्दस्य मातजादेश, कब् विकल्पश्च। बहुव्रीहावित्येव, नेह—कारीषगन्ध्याया माता कारीषगन्ध्यामाता। चित्त्वसामर्थ्याच्चित्स्वरो बहुव्रीहिस्वर बाधते।

बहुव्रीहिसमास में बन्धु शब्द उत्तरपद रहते ष्यङ्प्रत्ययान्त का सम्प्रसारण होता है। बहुव्रीहि कथन से षष्ठीतत्पुरुष में इसकी प्रवृत्ति नहीं है। सूत्र में 'बन्धौ' चाहिये किन्तु शब्दस्वरूप विशेष्य मानकर विशेष्यगत नपुंसक से 'बन्धुनि' निर्देश सूत्र में है।

मातज, मातृक, मातृ शब्द पर रहते विकल्प ष्यङ प्रत्ययान्त का सम्प्रसारण होता है। इस निपातन के कारण मातृशब्द को मातच् आदेश एव कप विकल्प होता है। मातच् मे चकार की इत्संज्ञा होने के कारण यह चित अन्तोदात्त स्वर 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' को बाध करता है।

१००८ इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु ६।३।६५।

इष्टकादीनां तदन्तानाञ्च पूर्वपदानां चितादिषु क्रमादुत्तरपदेषु ह्रस्वः स्यात्। इष्टकचितम्। पक्वेष्टकचितम्। इषीकतूलम्। मुञ्जेषीकतूलम्। मालभारी। उत्पलमालभारी।

इष्टका, इषीका एवं माला, ये जिनके अन्त में हैं उनका क्रमशः चित, तुल एवं भारिन् उत्तरपद पर रहते ह्रस्व होता है। यथा इष्टकाभिः चितम्=इष्टकचितम्। पक्वाश्च ते इष्टकाः ताभिः चितम् पक्वेष्टकचितम्। इषीकायाः तूलम् इषीकतुलम्। मुञ्जेषीकतुलम्। मालभारी, उत्पलमालभारी यहाँ भारिन् 'सुप्यजातौ' से णिनि प्रत्ययान्त है मालां बिभर्ति मालभारी। पद एवं अङ्ग के अधिकार में विहित कार्य उनको या वे अन्त में रहे उनको होता है।

१००९ कारे सत्यागदस्य ६।३।७०।

मुम् स्यात्। सत्यङ्कारः। अगदङ्कारः। ❀धेनोर्भव्यायाम्❀। धेनुम्भव्या। ❀लोकस्य पृणे❀ लोकम्पृणः। पृण इति मूलविभुजादित्वात्कः। ❀इत्येऽनभ्यासस्य❀। अनभ्यासमित्यः=दूरतः परिहर्तव्य इत्यर्थः। ❀भ्राष्ट्राग्न्योरिन्धे❀। भ्राष्ट्रमिन्धः। अग्निमिन्धः। ❀गिलेऽगिलस्य❀। तिमिङ्गिलः। अगिलस्य किम्, गिलगिलः। ❀गिलगिले च❀। तिमिङ्गिलगिलः। ❀उष्णभद्रयोः करणे❀। उष्णङ्करणम्। भद्रङ्करणम्।

सत्य एवं अगद को कारशब्द पर रहते मुम् आगम होता है। प्रतिज्ञा द्वारा सत्य सिद्ध करने वाला=सत्यंकारः। रोगरहित करने वाला को अगदङ्कारः=चिकित्सकः। कार पर रहने अस्तु को मुम् आगम होता है—अस्तुङ्कारः=ऐसा होने दो ऐसा कहने वाला। धेनु को मुम् होता है भव्या उत्तर में रहते। धेनु में श्रेष्ठ धेनुम्भव्या। लोक को मुम् होता है कप्रत्ययान्त पृण पर रहते। पूरण कर्ता=पृण का अर्थ है। लोगों को प्रसन्न कर्ता है, लोकम्पृणः। इत्य पर रहते अनभ्यास को मुम् होता है। अनभ्यासम् इत्यः दूर रखने योग्य व्यक्ति। भ्राष्ट्र एवं अग्नि को मुम् होता है, इन्ध पर रहते। भरसाई को तेजोयुक्त करने वाला भ्राष्ट्रमिन्धः। अग्नि को प्रकाश युक्त करने वाला अग्निमिन्धः। अगिल को मुम् होता है गिल पर रहते। तिमिङ्गिलः। मत्स्यविशेष। गलगिलः यहाँ पूर्व पद अगिल नहीं है। गिलं गिलति। कप्रत्यय अचि विभाषा से लत्वविकल्प। गिलगिल उत्तर पद रहते अगिल को मुम् होता है। यथा तिमेः गिलगिलः—तिमिङ्गिलगिलः। उष्ण एवं भद्र को मुम् होता है करण पर रहते। उष्णङ्करणम्। भद्रङ्करणम्।

१०१० रात्रेः कृति विभाषा ६।३।७२।

रात्रिञ्चरः। रात्रिचरः। रात्रिमटः। रात्र्यटः। अखिदर्थमिदं सूत्रम्। खिति तु अरुर्द्विषदिति नित्यमेव वक्ष्यते। रात्रिम्मन्यः।

कृत्यप्रत्ययान्त उत्तर पद रहते रात्रिशब्द को मुम् आगम होता है विकल्प से। अधिकरण उपपद में रहते चर् धातु से ट प्रत्यय 'चरेष्टः' सूत्र से होता है। उपपदसमास, मुम् से रात्रिञ्चरः=राक्षसः। रात्रिचरः। रात्रिमट आदि। अरुर्द्विषद् सूत्र खिदन्त उत्तरपदे पर रहते मुम् करता है यह अखिदन्तोत्तरपदार्थक है। 'रात्रिम्मन्यः' यहाँ अरुर्द्विष से नित्य मुम् है। यद्यपि, ग्रहणग्रहण ज्ञापित

उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे न तदन्तस्य ग्रहणम्' से कृदन्त उत्तरपद अर्थ होना चाहिये, किन्तु यह अर्थ न हुआ। क्योंकि रात्रि से पर कृदन्त उत्तरपद असम्भव है इस लिए इस सूत्रारम्भ सामर्थ्य से यह परिभाषा यहां अनित्यत्व के कारण नहीं लगती है।

१०११ सहस्य सः संज्ञायाम्। ३।६।७८।

उत्तरपदे। सपलाशम्। संज्ञायां किम् सहयुध्वा।

संज्ञा गम्यमान रहने पर सह को स आदेश होता है।

१०१२ ग्रन्थान्ताधिके च ६।३।७९।

अनयोरर्थयो' सहस्य सः स्यादुत्तरपदे। समुहूर्तं ज्योतिषमधीते। सद्रोणा खारी।

ग्रन्थान्त तथा अधिक अर्थ में उत्तरपद पर रहते सह को स आदेश होता है। अन्तवचन में अव्ययीभावसमास सह को स आदेश समुहूर्तम्। 'अव्ययीभावे चाकाले' से अप्राप्त है अतः ग्रन्थान्त ग्रहण यहाँ किया है। अधिकार्थ में सद्रोणा।

१०१३ द्वितीये चानुपाख्ये।

अनुमेये द्वितीये सहस्य सः स्यात्। सराक्षसीका निशा। राक्षसी साक्षादनुपलभ्यमाना निशयाऽनुमीयते।

उपाख्य जो उसको लोक में द्वितीय कहते हैं। उपाख्य प्रत्यक्ष को कहते हैं। तद्भिन्न को अनुमेय = अनुमान कर्म कहते हैं। अनुमेय द्वितीय में सह को स आदेश होता है। 'नद्यृतश्च' से कप्प्रत्ययान्त सराक्षसीका है। भयानक सघन तिमिरयुक्तरात्रि से राक्षसी का अनुमान होता है ऐसी रात्रि।

१०१४ समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु ६।३।८०।

समानस्य सः स्यादुत्तरपदे, न तु मूर्धादिषु। अनुभ्राता सगर्भ्यः। अनुसखा सयूथ्यः। यो नः सनुत्यः। तत्र भव इत्यर्थे सगर्भसयूथसनुताद्यत्। अमूर्धादिषु किम्, समानमूर्धा। समानप्रभृतयः। समानोदर्का। समानस्येति योगो विभज्यते। तेन सपक्षः। साधर्म्यम्। समानजातीयम् इत्यादि सिद्धमिति काशिका। अथवा सहशब्दः सदृशवचनोऽस्ति। सदृशः सख्या ससखेति यथा। तेनायमस्वपदविग्रहो बहुव्रीहिः। समानः पक्षो यस्येत्यादि।

वेद में उत्तरपद पर रहते समान को स आदेश होता है, परन्तु मूर्द्ध प्रभृति एवं उदर्क पर रहते समान को स आदेश नहीं होता है। एक माता के गर्भ से उत्पन्न भ्राता अर्थ में समानगर्भोद्भव यहां 'सगर्भ' सूत्र से यत् प्रत्यय है। समानगर्भ = सगर्भ्य। अनुसखा सयूथ्य। यो नः सनुत्य। तत्र भव अर्थ में 'सगर्भसयूथसनुत' से यत् प्रत्यय है अमूर्धादिपर्युदास से समानमूर्धा आदि। यहाँ समानस्य यह भिन्न सूत्र है इससे सपक्ष आदि की सिद्धि हुई यह काशिकाकार का मत है। अथवा सदृशवाची सह शब्द है। समानः पक्ष यस्य इति सपक्ष ...

१०१५ ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु ६।३।८५।

एषु द्वादशसूत्तरपदेषु समानस्य सः स्यात्। सज्योतिः। सजनपदः। इत्यादि।

ज्योतिः आदि बारह शब्द उत्तरपद रहते समान को स आदेश होता है। समानज्योतिः सज्योतिः। आदि।

१०१६ चरणे ब्रह्मचारिणि ७।३।८७।

ब्रह्मचारिण्युपपदे समानस्य सः स्याच्चरणे समानत्वेन गम्यमाने। चरणः = शाखा। ब्रह्म = वेदः। तदध्ययनार्थं व्रतमपि ब्रह्म, तच्चरतीति ब्रह्मचारी। समानः सः सब्रह्मचारी।

ब्रह्मचारिन् उत्तर पद पर रहते समान को स आदेश होता है, समानरूप से वेद की शाखा गम्यमान रहते। चरण से शाखा का ज्ञान करना। ब्रह्म से वेद का ज्ञान करना। वेदाध्ययन के लिये व्रत को भी ब्रह्म कहते हैं। 'ब्रह्म चरति' इस वाक्य में 'व्रते' सूत्र से णिनि प्रत्यय है, समानो ब्रह्मचारी सब्रह्मचारी। ब्रह्मचारी का समानत्व ब्रह्म के समान होने से सिद्ध है। समाने ब्रह्मणि व्रतचारी।

१०१७ तीर्थे ये ६।३।८७।

तीर्थे उत्तरपदे यादौ प्रत्यये विवक्षिते समानस्य सः स्यात्। सतीर्थ्यः = एकगुरुकः। समानतीर्थे वासीति यत्प्रत्ययः।

तीर्थ शब्द उत्तर में रहे यकारादि प्रत्यय विवक्षित हो तो समान को स आदेश होता है। य में अकार उच्चारणार्थक है, प्रत्यय विशेष्यक तदादि विधि है—यादौ में। तीर्थम् = गुरुकुलम् समाने तीर्थे वसति सतीर्थ्यः। यत् प्रत्यय है। एक है गुरु जिनके ऐसे छात्र परस्पर 'सतीर्थ्यः' कहाते हैं।

१०१८ विभाषोदरे ६।३।८८।

यादौ प्रत्यये विवक्षिते इत्येव। सोदर्यः। समानोदर्यः।

यादि प्रत्यय विवक्षित होने पर उदर पर रहते समान को सादेश होता है। समान उदर में शयित अर्थ में समानोदर से यत्, सादेश अकारलोप सोदर्य्यः। सादेश के अभाव में समानोदर्य्यः।

१०१९ दृग्दृशवतुषु ६।३।८९।

सदृक्, सदृशः। ॐ दृक्षे चेति वक्तव्यम् ॐ। सदृक्षः। वतुरुत्तरार्थः।

दृक् एवं दृश एवं दृक्ष उत्तरपद पर रहते समान को स आदेश होता है। इस सूत्र में वतुग्रहण उत्तरार्थ है।

१०२० इदंकिमोरीश्की ६।४।९०।

दृग्दृशवतुषु इदम ईश् किमः की स्यात्। ईदृक्, ईदृशः। कीदृक्, कीदृशः। वतुरुदाहरणं वक्ष्यते। ॐ दृक्षे चेति वक्तव्यम् ॐ। ईदृक्षः। कीदृक्षः।

आ सर्वनाम्न । दृक्षे च । तादृक् । तादृशः । तावान् । तादृक्षः । दीर्घः, मत्वोत्वे अमूदृश । अमूदृक् । अमूदृक्ष ।

दृक् दृश वतुप पर रहते इदम् के स्थान में ईश आदेश एव किम् के स्थान में की आदेश होता है । त्यदादि उपपद में रहते दृश् धातु से क्विन् एवं कञ् प्रत्यय होते है । सूत्र 'त्यदादिषु दृशे' । दृक्षपर रहते भी इदम् को ईश किम को की आदेश होता है ।

सर्वनाम पूर्व मे रहे [redacted] आत्व होता है दृक् दृश, वतुप् पर रहते । मत्व करत्व करके अमू—दृक् आदि ।

१०२१ समासेऽङ्गुलेः सङ्गः २।३।८०।

अङ्गुलिशब्दात् सङ्गस्य सस्य मूर्द्धन्य. स्यात् समासे । अङ्गुलिषङ्ग. । समासे किम् , अङ्गुले सङ्ग. ।

समास में अङ्गुलि शब्द से पर सङ्ग के सकार को षकार होता है । षष्ठीतत्पुरुषसमासावयव सङ्ग के सकार को षत्व से अङ्गुलिषङ्ग । असमासे सङ्ग अङ्गुले । यहा षकार न हुआ ।

विमर्श—यहां शङ्का होती है कि सूत्र में अङ्गुले' दिग्योगलक्षणा पञ्चमी है अत 'तस्मात्' इस पञ्चमी परिभाषा से अङ्गुलि शब्द से अव्यवहित उत्तर सङ्ग जहां रहे वहां ही सकार को षकार होता है असमास में तो 'अङ्गुले सङ्ग' यहां मध्य मे विसर्ग का व्यवधान है षकार प्राप्त ही नहीं है, पुन सूत्र में समास ग्रहण क्यों किया ?, सम्बोधन में 'हे अङ्गुले सङ्ग कुरु' यहां अव्यवहित सकार को षकारादेश निवृत्ति के लिए सूत्र मे समास ग्रहण है इति पद्योक्ति' ।

१०२२ भीरोः स्थानम् ८।३।८१।

भीरुशब्दात् स्थानस्य सस्य मूर्धन्य स्यात् समासे । भीरुष्ठानम् । असमासे किम् , भीरो. स्थानम् ।

समास में भीरुशब्द से पर स्थान के सकार का मूर्धन्यादेश होता है । असमास में भीरो स्थानम् । यहा भी पूर्ववत् शङ्का कर समाधान—हे भीरो स्थान पश्य ।

१०२३ ज्योतिरायुषः स्तोमः ८।३।८३।

आभ्या स्तोमस्य सस्य मूर्धन्य स्यात् समासे । ज्योतिष्टोम । आयुष्टोमः । समासे किम् , ज्योतिष स्तोम' ।

समास में ज्योतिष् एव आयुष से पर स्तोम के सकार को षकारादेश होता है । यज्ञविशेष में ज्योतिष्टोम । आयुष्टोम । असमास में ज्योतिष स्तोम । हे ज्योति स्तोमोऽस्ति ।

१०२४ सुषामादिषु च ८।३।९८।

सस्य मूर्धन्य । शोभन साम यस्य सुषामा । सुषन्धि ।

सुषामादि शब्दों में सकार को मूर्धन्य होता है । यथा अच्छी तरह सामोपाय करने वाला सुषामा । अच्छी सन्धि में सुषन्धि' ।

१०२५ एति संज्ञायामगात् ।

सस्य मूर्धन्यः। हरिषेणः। एति किम्, हरिसक्थम्। संज्ञायां किम्, पृथुसेनः। अगात् किम्, विष्वगसेनः। इणकोरित्येव। सर्वसेनः।

संज्ञा में एकार पर रहते गकार से भिन्न से पर स्थित सकार को षकारादेश होता है, व्यक्ति-विशेष का नाम में हरिषेणः। विष्वगसेन में गकार पर सकार को षकारादेश न हुआ। सर्वसेनः में इण् का या कवर्ग से पर न रहने के कारण षकारादेश नहीं हुआ।

१०२६ नक्षत्राद् वा ८।३।१००।

एति सस्य संज्ञायामगकारात् मूर्द्धन्यो वा। रोहिणीषेनः। रोहिणीसेनः। अगकारात् किम्, शतभिषक्सेनः। आकृतिगणोऽयम्।

संज्ञा में नक्षत्र वाचक से उत्तर गकार भिन्न से पर सेना का सकार को षकारादेश होता है।

१०२७ अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्य दुगाशीराशास्थास्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छेषु ६।३।९९।

अन्यशब्दस्य दुगागमः स्यादाशीरादिषु परेषु। अन्यदाशीः। अन्यदाशा। अन्यदास्था। अन्यदास्थितः। अन्यदुत्सुकः। अन्यदूतिः। अन्यद्रागः। अन्यदीयः। अषष्ठीत्यादि किम्, अन्यस्य अन्येन वाशीः=अन्याशीः। कारके छे च नायं निषेधः। अन्यस्य कारकः=अन्यत्कारकः। अन्यस्यायम् अन्यदीयः। गहादेराकृतिगणत्वाच्छः।

आशिष्, आशा, आस्था, आस्थित, उत्सुक ऊति, कारक, राग, छप्रत्यय पर रहते षष्ठ्यन्त एवं तृतीयान्त से भिन्न जो अन्य शब्द उसको दुगागम होता है। यथा अन्यदाशीः आदि उदाहरणों में। षष्ठ्यन्त या तृतीयान्त में अन्याशीः। कारक एवं छप्रत्यय पर रहते अषष्ठ्यन्त अतृतीयान्त का विषय नहीं अर्थात् उन पर रहते षष्ठ्यन्त या तृतीयान्त भी अन्य का दुगागम होता ही है। यथा अन्यस्य कारकः अन्यत्कारकः। अन्यस्यायम् गहादि छप्रत्यय में अन्यदीयः। छको 'आयन्' सूत्र से ईयादेश है।

१०२८ अर्थे विभाषा ६।३।१०१।

अन्यदर्थः। अन्यार्थः।

अर्थ शब्द पर रहते अन्यको दुगागम होता है।

१०२९ कोः कत्तत्पुरुषेऽचि ६।३।१०१।

अजादावुत्तरपदे। कुत्सितोऽश्वः। कदश्वः। कदन्नम्। तत्पुरुषे किम्, कूष्ट्रो राजा। त्रौ चक्ष्ये। कुत्सितास्त्रयः कत्त्रयः।

तत्पुरुष समासमें अजादि उत्तरपद पर रहते कु को कत् आदेश होता है। त्रिशब्द पर रहते भी कु को कत् आदेश होता है। कत्त्रयः।

१०३० रथवदयोश्च ६।३।१०२।

कद्रथः। कद्वदः।

रथ एवं वद पर रहते कुशब्द को कत् आदेश होता है। यथा-कद्रथः। कद्वदः।

१०३१ तृणे च जातौ ६।३।१०३।

कत्तृणम् ।

जाति प्रतीयमान होने पर तृणशब्द पर रहते कुशब्द को कत् आदेश होता है ।

१०३२ का पथ्यक्षयोः ६।३।१०४।

कापथम् । काक्ष । अक्षशब्देन तत्पुरुष । अक्षिशब्देन बहुव्रीहिर्वा ।

पथिन् एव अक्षिन् शब्द पर रहते कुशब्द को कत् आदेश होता है । कुत्सित पन्था कापथम् 'ऋक पूरब्धू से अप्रत्यय है' एव सख्या यादि से नपुंसकत्व है । कुत्सिते अक्षिणी यस्य स काक्ष ।

१०३३ ईषदर्थे ६।३।१०५।

ईषज्जलम्=काजलम् । अजादावपि परत्वात् कादेश । काम्लः ।

ईषद् अर्थ की प्रतीति होने पर कु को कादेश होता है । अजादि उत्तरपद में परत्व के कारण कु को कादेश बाध करता है यथा-काम्ल ।

१०३४ विभाषा पुरुषे ६।३।१०६।

कापुरुष । कुपुरुष । अप्राप्तविभाषेयम् । ईषदर्थे तु पूर्वविप्रतिषेधान्नित्यमेव । ईषत्पुरुष =कापुरुष ।

पुरुष शब्द पर रहते किम् को का आदेश विकल्पसे एव पक्ष में कु आदेश होता है । रूप द्वय है । यहां 'ईषदर्थ' की अनुवृत्ति न होने से अप्राप्तविभाषा है । ईषदर्थ में तो पूर्वविप्रतिषेध से नित्य ही का आदेश होता है इष्टानुरोधसे क्वचित् अपर कार्य्यम् पूर्वकार्यम् भवति यह भी पक्ष भाष्यानुरोधस्थल में स्वीकृत है—विप्रतिषेधेऽपरं कार्य्यम् ।

१०३५ कवं चोष्णे ६।३।१०७।

उष्णशब्दे उत्तरपदे का कव च वा स्यात् । कवोष्णम् कोष्णम् । कदुष्णम् ।

उष्णशब्द पर रहते किम् को कव आदेश विकल्प से होता है तथा का एव कत् आदेश भी । चकार उनका भी समुच्चय विकल्प से करता है । तीन रूप होते हैं ।

१०३६ पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ६।३।१०९।

पृषोदरप्रकाराणि शिष्टैर्यथोच्चारितानि तथैव साधूनि स्यु । पृषद् उदर पृषोदरम् । तलोप । वारिवाहको बलाहक । पूर्वपदस्य ब, उत्तरपदादेश्च लत्वम् ।

> भवेद् वर्णागमाद्धस सिंहो वर्णविपर्ययात् ।
> गूढोत्मा वर्णविकृते वर्णनाशात् पृषोदरम् ॥

॥दिक्शब्देभ्यो तीरस्य तारभावो वा॥ । दक्षिणतारम् । दक्षिणतीरम् । उत्तरतारम् । उत्तरतीरम् । ॥ दुरो दाशनाशदभध्येषूत्वमुत्तरपदादेः ष्टुत्वञ्च । दु खेन दाश्यते । दूडाश । दु खेन नाश्यते दूणाश । दुःखेन दभ्यते दूडभ ।

खल् त्रिभ्यः। दम्भेर्नलोपो निपात्यते। दुःखेन ध्यायतीति दूढ्यः। आतश्चेति कः। ब्रुवन्तोऽस्यां सीदन्ति इति बृसी। ब्रुवच्छब्दस्य बृ आदेशः, सदेरधिकरणे डट्। आकृतिगणोऽयम्।

पृषोदरादिगण में शिष्टो द्वारा जिन शब्दों को जिस प्रकार उच्चारण किये गये हैं वे उसी प्रकार ही साधुत्व विशिष्ट है। एवं पुण्यजनक है। उसमें विपरीत भावना या अन्य कुतर्क का अनवसर ही है। शिष्ट की परिभाषा-रागद्वेषादि प्रयुक्त अन्यथा भाषण कर्तृत्व राहित्य एवं सकल पदार्थ गत वास्तविक तत्त्ववेत्ता। भाष्यकार ने तो वैयाकरणों को ही शिष्ट पद के वाच्य कहा है "के पुनः शिष्याः ? वैयाकरणा इति"। पृषतः उदरम् समास, तकार का लोप, गुण पृषोदरम्। वारि = जलम् वाहकः = वहनकर्ता अर्थ में वारीणां वाहकः = बलाहकः यहां पूर्वपद को ब आदेश है उत्तरपद के आदिवर्ण को अकारादेश है।

वर्णागम प्रयुक्त हन् धातु के उत्तर पचादि अच् प्रत्यय एवं समागम में 'हंस'की सिद्धि हुई। हिंसि धातु से पचाद्यच् प्रत्यय एवं हकार तथा सकार के विपर्यय करने से 'सिंह' की सिद्धि है। वर्ण विकृति प्रयुक्त अर्थात आत्मन् के आदि वर्ण आकार को उकारादेश एवं गुण से गूढोत्मा। तकार के लोप से पृषोदरम्। इस प्रकार पूर्व प्रयोग शिष्टों से उच्चरित सिद्ध जानने चाहिये।• दिशावाचक शब्द से पर तीर को तार आदेश विकल्प से होता है। दक्षिणतारम्। दक्षिणतीरम्।• दाश, नाश, दम, ध्य इन शब्दों के पर रहते दुर को उत्व होता है, एवं उत्तरपद के आदि वर्ण को ष्टुत्व होता है। दश धातु दानार्थक है। 'दाशृ दाने'। णश अदर्शनार्थक है। दम्भ अहङ्कारार्थ है। ध्यै चिन्तायाम्। दुःख से दान कर्म की वस्तु प्रदाता=दूडाशः। यहां रेफ़ को उकार दीर्घ दकार को ड्डुत्व से डकार है। दूणासः। दूडभः। इन-तीन धातुओं से खल् प्रत्यय है। 'ईषद्' सूत्र से। दम्भ में नकार का लोप भी निपातित है। दुःखेन ध्यायति यहां ध्यै को आत्व कप्रत्यय आकार लोप उत्व ड्डुत्व दूढ्यः। 'आतः' सूत्र से क प्रत्यय है। ब्रुवत् को बृ आदेश सद से अधिकरण में डट् प्रत्यय है, ङीप् बृसी = आराम खुशी को कहते है, या मुनीनाम् आसनम् = बृसी। पृषोदरादि आकृति गण है। प्रयुक्त शब्दों का केवल व्याकरण अन्वाख्यान करना है, शिष्टो द्वारा प्रयुक्त शब्दों का केवल व्याकरण अन्वाख्यान करता है, शिष्टो द्वारा प्रयुक्त। तद् विपरीतान्वाख्यानक शास्त्र नहीं, यही इससे सिद्ध होता है। इस सूत्र का भाष्य-देखने योग्य है।

१०३७ संहितायाम् ६।३।११४।

इत्यधिकृत्य।

यह छः प्रकार के सूत्रों में अधिकार सूत्र है, इसका उत्तरोत्तर विधि सूत्रों में सम्बन्ध है।

१०३८ कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नच्छिन्नच्छिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य ६।३।११५।

कर्णे परे लक्षणवाचकस्य दीर्घः। द्विगुणाकर्णः। लक्षणस्य किम्, शोभनकर्णः। अविष्टादीनां किम्, विष्टकर्णः। अष्टकर्णः। पञ्चकर्णः। मणिकर्णः। भिन्नकर्णः। छिन्नकर्णः। च्छिद्रकर्णः। स्रुवकर्णः। स्वस्तिककर्णः।

संहिताधिकार में लक्षण वाचक का दीर्घ होता है, कर्ण शब्द उत्तरपद पर रहते। परन्तु विष्टादि नव शब्द कर्ण पर रहते अन्त्याच् का दीर्घ नहीं होता है।

१०३९ नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ ६।३।११६।

क्विबन्तेषु परेषु पूर्वपदस्य दीर्घः। उपानत्। नीवृत्। प्रावृत्। मर्मावित्। नीरुक्। अभीरुक्। ऋतीषट्। परीतत्। क्वाविति किम्, परिहणनम्। 'विभाषा पुरुषे' इत्यतो मण्डूकप्लुत्या विभाषाऽनुवर्तते, सा च व्यवस्थिता, तेन गतिकारकयोरेव। नेह—पटुरुक्। तिग्मरुक्।

क्विप् प्रत्ययान्त नह्, वृत्, वृष्, व्यध्, रुच् सह्, तन्, हन पर रहते पूर्वपद का अन्त्य अच् का दीर्घ होता है। उपानत्। बन्धनार्थक णह् से क्विप् 'नहो धः' से धत्व जश्त्व चर्त्व से 'नत्' उपानत् = जूता की संज्ञा है। नीवृत्—वृतु वर्तते क्विप् वृत् नि×वृत् नीवृत्। परस्य मर्माणि विध्यतीति मर्मावित् = दूसरे के मर्मस्थान को पीड़ा देने वाला पुरुष। रोगरहित नीवृत् निवर्तते नीवृत्। चारों तरफ से घीरा हुआ अभीरुक्। ऋति सहते ऋतीषट्। ऋतीया = घृणा। ऋतिः सौत्र धातु है। परितः तनोति परीतत्। चारो ओर विस्तार करने वाला तन् का नकार का 'अनुदात्त' सूत्र से लोप है। ल्युट् प्रत्ययान्त हननम्, परितः हननम् परिहणनम्। यहा क्विन्न नहीं अतः दीर्घाभाव। यहां विभाषानुवृत्ति एवं व्यवस्थितविभाषा मान कर गतिसंज्ञक पूर्वपद या कारक पूर्वपद का ही दीर्घ अन्यत्र नहीं इससे गुणवाचक पटु एवं तिग्म = वर्णवाचक का दीर्घ न होने से पटुरुक्, तिग्मरुक् हुआ है।

१०४० वनगिर्योः संज्ञायां कोटरकिंशुकादीनाम् ६।३।११७।

कोटरादीनां वने परे किंशुकादीनां गिरौ परे दीर्घः स्यात् संज्ञायाम्।

संज्ञा में वन पर रहते कोटरादि शब्द के अन्त्य वर्ण का दीर्घ होता है। एवं गिरि पर रहते किंशुकादि का दीर्घ होता है।

१०४१ वनं पुरगामिश्रकासिध्रकासारिकाकोटराग्रेभ्यः ८।४।४।

वनशब्दस्योत्तरपदस्य एभ्य एव णत्वं नान्येभ्यः। इह कोटरान्ताः पञ्च दीर्घविधौ कोटरादयो बोध्याः। तेषां कृतदीर्घाणां णत्वविधौ निर्देशो नियमार्थः। अग्रेशब्दस्य तु विध्यर्थः। पुरगावणम्। मिश्रकावणम्। सिध्रकावणम्। सारिकावणम्। कोटरावणम्। एभ्य एवेति किम्, असिपत्रवनम्। वनस्याग्रे अग्रेवणम्। राजदन्तादिषु निपातनात् सप्तम्या अलुक्, प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा। किंशुकागिरिः।

पुरगा, मिश्रका, सिध्रका सारिका, कोटरा एवं अग्रे इनसे पर ही उत्तर पद वन के नकार को णकार होता है। इस सूत्रमें कोटरा पर्यन्त पाँच शब्द दीर्घविधि में कोटरादि जानने चाहिए। दीर्घ युक्त इनका णकार विधान में निर्देश नियमविधि के लिए है। एवं अग्रे का पाठ यहा विध्यर्थ है। पुरगावनम् = पुरगावणम्। मिश्रकावनम् = मिश्रकावणम् आदि। एतद् भिन्न से उत्तरपद वन के नकार को णत्व नहीं होता है। यथा असिपत्रवनम्। वनस्य अग्रे अग्रेवणम्। यहा राजद-

न्ताद में पाठ से समास अन्तर्गत सप्तमी का लुक् नहीं होता है, एवं प्रातिपदिकार्थमात्र में साधुत्वाधिका प्रथमा है। किंशुकागिरिः। अञ्जनागिरिः। जो किंशुकादि नहीं यहां कृष्णगिरिः। रामगिरिः।

१०४२ वले ६।३।११८।

वलप्रत्यये परे दीर्घः स्यात् संज्ञायाम्। कृषीवलः।

संज्ञा में वलच् प्रत्यय पर रहते पूर्वपद के अन्त्याच् का दीर्घ होता है। यथा खेतिहर अर्थ में रजः कृष्यासुति से मतुप् प्रत्यय के अर्थ में वलच् प्रत्यय होता है, यहां चकार अन्तोदात्तार्थ है। सूत्र चितः है। कृषीवलः = कृषकः।

१०४३ मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम् ६।३।११९।

अमरावती। अनजिरादीनां किम्, अजिरवती। बह्वचः किम्, व्रीहिमती। संज्ञायामित्येव। नेह—वलयवती।

मतुप् प्रत्यय पर रहते अजिरादि शब्दों से भिन्न अनेकाच् प्रातिपदिक का दीर्घ होता है। इन्द्रपुरी देवपुरी अमरावती। अमर देव का नाम है देवताओं को शरीर को जीर्ण करनेवाली वृद्धावस्था एवं मरण नहीं प्राप्त होता है। 'अजरा अमरा देवाः' कोश है। अजिरवती यहां दीर्घ नहीं हुआ। धान्ययुक्ता व्रीहिमती यहां पूर्व शब्द अनेकाच् नहीं है। संज्ञा में ही यह सूत्र प्रवृत्त होता है। कंगन युक्ता अर्थ में = वलयवती, यहां दीर्घ न हुआ। संज्ञा नहीं है केवल यौगिकार्थ प्रत्यायक है। अमरावती आदि योग रूढ है, अवयव शक्ति सहकृत समुदाय शक्ति से अर्थ वाचक को योग रूढ कहते हैं। मादुपधायाश्च सूत्र मतुप् का मकार का वकार करते हैं।

१०४४ शरादीनाञ्च ६।३।१२०।

शरावती।

मतुप् प्रत्यय से पूर्व शरादि जो शब्द उनके अन्त्याच् का दीर्घ होता है। यथा—शरावती। शर = काम।

१०४५ इको वहेऽपीलोः ६।३।१२१।

इगन्तस्य दीर्घः स्याद् वहे। ऋषीवहम्। कपिवहम्। इकः किम्, पिण्डवहम्। अपीलोः किम्, पीलुवहम्। *अपील्वादीनामिति वक्तव्यम्*। दारुवहम्।

वह शब्द पर रहते पीलु शब्द भिन्न पूर्वपद का जो अन्त्याच् उसका दीर्घ होता है। ऋषीवहम्। 'पिण्डवहम्' यहां इगन्त पूर्वपद नहीं अतः दीर्घाभाव। सूत्र में 'अपीलोः' है उसके स्थान में व्यापक 'अपील्वादीनाम्' ऐसा पढ़ना चाहिए। पीलुवहम्, दारुवहम् यहां दीर्घाभाव पीलु वृक्ष एवं उसका फल दोनों का वाचक है, उसका वहन कर्ता। काष्ठ वहन में दारुवहम् है।

१०४६ उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् ६।३।१२२।

उपसर्गस्य बहुलं दीर्घः स्याद् घञन्ते परे, न तु मनुष्ये। परीपाकः। परिपाकः। अमनुष्ये किम्, निषादः।

घञन्तवदादि उत्तर पद में रहते उपसर्ग संज्ञक शब्द के अन्त्य अच् का दीर्घ होता है। मनुष्य आदि वाच्य रहते हुए दीर्घ नहीं होता है। प्रसरः। प्रसारः। प्रहारः। कृत्रिम होने पर

साद एव क्रार पर रहते दीर्घ होता भी है। यथा — यह इसका प्रसाद यहां प्रासाद। प्राकार = यह उसका कोना है। प्रतिवेशादि को विकल्प दीर्घ होता है। प्रतीवेश। प्रतीकार पूर्वोक्त व्यवस्था में बहुल ग्रहण ही प्रमाण है वह अनेकार्थक है। पुलिन्दजातिवाचक निषाद मनुष्य है, दीर्घाभाव है। निषीदन्ति पापम् यस्मिन् निषाद है। पाप युक्त जाति विशेष वाचक। प्रतीहार यहां द्वार अर्थ है वह द्वारार्थक दौवारिक में वहां स्थितिमात्र से उस रक्षक पुरुष में प्रतीहारत्व का आरोप है। तात्स्थ्यात् तच्छब्दप्रयोग। यथा मञ्चा क्रोशन्ति वहां मञ्चस्थ पुरुष में मञ्चत्वा रोप है। अनेक प्रकार से शब्द अन्यत्रारोपित होते हैं। वै० भू० मञ्जूषा में विस्तृत विवरण है।

१०४७ इकः काशे ६।३।१२३।

इगन्तस्योपसर्गस्य दीर्घः स्यात् काशे। वीकाश। नीकाश। इकः किम्, प्रकाश।

इगन्त उपसर्ग के अन्तिम अच् का दीर्घ होता है काश शब्द उत्तरपद में रहते। नितरां काशते इति नीकाश। विकृत काशते इति वीकाश। दीप्त्यर्थक काश है। प्रकाश में पूर्वपद इगन्त नहीं है।

१०४८ अष्टनः संज्ञायाम् ६।३।१२५।

उत्तरपदे दीर्घ। अष्टापदम्। संज्ञाया किम्, अष्टपुत्र।

संज्ञा में उत्तर पद पर रहते अष्टन् का दीर्घ होता है। यथा अष्टसु धातुषु पदम् = प्रतिष्ठा यस्य तत् अष्टापदम् = सुवर्णम्, स्वर्णं वा। अष्टौ पुत्रा सन्ति यस्य कृष्णचन्द्रस्य अष्टपुत्र। यहां संज्ञा नहीं है, यौगिकार्थ मात्र बोधक है।

१०४९ चितेः कपि ६।३।१२७।

एकचितीक।

कप् प्रत्यय पर रहते चिति या चित्यन्त का अन्त्य अच् का दीर्घ होता है। यहां 'शेषाद् विभाषा' से कप् प्रत्यय होता है। चयनार्थ चिति शब्द है।

एकचितीक।

१०५० नरे संज्ञायाम् ६।३।१२९।

विश्वानर।

नर शब्द पर में रहते संज्ञा में पूर्वपद के अन्त्याच् का दीर्घ होता है। यथा विश्वानर।

१०५१ मित्रे चर्षौ ६।३।१३०।

विश्वामित्र। ऋषौ किम्, विश्वमित्रो माणवक। ॐशुनो दन्तदंष्ट्राकर्णकुन्दवराहपुच्छपदेषु दीर्घो वाच्यः॥ श्वादन्त इत्यादि।

ऋषि अर्थ वाच्य रहते मित्र शब्द उत्तर में रहे वहां पूर्वपद का दीर्घ होता है। वह अन्त्याच् का ही होगा। ऋषि = मन्त्रद्रष्टा को कहते हैं। विश्वामित्र। बालक अर्थ में विश्वमित्र यही होता है। दन्त दंष्ट्रा कर्ण कुन्द, वराह, पुच्छ, पद इनके उत्तर पद में रहते पूर्वपद श्वन् का दीर्घ होता है। यथा श्वादन्त।

१०५२ प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिरपीयूक्षाभ्योऽसंज्ञायामपि ८।४।५।

एभ्यो वनस्य णत्वं वा स्यात्। प्रवणम्। कार्ष्यवणम्। इह षात्परत्वात् णत्वम्।

संज्ञा न होने पर भी प्र, निर्, अन्तर्, शर, इक्षु प्लक्ष, आम्र, कार्ष्य, खदिर, और पीयूक्षा इन से पर वन के नकार को णकारादेश होता है विकल्प से। प्रवणम्। कार्ष्यवणम् = कृष्णगुण युक्त वन। यहां षकाररूपनिमित्त को मान कर णत्व होता है, मूर्द्धन्य षकार घटित ही पाठ युक्त है कार्श्य यह असङ्गत पाठ है। णत्वविधायक सूत्रों मे रेफ एवं षकार का सम्बन्ध है, 'रषाभ्याम्' की अनुवृत्ति से।

१०५३ विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः ८।४।६

एभ्यो वनस्य णत्वं वा स्यात्। दूर्वावणम्। दूर्वावनम्। शिरीषवणम् शिरीषवनम्। ॐद्व्यच् त्र्यच्भ्यामेवॐ। नेह देवदारुवनम्। ॐ इरिकादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यःॐ। इरिकावनम्। मिरिकावनम्।

औषधिवाचक एवं वनस्पतिवाचकशब्द से पर वन के नकार को णकारादेश विकल्प से होता है। यथा दूर्वावणम्। दूर्वावनम् शिरीषवणम्। शिरीषवनम्। पूर्वपद दो स्वरयुक्त रहे या तीन अचों से युक्त रहे वहां ही उत्तरपद के वन का नकारको णकार होता है। 'देवदारुवनम्' यहां णत्वाभाव है। इरिकादिशब्दों से उत्तर वन के नकारको णकारादेश नहीं होता है। यथा 'इरिकावनम्' ओषधित्व के कारण नकार को यहां णकार प्राप्त था। व्यवस्थितविभाषा से यह वार्तिक गतार्थ है।

१०५४ वाहनमाहितात् ८।४।८।

आरोप्य यदुह्यते तद्वाचिस्थान्निमित्तात्परस्य वाहननकारस्य णत्वं स्यात्। इक्षुवाहणम्। आहितात् किम्, इन्द्रवाहनम्। इन्द्रस्वामिकं वाहनमित्यर्थः। वहतेर्ल्युटि वृद्धिरिहैव सूत्रे निपातनात्।

जो वस्तु उठाकर ले जायी जाय तद्वाचिस्थ निमित्त (रेफ या षकार) से पर वाहन शब्द के नकार को णकार होता है। 'इक्षुवाहणम्' ऊख को ढोने का साधनीभूतरथादि। इन्द्र है स्वामी जिसका ऐसा वाहन इस अर्थ में यहां णत्व का अभाव ही है वह आहित नहीं है। वह धातु से ल्युट् निपातन से वृद्धि कर वाहन शब्द की सिद्धि है।

१०५५ पानं देशे ८।४।९।

पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य पानस्य नस्य णत्वं स्याद् देशे गम्ये। क्षीरं पानं येषान्ते क्षीरपाणा उशीनराः। सुरापाणाः प्राच्याः। पीयते इति पानम्। कर्मणि ल्युट्।

देश की प्रतीति होने पर पूर्वपदस्थनिमित्त (रेफ या षकार) से पर पान का नकार को णकारादेश होता है। क्षीरम् = दुग्धम् पानं येषान्ते क्षीरपाणाः = उशीनराः। सुरापाणाः = प्राच्याः। पान क्रिया जन्यफलाश्रय = कर्म पान शब्दार्थ है, कर्म में ल्युट् है।

१०५६ वा भावकरणयोः ८।४।१०।

पानस्येत्यत्र । क्षीरपाणम् । क्षीरपानम् । ❀गिरिनद्यादीनां वा❀ । गिरिणदी । गिरिनदी । चक्रणितम्बा । चक्रनितम्बा ।

पूर्वपद में विद्यमान निमित्त (रेफ) से पर भाव एवं करण में विहित ल्युट् प्रत्ययान्त पान शब्द के नकार को णकारादेश होता है विकल्प से । दुग्धपान का साधनभूत पात्र में क्षीरपाणम् । क्षीरपानम् । गिरिनद्यादि शब्दों में भी विकल्प णकारादेश नकार को होता है । यथा गिरिणदी । गिरिनदी । चक्रणितम्बा । चक्रनितम्बा ।

१०५७ प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च ८।४।११।

पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य एषु स्थितस्य नस्य णो वा स्यात् । प्रातिपदिकान्ते—माषवापिणौ । नुमि—व्रीहिवापाणि । विभक्तौ—माषवापेण । पक्षे माषवापिनावित्यादि । उत्तरपदं यत्प्रातिपदिकं तदन्तस्यैव णत्वम् । नेह—गर्गाणां भगिनी गर्गभगिनी । अत एव नुम्ग्रहणं कृतम् । अङ्गस्य नुम् विधानाद् तद्भक्तो हि नुम् न तूत्तरपदस्य ।

किञ्च, प्रहिण्वन्तीत्यादौ हिवेर्नुमो णत्वार्थमपि नुम्ग्रहणम् । 'प्रेन्वनम्' इत्यादौ तु क्षुभ्नादित्वान्न । ❀ युवादेर्न❀ । रम्ययूना । परिपक्वानि । एकाजुत्तरपदे णः—नित्यमित्युक्तम् । वृत्रहणौ । हरिं मानयतीति हरिमाणी । नुमि क्षीरपाणि । विभक्तौ क्षीरपेण । रम्यविणा ।

पूर्वपदस्थ निमित्त से परे प्रातिपदिकान्त, नुम्, एवं विभक्ति में स्थित नकार को विकल्प से णकारादेश होता है । माषवापिणौ । बीजसन्तानार्थक वप् धातु से आभीक्ष्ण्य अर्थ में णिनि प्रत्यय है, सूत्र—'बहुलमाभीक्ष्ण्ये' । यह प्रातिपदिकान्त नकार को णकारादेश का उदाहरण है । यहाँ उत्तरपद नान्त है । नुम् का उदाहरण—व्रीहिवापाणि । उपपदसंज्ञक व्रीहिकर्मपूर्वक वप् से कर्मण्यण् से अण् प्रत्यय तदन्त के योग में व्रीहि से षष्ठी, उपपद समासादि व्रीहिवाप से जस् शि नुम् दीर्घ, नपुंसक में व्रीहिवापाणि । अणन्त माषवाप टा, इन, गुण से माषवापेण यहाँ विभक्ति का नकार को णकारादेश हुआ ■ में स्थित विभक्तित्व का स्थानिवद् भाव से इनादेश में अध्यस्त=आरोपित है । पक्ष के सर्वोदाहरण में नकार घटित प्रयोग का भी साधुत्व है ।

उत्तरपद से अभिन्न जो प्रातिपदिक उसका जो चरमावयव नकार उसको णकारादेश होता है । गर्गाणां भगिनी यहाँ गर्गभग शब्द से विहित नपुंसकस्य झलच, से नुम् अन्त्य अच् के बाद होकर अङ्ग का अवयव है अर्थात् गर्गभगरूप अङ्ग का ही अवयव है उत्तरपद का नुम् अवयव नहीं है, अतः यहाँ उत्तरपद नान्त प्रातिपदिक नहीं है यहाँ णत्वाभाव है । अर्थात् अङ्ग को विधीयमान नुम् अङ्ग का भक्त=अवयव है उत्तरपद का अवयव नहीं है ।

अतः यह भाष्योक्ति जो नुम् के विषय में है वह सङ्गत हुई । यथा—पञ्चारत्नीनि यहाँ 'इगन्त कपालभगाल' से स्वर न होने की आशङ्का नुम् के बाद हुई उत्तरपद इगन्त नहीं है उस पर भाष्यकार कहते है कि समुदायभक्तोऽसौ नुम् नोत्सहतेऽवयवस्येगन्ततां विहन्तुमिति । अतः इस सदर्भ से स्पष्ट है कि प्रकृत में नान्तत्व प्रातिपदिकत्व ये दोनों एकाधिकरणवृत्ति जहाँ रहें वहाँ सूत्रार्थ समन्वय होने पर इसमें णत्व होता है । अन्यथा नहीं । अतः प्रातिपदिकान्त से नुम् ग्रहण गता-

र्थता की शङ्का ही न करनी चाहिए। प्रहिन्वन् यहां हिवि को इदित् मानकर नुम् 'प्रहिण् वन्' मध्यवर्ती नकार को को णत्वार्थ भी नुम् ग्रहण है। 'प्रेन्वनम्' यह नुम निमित्तक णत्व प्राप्त है किन्तु 'क्षुभ्नादिषु' सूत्र से णकाराभाव है। पूर्वपदस्थ रेफ से पर रहने पर भी णकारादेश नहीं होता है, रम्ययूना है। 'एकाजुत्तरपदे णः' यह सूत्र प्रथम प्रसंग से आ चुका है। किन्तु णत्व के प्रकरण में यह मुख्य है, अतः पुनः इसका निर्देश यहां किया है। यह नित्यणत्व करता है ऐसा प्रथम कह भी चुके हैं किन्तु पुनः पुनः स्मरण से ज्ञान में दृढ़ता आती है इस लिए पुनः कहा कि यह नित्य है। उदाहरण—वृत्रहणौ। यह प्रातिपदिकान्त का उदाहरण है। हरिमाणी यह भी प्रा० का० उ० है। नुम् का उ०—क्षीरपाणि। विभक्ति का क्षीरपेण। रम्यविणा, उदाहरण है।

१०५८ कुमति च ८।४।१३।

कवर्गवत्युत्तरपदे प्राग्वत्। हरिकामिणौ। हरिकामाणि। हरिकामेण।

पूर्वपदस्थ रेफादि रूप निमित्त से पर जो कवर्ग से युक्त परपदस्थ प्रातिपदिकान्त, नुम् एवं विभक्तिस्थ नकार को णकार आदेश होता है। हरिकामिणौ। यह प्रातिपदिकान्त नकार को णकारोदाहरण है। नुम् का हरिकामाणि। विभक्ति का हरिकामेण।

१०५९ पदव्यवायेऽपि ८।४।३८।

पदेन व्यवायेऽपि णत्वं न स्यात्। माषकुम्भवापेन। चतुरङ्गयोगेन। ॐअतद्धित इति वक्तव्यम् ॐ। आर्द्रगोमयेण। शुष्कगोमयेण।

मध्य में किसी पद के व्यवधान होने पर पूर्वपदस्थ निमित्त से पर प्रातिपदिकान्त, नुम्, एवं विभक्तिस्थ नकार को णकारादेश नहीं होता है। माषाणां कुम्भः माषकुम्भः-माषकुम्भं वपति तेन यहां वप् से कर्मण्यण् से अण् प्रत्यय मास से 'कर्तृकर्मणोः' से षष्ठी, उपपदसमास णत्व का अभाव है माषकुम्भवापेन। चतुरङ्गयोगेन—चत्वारि अङ्गानि अस्य तेन योगः। यहां भी णत्वाभाव। उत्तर व्यवधायक पद तद्धितान्त रहे वहां यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता है यथा आर्द्रगोमयेण। षष्ठ्यन्त गोशब्द से विकारार्थक मयट् प्रत्यय है वह तद्धित प्रत्यय है। शुष्कगोमयेण। शुष्कः—शुष् क्त, तको ककारादेश 'शुषः कः' सू० से। सुबन्त गो से मयट् सूखा गोबर से।

१०६० कुस्तुम्बुरूणि जातिः ६।१।१४३।

अत्र सुण्निपात्यते। कुस्तुम्बुरुर्धान्याकम्। क्लीबत्वमतन्त्रम्। जातिः किम्, कुस्तुम्बुरूणि कुत्सितानि तिन्दुकीफलानि इत्यर्थः।

जाति वाचक होने पर कुतुम्बुरु को सुट् निपातित होता है। कुस्तुम्बुरु = धान्याकम्। कुत्सित लौकी का फल (कुत्सित तोम्बी)।

१०६१ अपरस्पराः क्रियासातत्ये ६।१।१४४।

सुण्निपात्यते। अपरस्पराः सार्था गच्छन्ति। सततमविच्छेदेन गच्छन्तीत्यर्थः।। अपरे च परे च सकृदेव गच्छन्तीत्यर्थः।

क्रिया का नैरन्तर्य = सातत्य गम्यमान होने पर अपरस्पराः यहां सुट् का निपातन होता है। अपर एवं पर निरन्तर = व्यवधान रहित गमन करते हैं।

१०६२ गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु ६।१।१४५।

सुट् सस्य षत्वं च निपात्यते ।

गावः पद्यन्तेऽस्मिन् देशे स गोभिः सेवितो गोष्पदः । असेविते—अगोष्पदान्यरण्यानि । प्रमाणे—गोष्पदमात्रं क्षेत्रम् । सेवितेत्यादि किम् , गोः-पदं गोपदम् ।

सेवित, असेवित, प्रमाण अर्थ में गोपद में सुट् का निपातन होता है अर्थात् 'गोष्पदम्' रूप होता है। पद धातु गत्यर्थ है, जिस देश में गायें गमन = सञ्चार करती है वह प्रदेश गो से सेवित कहा जाता है। असेवित गौओं के सञ्चार से रहित वन अगोष्पदानि अरण्यानि। प्रमाण ये मात्रच् प्रत्ययान्त में सुट् गोष्पदमात्रम् अनोव अरण्य युत्सन। सेवितादि से भिन्न में गोपदम्।

१०६३ आस्पदं प्रतिष्ठायाम् ६।१।१४६।

आत्मयापनाय स्थाने सुट् निपात्यते। आस्पदम्। प्रेति किम्। आपदापदम् ।

अपने शरीर रक्षार्थ स्थान वाच्य होने पर सुट् निपातन से आस्पद रूप की सिद्धि होती है। प्रतिष्ठा अर्थ न होने पर सुट् नहीं यथा आपदापदम् = आपत्ति = कष्ट = दुःख का स्थान। "अविवेक परमापदा पदम्"।

१०६४ आश्चर्यमनित्ये ६।१।१४७।

अद्भुते सुट। आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत। अनित्ये किम्, आचर्यं कर्म शोभनम ।

अद्भुत अर्थ में आश्चर्य में सुट् का निपातन होता है। अनित्य वहा नहीं है अर्थात् नित्य है वहा सुट् नहीं, अच्छा कर्म का आचरण सदा करना चाहिए = आश्चर्य कर्म शोभनम्।

१०६५ वर्चस्केऽवस्करः ६।१।१४८।

कुत्सितं वर्चः वर्चस्कम्=अन्नमलं तस्मिन् सुट्। अवकीर्यते इति अवस्करः। वर्चस्के इति किम् , अवकरः ।

विष्ठा को वर्चस्क कहते है। वर्चस्क अर्थ में सुट से अवस्करः निपातित होता है। वर्च्चस्क से भिन्न में अवकरः = कतवार या जञ्जाल।

१०६६ अपस्करो रथाङ्गम् ६।१।१४९।

अपकरोऽन्यः ।

रथाङ्ग होने पर अपस्कर निपातित होता है, अर्थात् सुट् आगम होता है। अपस्करः। अन्यत्र अपस्करः।

१०६७ विष्करः शकुनि र्विस्करो वा ६।१।१५०।

पक्षे विकरः। वावचनेनैव सुट् विकल्पे सिद्धे विकरग्रहणं तस्यापि शकुने-रन्यत्र प्रयोगे मा भूदिति वृत्तिस्तत्र, भाष्यविरोधात् ।

शकुनि अर्थ में विकल्प से सुट् होकर विष्करः एवं विकरः दो रूप निपातित होते हैं। यहां वृत्तिकार ने कहा था कि वा शब्द से ही विकल्प लाभ से विरकर बनता पुनः सूत्रकृत विस्कर वह शकुनि से भिन्न अर्थ में भी सुट् होता है यह ज्ञापन करता है। यह कथन भाष्यविरुद्ध होने से उपेक्ष्य है।

१९६८ प्रतिष्कशश्च कशेः ६।१।१५३।

कश गतिशासनयोरित्यस्य प्रतिपूर्वस्य पचाद्यचि सुट् निपात्यते, षत्वञ्च। सहायः पुरोयायी वा प्रतिष्कश इत्युच्यते। कशेः किम्, प्रतिगतः कशां प्रतिकशोऽश्वः। यद्यपि कशेरेव कशा तथापि कशेरिति धातोर्ग्रहणमुपसर्गस्य प्रतेर्ग्रहणार्थम्। तेन धात्वन्तरोपसर्गोन्न।

संयोगरूप फलजनक व्यापारार्थक कश धातु है। एवं प्रवृत्ति में पर्यवसानार्थक कश धातु है। प्रतिपूर्वक कश धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यः' से अच् प्रत्यय में सुट् का निपातन एवं षकारादेश होता है। सहायक या अग्रगमनकर्ता को प्रतिष्कशः कहते हैं। लगाम को भी कशा कहते हैं। कशां प्रतिगतः प्रतिकशः – अश्वः यहां सुट् नहीं होता है, यहां कश धातुवाच्य क्रिया निरूपित उपसर्गत्व प्रति में नहीं है किन्तु अन्तर्भूत गम्यमान गमन क्रिया निरूपित उपसर्गत्व प्रति में है। यहां सुट् अभाव बोधनार्थ सूत्र में 'कशेः' ग्रहण है। अन्यथा 'प्रतिस्करः' इतना ही सूत्र करते क्योंकि कश का ही कशारूप बनता है।

१०६९ प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी ६।१।१५३।

हरिश्चन्द्रग्रहणममन्त्रार्थम्। ऋषीति किम्। प्रकण्वो देशः। हरिश्चन्द्रो माणवकः।

ऋषिवाच्य होने पर प्रस्कण्व, हरिश्चन्द्र इनमें सुट् का निपातन होता है। 'ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे' से मन्त्र में सुट् सिद्ध हरिश्चन्द्र में है किन्तु अमन्त्र में सुट् के लिए हरिश्चन्द्र ग्रहण है।

१०७० मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः ६।१।१५४।

मकरशब्दोऽव्युत्पन्नस्तस्य सुडिनिश्च निपात्यते। वेण्विति किम्, मकरो ग्राहः। मकरी समुद्रः।

वेणु एवं परिव्राजक अर्थ में अव्युत्पन्नप्रातिपदिक मकरशब्द यहां उससे सुट् एवं इनका निपातन इससे होता है। जहां वेणु या परिव्राजक अर्थ नहीं वहां इन कार्यों का अभाव है। यथा मकरः = ग्राहः = जलीय हिंसक जन्तुविशेष = मगर। उससे युक्त समुद्र = मकरी है।

१०७१ कास्तीराजस्तुन्दे नगरे ६।१।१५५।

ईषत्तीरमस्यास्तीति कास्तीरं नाम नगरम्। अजस्येव तुन्दमस्येति अजस्तुदं नाम नगरम्। नगरेति किम्, कातीरम्। अजतुन्दम्।

नगर अर्थ होने पर कास्तीर एवं अजस्तुद इनमें सुट् का निपातन होता है। नगर से भिन्न में कातीरम्। अजतुन्दम् ही सुट् रहित प्रयोग होता है।

१०७२ कारस्करो वृक्षः ६।१।१५६।

कार करोतीति कारस्करो वृक्ष । अन्यत्र कारकरः । केचित्तु कस्कादिषु इद पठन्ति न सूत्रेषु ।

वृक्ष अर्थ में कारस्कर में सुट् का निपातन होता है । करोति कर कारस्य कर' कारस्कर' = वृक्षविशेष का नाम है अवयवार्थ से भिन्नार्थक प्रवृत्तिनिमित्त यहाँ वृक्षत्व व्याप्य कारस्करत्व है । सत्वा एपा वृक्ष विशेषस्य । कोई इसका कस्कादि में ही पढता है सूत्र में नहीं किन्तु यह उक्ति भाष्य अनुमोदित नहीं है इसी का ध्वननार्थ 'केचित' शब्द का यहाँ उपादान किया है ।

१०७३ पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् ६।१।१५७।

एतानि ससुट्कानि निपात्यन्ते नाम्नि । पारस्कर. । किष्किन्ध्या । ॐतद्बृहतो करपत्योश्चोरदेवतयो सुट् तलोपश्च ॐ । तत्पूर्व चस्वेन दकारोऽोध्य । तद् बृहतोर्दकारसकारौ लुप्येते, करपत्योस्तु सुट् । चोरदेवतयोरिति समुदायोपाधि । तस्कर. । बृहस्पति. । ॐप्रायस्य चित्तिचित्तयो ॐ। प्रायश्चित्ति. । प्रायश्चित्तम् । वनस्पतिरित्यादि । आकृतिगणोऽयम् ।

इति समासाश्रयविधिप्रकरणम् ।

सज्ञा अर्थ में पारस्करादि शब्दों को सुट् का निपातन होता है । पार करोति इस विग्रह में 'कृञो हेतुताच्छील्य' में सुट् प्रत्यय हुआ है । इससे सुट् पारस्कर । किमपि धत्ते अर्थ में किम् पूर्वक धाधातु में कप्रत्यय आकारका लोप टाप्, निपातन में किम् का का द्वित्व पूर्वमकार का लोप सुट् षकारादेश किष्किन्धा ।

चोर एव देवता अर्थ में 'कर' एव पति पर रहने तद् एव बृहत् शब्द को सुट् का आगम होता है एव तद् का दकार तथा बृहत् का तकार इन दोनों (दकार तकार) का लोप होता है । तस्कर । बृहस्पति । वस्तुत वे रुढ है तो भी सिद्ध प्रकार प्रदर्शित है ।

चित्ति एव चित्त पर रहते प्रायशब्द को सुट् का आगम होता है । प्रायश्चित्ति । प्रायश्चित्तम् वनस्पति । यह पारस्करादि आकृतिगण है ।

प० श्री रा० कृ० पञ्चोलिविरचित रत्नप्रभा में समासाश्रयप्रकरण समाप्त ।



अथ तद्धितप्रकरणम् ॥ २५ ॥

१०७४ समर्थानां प्रथमाद् वा ४।१।८२।

इदं पदत्रयमधिक्रियते—प्राग् दिश इति यावत्। सामर्थ्यं परिनिष्ठितत्वम्। कृतसन्धिकार्यमिति यावत्।

'प्राग् दिशो विभक्तिः' सूत्र पर्यन्त इन तीन पदों का अधिकार है। समर्थानाम्, प्रथमाद् एवं वा इनका अधिकार होने से अधिकृत सूत्रों में इनका सम्बन्ध होता है। यहाँ सामर्थ्य से परिनिष्ठित का ग्रहण करना है। अप्रवृत्त नित्यशास्त्र का जो उद्देश्यतावच्छेदक धर्म उस से अनाक्रान्त को परिनिष्ठित करते हैं। 'अप्रवृत्तनित्याविध्युद्देश्यतावच्छेदानाक्रान्तत्वम् = परिनिष्ठितत्वम्। अर्थात् सन्धिकार्य से सम्पन्न प्रयोग।

१०७५ प्राग्दीव्यतोऽण् ४।१।८३।

तेन दीव्यतीत्यतः प्रागणधिक्रियते।

तेन दीव्यति सूत्र के पूर्व तक अण् का अधिकार है।

१०७६ अश्वपत्यादिभ्यश्च ४।१।८४।

एभ्योऽण् स्यात् प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु। वक्ष्यमाणस्य ण्यस्यापवादः।

प्राग् दीव्यतीय प्रकरण में जिन अर्थों में प्रत्यय विहित हैं उन अर्थों में अश्वपत्यादि सुबन्त से अण् प्रत्यय होता है।

१०७७ तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७।

ञिति णिति च तद्धिते परेऽचामादेरचो वृद्धिः स्यात्।

ञित् एवं णित् तद्धित प्रत्यय पर रहते अचों के मध्य में जो आदि अच् उसकी वृद्धि होती है।

१०७८ किति च ७।०।९१८।

किति तद्धिते च तथा। अश्वपतेरपत्यादि आश्वपतम्। गाणपतम्। गाणपत्यो मन्त्र इति तु प्रामादिकमेव।

कित् तद्धित प्रत्यय पर रहते अचों के मध्य में जो प्रथम अच् उसकी वृद्धि होती है। षष्ठ्यन्त अश्वपति से अपत्यादि अर्थ में अण् प्रत्यय तद्धितान्तत्वप्रयुक्त प्रातिपदिक संज्ञा विभक्तिका लुक् आदि वृद्धि भसंज्ञा यस्येति च से इकारलोप नपुंसकत्वविवक्षा में सु उसको अम्, पूर्वरूप आश्वपतम्। गणपतेरपत्यम् गाणपतम्। गाणपत्यः यहाँ प्रयोग अनवधानताप्रयुक्त प्रमाद से प्रयुक्त है। अर्थात् असङ्गत है। वस्तुतः अणन्त के उत्तर चतुर्वर्णादित्वप्रयुक्त ष्यञ् से उसकी भी सिद्धि हो सकती है।

१०७९ दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः ४।१।८५।

दित्यादिभ्यः पत्युत्तरपदाच्च प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ण्यः स्यादणोऽपवादः। दैत्यः। अदितेरादित्यस्य वा आदित्यः। प्राजापत्यः। ॐयमाच्चेति काशिकायाम् ॐ।

याम्यः । ※पृथिव्या ञाञौ※ । पार्थिवा । पार्थिवी । ※देवाद्यञञौ※ । दैव्यम् । दैवम् । ※बहिषष्टिलोपो यञ्च※ । बाह्यः । ※ईकक् च※ । बाहिकः । स्थाम्नोऽकारः※ । अश्वत्थामः । पृषोदरादित्वात्सस्य तः । ※भवार्थे लुग् वाच्यः※ । अश्वत्थामा । ※लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारः※ । बाह्वादीञोऽपवादः । उडुलोमाः । उडुलोमान् । बहुषु किम् , औडुलोमिः । ※गोरजादिप्रसङ्गे यत्※ । गव्यम् । अजादिप्रसङ्गे किम् , गोभ्यो हेतुभ्य आगतं गोरूप्यम् । गोमयम् ।

प्राग्दीव्यतीय अर्थों में दिति, अदिति, आदित्य, पत्युत्तरपदक शब्द इनसे ण्य प्रत्यय होता है। कश्यप ऋषि की तीन प्रधान स्त्रियाँ है—दिति, अदिति एवं मनु। दिति के अपत्य—दैत्य है, अदिति के अपत्य—आदित्य है। मनु जी के अपत्य—मानव या मनुष्य है, वे तीनों काश्यप है, मातृगत दोष एवं में गुण सन्तान में आते हैं, पितापक्ष हो है। प्रकृतमे दितेः अपत्यम्—दैत्यः = दिति अस् ण्य प्रा० सं० वि० लुक् आदि वृद्धि, भसंज्ञा, इकार लोप है। इसी प्रकार अदितेः अपत्यम् आदित्यः। आदित्यस्य अपत्यम् आदित्य । प्रजापतेः अपत्यम्—प्राजापत्यः । यम शब्द से भी ण्य प्रत्यय होता है यह काशिका मे कहा है। यमस्य अपत्यम् याम्यः। पृथिवी शब्द से ञ एवं अञ् प्रत्यय होता है। पार्थिवा। पार्थिवी। देवशब्द से यञ् एवं अञ प्रत्यय होता है। बहिष् शब्द से यञ् प्रत्यय एवं टिका लोप होता है। ईकक् भी बहिष् से होता है। बाह्यः। बाहिकः। स्थामन् शब्दान्त से अपत्यादि अर्थ में अ प्रत्यय होता है। अश्वत्थामः। पृषोदरादित्व से स को त होता है। भवार्थ में अश्वत्थामन् के उत्तर अकार प्रत्यय का लुक् होता है। अश्वत्थामा। बहुत्वविशिष्ट अपत्य अर्थ में लोमन् से अकार प्रत्यय होता है यह अकार प्रत्यय इञ् का बाधक है। बहुवचन में उडुलोम्नो बहुत्वविशिष्टानि अपत्यानि—उडुलोमा । अकार प्रत्यय एवं टिलोप है। उडुलोमान्। एकवचन में औडुलोमिः, औडुलोमी द्विवचन में रूप है वहाँ इञ् प्रत्यय है। अजादि प्रत्यय की प्रसक्ति में गो शब्द से अपत्यादि अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। गव्यम्। जहाँ हलादि प्रत्यय की प्रसक्ति है। यथा गोरूप्यम्। गोमयम्।

१०८० उत्सादिभ्योऽञ् ४।१।८६।

औत्सः। ※अग्निकलिभ्यां ढक् वक्तव्यः※। अग्नेरपत्यादि—आग्नेयम्। कालेयम्।

इत्यपत्यादिविकारान्तार्थसाधारणाः प्रत्ययाः।

सुबन्त उत्सादि शब्द से अपत्यादि अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है।
उत्सस्य अपत्यादि औत्सः। अग्नि एवं कलि से ढक् प्रत्यय होता है।
यथा अग्नेरपत्यादि आग्नेयम्। कालेयम्।

पं० श्रीबा० कृ० पं० वि० रत्नप्रभा में अपत्यादि विकारान्तार्थ साधारण-प्रत्ययप्रकरणसमाप्त



अथापत्याधिकारप्रकरणम् ॥ २६ ॥

१०८१ स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् ४।१।८७।

धान्यानां भवन इत्यतः प्रागर्थेषु स्त्रीपुंसाभ्यां क्रमान्नञ् स्नञौ स्तः। स्त्रैणः। पौंस्नः। वत्यर्थे न, स्त्रीपुंवच्चेति ज्ञापनात्। स्त्रीवत्। पुंवत्।

धान्यानां भवने सूत्र के पूर्व जो अर्थ निर्दिष्ट हैं उन अर्थों में स्त्रीशब्द से नञ एवं पुंस् शब्द स्नञ् प्रत्यय होता है। स्त्रियः अपत्यादि स्त्रैणः स्त्री नञ् वृद्धि णत्व। पुंसः अपत्यादि पौंस्नः यहाँ संयोगादि सकार का लोप है। 'स्त्रीपुंवत्' निर्देश से वत्यर्थ = सादृश्य अर्थ में नञ् एवं स्नञ् प्रत्यय स्त्री एवं पुंस् से नहीं होते हैं। स्त्रिया तुल्यम् स्त्रीवत्। पुंसा तुल्यम् = पुंवत्।

१०८२ द्विगोर्लुगनपत्ये ४।१।८८।

द्विगो र्निमित्तं यस्तद्धितोऽजादिरनपत्यार्थः प्राग्दीव्यतीयस्तस्य लुक् स्यात्। पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः पञ्चकपालः। द्विगो र्निमित्तस्य किम्, पञ्चकपालस्येदं खण्डं पाञ्चकपालकम्। अजादिः किम्

पञ्चगर्गरूप्यम्। अनपत्ये किम्, द्वयोर्मित्रयोरपत्यं द्वैमित्रिः।

द्विगु समास का निमित्त जो तद्धित प्रत्यय वह यदि अजादि एवं अनपत्यार्थक है तो प्राग्दीव्यतीय तद्धित प्रत्यय का लुक् होता है। पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः यहां तद्धितार्थ विषय में समास, विभक्तिलुक्, संस्कृतार्थ अण् उसका इससे लुक् होकर पञ्चकपालः पुरोडाशः यह सिद्ध हुआ। जो तद्धित प्रत्यय द्विगु समास में निमित्त नहीं है उसका लुक् नहीं होता है। यथा पञ्चानां कपालानां समाहारः पञ्चकपालम् तस्य इदं पाञ्चकपालम् यहां 'तस्येदम्' सूत्रविहित इदम् अर्थ में अण् द्विगु का अनिमित्त है लुक् न हुआ। पञ्चगर्गरूप्यम् में रूप्यप् प्रत्यय द्विगु समास का निमित्त है किन्तु अजादि नहीं अतः लुक् न हुआ। द्वैमित्रिः में इञ् द्विगु का निमित्त है, अजादि है किन्तु अपत्यार्थक है अतः लुक् न हुआ।

१०८३ गोत्रेऽलुगचि ४।१।८९।

अजादौ प्राग्दीव्यतीये विवक्षिते गोत्रप्रत्ययस्यालुक् स्यात्। गर्गाणां छात्राः। वृद्धाच्छः।

अजादि प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय विवक्षित होनेपर गोत्र प्रत्यय का अलुक् होता है गर्गस्य गोत्रापत्यानि पुंमासः यहां गार्ग्याः न होकर गर्गाः होता है 'यञञोश्च' से यञ् प्रत्यय का लुक् होता है--गर्गाः रूप हुआ। किन्तु अजादि प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय यहां छप्रत्यय वृद्धसंज्ञानिमित्तक क्रियमाण है अतः 'यञञोश्च' से लुक् न हुआ गार्ग्य से छप्रत्यय उसको ईयादेश कर गार्ग्य ईय यहां वक्ष्यमाण सूत्र लगता है—

१०८४ आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति ६।१।१५१।

हलः परस्यापत्ययकारस्य लोपः स्यात् तद्धिते परे न त्वाकारे। गार्गीयाः।

प्राग्दीव्यतीये किम्, गर्गेभ्यो हित गर्गीयम्। अचि किम्, गर्गेभ्य आगत गर्गरूप्यम्।

तद्धित प्रत्यय पर रहते हल् से पर अपत्यार्थक प्रत्यय के यकार का लोप होता है। गार्ग्य के यकार का लोप गार्गीया। गार्ग्य से हितार्थक प्रत्यय छ विवक्षित होतो वह प्राग्दीव्यतीय नहीं अत 'यञञोश्च' से लुक होकर गर्ग से हितार्थक छप्रत्यय है, गार्ग्य से नहीं वहां गर्गीयम्। प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय रूप्यप् विवक्षित होतो यञ लापकर गर्ग से ही रूप्यप् से गर्गरूप्यम्।

१०८५ यूनि लुक् ४।१।९०।

प्राग्दीव्यतीये अजादौ प्रत्यये विवक्षिते युवप्रत्ययस्य लुक् स्यात्। ग्लुचुकस्य गोत्रापत्य ग्लुचुकायनि। वक्ष्यमाण फिन्। ततो यून्यण्, ग्लौचुकायन। तस्य छात्रोऽपि ग्लौचुकायन। अणा लुकि वृद्धत्वाभावाच्छो न।

अजादि प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय विवक्षित होतो युवार्थक प्रत्यय का लुक होता है। षष्ठयन्त ग्लुचुक शब्द से गोत्रापत्य अर्थ में 'प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम्' से फिन् प्रत्यय है फकार को आयन् अकार लोप से ग्लुचुकायनि।

उससे युवापत्य अर्थ में अण् प्रत्यय स आदि वृद्धि इकार का लोप ग्लौचुकायन, इससे छात्र अर्थ में प्र यय अजादि विवक्षित है अत युवाथक अण का लुक् हुआ तन्निमित्त वृद्धि का भी निवृत्ति से ग्लुचुकायनि से अण् प्रत्यय है। यहां आदि अच उकार है अत वृद्धसंज्ञा न हुई। जिससे छप्रत्यय अण का बाधक न हुआ। युवापत्य में जो रूप वही छात्र अर्थ में भी रूप है— वह यह है—ग्लौचुकायन। अर्थ—ग्लुचुक के गोत्रापत्य के जो युवापत्य या उसका छात्र।

१०८६ पैलादिभ्यश्च २।४।५९।

एभ्यो युवप्रत्ययस्य लुक्। पीलाया वेत्यण्। तस्मादणो द्व्यचः इति फिञ्, तस्य लुक्। पैल पिता पुत्रश्च। ॐतद्राजाच्चाण ॐ। द्व्यञ्मगधेत्यणन्तादाङ्गशब्दादणो द्व्यचः इति फिञो लुक्। आङ्ग पिता, पुत्रश्च।

पैलादि शब्द के उत्तर युवप्रत्यय का लुक होता है। पीलाया गोत्रापत्यम् अर्थ में अण् से पैल तस्य युवाप यम् में फिञ् प्रत्यय उस फिञ् का इससे लुक। पिता एव पुत्र दोनों में 'पैल' रूप हुआ। यह सूत्र न करते तो पुत्र में 'पैलायनि' हो जाता। द्व्यञ्मगध सूत्र से अण् प्रत्ययान्त आङ्गशब्द से युवापत्य में विहित 'अणो द्व्यचः' से फिञ उसका लुक होता है। अङ्गस्य गोत्रापत्यम् आङ्ग तस्य युवापत्यम्—आङ्ग, न तु आङ्गायनि।

१०८७ इञः प्राचाम् २।४।६०।

गोत्रे य इञ् तदन्ताद् युवप्रत्ययस्य लुक् स्यात् तच्चेद्गोत्र प्राचां भवति। पन्नागारस्यापत्यम्, अत इञ्, यञिञोश्चेति फक्, पान्नागारि—पिता, पुत्रश्च। प्राचा किम्, दाक्षि पिता, दाक्षायण पुत्र।

गोत्र अर्थ में विहित जो इञ प्रत्यय तदन्त से युवप्रत्यय का लुक् होता है। वह गोत्र प्राचीनों का हो तो, अन्यथा नहीं। पन्नागारस्य अपत्यम् इस अर्थ में इञ प्रत्यय कर फक् युवार्थक का लुक्, पिता पुत्र में एक ही रूप पान्नागारि। न तु पान्नागारायण। प्राचीन गोत्र न होने से पिता अर्थ में दाक्षि, एव पुत्र अर्थ में दाक्षायण।

१०८८ न तौल्वलिभ्यः २।४।६१।

तौल्वल्यादिभ्यः परस्य युवप्रत्ययस्य लुक् न स्यात् । पूर्वेण प्राप्तः । तुल्वलः । तत इञि फक्, तौल्वलिः पिता, तौल्वलायनः पुत्रः ।

तौल्वल्यादि शब्द से पर युवप्रत्यय का लुक् नहीं होता है। पूर्वसूत्र से प्राप्त लुक् का यह निषेधक है। सुबन्त तुल्वल से इञ् गोत्रार्थक करके उससे युवार्थक फक् कर पिता एवं पुत्र में पृथक् रूप हुए।

१०८९ फक्फिञोरन्यतरस्याम् ४।१।९१।

यूनि लुगिति नित्ये लुकि प्राप्ते विकल्पार्थं सूत्रम् । कात्यायनस्य च्छात्राः कातीयाः । कात्यायनीयाः । यस्कस्यापत्यं यास्कः, शिवाद्यण् । तस्य युवापत्यं यास्कायनिः । अणो द्व्यचः इति फिञ् तस्य च्छात्रा यास्कीयाः । यास्कायनीयाः ।

फक् एवं फिञ् प्रत्यय का विकल्प से लुक् होता है। यूनि लुक् से नित्य प्राप्त लुक् का यह अपवाद है। कत का गोत्रापत्य अर्थ में गर्गादित्व प्रयुक्त यञ्, कात्यः, उससे 'यञिञोश्च' से फक् कात्यायनः तस्य च्छात्राः अर्थ में 'वृद्धाच्छः' से छप्रत्यय, पूर्व जात फक् का लुक् विकल्प से कातीयाः, कात्यायनीयाः। यस्क के गोत्रापत्य अर्थ में शिवादि के कारण अण् उसके युवापत्यरूप अर्थ में फिञ् उसका विकल्प से लुक् छात्र अर्थ में छप्रत्यय यास्कीयाः। लुक् अभाव में यास्कायनीयाः।

१०९० तस्यापत्यम् ४।१।९२।

षष्ठ्यन्तात् कृतसन्धेः समर्थादपत्येऽर्थे उक्ता वक्ष्यमाणाश्च प्रत्यया वा स्युः । उपगोरपत्यम् औपगवः । आदिवृद्धिरन्त्योपधावृद्धी बाधते ।

तस्येदमित्यपत्येऽपि बाधनार्थं कृतं भवेत् ।
उत्सर्गः शेष एवासौ वृद्धान्यस्य प्रयोजनम् ॥ १ ॥

योगविभागस्तु भानोरपत्यं भानवः । कृतसन्धेः किम्, सौत्थितिः । अकृतव्यूहपरिभाषया सावुत्थितिर्मा भूदिति । समर्थपरिभाषया नेह—वस्त्रमुपगोरपत्यं चैत्रस्य । प्रथमात् किम्, अपत्यवाचकात् षष्ठ्यर्थे मा भूदिति । वाग्रहणाद् वाक्यमपि, दैवयज्ञीति सूत्रादन्यतरस्यां ग्रहणानुवृत्तेः समासोऽपि । उपग्वपत्यम् । जातित्वान्ङीष् । औपगवी । आश्वपतः । दैत्यः । औत्सः । स्त्रैणः । पौंस्नः ।

कृत है सन्धि कार्य जिससे ऐसे षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में कथित एवं कहे जाने वाले प्रत्यय विकल्प से होते हैं। उपगु अस् अपत्य में अण् तद्धितान्तत्व के कारण प्रातिपदिक संज्ञा, विभक्ति लुक्, आदि वृद्धिः, ओर्गुणः सेगुण, अवादेश–औपगवः। यहां उपगताः गावो यस्य बहुव्रीहि समासकर 'गोः स्त्रियोः' से ह्रस्व से उपगु की सिद्धि हुई है। अण् के बाद आदि वृद्धि प्राप्त थी, एवं 'अचो ञ्णिति' से अन्त्य वृद्धि प्राप्त थी, एवं जगतः आगतः 'जागतः' यहाँ आदि वृद्धि एवं 'अत उपधायाः' से उपधावृद्धि प्राप्त थी, किन्तु पर आदि वृद्धि अन्त्य वृद्धि एवं उपधा वृद्धि को

बाध करती है। आदि वृद्धि के करने के उत्तर अन्त्य या उपधा वृद्धि नहीं होती है, 'सकृद्गतौ' न्याय से जो एक बार बाधित है, वह बाधित ही रहता है।

अनुशतिकादिगण में परस्त्री एवं पुष्करसद् का पाठ उभयपद के आदि अच् की वृद्धि के लिए पढ़ा है उससे भी ज्ञापन होता है कि आदि वृद्धि वह अन्त्य वृद्धि एवं उपधा वृद्धि की बाधिका है, भाष्यानुपूर्वी इस प्रकार है—यदयम् अनुशतिकादौ पुष्करसद्ग्रहणं करोति (पठति) ·· ··· तज्ज्ञापयति आचार्य आदिवृद्धिरन्त्योपधावृद्धी बाधत इति। अतः यहां लक्ष्यानुसारी व्याख्यान, एवं परत्वात्, भाष्यप्रामाण्य से 'पुन. प्रसङ्गविज्ञानात्' न्याय की अप्रवृत्ति है। 'येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति' इस न्याय से यहाँ बाध्यबाधकभाव है।

वस्तुत. आदि वृद्धि 'सौश्रुत.' यहा सावकाश है। क्योंकि यहां आदि वृद्धि की केवल प्राप्ति है। अन्त्य या उपधा उभय वृद्धि की अप्राप्ति है। अतः निरवकाशलक्षण बाधकत्व कथन युक्त नहीं है। अतः अनुशतिकादि में 'परस्त्री' 'पुष्कर सद् शब्द' का पाठ ही आदि वृद्धि को प्राबल्य बोधन करता है यही कथन उचित है।

यदि अर्थ निर्देश एवं षष्ठ्यन्त से प्रत्यय विधानार्थ उत्तरत्र इस 'तस्यापत्यम्' की आवश्यकता है तो तस्यापत्यमत इञ्' ऐसा न्यास करते, औपगवः में इदन्त्वेन अपत्य अर्थ का ज्ञान कर तस्येदम्' से ही अण् प्रत्यय होता, पुन योगविभाग से प्रत्ययविधानार्थ 'तस्यापत्यम्' सूत्र क्यों किया? उत्तर—'तस्येदम्' का बाधक जो 'वृद्धाच्छ.' है, उसको बाधकर अण् प्रत्यय विधानार्थ यह योग- विभाग है। यथा मानो. अपत्यम् यहां छप्रत्यय को बाधकर अण् से 'मानवः' प्रयोग की सिद्धि हुई।

पुनः शङ्का—'वृद्धाच्छ.' सूत्र तो शेषाधिकारीय है यहां शेष पद से १–अपत्य, २–देश, ३–निवास, ४–निर्वृत्त ५–अदूरभव इन अर्थो से भिन्न अर्थ शेष पद से गृहीत है। अतः मानवः में छप्रत्यय की अपत्यार्थ में अप्राप्ति है, 'तस्यापत्यम्' योगविभाग अपार्थ क्यों किया?, उत्तर—अन इञ् में अपत्य सम्बन्ध से अदन्त शब्द सम्बद्ध अपत्यरूप अर्थ उक्त होने पर भी इकारान्त शब्द सम्बद्ध एवं उकारान्त शब्दयुक्त अपत्य रूप अर्थ अनुक्त से शेष ही है। मानवीयः न हो 'मानव.' हो जाय अतः अण् विधानार्थ 'तस्यापत्यम्' इस योग की आवश्यकता है। इस से सारांश यह हुआ कि वृद्धसंज्ञकप्रातिपदिक से छप्रत्यय बाधपूर्वक अणर्थ इसकी आवश्यकता है। योगविभाग व्यर्थ नहीं है। किञ्च अपत्यत्वेन अपत्यर्थ बोध हो एतदर्थ औपगव' आदि के लिए भी सूत्र की आवश्यकता है जिस अर्थ में में जिस प्रत्यय का विधान है उस का वह अर्थ है। अपत्य अर्थ में यह सूत्र अपार्थ है।

समर्थ का अर्थ कृतसन्धिकार्य कह चुके है अत. सु उत्थित अस् इञ् यहां अन्तरङ्गदीर्घ को बाधकर वृद्धि से सौ आवादेश 'सावुत्थितिः' न हो जाय एतदर्थं सन्धिकार्यकर सूत्थित से प्रत्यय से सौत्थितिः। अकृतव्यूह परिभाषा से अन्तरङ्ग दीर्घ न होकर सावुत्थितिः न हो एतदर्थ समर्थ ग्रहण है। जहां परस्परान्वय रूप सामर्थ्य नहीं है, वहां अणादि प्रत्यय नहीं होते है, किन्तु वहां वाक्य ही रहता है यथा— वस्त्रमुपगो. अपत्य चैत्रस्य। यहा उपगु पदार्थ का अन्वय वस्त्रार्थ से है, अपत्यार्थ से नहीं है, अपत्यार्थ का चैत्रपदार्थ के साथ अन्वय है। अतः असामर्थ्य प्रयुक्त वाक्य ही रहा।

यहां 'समर्थानां प्रथमाद् वा' से प्रथमात् का सम्बन्ध से प्रत्ययविधायक सूत्रों में प्रथमोच्चरित से = यथा तस्य = षष्ठ्यन्त से अपत्य में प्रत्यय होते है। यहाँ प्रथमात् का अधिकार न करते तो 'उपगुः अपत्यम् यस्य' इस अर्थ में उपगु के पिता अर्थ में प्रत्यय होता, ऐसा न हो एतदर्थ प्रथमात् आवश्यक है। 'वा' का भी अधिकार से यहाँ उपगोरपत्यम्' ऐसा वाक्य भी रहता है।

यहां 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति है व एकार्थीभाव रूप सामर्थ्य में तद्धितप्रत्यय के अभाव में भी वह सामर्थ्य स्थित होने के कारण समास से 'उपगवपत्यम्' समस्त रूप भी है। 'गोत्रञ्च चरणैः सह' से जाति होने से स्त्रीलिङ्ग में 'जातिरस्त्री' से ङीप् प्रत्यय अकारलोप से औपगवी।

अश्वपतेः अपत्यम् में अश्वपत्यादिभ्यश्च से अण् आश्वपतः। दितेः अपत्यम् दैत्यः। उत्सस्यापत्यम् औत्सः। पुंसः अपत्यम् पौंस्नः। स्त्रियाः अपत्यं स्त्रैणः।

१०९१ अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ४।१।१६२।

अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्रादि गोत्रसंज्ञं स्यात्।

आपत्यत्वेन विवक्षित पौत्र एवं प्रपौत्र आदि की गोत्र संज्ञा होती है।

१०९२ जीवति तु वंश्ये युवा ४।१।१६३।

वंश्ये पित्रादौ जीवति पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्थादि तद्युवसंज्ञमेव, न गोत्र-संज्ञम्।

वंश में पिता आदि जीवित रहते पौत्र का जो अपत्य चतुर्थप्रपौत्र आदि की युवसंज्ञा ही होती है। गोत्रसंज्ञा नहीं होती है।

१०९३ भ्रातरि च ज्यायसि ४।१।१६४।

ज्येष्ठे भ्रातरि जीवति कनीयान् चतुर्थादि युवा स्यात्।

ज्येष्ठ भ्राता के जीवित रहते चतुर्थादि कनिष्ठ की (कनिष्ठ पौत्रादि के अपत्य की) युव संज्ञा होती है।

१०९४ वाऽन्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति ४।१।१६५।

भ्रातुरन्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति पौत्रप्रभृतेरपत्यं जीवदेव युव-संज्ञं वा स्यात्। एकं जीवतिग्रहणमपत्यस्य विशेषणम्, द्वितीयं सपिण्डस्य। तरब्निर्देशरुभयोरुत्कर्षार्थः। स्थानेन वयसा वा चोत्कृष्टे पितृव्ये मातामहे भ्रातरि वा जीवति। गार्ग्यस्यापत्यं गार्ग्यायणः, गार्ग्यो वा। स्थविरेति किम्, स्थानवयोन्यूने गार्ग्य एव। 'जीवति' इति किम्; मृते मृतो वा गार्ग्य एव। ॐ वृद्धस्य च पूजायामिति वक्तव्यम्, गोत्रस्यैव वृद्धसंज्ञा प्राचाम्। गोत्रस्य युवसंज्ञा पूजायां गम्यमानायाम्। तत्रभवान् गार्ग्यायणः। पूजेति किम्, गार्ग्यः। ॐ यूनश्च कुत्सायां गोत्रसंज्ञेति वाच्यम् ॐ। गार्ग्यो जाल्मः। कुत्सेति किम्, गार्ग्यायणः।

भ्राता से भिन्न अन्यस्थविरतर जीवित हो पौत्रादि के जीवित अपत्य की विकल्प से युव संज्ञा होती है। प्रथम जीवति अपत्य का विशेषण है। द्वितीय सपिण्डका। दोनों के उत्कर्षार्थ तरप् निर्देश है। स्थान एवं वयः क्रम से उत्कृष्ट, पितृव्य मातामह भ्राता जीवित रहे तो पौत्रादि के अपत्य की युव संज्ञा विकल्प से होती है। गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः तस्य युवापत्यं गार्ग्यः। गार्ग्यायणः। सूत्र में स्थविरतर कहने से स्थान (पद) एवं वय की न्यूनता में गार्ग्य ही होता है। स्थविरसपिण्ड की मृत्यु होने पर या अपत्यमृत होने पर युवसंज्ञा नहीं गार्ग्य ही रहता है।

पूजा अर्थ होने पर वृद्धकी गोत्र संज्ञा होती, प्राचीनमत में गोत्र को वृद्ध संज्ञा होती है। पूज्य अर्थ होने पर गोत्र की युव संज्ञा होती है जैसे तत्रभवान् गार्ग्य हो गार्ग्यायण है।

निन्दा अर्थ में युव को गोत्र संज्ञा होती है। असमीक्ष्यकारी गार्ग्यः। गार्ग्यायण होना चाहता था किन्तु निन्दा में गार्ग्य का ही प्रयोग हुआ। जहा निन्दा गम्यमान नहीं वहा गार्ग्यायण होता ही है।

१०९५ एको गोत्रे ४।१।९३।

गोत्रे एक एवापत्यप्रत्ययः स्यात्। उपगो र्गोत्रापत्यम्—औपगवः। गार्ग्यः। नाडायनः।

> गोत्रेस्वैकोनसंख्यानां प्रत्ययानां परम्परा।
> यद्वा स्वदूर्ध्वन्यूनसंख्येभ्योऽनिष्टोत्पत्तिः प्रसज्यते ॥ १ ॥
> अपत्यं पितुरेव स्यात् ततः प्राचामपीति च।
> मतभेदेन तद्धान्यै सूत्रमेतत्तथोत्तरम् ॥ २ ॥

पितुरेवापत्यमिति पक्षे हि उपगोस्तृतीये वाच्ये औपगवादिञ् स्यात्। चतुर्थे त्वजीवज्ज्येष्ठे मृतवश्ये औपगवेः फक्। इत्थं फगिञोः परम्परायां मूलाच्छततमे गोत्रे एकोनशत प्रत्ययाः स्युः। 'पितामहादीनामपि' इति मुख्यपक्षे तु तृतीये वाच्ये उपगोरण् इष्टे सिद्धेऽपि अण्णन्तादिञपि स्यात्। चतुर्थे फगिति फगिञोः परम्परायां मूलाच्छततमे गोत्रेऽष्टनवतिरनिष्टप्रत्ययाः स्युः। अतो नियमार्थमिदं सूत्रम्। एवमुत्तरसूत्रेऽप्यूह्यम्।

सूत्रार्थ—गोत्र में एक ही अपत्य प्रत्यय होता है, यह सूत्र नियमार्थ है, नियम से अन्य प्राप्त प्रत्ययों की व्यावृत्ति हुई है।

'गोत्रे' में जातिगत एकत्व विवक्षा में एकवचन है। एक शब्द संख्यावाची है। गोत्र कहने की इच्छा विद्यमान है तो अपत्य बोधक प्रत्यय एक ही होता है अर्थात् गोत्रापत्य में प्रथम ही उत्पन्न प्रत्यय को प्राप्त करना है, अन्य नहीं। यदि अनन्तर अपत्य प्रत्ययान्त से भी प्रत्यय होता तो गोत्रप्रत्यय से एक ही प्रत्यय विधान आचार्य न करते। इस से 'अपत्य प्रत्ययान्तात् प्रतिषेध' यह वार्तिक गतार्थ है अपूर्व नहीं है।

उपगो गोत्रापत्यम्=औपगव। गर्गस्य गोत्रापत्यम्—गार्ग्य। नडस्य गोत्रापत्यम्=नाडायन। सूत्र का प्रयोजन निर्दिष्ट करते हैं—यदि यह सूत्र न किया गया होता तो गोत्र की अपेक्षा से एक न्यून संख्या के प्रत्ययों की परम्परा प्रसक्त होती। अर्थात् तृतीय गोत्रापत्य वाच्य में दो प्रत्यय होते, चतुर्थ गोत्रापत्य वाच्य में तीन प्रत्यय इस प्रकार मूल पुरुष में शत संख्या के अपत्य कहने पर निन्यानवे प्रत्ययों की परम्परा होती, वह इष्ट नहीं है।

साक्षात् अनन्तर अपत्य है यह पक्ष अमुख्य है अर्थात् सिद्धान्त पक्ष नहीं है। पितामहादि का भी पौत्र अपत्य है, उस मुख्यपक्ष में औपगवादि से आगत अणादि से तृतीयगोत्रापत्य का अभिधान होता ही है तो मूल पुरुष से शत संख्याक गोत्रापत्य में ९८ अनिष्ट प्रत्ययमाला की

प्रसक्ति होती। इसकी निवृत्ति 'एको गोत्रे' का प्रयोजन है। अतः अण् इञ् फक् अण् यह प्रत्यय माला न हुई। अपतन हेतु को अपत्य कहते हैं। पिता, पितामह, प्रपितामह आदि के नरकादि पतन जिसके द्वारा श्राद्धादि कर्मानुष्ठान से न हो, यही अपत्यार्थः। कोपकार आत्मजमात्र को अपत्य कहते हैं। एतावता मतभेद अपत्यविषयक है किन्तु मुख्यपक्ष कोशप्रदर्शित नहीं है। "यन्निमित्तं यस्य अपतनं तत्तस्यापत्यम्" यही अपत्यार्थ मुख्य है।

इसी प्रकार 'गोत्राद्यून्यस्त्रियाम्' सूत्र में भी ज्ञान करना चाहिए। अर्थात् गोत्र प्रत्यय के बाद युवापत्य तद् अपत्य युवा प्रत्ययान्त से पुनः युवा प्रत्यय मूल से शतसंख्यक युवैरभिधान में ९९ या ९८ अनिष्ट प्रत्ययों की प्रसक्ति निवारणार्थ युवार्थक एक ही गोत्र प्रत्ययान्त से प्रत्यय होता है। अनेक नहीं।

१०९६ गोत्राद्यून्यस्त्रियाम् ४।१।९४।

यून्यपत्ये गोत्रप्रत्ययान्तादेवापत्यप्रत्ययः स्यात् स्त्रियां तु न युवसंज्ञा। गर्गस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः। स्त्रियान्तु गोत्रत्वादेक एव प्रत्ययः।

प्रथम गोत्र संज्ञक प्रत्यय करके गोत्र प्रत्ययान्त से ही युवार्थक प्रत्यय होता है। मूल प्रकृति से साक्षात् युवार्थक प्रत्यय नहीं होता है, युवार्थक प्रत्यय स्वोत्पत्ति में गोत्र प्रत्यय के अधीन है। इस सूत्र में 'अस्त्रियाम्' यह योगविभाग है, इसमें युवा का सम्बन्धकर नञ् का निषेध परक से यह अर्थ हुआ—"स्त्रीलिङ्ग में युवसंज्ञा नहीं होती है। वहां गोत्र संज्ञा के कारण एक ही प्रत्यय होता है। गर्ग के युवापत्य में प्रथम गर्गादित्व से यञ् प्रत्यय से गार्ग्य एवं गार्ग्य से युवार्थक फक् प्रत्यय आयन् आदेश से 'गार्ग्यायणः' हुआ।

१०९७ अत इञ् ४।१।९५।

अदन्तं यत्प्रातिपदिकं तत्प्रकृतिकात् षष्ठ्यन्तादिञ् स्यादपत्येऽर्थे। दाक्षिः।

षष्ठ्यन्त ह्रस्वाकारान्त प्रातिपादक से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है। दक्षस्यापत्यम् इस अर्थ में 'दक्ष अस् इञ्, विभक्ति लुक्, आदिवृद्धि, भसंज्ञा, अकार का लोप, समुदाय से दाक्षि विभक्तिः से विभक्ति सकारका रुत्व विसर्ग से दाक्षिः।

१०९८ बाह्वादिभ्यश्च ४।१।९६।

बाहविः। औडुलोमिः। आकृतिगणोऽयम्।

षष्ठ्यन्त बाहु आदि शब्दों से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है। बाहु शब्द संज्ञा वाचक है उससे इञ् प्रत्यय आदि वृद्धि 'ओर्गुणः' से गुण अवादेश बाहविः। यहाँ माधव ने 'सौबाहविः उदाहरण तदन्त विधि से दिया है वह असङ्गत है। योगिक बाहु का अपत्यार्थ के साथ योग नहीं किन्तु संज्ञा भूत का योग है। उडुलोम्नः अपत्यं पुमान् औडुलोमिः। 'नस्तद्धिते' से अन् का लोप है। यह आकृतिगण है।

१०९९ सुधातुरकङ् च ४।१।९७।

चादिञ्। सुधातुरपत्यं सौधातकिः। ॐव्यासवरुडनिषादचाण्डालबिम्बानां चेति वक्तव्यम्ॐ।

अपत्य अर्थ में षष्ठ्यन्त सुधातृ शब्द से इञ् प्रत्यय होता है एवं अकङ् आदेश होता है। सौधातकि।

व्यास, वरुड, निषाद, चण्डाल, बिम्ब इन सुबन्त शब्दों से इञ् प्रत्यय एवं इनको अकङ् आदेश होता है।

११०० न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् ७।३।३।

पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यां परस्य न वृद्धिः किन्तु ताभ्यां पूर्वौ क्रमादैचावागमौ स्तः। वैयासिकिः। वारुडकिरित्यादि।

पद के अन्त में स्थित यकार एवं वकार से पर स्वर वर्ण की वृद्धि नहीं होती है किन्तु यकार एवं वकार के पूर्व में क्रम से ऐ औ आगम होते हैं। यथा व्यासस्य अपत्यम् यहाँ व्यास अकङ् इञ् वैयासकि। वेदान् व्यस्तवान्=व्यास कर्म में अण् प्रत्यय है वि अस् अण् उपधावृद्धि यण् व्यास। यहाँ वेदव्यास में पूर्वपद का लोप है, देव, दत्त, सत्या, भामा की तरह, 'विनाऽपि प्रत्ययं' से। वरुड अकङ् इञ् वारुडकि।

११०१ गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ् ४।१।९८।

गोत्र में षष्ठ्यन्त कुञ्जादि शब्दों से च्फञ् होता है। यह इञ् का बाधक है। प्रत्यय में चकार, ञकार इत्संज्ञक है। अन्तोदात्तार्थ चकार है। ञकार वृद्धि के लिए है फ को आयन् होता है।

११०२ व्रातच्फञोरस्त्रियाम् ५।३।११३।

व्रातवाचिभ्यश्च्फञन्तेभ्यश्च स्वार्थे ञ्यः स्यान्न तु स्त्रियाम्। कौञ्जायन्यः। बहुत्वे तद्राजत्वाल्लुग् वक्ष्यते। ब्राध्नायन्यः। स्त्रियां कौञ्जायनी। गोत्रत्वेन जातित्वान्ङीप्। अनन्तरापत्ये कौञ्जिः।

च्फञ्प्रत्ययान्त व्रातवाचि शब्दों से पर स्वार्थ में ञ्य प्रत्यय होता है, किन्तु स्त्रीलिङ्ग में नहीं। कुञ्जस्य गोत्रापत्यम् इस विग्रह में कौञ्जायन्य। गोत्रापत्यकृत बहुत्व विवक्षित होने पर 'तद्राजस्य बहुषु' से लुक्। इस गण सूत्र को आगे कहेंगे। ब्रध्नस्यापत्यम् इस विग्रह में ब्राध्नायन्य। स्वार्थिक 'ञ्य' स्त्रीलिङ्ग में नहीं यथा कौञ्जायनी यहाँ 'गोत्रञ्च चरणैः' से जातित्व तन्निमित्तक ङीष् है। अनन्तर अपत्य में कौञ्जि।

११०३ नडादिभ्यः फक् ४।१।९९।

गोत्र इत्येव। नाडायनः। अनन्तरो नाडिः।

षष्ठ्यन्त नडादि शब्दों से गोत्रापत्य में फक् होता है। नडस्य गोत्रापत्यम् इस विग्रह में नाडायन। चरस्य गोत्रापत्यम्—चारायण। नड का पुत्र अर्थ में अत इञ् से इञ् प्रत्यय से नाडिः।

११०४ हरितादिभ्योऽञः ४।१।१००।

एभ्योऽञन्तेभ्यो यूनि फक्। हारितायनः। इह गोत्राधिकारेऽपि सामर्थ्याद् यून्ययम्। न हि गोत्रात्परो गोत्रप्रत्ययः। विदाद्यन्तर्गणो हरितादिः।

अञ् प्रत्ययान्त हरितादि से पर युवार्थक फक् प्रत्यय होता है। हरितस्य युवापत्यम् इस विग्रह में हारितायन। यहाँ गोत्र का अधिकार है अतः फक् गोत्र में होना चाहिए, किन्तु गोत्रार्थक

विदादित्व से अञ् प्रत्यय हो चुका है अतः गोत्र में एक ही अपत्य प्रत्यय होता है। इस सूत्रारम्भ सामर्थ्य से युवा अर्थ में ही फक् हुआ। विदादिगण का अन्तर्गण हरितादि है।

११०५ यञिञोश्च ४।१।१०१।

गोत्रे यौ यञिञौ तदन्तात् फक् स्यात्। अनातीत्युक्तेरापत्यस्येति यलोपो न। गार्ग्यायणः। दाक्षायणः।

गोत्र अर्थ में विहित जो यञ् एवं इञ् तदन्त से फक् होता है। 'आपत्यस्य' सूत्र यकार का लोप आकार पर रहते नहीं करता है। अतः यहां यकार का लोप न हुआ। यथा गर्गस्य गोत्रापत्यम् गार्ग्यः तस्य युवापत्यम्-गार्ग्यायणः यहां आकार परक यकारका लोप न हुआ। दक्षस्यापत्यम्-दाक्षिः तस्य युवापत्यम्—दाक्षायणः।

११०६ शरद्वच्छुनकदर्भाद् भृगुवत्साग्रायणेषु ४।१।११२।

गोत्रे फक्। अञिञोरपवादः। आद्यौ विदादौ। शारद्वतायनो भार्गवश्चेत्। शारद्वतोऽन्यः। शौनकायनो वात्स्यश्चेत्। शौनकोऽन्यः। दार्भायण आग्रायणश्चेत्। दार्भिरन्यः।

गोत्रार्थ में भार्गवार्थ होने पर षष्ठ्यन्त शरद्वत से पर, वात्स्य अर्थ में शुनक से पर, आग्रायण अर्थ में दर्भ से पर फक् प्रत्यय होता है। यह फक् अञ् एवं इञ् इनका बाधक है। शरद्वत् एवं शुनक इनका विदादिगण में पाठ है अतः अञ् प्राप्त था। दर्भ से 'अत इञ्' से इञ् प्राप्त था उसका इस फक् ने निषेध किया। शारद्वतायनः = भार्गवः। अन्यत्र अञ् से शारद्वतः। शौनकायनः = वात्स्यः, अन्यत्र अञ् से शौनकः। दार्भायणः = आग्रायणः। अन्यत्र इञ् से दार्भिः।

११०७ द्रोणपर्वतजीवन्तादन्यतरस्याम् ४।१।११३।

एभ्यो गोत्रे फक् वा। द्रौणायनः। द्रौणिः। पार्वतायनः। पार्वतिः। जैवन्तायनः। जैवन्तिः। अनादिरिह द्रोणः। अश्वत्थाम्न्यनन्तरे तूपचारात्।

गोत्रार्थ में षष्ठ्यन्त, द्रोण, पर्वत, जीवन्त से फक् प्रत्यय विकल्प से होता है। यह इञ् का बाधक है। द्रौणायनः। पक्ष में अत इञ् से इञ् द्रौणिः। पार्वतायनः पक्ष में इञ् पार्वतिः। जैवन्तायनः पक्ष में इञ् जैवन्तिः। इस सूत्र में द्रोण अनादि है सादि नहीं। महाभारत में प्रसिद्ध द्रोण सादि है। अश्वत्थामा रूप अनन्तरापत्य में द्रौणायनः पद का प्रयोग जो हुआ है वह लाक्षणिक है।

११०८ अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् ४।१।११४।

एभ्योऽञ् गोत्रे ये त्वत्रानृषयस्तेभ्य आनन्तर्ये। सूत्रे स्वार्थे ष्यञ्। बिदस्य गोत्रापत्यं बैदः। अनन्तरो बैदिः। बाह्वादेराकृतिगणत्वादिञ्। पुत्रस्यापत्यं पौत्रः। दौहित्रः।

ऋषिवाचक जो बिदादिशब्द उनसे गोत्रापत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है, किन्तु ऋषि वाचक भिन्न जो दादिदि शब्द उनसे अनन्तरापत्य में अञ् प्रत्यय होता है। सूत्र में अनन्तरे कहना था किन्तु स्वार्थ = प्रकृत्यर्थ मे ष्यञ् प्रत्यय किया है। बिदस्य गोत्रापत्यम् इस विग्रह में बैदः। अनन्तरापत्य में बैदिः। बाह्वादि आकृतिगण है अतः यहाँ इससे इञ् प्रत्यय हुआ है। पुत्रस्य अपत्यम् अर्थ में अञ् पौत्रः। दुहितुरपत्यम् विग्रह में दौहित्रः।

११०९ गर्गादिभ्यो यञ् ४।१।१०५।

गोत्र इत्येव। गार्ग्यं । वात्स्य ।

गोत्रापत्य अर्थ में षष्ठ्यन्त गर्गादिगणपठित शब्दों से यञ् प्रत्यय होता है। गर्गस्य गोत्रापत्यम् पुमान् गार्ग्यं । एव वात्स्य ।

१११० यञञोश्च २।४।६४।

गोत्रे यद् यञन्तम् अञन्तञ्च तदवयवयोरेतयो लुंक् स्यात् तदर्थकृते बहुत्वे न तु स्त्रियाम्। गर्गा । वत्सा । बिदा । ऊर्वा । तत्कृते इति किम्, प्रियगार्ग्यो । स्त्रियान्तु गार्ग्यं स्त्रिय । गोत्रे किम्, द्वैप्या । औत्साः । प्रवराध्यायप्रसिद्धमिह गोत्रम्, तेनेह न, पौत्रा । दौहित्राः ।

अपत्यकृत बहुत्व होने पर गोत्र अर्थ में विहित जो यञ् या अञ् तदन्त शब्द का अवयव यञ् या अञ् उसका लुक होता है किन्तु स्त्रीलिङ्ग में लुक् नहीं होता है गर्गस्य गोत्रापत्यानि पुमांस इस विग्रह में गर्गा । वत्सा । बिदा । ऊर्वा । यहाँ पूर्वदो में यञ् का लुक्, उत्तर में अञ् का लुक् है। प्रियो गार्ग्यो येषान्ते इस विग्रह में बहुव्रीहि समास में अन्यपदार्थगत बहुत्व है अत यञ् का अलुक है। गर्ग की गोत्रापत्य कन्या में गार्ग्यं । गोत्रार्थक अञ् जहाँ नहीं वहाँ लुक् नहीं होते यथा द्वैप्या । उसी यथा औत्सा । यहाँ प्रवराध्याय प्रसिद्ध ही गोत्र का ग्रहण है, अत 'पौत्रा' आदि में लुक न हुआ। यह "लौकिकस्य गोत्रस्य ग्रहणम्" इस भाष्य पर कैयटोक्ति है।

११११ मधुबभ्र्वोर्ब्राह्मणकौशिकयोः ४।१।१०६।

गोत्रे यञ्। माधव्यो ब्राह्मण । माधवोऽन्य । बाभ्रव्य कौशिक ऋषिः। बाभ्रवोऽन्यः। बभ्रुशब्दस्य गर्गादिपाठात् सिद्धेऽपि नियमार्थमिदम्। गर्गादिपाठफलन्तु लोहितादिकार्य्यार्थम्। बाभ्रव्यायणी।

मधु एव बभ्रु समर्थ सुबन्त से क्रमश ब्राह्मण एव कौशिक अर्थ में गोत्रापत्य में यञ् प्रत्यय होता है। मधो गोत्रापत्यम् ब्राह्मण इस विग्रह में माधव्य । वृद्धि गुण अवादेश। अन्यत्र अण् माधव । बभ्रो अपत्यम् कौशिक इस विग्रह में बाभ्रव्य । अन्यत्र बाभ्रव । बभ्रु को कौशिक अर्थ में ही यञ् प्रत्यय होता है, अन्यत्र नहीं यह नियमार्थ ही सूत्र में बभ्रु ग्रहण है, अत गर्गादिसूत्र नियम्य = व्यावृत्त्य = बाध्य हुआ ।

गर्गादि में इसका पाठ इस लिए किया कि "सर्वत्र लोहितादिभ्य" से ष्फप्रत्यय होता है यहाँ स्त्रीत्वरूपार्थ उक्त है तो भी षित्वसामर्थ्य से ङीष् होकर 'बाभ्रव्यायणी'।

१११२ कपिबोधादाङ्गिरसे ४।१।१०७।

गोत्रे यञ् स्यात्। काप्य । बौध्य । आङ्गिरसे किम्, कापेय । बौधिः।

गोत्र अर्थ में आङ्गिरस अर्थ में कपि एव बोध षष्ठ्यन्त समर्थ से यञ् प्रत्यय होता है। कपे गोत्रापत्यम् आङ्गिरस = काप्य । इसी प्रकार बौध्य । अन्यत्र 'इतश्चानिञ' से ढक् कापेय । अनृषित्वाद, बाह्वादित्वाद्वा इञ् बौधि ।

१११३ वतण्डाच्च ४।१।१०८।

आङ्गिरस इत्येव । वातण्ड्यः । अनाङ्गिरसे तु गर्गादौ शिवादौ च पाठाद् यञ्अणौ । वातण्ड्यः । वातण्डः ।

वतण्ड समर्थपष्ठ्यन्तसे आङ्गिरस अर्थ में यञ् प्रत्यय होता है । यथा वातण्ड्यः । अन्यत्र गर्गादित्व एवं शिवादित्व प्रयुक्त यञ् एवं अण् से वातण्ड्यः । वातण्डः ।

१११४ लुक् स्त्रियाम् ४।१।१०९।

वतण्डाच्चेति विहितस्य लुक् स्यात् स्त्रियाम् । शार्ङ्गरवादित्वात् ङीन् । वतण्डी । अनाङ्गिरसे तु वातण्ड्यायनी । लोहितादित्वात् ष्फः । अणि तु वातण्डी । ऋपित्वाद् वक्ष्यमाणः ण्यञ् न ।

स्त्रीलिङ्ग में वतण्डाच्च से विहित आङ्गिरस अर्थ में जो यञ् उसका लुक् होता है । वतण्ड यञ् लुक् ङीन् वितण्डी । आङ्गिरसभिन्न में यञन्त से ष्फ से 'वातण्ड्यायनी । अण् में वातण्डी । 'अणिञोः' से ष्यञ् यहाँ ऋपित्व के कारण न हुआ ।

१११५ अश्वादिभ्यः फञ् ४।१।११०।

गोत्रे । आश्वायनः । ❀पुंसि जाते❀ । पुंसीति प्रकृतिविशेषणम् । जातस्य गोत्रापत्यं जातायनः । पुंसि इति किम , जाताया अपत्यं जातेयः ।

गोत्र में अश्वादि शब्दों में फञ् होता है । गणपठित शब्दों के अर्थ में पुंसि पुंस्त्व रूप लिङ्ग विशेषण है अर्थात पुंस्त्वविशिष्ट पष्ठ्यन्त समर्थ अश्वादि से फक् प्रत्यय गोत्र अर्थ मे होता है । जातायनः । जातायाः अपत्यम् में जातेयः । स्त्रीभ्यो ढक् ।

१११६ भर्गात् त्रैगर्ते ४।१।१११।

गोत्रे फञ् । भार्गायणः = त्रैगर्तः । भार्गिरन्यः ।

त्रैगर्त अर्थ से गोत्रविषय में गोत्र में भर्ग से फञ् प्रत्यय होता है ।

१११७ शिवादिभ्योऽण् ४।१।१२१।

गोत्रे इति निवृत्तम् । शिवस्यापत्यं शैवः । गाङ्गः । पक्षे तिकादित्वात् फिञ् । गाङ्गायनिः । शुभ्रादित्वाड् ढक् । गाङ्गेयः ।

यहाँ 'गोत्रे' की निवृत्ति हुई है । शिवादिगण पठित समर्थपष्ठ्यन्त ।से अण् प्रत्यय अपत्य अर्थ में होता है, शैवः = गणपतिः कार्तिकेयश्च । गङ्गाया अपत्यम् गाङ्गः । पक्ष में फिञ् गाङ्गायनिः । ढक् में गाङ्गेयः ।

१११८ अवृद्धाभ्यो नदीमानुषीभ्यस्तन्नामिकाभ्यः ४।१।११३।

अवृद्धेभ्यो नदीमानुषीनामभ्योऽण् स्यात् । ढकोऽपवादः । यामुनः । नार्मदः चिन्तिताया अपत्यं चैन्तितः । अवृद्धाभ्यः किम् , वासवदत्तेयः । नदी इत्यादि किम् , वैनतेयः । तन्नामिकाभ्यः किम् , शोभनाया अपत्यं शौभनेयः ।

वृद्धसंज्ञक से भिन्न नदी एवं मानुषी नामक शब्दों से अण् प्रत्यय होता है ।

यह ढक् अपवाद है । यमुनाया अपत्यं यामुनः । नार्मदः । चैन्तितः । वासवदत्ताया अपत्यम् यहां वृद्धसंज्ञक होने से स्त्रीभ्यो ढक् से वासवदत्तेयः । विनता नदी संज्ञक नहीं अत उसके

अपत्य में वैनतय = गरुड । सुन्दर स्त्री का पुत्र यहा नाम वाचक न होने से ढक् शौभनेय ।

११९९ ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च ४।१।१४।

ऋषयो मन्त्रद्रष्टार । वैश्वामित्र । अन्धकेभ्य —श्वाफलक । वृष्णिभ्य —वासुदेव । आनिरुद्ध । 'शौरि' इति तु बाह्वादित्वादिञ् । कुरुभ्य —नाकुल । साहदेव । इञ एवायमपवाद , मध्येऽपवादन्यायात् । अत्रिशब्दात्तु परत्वाड् ढक् । आत्रेय ।

ऋषिवाचक अन्धकवाचक, वृष्णिवाचक, कुरुवाचक इनसे अण् प्रत्यय होता है । मन्त्रों के द्रष्टा को ऋषि कहते है । प्रथम दो उदाहरण ऋषि के है । श्वाफल्क यह अन्धक का उदाहरण है । वासुदेव एव आनिरुद्ध वृष्णि का उ० । शौर' न होकर इञ् से शौरि है । नाकुल साहदेव यह यह कुरु के उ० है । यह इञ का ही अपवाद है मध्येऽपवादा पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् इस न्याय से । अत्रि शब्द से परत्व के कारण ढक् से आत्रेय यही रूप हुआ ।

११२० मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः ४।१।११५।

सख्यादिपूर्वस्य मातृशब्दस्योदादेश स्यादण् प्रत्ययश्च । द्वैमातुर । षाण्मातुर । साम्मातुर । भाद्रमातुर । आदेशार्थं वचनम् । प्रत्ययस्तूत्सर्गेण सिद्ध । स्त्रीलिङ्गनिर्देशोऽर्थापेक्ष । तेन धान्यमातुर्न । सख्येति किम् , सौमात्र । शुभ्रादित्वाद् द्वैमात्रेय ।

सख्यापूर्वक, सम्पूर्वक भद्रपूर्वक मातृशब्द के अन्त्य अल को उकारादेश होता है एव अपत्य अर्थ में अण् भी होता है । यह केवल आदेश विधानार्थ है, अण् प्रत्यय 'तस्यापत्यम्' से सिद्ध ही है । द्वयो मात्रो अपत्यम् = द्वैमातुर । षण्णां मातृणाम् अपत्यम् = षाण्मातुर । सम्मातुरप त्यम् सम्मातुर । भद्रा चासौ माता तस्या अपत्यम् भाद्रमातुर । पूर्वपद में पुवत्कर्मधारय से पुवद्भाव है । स्त्रीत्वविशिष्टार्थक मातृशब्द जननीवाचक रहे वहां ही इसकी प्रवृत्ति है । धान्य का नापने वाला = परिच्छेदक जहा पुरुष वहा इसकी प्रवृत्ति नही है । ढक में द्वैमात्रेय ।

११२१ कन्यायाः कनीन च ४।१।११६।

ढकोऽपवादोऽण् । तत्सन्नियोगेन कनीनादेशश्च । कानीनो व्यास , कर्णश्च । अनूढाया एवापत्यमित्यर्थ ।

कन्या से अण् प्रत्यय एव कनीनादेश कन्या के स्थान में होता है, यह सूत्र स्त्रीभ्यो ढक का अपवाद है । अविवाहिता कन्या उसका पुत्र कर्ण एव व्यास अर्थ में कानीन ।

११२२ विकर्णशुङ्गच्छगलाद् वत्सभरद्वाजात्रिषु ४।१।११७।

अपत्येऽण् । वैकर्णो वात्स्य । वैकर्णिरन्य । शौङ्गो भारद्वाज । शौङ्गिरन्य । छागल आत्रेय । छागलिरन्य । केचित्तु शुङ्गेत्याबन्त पठन्ति । तेषा ढक् प्रत्युदाहरणम् । शौङ्गेय ।

विकर्ण शुङ्ग, छगल, इन शब्दों से क्रमश वत्स, भरद्वाज अत्रि अर्थ में अपत्य में अण् प्रत्यय होता है । यहा कोई 'शुङ्गा' आबन्त पढता है । इस पक्ष में प्रत्युदाहरण में शौङ्गेय ।

११२३ पीलाया वा ४।१।११८।

तन्नामिकाणं बाधित्वा द्व्यच इति ढकि प्राप्ते पक्षेऽण् विधीयते। पीलाया अपत्यं पैलः। पैलेयः।

पील से विकल्प अण् होता है। 'अवृद्धाभ्यो नदीमानुषीभ्यस्तन्नामिकाभ्यः" से प्राप्त अण् को बाधकर यहां द्व्यचः से ढक् प्राप्त था उसको विकल्प से यह अण् बाध करता है, पक्षमें 'द्व्यचः' से ढक् होता है।

११२४ ढक् च मण्डूकात् ४।१।११९।

चादण्। पक्षे इञ्। माण्डूकेयः। माण्डूकः। माण्डूकिः।

समर्थ षष्ठयन्त मण्डुक से ढक् प्रत्यय एवं अण् प्रत्यय होता है विकल्प से पक्ष में इञ् प्रत्यय। तीन रूप हुए।

११२५ स्त्रीभ्यो ढक् ४।१।१२०।

स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ढक् स्यात्। वैनतेयः। बाह्वादित्वात् सौमित्रिः। शिवादित्वात्सापत्नः।

सूत्र में बहुवचन निर्देश से स्वरूप का या स्त्रीवाचक का ग्रहण नहीं है किन्तु स्त्रीप्रत्ययान्त का ही ग्रहण है। स्त्रीप्रत्ययान्त समर्थ षष्ठयन्त से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है। विनताया अपत्यम् इस विग्रह में ढक् एय् आदि वृद्धि आकारलोप वैनतेयः। सुमित्राया अपत्यम् इसमें इञ् प्रत्यय से सौमित्रिः। सपत्न्या अपत्यम् यहां शिवादित्व प्रयुक्त अण् से सापत्नः।

११२६ द्व्यचः ४।१।१२१।

द्व्यचः स्त्रीप्रत्यान्तादपत्ये ढक्। तन्नामिकाणोऽपवादः। दात्तेयः। पार्थ इति तु तस्येदमित्यण्।

दो अच् युक्त जो स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द उससे अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है। यह अण् का बाधक है।

पृथाया अपत्यम् यहां इदमर्थ में अण् प्रत्ययान्त है।

११२७ इतश्चानिञः ४।१।१२२।

इकारान्ताद् द्व्यचोऽपत्ये ढक् स्यात् न त्विञन्तात्। दौलेयः। नैधेयः।

दो अचों से युक्त जो इकारान्त शब्द उससे अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है, किन्तु इञ् प्रत्ययान्त से नहीं होता।

११२८ शुभ्रादिभ्यश्च ४।१।१२३।

ढक् स्यात्। शुभ्रस्यापत्यं शौभ्रेयः।

अपत्य अर्थ में षष्ठयन्त समर्थ शुभ्रादि गणपठित शब्दों से ढक् प्रत्यय होता है।

११२९ विकर्णकुषितकात् काश्यपे ४।१।१२४।

अपत्ये ढक्। वैकर्णेयः। कौषितकेयः। अन्यो वैकर्णिः। कौषितकिः।

काश्यप अर्थ में विकर्ण एवं कुषितक से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है।

विकर्णस्यापत्यम् वैकर्णेयः। कुषितस्यापत्यम् = कौषितकेय। काश्यप भिन्न में इञ् प्रत्ययान्त का ही प्रयोग होता है।

११३० भ्रुवो वुक् च ४।१।१२५।

चात् ढक्। भ्रौवेयः।

षष्ठ्यन्त समर्थ भ्रू शब्द से अपत्य में ढक् प्रत्यय होता है एवं भ्रू को वुक् आगम होता है।

११३१ प्रवाहणस्य ढे ७।३।२९।

प्रवाहणशब्दस्योत्तरपदस्याचामादेरचो वृद्धिः पूर्वपदस्य तु वा ढे परे। प्रवाहणस्यापत्यं प्रावाहणेयः। प्रवाहणेयः।

ढ प्रत्यय पर रहते प्रवाहण शब्द के उत्तरपद के आदि अच् को नित्य वृद्धि होती है, = पूर्वपद के आदि अच् को विकल्प से वृद्धि होती है। शुभ्रादि गण में प्रवाहण का पाठ है।

११३२ तत्प्रत्ययस्य च ७।३।३०।

ढान्तस्य प्रवाहणस्योत्तरपदस्यादेरचो वृद्धिः पूर्वपदस्य तु वा। प्रवाहणेयस्यापत्यं प्रावाहणेयिः। बाह्यतद्धितनिमित्ता वृद्धिः ढाश्रयेण विकल्पेन बाधितुं न शक्यत इति सूत्रारम्भः।

ढ प्रत्ययान्त प्रवाहण शब्द के उत्तरपद का आदि अच् की वृद्धि होती है, पूर्वपद के आदि अच को विकल्प से वृद्धि होती है। ढ प्रत्ययान्त से बहिर्भूत जो इञ् उसके निमित्तक जो प्राप्त वृद्धि नित्य है उसको 'प्रवाहणस्य ढे' से ढनिमित्तक वृद्धि अवरुद्ध नहीं कर सकती अत इस सूत्र का प्रारम्भ किया है। ढाश्रय विकल्प वृद्धि से इञ् निमित्तक नित्य वृद्धि को रोकने के लिए यह सूत्र है, यही सारांश इसका है,

११३३ कल्याण्यादीनामिनङ् ४।१।१२६।

एषामिनङादेशः स्यात् ढक् च। काल्याणिनेयः। बान्धकिनेयः।

कल्याणी आदि शब्दों को इनङ् आदेश होता है, एवं ढक् प्रत्यय भी होता है। यहां ढक् तो पूर्व सूत्र से प्राप्त ही था अनुवाद मात्र है अपूर्व विधेय इनङ् मात्र ही है। कल्याण इनङ ढक् एय् काल्याणिनेय।

११३४ कुलटाया वा ४।१।१२७।

इनङ् मात्र विकल्प्यते, ढक् तु नित्यः पूर्वेणैव। कौलटिनेयः। कौलटेयः। सती भिक्षुकयत्र कुलटा। या तु व्यभिचारार्थं कुलान्यटति तस्याः क्षुद्राभ्यो वेति पक्षे ढ्रक् कौलटेरः।

षष्ठ्यन्त समर्थ कुलटा शब्द को इनङ् मात्र आदेश विकल्प होता है, ढक् प्रत्यय तो पूर्वसूत्र से प्राप्त हो है। कुलटाया अपत्यम् इस विग्रह में कौलटिनेय। इनङ् के अभाव में ढक् से कौलटेय। यहां साध्वी सतीत्ववती भिक्षार्थ कुलों में भ्रमण करने वाली ही कुलटा शब्द से

अभिप्रेत है जो दुराचारिणी है उसको तो शील हीनत्व के कारण 'क्षुद्राभ्यो वा' से ढ्रक् प्रत्यय कर कौलटेरः।

११३५ हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च ७।३।१९।

हृदाद्यन्ते पूर्वोत्तरपदयोरचामादेरचो वृद्धि ञिति णिति किति च। सुहृदोऽपत्यं सौहार्दः। सुभगाया अपत्यं सौभागिनेयः। सक्तुप्रधानाः सिन्धवः सक्तुसिन्धवः तेषु भवः साक्तुसैन्धवः।

ञित, णित, कित, प्रत्यय पर रहते हृद, भग, सिन्ध्वन्त प्रातिपदिक में पूर्वपद एवं उत्तरपद इनके आदि अच् को वृद्धि होती है। सुहृद् अण् सौहार्द् अ सौहार्दः। सुभगा ढक् एय् उभय पद वृद्धि सौभागिनेयः। सक्तुसिन्धु अण् उभयपद वृद्धिः साक्तुसैन्धवः।

११३६ चटकाया ऐरक् ४।१।१२८।

❀ चटकस्येति वाच्यम् ❀। लिङ्गविशिष्टपरिभाषया स्त्रिया अपि। चटकस्य चटकाया वा अपत्यं चाटकैरः। ❀ स्त्रियामपत्ये लुक् वक्तव्यः ❀। तयोरेव स्त्र्यपत्यं चटका, अजादित्वाट्टाप्।

चटका शब्दको ऐरक् प्रत्यय होता है। वार्तिक कार 'चटकस्य' कहते हैं। पुंलिङ्ग चकट से ऐरक् प्रत्यय होता है। लिङ्ग विशिष्ट परिभाषा से चटका का भी ग्रहण होता है। स्त्रीवाचक पुंवाचक चटक या चटका का 'चाटकैरः' रूप हुआ है। सन्तान यदि स्त्रीलिङ्ग है तो ऐरक् का लुक् होता है एवं अजादित्व से टाप् चटका।

११३७ गोधाया ढ्रक् ४।१।१२९।

गौधेरः। शुभ्रादित्वात्पक्षे ढक्, गौधेयः।

षष्ठयन्त समर्थ गोधा शब्द से अपत्य में ढ्रक् प्रत्यय होता है। गोधाया अपत्यम् गौधेरः। गोधा शब्द का शुभ्रादि में पाठ है अतः ढक् से गौधेरः।

११३८ आरगुदीचाम् ४।१।१३०।

गौधारः। रका सिद्धे आकारोच्चारणमन्यतो विधानार्थम्। जडस्यापत्यं जाडारः। पण्डस्यापत्यं पाण्डारः।

उत्तरदेशस्थ विद्वानों के मत से षष्ठयन्त समर्थ गोधाशब्द से अपत्य अर्थ में आरक् प्रत्यय होता है। गौधारः। यहां रक्मात्र विधान से पूर्व प्रयोग की सिद्धि होती पुनः आरक् में आकारोच्चारण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि गोधा से अतिरिक्त शब्द को भी आरक् होता है यथा—जटस्यापत्यम् इस विग्रह में जट से आरक् होकर 'जाटारः' प्रयोगसिद्धि हुई। पण्डस्यापत्यम् पाण्टारः।

११३९ क्षुद्राभ्यो वा ४।१।१३१।

अङ्गहीनाः शीलहीनाश्च क्षुद्रास्ताभ्यो वा ढ्रक्, पक्षे ढक्। काणेरः। काणेयः। दासेरः। दासेयः।

क्षुद्रा वह स्त्री है जो अङ्गरहित अर्थात विकृताङ्गयुक्ता या शील सदाचार से हीन। क्षुद्रा से विकल्प ढ्रक् प्रत्यय होता है पक्ष में ढक् प्रत्यय भी होता है। अर्थगत क्लीव शब्द में आरोप कर सूत्र में स्त्रीलिङ्ग निर्देश किया है। अङ्गहीन का उदाहरण—काणर। काणेय। शीलहीन का उदाहरण दासेर। दासेय।

११४० पितृष्वसुश्छण् ४।१।१३२।

अणोऽपवाद.। पैतृष्वस्रीय।

पितृष्वसृ शब्द से छण प्रत्यय अपत्य अर्थ में होता है। अपत्यार्थक अण् का यह बाधक है। पितृष्वसुरपत्यम् = पुमान् पैतृष्वस्रीय।

११४१ ढकि लोपः ४।१।१३३।

पितृष्वसुरन्त्यलोप स्याड् ढकि। अत एव ज्ञापनात् ढक्। पैतृष्वसेय.।

ढक प्रत्यय पर रहते पितृष्वसृ शब्द के अन्त वर्ण का लोप होता है।

यहां यह विचारणीय विषय है कि इसको ढक् करने वाला कोई सूत्र या वचन नहीं है अत ढक प्रत्यय नहीं होगा यह लोप ढक् पर में रहते बोधन करना ही व्यर्थ है। अत इस लोप विधायक शास्त्र व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि पितृष्वसृ से ढक् प्रत्यय की उत्पत्ति होती है ज्ञापनोपर ढक् कर ऋकार लोप से 'पैतृष्वसेय' की सिद्धि हुइ है।

११४२ मातृष्वसुश्च ४।१।१३४।

पितृष्वसु र्यदुक्त तदस्यापि स्यात्। मातृष्वस्रीय। मातृष्वसेय'।

जो कार्य पितृष्वसृ को बोधन किया वह सभी कार्य मातृष्वसृ को भी होता है। अर्थात अन्त्यलोप एव लोप विधान सामर्थ्य के कारण ढक् प्रत्यय ये दोनों कार्य हुए।

११४३ चतुष्पाद्भ्यो ढञ् ४।१।१३५।

चतुष्पाद जातिवाचक समर्थ षष्ठ्यन्त से ढञ् प्रत्यय होता है।

११४४ ढे लोपोऽकद्र्वाः ६।४।१४७।

कद्रूभिन्नस्योवर्णान्तस्य भस्य लोप' स्यात् ढे परे। कामण्डलेय'। कमण्डलुशब्दश्चतुष्पादजातिविशेषे।

कद्रूभिन्न उवर्णान्त भसंज्ञक जो शब्द उसका ढपर रहते लोप होता है। अलोऽन्त्यस्य परिभाषा से अन्त्य का लोप है। चतुष्पाद जातिविशेष वाचक से ढ अन्त्यलोप—कामण्डलेय।

११४५ गृष्ट्यादिभ्यश्च ४।१।१३६।

एभ्यो ढञ् स्यात्। अण्ढकोऽपवाद। गार्ष्टेय। मित्रयोरपत्यम्, ऋष्यणि प्राप्ते ढञ्।

गृष्टि आदि शब्दों से अपत्य अर्थ में ढञ् प्रत्यय होता है। अगस्ति एव मित्रयु से ऋषित्व कारण अण् प्राप्त है, अन्य को 'इतश्चानिञः' से ढक् प्राप्त है। उनका यह बाधक है। गृष्टेरपत्यम् गार्ष्टेय। मित्रयु से अपत्य में अण् प्राप्त था उसको बाधकर ढञ्।

११४६ केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः ।

एषां यकारादेरिय् आदेशः स्यात् ञिति णिति किति च तद्धिते परे। इति इयादेशे प्राप्ते ।

ञित् णित् कित् तद्धित पर रहते केकय, मित्रयु, प्रलय इनके यकारादि को इय् आदेश होता है। इस सूत्र से इयादेश की प्राप्ति होने पर।

११४७ दाण्डिनायनहास्तिनायनाथर्वणिकजैह्माशिनेयवाशिनायनिभ्रौणहत्यधैवत्यसारवैक्ष्वाकमैत्रेयहिरण्मयानि ६।४।१७४।

एतानि निपात्यन्ते । इति युलोपः । मैत्रेयः, मैत्रेयौ ।

दाण्डिन्, हास्तिन् से नडादित्व के कारण फक् प्रत्यय हुआ एवं निपातन से टिलोप का अभाव यहां है। दाण्डिनायनः, हास्तिनायनः। वसन्तादि में अथर्वन् का पाठ है। अथर्व से प्रोक्त ग्रन्थ भी लक्षणा से अथर्वा है, उसका अध्ययन कर्ता अर्थ में आथर्वणिकः। शुभ्रादि में जिह्माशिन् का पाठ है, उसका अपत्य अर्थ में जैह्माशिनेयः। वाशिनोऽपत्यं वाशिनायनिः। यहां उदीचां वृद्धात् से फिञ् प्रत्यय है। भ्रूणहन्, धीवन् से ष्यञ् एवं तकार अन्तादेश निपातन है। भ्रूणघ्नो भावो भ्रौणहत्यम्' धैवत्यम् 'हनस्त' से तत्वसिद्ध था पुनःतकार आदेश निपातन व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि "धातोरुच्यमानं कार्यं तद् धातु विहिते प्रत्यये भवति"। इस परिभाषा से 'वार्त्रघ्नः' यहां तत्व न हुआ। सरयू से अण् यादि को वकार निपातित है। सरय्वां भवं सारवम् = उदकम्। इक्ष्वाकोरपत्यम् ऐक्ष्वाकः, "जनपद शब्दात् क्षत्रियात् अञ्", उकारलोप निपातन से। इक्ष्वाकुषु जनपदेषु भवः। कोपधादण्। ऐक्ष्वाकः। यहां भी उकारलोप निपातन लभ्य है। हिरण्यस्य विकार अर्थ में मयट् यादि लोप निपातन से। सूत्रादिक से अप्राप्त कार्य को शिष्ट प्रयोगानुसार सूत्र के अभाव में भी करना उसको निपातन कहते हैं।

११४८ यस्कादिभ्यो गोत्रे २।४।६३।

एभ्यो गोत्रप्रत्ययस्य लुक्, तत्कृते बहुत्वे न तु स्त्रियाम् ।

गोत्र अर्थ में यस्कादि गणपठित शब्दों से पर गोत्रार्थक प्रत्यय का लुक् होता है, अपत्यकृत बहुत्व रहने पर किन्तु स्त्रीरूप अपत्य रहे वहां लुक् नहीं होता है मित्रयोरपत्यानि पुंमांसः इस विग्रह में ऋषित्वात् विहित अण् प्रत्यय का लुक् हुआ, गुण अवादेश मित्रयवः। अपत्याधिकार से अन्यत्र लौकिक गोत्र है अतः यहां गोत्रप्रत्ययस्य कहा है। यास्कः यहां बहुत्व के अभाव से लुक् न हुआ। कार्णटः।

११४९ अत्रिभृगुकुत्सवसिष्टगोतमाङ्गिरोभ्यश्च २।४।६५।

एभ्यो गोत्रप्रत्ययस्य लुक् स्यात् तत्कृते बहुत्वे न तु स्त्रियाम् ।

अपत्य प्रयुक्त बहुत्व होने पर अत्रि, भृगु, कुत्स, वसिष्ट, गोतम, अङ्गिरस् इनसे पर गोत्रप्रत्यय का लुक् होता है, किन्तु स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर। अत्रेरपत्यानि पुंमांस इस विग्रह में 'इतश्चानिञः' से विहित ढक् का लुक् 'अत्रयः'। अन्य शब्दों में ऋषित्व प्रयुक्त जो अण् उसका लुक् है।

११५० बह्वचः इञः प्राच्यभरतेषु २।४।६६।

बह्वचः परो य इञ् प्राच्यगोत्रे भरतगोत्रे च वर्तमानस्तस्य लुक् स्यात्। पन्नागाराः। युधिष्ठिराः।

प्राच्यगोत्र एवं भरतगोत्र से विद्यमान अनेक स्वरों से युक्त शब्द से पर अपत्यार्थक इञ् प्रत्यय का लुक् होता है। पन्नागारस्य अपत्यानि पुमांसः इञ् का लुक्। पन्नागाराः। बाह्वादित्वात् इञ्। युधिष्ठिराः। ण्य को बाधकर इञ्, उसका लुक् एकवचन में यौधिष्ठिरिः। यहाँ भरत का प्राच्य ग्रहण से ही गतार्थता थी पुनः भरतग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि प्राच्यग्रहण से भरत का ग्रहण नहीं होता है। ज्ञापन फल अन्यत्र है यहाँ नहीं, यहाँ तो भरतग्रहण सूत्र में किया ही है। शास्त्रशरीर में अन्यत्र का यत्किञ्चित् प्रवेश न करना चाहिए।

११५१ न गोपवनादिभ्यः २।४।६७

एभ्यो गोत्रप्रत्ययस्य लुक् न स्यात्। बिदाद्यन्तर्गणोऽयम्। गौपवनाः। शैग्रवाः।

बिदाद्यन्तर्गण गोपवनादिगण है। गोत्रार्थक प्रत्यय का यहाँ लुक् नहीं होता है।

११५२ तिककितवादिभ्यो द्वन्द्वे २।४।६८

एभ्यो गोत्रप्रत्ययस्य बहुत्वे लुक् स्यात् द्वन्द्वे। तैकायनयश्च कैतवायनयश्च। तिकादिभ्य फिञ्, तस्य लुक् तिककितवाः।

इस विग्रह में तिकादिभ्यश्च से जात फिञ् का लुक् से तिककितवाः।

११५३ उपकादिभ्योऽन्यतरस्यामद्वन्द्वे २।४।६९।

एभ्यो गोत्रप्रत्ययस्य बहुत्वे लुग्वा स्यात् द्वन्द्वे चाद्वन्द्वे च। औपकायनाश्च लामकायनाश्च नडादिभ्यः फक् तस्य लुक्, उपकलमकाः। औपकायनलामकायनाः। भ्राष्टककपिष्ठलाः। भ्राष्टकिकापिष्ठलयः। लमकाः। लामकायनाः।

द्वन्द्व में या अद्वन्द्व में उपकादि गणपठित शब्दों से अपत्यकृत बहुत्व में गोत्र प्रत्यय का लुक् विकल्प से होता है। द्वन्द्व में नडादित्वप्रयुक्त फक् का विकल्प एवं अत इञ् से द्वि० उ० में इञ् का लुक् विकल्प से हुआ है। अद्वन्द्व में फक् का विकल्प एवं अत इञ् से द्वि० उ० में इञ् का लुक् विकल्प से हुआ है। अद्वन्द्व में फक् का लुक् विकल्प से।

११५४ आगस्त्यकौण्डिन्ययोरगस्तिकुण्डिनच् २।४।७०।

एतयोरवयवस्य गोत्रप्रत्ययस्याणो यञश्च बहुषु लुक् स्यादवशिष्टस्य प्रकृतिभागस्य यथासङ्ख्यमगस्ति कुण्डिनच् एतावादेशौ स्तः। अगस्तयः। कुण्डिनाः।

आगस्त्य एवं कौण्डिन्य इन शब्दों का अवयव गोत्रार्थक अण् एवं यञ् का लुक् होता है, अपत्यकृत बहुत्व में, एवं अवशिष्ट प्रकृतिभाग को क्रमशः अगस्ति एवं कुण्डिनच् आदेश होते हैं। अगस्त्यस्य गोत्रापत्यम् में ऋषित्वप्रयुक्त अण् प्रत्यय करके उसका आगस्त्यस्य गोत्रापत्य पुमांसः

अर्थ में अण् का लुक् एवं प्रकृतिभाग को अगस्ति आदेश से बहुवचन में अगस्तयः। गर्गादित्व प्रयुक्त यञ् प्रत्ययान्त कौण्टिन्य का यञ् का लुक् प्रकृति को कुण्टिनच् आदेश बहुवचन में कुण्टिनाः।

११५५ राजश्वशुराद्यत् ४।१।१३७।

ॐ राज्ञो जातावेवेति वाच्यम् ॐ।

षष्ठ्यन्त समर्थ राजन् एवं श्वशुर इनसे यत् प्रत्यय होता है, राजन् से जाति अर्थ में ही यत् प्रत्यय होता है, अर्थात् क्षत्रिय राजा से क्षत्रिया पत्नी में उत्पन्न सन्तान में क्षत्रियत्व जाति की प्रतीति होती है वहां यत् प्रत्यय। अन्यथा नहीं।

११५६ ये चाभावकर्मणोः ६।४।१६८।

यादौ तद्धिते परे अन् प्रकृत्या स्यात्, न तु भावकर्मणोः। राजन्यः। श्वशुर्यः। जातिग्रहणाच्छूद्रायामुत्पन्नो राजनः।

भाव एवं कर्म अर्थ वाच्य न होने पर यकारादि तद्धित प्रत्यय पर में रहते अन् का प्रकृतिभाव होता है अर्थात् 'नस्तद्धिते' से टिलोप नहीं होता है। राज्ञः क्षत्रियत्वविशिष्ट अपत्यम् पुमान् राजन्यः। पत्युः पत्न्या वा जनकत्वम् = श्वसुरत्वम्। श्वसुरस्य अपत्यम्—श्वशुर्यः = श्यालकः। प्रकृतिप्रत्यय समुदाय से जहां जातिवाच्य नहीं वहां राजनः। यहां अण् प्रत्यय एवं 'अन्' से प्रकृतिभाव। राजा से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र को 'राजनः' कहते हैं।

११५७ अन् ६।४।१६७।

अणि अन् प्रकृत्या स्यात्। इति टिलोपो न। अभावकर्मणोः किम्, राज्ञः कर्म भावो वा राज्यम्।

अण् प्रत्यय पर रहते अन् का लोप नहीं होता है अर्थात् प्रकृतिभाव होता है, किन्तु भावार्थक या कर्मार्थक तद्धित प्रत्यय में टिलोप होता ही है। राज्यम् में राज्ञो भावः कर्म वा अर्थ में टिलोप नस्तद्धिते से हुआ है।

११५८ संयोगादिभ्यश्च ६।४।१६६।

अन् प्रकृत्या स्यादणि परे। चक्रिणोऽपत्यं चाक्रिणः।

अण् प्रत्यय पर रहते संयोगादित्वविशिष्ट इन् का प्रकृतिभाव होता है। चक्रिणः अपत्यम् अण् टिलोपाभावः। चाक्रिणः।

११५९ न मपूर्वोऽपत्येऽवर्मणः ६।४।१७०।

मपूर्वोऽन् प्रकृत्या न स्यादपत्येऽणि। भाद्रसामः। मपूर्वेति किम्, सौत्वनः। अपत्ये किम्, चर्मणा परिवृत्तश्चार्मणो रथः। अवर्मणः किम्। चक्रवर्मणोऽपत्यं चाक्रवर्मणः। ॐवा हितनाम्न इति वाच्यम्ॐ। हितनाम्नोऽपत्यं हैतनामः। हैतनामानः।

अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय पर रहते वर्मन् से भिन्न मपूर्वक अन् का प्रकृतिभाव नहीं होता है, अर्थात् वहां नस्तद्धिते से टिलोप होता है। यथा भाद्रसाम्नः अपत्यम् इस विग्रह में अपत्यार्थक अण् कर अन् से प्राप्त प्रकृतिभाव का इसने निषेध किया—भाद्रसामः। सौत्वनः में मपूर्वक नहीं

प्रकृतिभाव हुआ। चार्मण यहां परिभृत्तार्थक अण् होने से प्रकृतिभाव हुआ। चाक्रवर्मण यहां वर्मन् के मकारोत्तर अन् का प्रकृतिभाव हुआ है। हितनामन् शब्द के मपूर्वक अन् का निषेध प्रकृतिभाव का विकल्प से होना है। टिलोपाभाव। एव टिलोप से रूपद्वय हुए।

११६० ब्राह्मो जातौ ६।४।१७१।

योगविभागोऽत्र कर्तव्य । 'ब्राह्म' इति निपात्यतेऽनपत्येऽणि । ब्राह्म हवि । ततो (अ)जातौ। अपत्ये जातावपि ब्रह्मणष्टिलोपो न स्यात्। ब्रह्मणोऽपत्य ब्राह्मण । अपत्ये किम् , ब्राह्मी औषधि ।

यहां एक सूत्र में योग विभाग से दो अर्थों का पृथक् पृथक् सूत्र करना एक ब्राह्म सूत्र है इसमें अपत्ये का सम्बन्ध नहीं है। यदि अपत्ये का सम्बन्ध यहां करेंगे तो यह विभक्त ब्राह्म' सूत्र ही व्यर्थ हो जायगा क्योंकि यह टिलोप का निपातन करता है, वह तो अपत्यार्थक अण् में 'अन्' से प्राप्त प्रकृतिभाव का निषेध 'न मपूर्वोऽपत्येऽवर्मण' कर देगा नस्तद्धिते से टिलोप होकर 'ब्राह्म' प्रयोग की सिद्धि होगी।

१ ब्राह्म का अर्थ अनपत्यार्थक अण् पर रहते ब्रह्मन् शब्द की टिका लोप होता है। ब्रह्मण अय ब्राह्म' = मुहूर्त । ब्राह्म = स्थालीपाक । ब्राह्मम् = हवि ।

२ जातौ। अपत्य में जातिवाच्य रहते ब्रह्मन् शब्द को टिलोप का अभाव होता है अण् प्रत्यय पर रहते। यथा ब्रह्मण अपत्यम् ब्राह्मण औषधि अर्थ में यथा ब्रह्मण इयम् यहां अण् टिलोप ङीप् 'ब्राह्मी'। जाति जहां नहीं प्रतीयमान है, वहां टिलोप से ब्राह्म = नारद ।

यहां कोई 'जातौ' न मानकर पूर्वरूप से 'अजातौ' ऐसा मानता है। इस मत में इसमें न की अनुवृत्ति न करनी पडेगी। जाति में नहीं टिलोप होता है यह अर्थ इस पक्ष में होगा।

११६१ औक्षमनपत्ये

अणि टिलोपो निपात्यते। औक्ष पदम्। अनपत्ये किम् , उक्ष्णोऽपत्यम्।

अपत्यार्थक से भिन्न अण पर रहते उक्षन् शब्द की टिका लोप होता है। उक्ष्ण इदम् यहां तस्येदम् से इदन्त्वेन पदरूप अर्थ बोधक अण् है टिलोप से औक्षम्। जहां अपत्यार्थक अण् उक्षन् से होता है वहां अकार मात्र का लोप होता है।

११६२ षपूर्वहन्धृतराज्ञामणि ६।४।१३५।

षपूर्वो यो अन् तस्य हनादेश्च भस्यातो लोपोऽणि। औक्ष्ण'। ताक्ष्णः। भ्रौणघ्न। धृतराज्ञोऽपत्य धार्तराज्ञ। षपूर्वेति किम् , साम्नोऽय सामनः। अणि किम् , ताक्षण्य।

अण् प्रत्यय पर रहते भ संज्ञक जो षकारपूर्वक अन् एव हन् आदि शब्द उनके अकार का लोप होता है। उक्ष्ण अपत्यम् , तक्ष्ण अपत्यम् , भ्रूणघ्न अपत्यम् , धृतराज्ञ अपत्यम् यहाँ अण् पर में पूर्व को भ संज्ञा अकार का लोप हुआ औक्ष्ण आदि। सामन = यहाँ ष पूर्व नहीं अण 'अन्' है प्रकृतिभाव से। तक्षन् अपत्य मे कारि लक्षण ण्यप्रत्यय है 'सेना दि सूत्र से। यहाँ प्रकृतिभाव है यादि प्रत्यय पर में होने से।

११६३ क्षत्राद् घः ४।१।१३८।

क्षत्रियः। जाताविल्येव। क्षात्रिरन्यः।

जाति की प्रतीति होने पर षष्ठ्यन्त समर्थ क्षत्र से घप्रत्यय होता है। यहाँ शिष्टोक्त व्याख्यान से तरप् तमप् का घ से ग्रहण नहीं है किन्तु स्वरूपप्रत्यायकमात्र 'घ' है। क्षत्रिया में उत्पन्न सन्तान में क्षत्रियः रूप। अन्यत्र क्षात्रिः—इञ् प्रत्यय है।

११६४ कुलात् खः१४।१।१३९।

कुलीनः। तदन्तादपि, उत्तरसूत्रेऽपूर्वपदादिति लिङ्गात्। आढ्यकुलीनः।

षष्ठ्यन्त समर्थ कुल शब्द से अपत्यार्थक खप्रत्यय होता है। उत्तर सूत्र में अपूर्वपद अर्थात् जिसके पूर्व में कोई पद न रहे ऐसे कुल शब्द से ख प्रत्यय विधान सामर्थ्यरूप प्रमाण से यहां तदन्त विधि से कुलान्त से भी ख प्रत्यय होता है। अन्यथा "ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति" इस परिभाषा से केवल कुल से ही प्राप्त था। कुलान्त से ख प्रत्यय ही न था अपूर्वपद का वैयर्थ्य स्पष्ट ही होता। 'ग्रहणवता' यह परिभाषा प्रत्यविधिविषया है उसकी प्राप्ति यहाँ है। अपूर्वपद ग्रहण से उसकी यहाँ प्रवृत्ति न हुई है। आढ्यञ्च तत् कुलम् आढ्यकुलं तत्र भवः आढ्यकुलीनः यहाँ आढ्यकुल से ख प्रत्यय हुआ है। यदि तदन्तविधि न कर कुलीन बनाकर आढ्यश्चासौ कुलीनश्च आढ्यकुलीनः की सिद्धि करेंगे तो आढ्यकुलीन के अर्थ का विशेषण होगा। कुलगत आढ्यत्व की प्रतीति न होगी। एवं इकार को उदात्तत्व इस प्रकार स्वर में भी विशेषता। अतः तदन्तविधि से आढ्यकुल से ख प्रत्यय है।

११६५ अपूर्वपदादन्यतरस्यां यड्ढकञौ ४।१।१४०।

कुलादित्येव। पक्षे खः। कुल्यः। कौलेयकः। कुलीनः। पदग्रहणं किम्, बहुकुल्यः। बहुकौलेयकः। बहुकुलीनः।

यदि कुलशब्द के पूर्व में कोई पूर्वपद न हो तो कुल से यत् एवं ढकञ् प्रत्यय विकल्प से होते हैं। पक्ष में यत् प्रत्यय होता है। तीन रूप हुए। यथा कुल्यः यहां यत् प्रत्यय है। कौलेयकः यहां ढकञ् प्रत्यय है। खपक्ष में कुलीनः। सूत्र में 'अपूर्वात्' कहते पूर्व में कोई रहे उसके बाद स्थित कुल को ख ढकञ् नहीं होगा पुनः सूत्र में पदघटित अपूर्वपदात् क्यों किया? अर्थात् 'पद' की क्या आवश्यकता है?, उत्तर—सुबन्त कुल में 'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु' सूत्र में पुरस्त ग्रहण से प्रत्ययः परश्च की बहुच् प्रत्यय में प्रवृत्ति नहीं अतः बहुच् प्रत्यय प्रकृति के पूर्व में कर बहुकुल बना उससे ख ढकञ् एवं यत् होकर रूप त्रय इष्ट हैं वे रूप अपूर्वात् से सिद्ध न होते क्योंकि पूर्व में स्थित बहुच् है, अपूर्वपदात् कहा तो पूर्व में स्थित पूर्वपद नहीं बहुच पद नहीं। अतः पूर्वपदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावरूप अपूर्वपदत्व के होने से ख आदि प्रत्ययोत्पत्ति हुई है। यह अप्राप्त विभाषा है।

११६६ महाकुलादञ्खञौ ४।१।१४१।

अन्यतरस्यामित्यनुवर्तते। पक्षे खः। माहाकुलः। माहाकुलीनः। महाकुलीनः।

महाकुल समर्थ के उत्तर अञ् एवं खञ् प्रत्यय होते हैं विकल्प से। पक्ष से ख प्रत्यय होता है। महाकुलः यहां महच्च तत् कुलम् कर्मधारय 'आन्महतः' से महत् के तकार को आकारादेश दीर्घ महाकुल से भवार्थ में अञ् प्रत्यय आदि वृद्धि अकार लोप माहाकुलः। खञ् में माहाकुलीनः। ख मे महाकुलीनः।

११६७ दुष्कुलाड् ढक् ४।१।१४२।

पूर्ववत् पक्षे ख । दौष्कुलेय । दुष्कुलीन ।

दुष्कुल शब्द से उत्तर ढक् प्रत्यय विकल्प से होता है, पक्ष में ख प्रत्यय दुष्टकुल = दुष्कुल उसमें उत्पन्न अपत्य अर्थ में ढक् एवं ख प्रत्यय से रूपद्वय ।

११६८ स्वसुश्छः ४।१।१४३।

स्वस्रीय ।

स्वसृ शब्द से छ प्रत्यय होता है, स्वसुः अपत्यम् = स्वस्रीय ।

११६९ भ्रातुर्व्यच्च ४।१।१४४।

चाच्छः । अणोऽपवादः । भ्रातृव्य । भ्रात्रीय ।

अपत्यार्थ में षष्ठ्यन्त भ्रातृ शब्द से व्यत् प्रत्यय एवं चकार से छ प्रत्यय बोधित होता है । यह अपत्यार्थक अण का बाधक है ।

भ्रातुः पुत्र भ्रातृव्य । छ पक्ष में भ्रात्रीय ।

११७० व्यन्सपत्ने ४।१।१४५।

भ्रातुर्व्यन् स्यादपत्ये प्रकृतिप्रत्ययसमुदायेन शत्रौ वाच्ये । भ्रातृव्य शत्रुः । पाप्मना भ्रातृव्येणेति तूपचारात् ।

यदि प्रकृति एवं प्रत्यय दोनों मिलकर शत्रु वाचक हो तो अपत्यरूप अर्थ में भ्रातृ शब्द से व्यन् प्रत्यय होता है । भ्रातुः अपत्यम् शत्रु है तो भ्रातृव्य । शत्रु अर्थ में व्यन् ही होता है, व्यत् एवं छ दोनों नहीं होते हैं । यहां भ्रातृव्य घटक व्यन् यहां शत्रुरूप अपत्यार्थक है । अर्थात् शत्रु अर्थ का वाचक है । शत्रु रूप अर्थ वाच्य है । समुदाय में अवयव द्वारा तदर्थ वाचकत्व है अवयव समुदाय अवयवी है । श्रुतिगत भ्रातृव्यशब्द के बाधोपाय प्रदर्शित करते हैं । पाप्मा शब्द पुल्लिङ्ग पाप वाचक है । "अस्त्री पङ्कं पुमान् पाप्मा पाप किल्बिष कल्मषम्" यह कोशोक्ति है । भ्राता का पुत्र भतीजा तो पाप नहीं हो सकता है ऐसी परिस्थिति में पाप्मना भ्रातृव्येन यह प्रयोग करना अनुचित है उस शङ्का के निवारणार्थ सूत्रकार कहते हैं कि भ्रातृपुत्र में पापत्व धर्म आरोपित है अर्थात् साक्षात् पाप ही भ्रातृपुत्रत्वेन प्रकट हुआ है, पाप ही पुत्र रूप से मूर्तिधारी है । उपचार = लक्षणा से बोधन को कहते हैं ।

११७१ रेवत्यादिभ्यष्ठक् ४।१।१४६।

रेवत्यादिगण पठित शब्द से अपत्य अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

११७२ ठस्येकः ७।३।५०।

अङ्गात् परस्य ठस्येकादेश स्यात् । रैवतिकः ।

अङ्ग से पर ठकार को इकादेश होता है । स्थानी एवं आदेश में व्यञ्जन ठ् को व्यञ्जनान्त इक आदेश होता है । रेवत्या अपत्यम् रैवतिक । अश्वपाल्या अपत्यम् आश्वपालिक । माणिपालिक । द्वारपालिक ।

११७३ गोत्रस्त्रियाः कुत्सने ण च ४।१।१४७।

गोत्रे या स्त्री तद्वाचकाच्छब्दात् णठकौ स्तः कुत्सायाम्। सामर्थ्याद्यूनि। गार्ग्या अपत्यं गार्ग्यो गार्गिको वा जाल्मः। 'भस्याढे तद्धिते' इति पुंवद्भावाद् गार्ग्यशब्दाण्णठकौ। यस्येति लोपः। आपत्यस्येति यलोपः।

निन्दा अर्थ की प्रतीति में गोत्रार्थक प्रत्ययान्त स्त्रीवाचक से ण एवं ठक् प्रत्यय होते हैं। यहां गोत्राधिकार है किन्तु 'एको गोत्रे' नियम से गोत्रार्थक प्रत्यय कर तदन्त से अपर गोत्रार्थक प्रत्यय नहीं होता है ऐसी परिस्थिति में यह ण एवं ठक् का विधायक व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि युवापत्य में इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। गर्गस्य गोत्रापत्यं कन्या (स्त्री) यहां गार्गी होता है, किन्तु ढभिन्न तद्धित प्रत्यय विवक्षित होने पर पुंवद्भाव होकर गार्ग्य से णप्रत्यय एवं ठक् प्रत्यय गार्ग्या अपत्यं गार्ग्यो गार्गिको वा जाल्मः इस विग्रह में पूर्व पुंवद्भाव होकर ण एवं ठक् है। यस्येति से अकार का लोप, आपत्यस्य से यकार का लोप। जाल्म का अर्थ है असमीक्ष्यकारी = अविचारितकार्यकर्ता, अतः यहां निन्दा की प्रतीति है।

११७४ वृद्धाट्ठक् सौवीरेषु बहुलम् ४।१।१४८।

सुवीरदेशोद्भवाः सौवीराः। वृद्धात्सौवीरगोत्राद् यूनि बहुलं ठक् स्यात् कुत्सायाम्। भागवित्ते भागवित्तिकः। पक्षे फक् भागवित्तायनः।

सुवीर देशोद्भव मनुष्य को सौवीर कहते हैं। निन्दा अर्थ की प्रतीति होने पर युवापत्य अर्थ गोत्रवाचक जो सौवीर वृद्ध संज्ञक है उससे पर बहुल करके ठक् प्रत्यय होता है। यथा भगवित्तस्य गोत्रापत्यम् इन् भागवित्तिः तस्य युवापत्यम् ठक् भागवित्तिकः। पक्ष में फक् आयन् भागवित्तायनः।

११७५ फेश्छ च ४।१।१४९।

फिञन्तात्सौवीरगोत्रादपत्ये छः, ठक् च कुत्सने गम्ये। यमुन्दस्यापत्यं यामुन्दायनिः। तिकादित्वात् फिञ्। तस्यापत्यं यामुन्दायनीयः। यामुन्दायनिकः। कुत्सनेति किम्, यामुन्दायनिः। औत्सर्गिकस्याणो ण्यक्षत्रियेति लुक्। सौवीरेति किम्, तैकायनिः।

कुत्सा गम्यमान होने पर अपत्य अर्थ में फिञ् प्रत्ययान्त गोत्र वाचक सौवीर से छ प्रत्यय एवं ठक् प्रत्यय होता है। तिकादित्व प्रयुक्त फिञ् प्रत्ययान्त यमुन्दस्य गोत्रापत्यम् अर्थ में यामुन्दायनिः। उसका अपत्य अर्थ में इससे छ एवं ठक् प्रत्यय से यामुन्दायनीयः। एवं यामुन्दायनिकः। कुत्सा अर्थ न होने पर यामुन्दायनिः। यहां 'ण्यक्षत्रिय' से अण् प्रत्यय का लुक् है। सौवीर से भिन्न अर्थ में छ एवं ठक् नहीं होता है। यथा तैकायनिः।

११७६ फाण्टाहृतिमिमताभ्यां णफिञौ ४।१।१५०।

सौवीरेषु। नेह यथासङ्ख्यम्, अल्पाच्तरस्य परनिपातात् लिङ्गादिति वृत्तिकारः। अन्ये तु यथासङ्ख्यमेवेति स्थितम्। फाण्टाहृतः। फाण्टाहृतायनिः। मैमतः। मैमतायनिः।

सौवीर अर्थ में फाण्टाहृति एवं मिमत से ण एवं फिञ् प्रत्यय होता है यहां 'कुत्सने' की निवृत्ति है। यहां ण प्रत्यय के णित्व का फल 'मैमतः' है। फाण्टाहृतः' में नहीं है। फाण्टाहृताभार्यः यहां 'वृद्धिनिमित्तस्य' से पुंवद्भावनिषेधरूप फल णित्व का नहीं है, एको गोत्रे से फिञ्

के बाद अपत्यार्थक प्रत्यय नहीं होता है, युवार्थक तो होगा ही नहीं लौकिक में युवसंज्ञा होती ही नहीं है। अतः फाण्टाहृता रूप का ही अभाव प्रयुक्त 'फाण्टाहृतामार्य' यह प्रयोग भी सम्भव नहीं है। सूत्र में द्वन्द्व निर्देश है मिमत अल्पाच् है उसका पूर्वनिपात होना चाहिए 'अल्पाचतरम्' से वह न कर मिमत का परनिपातत्वरूप प्रमाण से यहां यथासङ्ख्य नहीं दोनों से दोनों प्रत्यय होते हैं। यह वृत्तिकार का मत है। भाष्यकार पूर्वनिपात प्रकरण को अनित्य मान कर यथासंख्या को ही यहाँ स्वीकार करते है, अनित्य में 'इ' को गुण वृद्धि निर्देश है अन्यथा 'वृद्धिगुणो' होता।

११७७ कुर्वादिभ्यो ण्यः ४।१।१५१।

अपत्ये। कौरव्या ब्राह्मणा। वावदूक्या। ॐसमाज क्षत्रियेॐ। साम्राज्य। साम्राजोऽन्य।

अपत्य अर्थ में कुरु आदि से ण्य प्रत्यय होता है कुरो अपत्यानि पुमास कौरव्य कुरु+ण्य आदिवृद्धि ओर्गुण से गुण अवादेश। वद् धातु से यङ् प्रत्यय यङन्त से ऊक प्रत्यय से वावदूक से ण्य अकार लोप वावदूक्या। सम्राट् शब्द से ण्य प्रत्यय होता है क्षत्रिय में। साम्राज्य क्षत्रिय। अन्यत्र साम्राज।

११७८ सेनान्तलक्षणकारिभ्यश्च ४।१।१५२।

एभ्यो ण्य। एति सञ्ज्ञायामिति सस्य ष। हारिषेण्य। लाक्षण्य। कारि = शिल्पी तस्मात् तान्तुवाय्य। कौम्भकार्य्य। नापित्य।

सेनान्त शब्द, लक्षण शब्द, शिल्पिवाचक कारिशब्द उनसे ण्य प्रत्यय होता है। एति सञ्ज्ञायाम् सूत्र से सकार को षकारादेश होता है। हरिषेणस्यापत्यम् हारिषेण्य यहां जात षत्व इसकी दृष्टि में असिद्ध है, अतः सेनान्त है। तन्तुवायस्यापत्यम् इस विग्रह में तान्तुवार्य। कुम्भकारस्यापत्यम् कौम्भकार्य्य। नापितस्यापत्यम्—नापित्य।

११७९ उदीचामिञ् ४।१।१५३।

हारिषेणि। लाक्षणि। तान्तुवायि। कौम्भकारि। नापिताम्तु परत्वात् फिञेव। नापितायनि। ॐतक्ष्णोऽण उपसङ्ख्यानम्ॐ। ताक्ष्ण। पक्षे ताक्ष्ण्य।

सेनान्त लक्षण, कारिवाचक शब्द से उत्तरदेशस्थ विद्वानों के मत से इञ् प्रत्यय होता है। तक्षन् शब्द से अण् प्रत्यय होता है। 'षपूर्व' से अकार लोप होता है।

११८० तिकादिभ्यः फिञ् ४।१।१५४।

तैकायनि।

तिकादि शब्द से अपत्यार्थ में फिञ् प्रत्यय होता है।

११८१ कौशल्यकार्मार्याभ्यां च ४।१।१५५।

अपत्ये फिञ्। इञोऽपवाद। ॐपरमप्रकृतेरेवायमिष्यतेॐ। प्रत्ययसन्नियोगेन प्रकृतिरूप निपात्यते। कोसलस्यापत्य कौसल्यायनि। कर्मारस्यापत्य कार्मार्यायणि। ॐछागवृषयोरपिॐ। छाग्यायनि। वार्ष्यायणि।

कौशल्य एवं कार्मार्य शब्द से अपत्य अर्थ में फिञ् प्रत्यय होता है। यह अपत्यार्थक इञ का अपवाद है। यह फिञ् प्रत्यय कोसल एवं कर्मार के उत्तर होता है। फिञ प्रत्यय के सन्निधान में कौशल्य एवं कार्मार्य का निपातन होता है। यदि 'वृद्धेत्कोसल' से विहित ञ्यङन्त से यह फिञ् करते तो युवार्थक ही होता, इञ् गोत्रार्थक वह है सो न होता क्योंकि गोत्रापत्य से पुनः गोत्रार्थ कप्रत्यय नहीं होता है 'एको गोत्रे' नियमार्थ है। एवं सेनान्त' सूत्र विहित ण्य प्रत्ययान्त कार्मार्य स फिञ् में युवा अर्थ में होता जो इञ नहीं है अत मूल प्रकृति से ही फिञ् का विधान एवं निपातन पक्ष ही उचित हैं। कुशलस्य अपत्यम्—कौशल्यानिः। कार्मार्यायणिः। छाग वृष से भी फिञ् प्रत्यय अपत्य में होता है। एवं फको आयन् आदेश को युट् आगम होता है। छाग्यायनिः। वार्ष्यायणिः। दागव्यायनिः।

११८२ अणो द्व्यचः ४।१।१५६।

अपत्ये फिञ्। इञोऽपवादः। कार्त्रायणिः। अण इति किम्, दाक्षायणः। द्व्यचः किम्, औपगविः। ॐत्यदादीनां फिञ् वा वाच्यःॐ। त्यादायनिः। त्यादः।

दो स्वरयुक्त अणन्त शब्द से फिञ् प्रत्यय होता है। यह इञ् का बाधक है। कर्तुः अपत्यम् कार्त्रः। तस्य अपत्यम् इस विग्रहमें कार्त्रायणिः। दक्षस्यापत्यम् दाक्षिः तस्य अपत्यम् यहां अणन्त न होने से फक् दाक्षायणः। त्यदादि से फिञ् प्रत्यय विकल्प से होता है। त्यादायनिः। त्यादः।

११८३ उदीचां वृद्धादगोत्रात् ४।१।१५७।

आम्रगुप्तायनिः। प्राचान्तु आम्रगुप्तिः। वृद्धात् किम्, दाक्षिः। अगोत्रात् किम्, औपगविः।

गोत्र प्रत्ययान्त भिन्न जो वृद्ध संज्ञक शब्द उससे फिञ् प्रत्यय उत्तरदेशीय आचार्यों के मत से होता है।

११८४ वाकिनादीनां कुक् च ४।१।१५८।

अपत्ये फिञ् वा। वाकिनस्यापत्यम्—वाकिनायनिः। वाकिनिः।

अपत्य में वाकिनादि से फिञ् एवं कुक् का आगम विकल्प से होता है।

११८५ पुत्रान्तादन्यतरस्याम् ४।१।१५९।

अस्माद् वा फिञ् सिद्धस्तस्मिन् परे पुत्रान्तस्य वा कुक् विधीयते। गार्गीपुत्रकायणिः। गार्गीपुत्रिः।

पुत्रान्त शब्द से उत्तर विकल्प से फिञ् प्रत्यय तो सिद्ध ही है। केवल विकल्प से कुक् आगम होता है।

११८६ प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम् ४।१।१६०।

ग्लुचुकायनिः।

प्राचीनों के मतमें अवृद्धसंज्ञक से फिन् प्रत्यय बहुल होता है।

११८७ मनोर्जातावञ्यतो षुक् च ४।१।१६१।

समुदायार्थो जातिः। मानुषः। मनुष्यः।

यहां कश्यप ऋषि की पत्नी मनु का ग्रहण है, प्रकृति एवं जायमान प्रत्यय इन से मनुष्यत्व जाति की प्रतीति होती हो वहां षष्ठ्यन्त समर्थ मनुसे अञ् प्रत्यय एवं यप्रत्यय है। एवं षुक् आगम होता है। मनो· अपत्यम्, मानव । मनुष्य·।

११८८ जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् ४।१।१६८।

जनपदक्षत्रिययो र्वाचकादञ् स्यादपत्ये।

दाण्डिनायनेति सूत्रे निपातनाट्टिलोपः। ऐक्ष्वाकः। ऐक्ष्वाकौ। ❀ क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत्❀। तद्राजमाचक्षाणस्तद्राज इत्यन्वर्थसंज्ञासामर्थ्यात्। पञ्चालानां राजा पाञ्चालः। ❀पूरोरण् वक्तव्यः❀। पौरवः। ❀ पाण्डो र्ड्यण्। पाण्ड्य·।

जनपद एवं क्षत्रियवाचक से उत्तर अपत्य में अञ् प्रत्यय होता है। 'दाण्डिनायन' से निपातन प्रयुक्त टि का लोप होता है। इक्ष्वाको अपत्यम् इस विग्रहमें अञ् प्रत्यय एवं उकार का लोप आदि वृद्धि से ऐक्ष्वाक क्षत्रियेण समान शब्दो यस्य जनपदस्य सोऽय क्षत्रियसमानशब्दो जनपदः। क्षत्रियेण समान शब्द, क्षत्रियसमानशब्दस्तस्मात् क्षत्रियसमानशब्दात् = एकवर्णमाला से देश एवं उस देश के शासक राजा को जो शब्द कहता है। ऐसा समानानुपूर्विक शब्दसे राजरूप अर्थ वाच्य रहने पर अपत्यार्थक, जो प्रत्यय उसके समान प्रत्यय होता है। अर्थात् क्षत्रिय तुल्य जनपद वाचक शब्द से उत्तर उसका राजा इस अर्थ अपत्य समान प्रत्यय करना चाहिए। अन्वर्थ = सार्थक तद्राज इति संज्ञाकरण से तद्राज संज्ञा करण सामर्थ्य से यह अर्थ लब्ध हुआ है। यहां 'अवृद्धादपि बहुवचनविषयात् से प्राप्त वुञ् को बाध करके अञ् प्रत्यय से पाञ्चाल' – पञ्चालानां राजा। पूरुशब्द से अण् प्रत्यय होता है। पौरव। पाण्डुशब्द से उत्तर ड्यण् प्रत्यय होता है। यथा पाण्ड्य·।

११८९ साल्वेयगान्धारिभ्याञ्च ४।१।१६९।

आभ्यामपत्येऽञ्, 'वृद्धेत्' इति ञ्यङोऽपवादः। साल्वेयः। गान्धारः। तस्य राजन्यप्येवम्।

साल्वेय एवं गान्धारि शब्द से उत्तर अपत्यरूप अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है यह ञ्यङ् का निषेधक है। साल्वेयानामपत्यम् साल्वेय । गान्धार । इनके राजा इस अर्थ में भी अपत्यार्थसमान ही प्रत्यय होकर वहां भी साल्वेय । गान्धार· प्रयोग करना चाहिए।

११९० द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण् ४।१।१७०।

अञोऽपवाद·। द्व्यच्—आङ्गः। वाङ्गः सौह्मः। मागधः। कालिङ्गः। सौरमस·। तस्य राजन्यप्येवम्।

दो स्वरयुक्त शब्द, मगध, कलिङ्ग, सूरसम इनसे अण् प्रत्यय अञ् को बाध कर होता है। अपत्य में प्रत्यय जिस प्रकार उसी प्रकार उन देशों के राजा में भी प्रत्यय होता है।

११९१ वृद्धेत्कोसलाजादाञ् ञ्यङ् ४।१।१७१।

वृद्धात्—आम्बष्ठ्यः। सौवीर्य्यः। इत्—आवन्त्यः। कौसल्यः। अजादस्यापत्यम्—आजाद्यः।

वृद्ध संज्ञक शब्द, इकारान्त शब्द, कोसल, अजाद इनसे पर ञ्यङ् प्रत्यय होता है वृद्धसंज्ञक का उदाहरण—आम्बष्ठानाम् अपत्यम् तेषां राजा वा इस अर्थ में ञ्यङ् आम्बष्ठ्यः। सौवीर्य्यः। इकारान्तोदाहरण—अवन्तीनाम् अपत्यं राजा वा आवन्त्यः। कोसलानाम् अपत्यम् तेषां राजा वा कौसल्यः। अजादस्य अपत्यम् अजाद्यः।

११९२ कुरुनादिभ्यो ण्यः ४।१।१७२।

कौरव्यः। नैषध्यः। सनैषधस्यार्थपतेरित्यादौ तु शैषिकोऽण्।

कुरु एवं नकारादिशब्द के उत्तर ण्यप्रत्यय होता है। यथा कुरूणाम् अपत्यम् तेषां राजा वा कौरव्यः। निषधानाम् अपत्यं तेषां राजा वा नैषध्यः। 'शेषे' से अण् प्रत्यय करके नैषध प्रयोग भी होता है।

११९३ साल्वावयवप्रत्यग्रथकालकूटाश्मकादिञ् ४।१।१७३।

साल्वो जनपदस्तदवयवा उदुम्बरादयस्तेभ्यः प्रत्यग्रन्थादिभ्यस्त्रिभ्यश्च इञ्। अञोऽपवादः। औदुम्बरिः। प्रात्यग्रथिः। कालकूटिः। आश्मकिः। राजन्यप्येवम्।

यहां साल्व से साल्व नामक देश विशेष जानना चाहिए। उस जनपद का अवयव जो उदुम्बरादि शब्द, प्रत्यग्रन्थ, कालकूट, अश्मक इनसे इञ् प्रत्यय अञ् को बाध कर होता है। अपत्य एवं राजा में समान रूप है। उसका ज्ञान प्रकरणादि से होता है।

११९४ ते तद्राजाः ४।१।१७४।

अञादय एतत्संज्ञाः स्युः।

जनपद सूत्र से आरम्भ कर यहां तक विधीयमान प्रत्ययों की तद्राज संज्ञा होती है। यह महती संज्ञा सार्थक है।

११९५ तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् २।४।६२।

बह्वर्थेषु तद्राजस्य लुक् स्यात् तदर्थकृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम्। इक्ष्वाकवः। पञ्चाला इत्यादि। कथं तर्हि कौरव्याः पशवः, तस्यामेव रघोः पाण्ड्या इति च. कौरव्ये पाण्ड्ये च साधव इति समाधेयम्। रघूणामन्वयं वक्ष्ये, निरुध्यमाना यदुभिः कथञ्चिदिति तु रघुयदुशब्दयोस्तदपत्ये लक्षणया।

तद्राज संज्ञक जो प्रत्यय उसका जो अर्थ तद्गत जो बहुत्व अर्थ जहां गम्यमान रहे वहां तद्राजसंज्ञक प्रत्यय का लुक् होता है,+स्त्रीलिङ्ग में लुक् नहीं होता है। ऐक्ष्वाकः, ऐक्ष्वाकौ इक्ष्वाकवः। यहां बहुवचन में तद्राज संज्ञक अञ् का लुक्। 'कुरवः' होना चाहिये 'कौरव्याः' यह रूप कैसे हुआ? एवम् 'पाण्डवः' होना चाहिए कथं पाण्ड्याः। उत्तर—कौरव्ये पाण्ड्ये च साधव अर्थ में तत्र साधु से यत् प्रत्यय है। रघु यदु को उनके अपत्य में लक्षणा है यहां तद्राज संज्ञक

प्रत्यय न होने से लुक् न होकर राघवाणाम्, यादवानाम् रूप होता। अतः लक्षणा ही है प्रत्यय अपत्यार्थक नहीं उत्पन्न हुआ है 'उक्तार्थानामप्रयोग.' इस न्याय से।

११९६ कम्बोजाल्लुक् ४।१।१७५।

अस्मात् तद्राजस्य लुक्। कम्बोजः। कम्बोजौ। ❀ कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम् ❀। चोलः। शकः। द्व्यच्लक्षणस्याणो लुक्। केरलः। यवन.। अञो लुक् कम्बोजाः समरे इति पाठः सुगमः। दीर्घपाठे तु कम्बोजोऽभिजनो येषामित्यर्थ.। सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञावित्यण्।

कम्बोज शब्द से विहित तद्राज सञ्ज्ञक प्रत्यय का लुक् होता है। यहां वार्तिककार कहते है कि कम्बोज आदि शब्दोत्तर तद्राज प्रत्ययों का लुक् होता है। यथा चोलः। शकः। यहां द्व्यच सूत्र से विहित अण् प्रत्यय का लुक् है। केरल.। यवन', यहां अञ् का लुक् है।

रघुवंश में 'कम्बोजा.' यही पाठ है। दीर्घ पाठ यदि है तो प्रथमान्त से अभिजन अर्थ में अण् प्रत्यय करके उसकी सिद्धि होती है। सिन्धुतक्ष से अण् है।

११९७ स्त्रियामवन्तिकुन्तिकुरुभ्यश्च ४।१।१७६।

तद्राजस्य लुक् स्यात्। अवन्ती। कुन्ती। कुरूः।

स्त्रीलिङ्ग में अवन्ति, कुन्ति, कुरु से तद्राज सञ्ज्ञक प्रत्यय का लुक् होता है। अवन्तीनामपत्यम् तेषां राजा वा अवन्ती, यहां 'वृद्धेत्' सूत्र से ञ्यङ् का लुक् कर 'यतो मनुष्यजातेः' से ङीष् है। इसी प्रकार कुन्ती। ञ्यङ् का लुक् से कुरू.+ऊङ् प्रत्यय है। सूत्र—ऊङुत.।

११९८ अतश्च ४।१।१७७।

तद्राजस्याकारस्य स्त्रियां लुक् स्यात्। शूरसेनी। शूद्री। कथं माद्रीसुताविति। ह्रस्व पाठ इति हरदत्तः। भर्गादित्वं वा कल्प्यम्।

स्त्रीलिङ्ग में तद्राज संज्ञक प्रत्ययों का लुक् होता है। शूरसेनी यहां अञ् का लुक् जाति लक्षण ङीष् है। अञ का अकारलोप से ङीष् न हुआ। मद्रीसुतौ यही पाठ है यह हरदत्तजी का मत है। दीर्घान्त पक्ष में भर्गादित्व मानना।

११९९ न प्राच्यभर्गादियौधेयादिभ्यः ४।१।१७८।

एभ्यस्तद्राजस्य न लुक्। पाञ्चाली। वैदर्भी। आङ्गी। मागधी, एते प्राच्याः। भार्गी। कारूशी। कैकयी। केकयीत्यत्र तु अन्यजनकभावलक्षणे प्रयोगे ङीप्। युधा। शुक्रा। आभ्यां द्व्यच इति ढक्। ततः स्वार्थे पर्श्वादियौधेयादिभ्योऽणञावित्यञ्। शार्ङ्गरवाद्यञ इति ङीन्। अतश्चेति लुकि तु ठगन्तत्वात् ङीप्युदात्तनिवृत्तिस्वरः स्यात्। यौधेयी। शौक्रेयी।

प्राच्य मञ्जक, भर्गादि एवं यौधेयादि से पर तद्राज सञ्ज्ञक प्रत्यय का लुक् नहीं होता है। पञ्चालस्य अपत्यम् कन्या राज्ञी वा पाञ्चाली। विदर्भस्यापत्यम् राज्ञी वा वैदर्भी। आङ्गी इत्यादि। केकयस्य अपत्यम् कन्या अर्थ में पुंयोगात् सूत्र से ङीष् है। युधा ढक् यौधेय अञ इसका लुक्

का अभाव ङीन् यहां योपध होने से टाप् की प्राप्ति नहीं है। यहां अनुदात्तस्य यश्चोदात्तलोपः से ङीप् के तद्धित संज्ञक का लोप होने से उदात्तत्व न हुआ किन्तु अन् के लुगभाव से ङीन् प्रत्यय ही हुआ ङीन् उदात्त ही हुआ है। 'अनश्च' सूत्र से जो विधीयमान लुक् है वह समीपवर्ती चातुरर्थिक का ही लुक् करेगा, इस प्राथमिक का लुक् नहीं करेगा पुनः इसमें दीर्घादि ग्रहण क्यों किया? यह ज्ञापन करता है कि व्याप्तिन्याय से प्राथमिकः का लुक् भी वह लुक् करता है। बाध्य सामान्य चिन्ता पक्ष से।

१२०० अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे ४।१।७८।

त्र्यादीनामन्त्यमुत्तमं तस्य समीपमुपोत्तमम्। गोत्रे यावणिञौ विहितावनार्षौ तदन्तयोर्गुरूपोत्तमयोः प्रातिपदिकयोः स्त्रियां ष्यङादेशः स्यात्। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीत्यणिञोरेव। षङावितौ। यङश्चाप्। कुमुदगन्धेरपत्यं स्त्री कौमुदगन्ध्या। वाराह्या। अनार्षयोः किम्, वासिष्ठी। वैश्वामित्री। गुरूपोत्तमयोः किम्, औपगवी। जातिलक्षणो ङीष्। गोत्रे किम्, अहिच्छत्रे जाता आहिच्छत्री।

त्र्यादि का जो अन्त्य भाग उसको उत्तम कहते हैं। यहां उत्तम शब्द उत्पूर्वक तरप् प्रत्ययान्त नहीं ही है किन्तु अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है, अतः आमु प्रत्यय होना चाहिए यह शङ्का निरस्त हुई। उत्तम के समीप को उपोत्तम कहते हैं। गोत्र अर्थ में विहित जो अनार्ष = ऋषिवाचक शब्द से अविहित अण् प्रत्यय एवं इञ् प्रत्यय तदन्त जो गुरूपोत्तम प्रातिपदिक उनके उत्तर स्त्रीलिङ्ग में ष्यङ् आदेश होता है। अण् एवं इञ् को ही ष्यङ् आदेश निर्दिश्यमान परिभाषा से होता है। षष्ठीप्रकृतिभूतस्यान्याप्रेक्ष्योपस्थितिविषयत्वं निर्दिश्यमानत्वम् = जो शास्त्रान्तर के असहयोग से षष्ठी विभक्ति की प्रकृति से उपस्थित होता है उसको निर्दिश्यमान कहते हैं। यह अतीव सामान्य लक्षण है। विशेष विवेचन अन्यत्र है। इससे विहित ष्यङ् में षकार एवं ङकार की इत्संज्ञा है। 'यङश्चाप्' से चाप् प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग से होता है। कुमुदस्य गन्ध इव गन्धो यस्य इति कुमुदगन्धिः। कुमुदगन्धेरपत्यम् स्त्री = कन्या कौमुदगन्ध्या। वाराह्या इञ् ष्यङ् चाप्। ऋषिवाचक शब्द विहित अण् एवं इञ् को ष्यङादेश न हुआ। यथा वासिष्ठी। वैश्वामित्री। ङीप् प्रत्ययान्त औपगवी यहां उपोत्तम गुरु नहीं है। आहिच्छत्री में अनार्थक अण् है।

१२०१ गोत्रावयवात् ४।१।७९।

गोत्रावयवा गोत्राभिमताः कुलाख्यास्ततो गोत्रे विहितयोरणिञोः स्त्रियां ष्यङादेशः स्यात्। अगुरूपोत्तमार्थमारम्भः। पौणिक्या। भौणिक्या।

गोत्रावयव = कुलनाम वाचक शब्द से पर गोत्रार्थ में विहित अण् एवं इञ् प्रत्यय उनको ष्यङ् आदेश स्त्रीलिङ्ग में होता है। यह गुरूपोत्तमार्थ भिन्न के लिए किया है। पुणिका वर्ण गोत्रेण भुणिका वर्ण गोत्रेण। पुणिका का अपत्य भुणिका का अपत्य में पौणिक्या, भौणिक्या।

१२०२ क्रौड्यादिभ्यश्च ४।१।८०।

स्त्रियां ष्यङ् प्रत्ययः स्यात्। अगुरूपोत्तमार्थोऽनणिञर्थश्चारम्भः। क्रौड्या। व्याड्या। ✻सूत युवत्याम्✻ सूत्या। ✻भोज क्षत्रिये✻ भोज्या।

कौडयादि से उत्तर ष्यङ प्रत्यय होता है। स्त्रीलिङ्ग में। अगुरूपोत्तमार्थं एवं अण् इञ के अर्थं भिन्नार्थं के लिए इसका आरम्भ है। कौडि, व्याडि से ष्यङ् प्रत्यय, चाप्। युवती अर्थं में सूत शब्द से ष्यङ् होता है। सूत्या। क्षत्रिय वाच्य होनेपर भोज से ष्यङ् होता है। भोज्या।

१२०३ दैवयज्ञिशौचिवृक्षिसात्यमुग्रिकाण्डेविद्धिभ्योऽन्यतरस्याम् ४।१।८१।

एभ्यश्चतुर्भ्यः ष्यङ् वा। अगोत्रार्थमिदं गोत्रेऽपि परत्वात्प्रवर्तते। पक्षे इतो मनुष्येति ङीष्। दैवयज्ञ्या। दैवयज्ञी।

इत्यपत्याधिकारः।

सूत्रोक्त चार शब्दों से विकल्प ष्यङ् होता है। यह सूत्र अगोत्रार्थं है किन्तु गोत्र में भी परत्व के कारण प्रवृत्त होता है। विकल्प पक्ष में 'इतो मनुष्यजाते' से ङीष् होता है।

ये चारों शब्द इजन्त है। देवा यज्ञा" = यष्टव्या यस्य स देवयज्ञ। शुचि वृक्षो यस्य स शुचिवृंक्ष। सत्यम् उग्रम् यस्य स सत्यमुग्र। मुम् आगम है। एव विशेष्य का पूर्वनिपात है। काण्डेन विद्ध काण्डविद्ध। एत्व निपात्यते। इन सब से अपत्य में इञ् प्रत्यय है। यह उभयत्र विभाषा है।

५० श्रीबा० कृ० पञ्चोलिविरचित रत्नप्रभा में अपत्याधिकार प्रकरण समाप्त



अथ तद्धितेषु रक्ताद्यर्थकप्रकरणम् ॥ २७ ॥

१२०४ तेन रक्तं रागात् ४।२।१।

रज्यतेऽनेनेति रागः। कषायेन रक्तं वस्त्रं काषायम्। माञ्जिष्ठम्। रागात् किम्, देवदत्तेन रक्तं वस्त्रम्।

जिससे कोई वस्तु रङ्गी जाय उसको राग कहते हैं। तृतीयान्त समर्थ राग शब्द से रंगा हुआ अर्थात् रक्त अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं। कषाय से रक्त वस्त्र अर्थ में काषायम्। मञ्जिष्ठ से रंगा हुआ वस्त्र को माञ्जिष्ठम्। तृतीयान्त रागवाचक नहीं वहां वाक्य है, यथा देवदत्तेन रक्तम् वस्त्रम्।

१२०५ लाक्षारोचनाट्ठक् ४।२।२।

लाक्षिकः। रोचनिकः। ॐशकलकर्दमाभ्यामुपसङ्ख्यानम्ॐ। शाकलिकः। कार्दमिकः। आभ्यामणपीति वृत्तिकारः। शाकलः। कार्दमः। ॐनील्या अन्ॐ। नील्या रक्तं नीलम्। ॐपीतात् कन्ॐ। पीतकम्। ॐहरिद्रामहाराजनाभ्यामञ्ॐ। हारिद्रम्। माहारजनम्।

तृतीयान्त रागवाचक लाक्षा एवं रोचना शब्द से 'रक्त' अर्थ में ठक् होता है। लाक्षया रक्तः पटः लाक्षिकः। रोचनयाः रक्तः पटः रोचनिकः। तृतीयान्त शकल एवं कर्दम से रक्त अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। शकलेन रक्तः शाकलिकः। कर्दमेन रक्तः कार्दमिकः। अण् प्रत्यय भी तृतीयान्त शकल एवं कर्दम से रक्त अर्थ में होता है यह वृत्तिकारका मत है। भाष्य में यह अनुक्त है।

"शकलं त्वचि खण्डे च रागवस्तुनि वल्कले" यह विश्वकोष है। तृतीयान्त रागवाचक औषधि अर्थवाचक नीली से रक्त अर्थ में अन् प्रत्यय होता है। नील्या रक्तम् नीलम्। तृतीयान्त पीत शब्द से रक्त अर्थ में कन् प्रत्यय होता है। पीतेन रक्तम् पीतकम्। तृतीयान्त हरिद्रा एवं महारजन से रक्त अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है। हरिद्रया रक्तम् हारिद्रम्। महारजनया रक्तं माहारजनम्।

१२०६ नक्षत्रेण युक्तः कालः ४।२।३।

पुष्येण युक्तं पौषम् अहः। पौषी रात्रिः।

तृतीयान्त पुष्यनक्षत्र से युक्त अर्थ में अण् प्रत्यय होता है जो युक्त है वह काल रहे तब। योगार्थक युजिर् से कर्म में क्तप्रत्यय है। संयोजन क्रिया कर्म काल। स्त्रीलिङ्ग में ङीप् पौषी। पुष्य शब्द अनेकार्थक है।

पुष्य समीपस्थ चन्द्र से युक्त अर्थ में प्रत्यय। सभी दिवसों का पुष्य नक्षत्र से सदा योग है किन्तु चन्द्र से योग तो कभी कभी ही है। काल अर्थ नहीं यथा 'पुष्येण युक्तः चन्द्रः' यहां वाक्य ही रहता है। पुष्णाति कार्याणि इति पुष्यः। कलियुग में भी पुष्य शब्द है। मास एवं नक्षत्र भेद में पुष्य शब्द है। पुष्य नक्षत्र में कृत कार्य अधिकांश फलयुक्त होता है। शुभकर्मारम्भ उसमें लोग करते हैं। प्राचीन लोग स्वर्ण खरीद कर इस नक्षत्र में रखते थे जो शुभ होता था।

१२०७ लुबविशेषे ४।२।४।

पूर्वेण विहितस्य लुप् स्यात्। षष्टिदण्डात्मकस्य कालस्यावान्तरविशेषश्चेन्न गम्यते। अद्य पुष्य। कथं तर्हि पुष्ययुक्ता पौर्णमासी पौषीति। विभाषा फाल्गुनीश्रवणाकार्तिकीचैत्रीभ्य इति निर्देशेन पौर्णमास्यामयं लुब् नेति ज्ञापितत्वात्। श्रवणशब्दात्तु अत एव लुप् युक्तवद्भावाभावश्च। अबाधकान्यपि निपातनानि। श्रावणी।

यदि ६० दण्ड स्वरूप समयरूप काल का अवान्तर = मध्यस्थ काल विशेष की प्रतीति न हो तो पूर्व सूत्र विहित जो प्रत्यय उसका लोप होता है।

पुष्ये युक्त काल अद्य पुष्य। यद्यपि पुष्यनक्षत्र से युक्त जो चन्द्रमा उससे युक्त षष्ठ्यादि घटी उसे से परिच्छिन्न काल परक पुष्य का अधमत्व का सम्भव नहीं है, क्योंकि अभेद में आधाराधेय भाव सम्भव नहीं है तो भी 'अद्यतनम् महोरात्रम्' के सदृश यह राहो शिर' की तरह कल्पितभेद को लेकर आधारत्व की उपपत्ति समझनी चाहिये।

सूत्र में नक्षत्र शब्द तत् तत् नक्षत्रों से युक्त शशि बोधक है। उन उन नक्षत्रों से युक्त शशि युक्तकाल अर्थ में जो प्रत्यय उसका लुप् विधान होता है यहां 'अविशेषे सामीप्य मूलक सम्बन्ध से तत् २ नक्षत्र युक्त शशि का यावत् कालावच्छेदेन सम्बन्ध है उसका व्याप्य काल जो कालविशेष उसकी विवक्षा न रहे यही सूत्रार्थ का रहस्य प्रतीयमान है।

इस सूत्र के रहते हुए पौषी पौर्णमासी यह प्रयोग क्यों हुआ? पुष्या पौर्णमासी होना चाहिए समाधान—सूत्र निर्देश से पौर्णमासी अर्थ में यह सूत्र लुप नहीं करता है अत एव विभाषा फाल्गुनीश्रवणाकार्तिकीचैत्रीभ्य" यह निर्देश उपपन्न हुआ। श्रवण नक्षत्र युक्त शशि युक्त काल में श्रवणा पौर्णमासी में सूत्र निर्देश में 'श्रवणा है अत यहां लुक् होता है निपातन के विषय में दो मत प्राप्त उससे हुए—

१ निपातनानि अबाधकानि २ निपातनानि बाधकानि। युक्तवद्भाव मूल प्रकृतिगत लिङ्ग एव वचन का निपातन (श्रवणा) से अभाव हुआ है। प्रकृति गत लिङ्ग वचन नहीं हुआ है। श्रावणी यहां निपातन अबाधक है, यहां प्रत्यय का लुप् नहीं हुआ है।

१२०८ संज्ञायां श्रवणाश्वत्थाभ्याम् ४।२।५।

विशेषार्थोऽयमारम्भः। श्रवणा रात्रि। अश्वत्थो मुहूर्त। संज्ञायां किम् श्रावणी। आश्वत्थी।

संज्ञा अर्थ गम्यमान रहते श्रवण एवं अश्वत्थ से विहित प्रत्यय का लुक् होता है। विशेष के निमित्त इस सूत्र का प्रारम्भ है। श्रवणा रात्रि। यहां युक्तवद्भाव नहीं हुआ है। अश्वत्थो मुहूर्त। दोनों स्थलों में विशेष अर्थ की प्रतीति है।

१२०९ द्वन्द्वाच्छः ।४।२।६।

नक्षत्रद्वन्द्वाद् युक्ते काले छ स्यात्, विशेषे सति असति च। तिष्यपुनर्वसीयमह। राधानुराधीया रात्रि।

नक्षत्रवाचक शब्दों का द्वन्द्व समास से तद्युक्त काल में छप्रत्यय होता है विशेष रहे या नहीं। विशेष में उदाहरण यह है। अविशेष में उदाहरण अद्य राधानुराधीयम्। मध्येऽपवादन्याय से

अण् का ही 'लुबविशेषे' से लुप् होता है, छप्रत्ययका नहीं। युगपद प्राप्ति के अभाव से लुप् को छ परत्वात् बाध करेगा यह तो नहीं कह सकते हैं।

१२१० दृष्टं साम ।४।२।७।

तेनेत्येव। वसिष्टेन दृष्टं वासिष्टं साम। ॐअस्मिन्नर्थेऽण् डिद्वद्वावक्तव्यःॐ। उशनसा दृष्टम् औशनम्। औशनसम्।

तृतीयान्त समर्थ से दृष्ट अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं। जो दृष्ट वस्तु वह साम वेद हो तो। दृष्ट अर्थ में अण् प्रत्यय विकल्प से डित होता है। औशनम्। औशनसम्। यहां श्लोकवार्तिकारने कहा है कि—

दृष्टं सामनि जाते चाप्यण् डित द्विर्वा विधीयते।
तीयादीकक् न विद्यायाः गोत्रादङ्कवदिष्यते॥

जात अर्थ में विधीयमान द्विरण् = द्विर्वारम् उच्चारित अण् विकल्प से डित होता है। यथा शातभिषः। शातभिषजः। यहां प्रग्गर्दाव्यतः से प्राप्त अण् को बाधकार कालात ठञ् प्राप्त था उसको 'सन्धिवेला' से अण् बाध करता है। द्विः सुच् प्रत्ययान्त है। तीय से स्वार्थ में ईकक्। द्वैतीयीकः। विद्यावाचक तीयन्त से ईकक् नहीं होता है। यथा द्वितीया विद्या। गोत्रप्रत्ययान्त से अङ्क में जो प्रत्यय विहित है वे दृष्टं साम में होते हैं। औपगवेन दृष्टं साम औपगवकम्, गोत्रचरणाद् वुञ्।

१२११ कलेर्ढक् ।४।२।८।

कलिना दृष्टं कालेयं साम।

तृतीयान्त समर्थ कलि से दृष्ट अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है। यद्यपि क्रमविषय साम नित्य है वह कलि से दृष्ट नहीं हो सकता है किन्तु जिस साम का विशिष्ट कार्य विषयक जो विनियोग अतिशय जो ज्ञान रूपी सम्पत्ति से कलि ने ज्ञान किया था वह कलि से दृष्ट है।

१२१२ वामदेवाड् ड्यड्ड्यौ ।४।१।९।

वामदेवेन दृष्टं साम वामदेव्यम्।

सिद्धे यस्येति लोपेन किमर्थं ययतौ डितौ।
ग्रहणं मा तदर्थेऽभूद् वामदेव्यस्य नञ्स्वरे॥

दृष्ट अर्थ में यदि दृष्ट वस्तु साम है तो तृतीयान्त समर्थ वामदेव से ड्यत एवं ड्यप्रत्यय होता है। जैसे वामदेवेन दृष्टं साम इस अर्थ में ड्यत या ड्य कर डित्त्व के कारण टिलोप से वामदेव्यम्। यहां शङ्का करते है कि 'यस्येति च' सूत्र से अकार लोप से इष्ट प्रयोग सिद्ध होता पुनः ड्य में डित् ग्रहण क्यों किया यप्रत्यय का ही विधान करना उचित था, वह डित्त्वग्रहण व्यर्थ हो कर ज्ञापन करता है कि "निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्" यह परिभाषा सिद्ध हुई। एवं ड्यत न कर यत करने पर भी 'यस्येति च' से अलोप हो कर 'वामदेव्यम्' की सिद्धि होती ड्यत में डित करण व्यर्थ हो कर ज्ञापन करता है कि "तदनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्" यह परिभाषा सिद्ध हुई। इन दोनो परिभाषाओं से "ययतोश्चातदर्थे" से विहित नञाश्रित स्वर में ड्य ड्यत का ग्रहण न हुआ, अर्थात 'ययतोः' से विधीयमान नञ् से पर य एवं यत प्रत्यय तदन्त जो उत्तरपद उसको अन्तोदात्तत्व वामदेव्यम् नञ् पूर्वक में न हुआ।

१२१३ परिवृतो रथः ४।२।१०।

वस्त्रैः परिवृतो वास्त्रो रथः । रथः किम्, वस्त्रेण परिवृतः कायः । समन्ताद् वेष्टितः परिवृत उच्यते । तेनेह न, छात्रैः परिवृतो रथः ।

तृतीयान्त समर्थ से चारो ओर घिरा हुआ अर्थात् परिवृत अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं। किन्तु वह परिवृत रथ रहने पर। वास्त्रो रथः। वस्त्रेण परिवृतः कायः। यहां वाक्य ही रहता है। चारो तरफ से वस्त्र से घिरा हुआ शरीर है, रथ नहीं है। छात्रों से घिरा हुआ रथ यहां परिवृत नहीं अतः वाक्य ही रहता है।

१२१४ पाण्डुकम्बलादिनिः ४।२।११।

पाण्डुकम्बलेन परिवृतः पाण्डुकम्बली । पाण्डुकम्बलशब्दो राजास्तरणवर्णकम्बलस्य वाचकः । मत्वर्थीयेनैव सिद्धे वचनमणो निवृत्त्यर्थम् ।

राजभवन में बिछाने का गलीचा को पाण्डुकम्बल कहते हैं। मतुप् के अर्थ में इन् प्रत्यय से ही रूप की सिद्धि होती है। पुनः इन् प्रत्यय का विधान होता पुनः यह सूत्र अण की निवृत्ति के लिए है।

१२१५ द्वैपवैयाघ्रादञ् ।४।२।१२।

द्वीपिनो विकारो द्वैपम् । तेन परिवृतो द्वैपो रथः । एवं वैयाघ्रः ।

परिवृत अर्थ में परिवृत जो वस्तु वह रथ हो तो षष्ठ्यन्त समर्थ द्वैप एवं वैयाघ्र से अञ् प्रत्यय होता है। द्वीपिनः विकारः इस अर्थ में 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' से अञ्प्रत्यय किया परिवृत अर्थ में द्वैप से अण को बाध कर इसने अञ प्रत्यय का विधान किया। अण् में अनिष्ट अन्तोदात्त होता। अञ् से इष्ट आद्युदात्त हुआ है।

इस प्रकार वैयाघ्र में भी अञ्कर इस से परिवृत में अञ् आद्युदात्त।

१२१६ कौमारापूर्ववचने ४।२।१३।

कौमारेत्यविभक्तिको निर्देशः । अपूर्वत्वे निपातनमिदम् । अपूर्वपतिं कुमारीं पतिरुपपन्नः कौमारः पतिः । यद्वा अपूर्वपतिः कुमारी पतिमुपपन्ना कौमारी भार्या ।

जिस प्रवृत्तिनिमित्त से अपूर्व कहा गया हो उस अपूर्ववचन कहते हैं। उस प्रवृत्तिनिमित्त में इसकी प्रवृत्ति होती है। यहां अपूर्वशब्द भाव साधन है। वह कुमार शब्दार्थ गत ही लेना पति गत नहीं ग्रहण करना, पुरुष अपूर्व भार्या युक्त रहे या न रहें। यहां योग्यतावश से द्वितीयान्त से या प्रथमान्त से प्रत्यय होता है। द्वितीयान्त से प्रत्यय पक्षमें उपयन्तरि अर्थ में प्रत्यय होता है। अर्थात् अपूर्व है पति जिसका ऐसी जो कुमारी उसको प्राप्त करने वाला 'कौमारः पतिः'। प्रथमान्त से प्रत्यय स्वीकार पक्ष में उपयमन विशिष्ट स्वार्थ में प्रत्यय होता है। यह निपातन सामर्थ्य से लब्ध है। यहां उपयमन विशिष्ट कहने से विवाह के पूर्व में ऐसा प्रयोग नहीं होता है। अपूर्वपतिसम्बन्ध यहां स्त्रीनिष्ठ है।

सूत्रार्थ—जिसका किसी पुरुष के साथ विवाह सम्बन्ध न हुआ हो ऐसे कुमार शब्द से अण् प्रत्यय होता है। सूत्र में कौमार लुप्त विभक्त्यन्त है। अपूर्वत्व में यह निपातन है। नास्ति

पूर्व पतिः यस्या सा तां पतिः उपपन्नः कौमारः पतिः। अथवा अपूर्वपतिः कुमारी पतिमुपपन्ना कौमारी भार्या।

१२१७ तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः ४।२।१४।

शरावे उद्धृतः शाराव ओदनः। उद्धरतिरिहोद्धरणपूर्वके निधाने वर्तते। तेन सप्तमी। उद्धृत्य निहित इत्यर्थः।

सप्तम्यन्त पात्रवाचक से उद्धृत अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं। यहां उद्धृत का अर्थ उद्धरण पूर्वक स्थापन रूप अर्थ है। अतः निधान निरूपित अधिकरणत्व से सप्तमी हुई है। उद्धारण में स्थाली अवधि है। निकाल कर रक्खा हुआ ओदन 'शारावः'। साऽस्मिन् ४।२।२१। सूत्र के पूर्व तक 'तत्र' का अधिकार है।

१२१८ स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते ४।२।१५।

तत्रेत्येव। समुदायेन चेद् व्रतं गम्यते। स्थण्डिले शेते स्थाण्डिलो भिक्षुः।
शयन कर्ता अर्थ में सप्तम्यम्यन्त समर्थ स्थण्डिल शब्द से अण् आदि प्रत्यय होता है प्रकृति-प्रत्यय रूप समुदाय से व्रत रूप अर्थ की प्रतीति होने पर। यथा स्थाण्डिलो भिक्षुः। व्रतम्= "शास्त्रेण विहितो नियमः" शास्त्रसे विहित नियम को व्रत कहते हैं। अकृत्रिम भूमि को स्थण्डिल कहते हैं।

१२१९ संस्कृतं भक्षाः ४।२।१६।

सप्तम्यन्तादण् स्यात् संस्कृतेऽर्थे यत्संस्कृतं भक्षाश्चेत् ते स्युः। भ्राष्ट्रे संस्कृता भ्राष्ट्रा यवाः। अष्टसु कपालेषु संस्कृतोऽष्टाकपालः पुरोडाशः।

संस्कृत अर्थ में संस्कृत द्रव्य भक्ष्य वस्तु हो तो सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से पर अण् प्रत्यय होता है। यहां भोजनादिरूप फल है उपयोग जिसका ऐसी क्रिया को संस्कार कहते है, गुणाधान को नहीं। भ्राष्ट्राः। अष्टाकपालः। द्विगु में 'द्विगोः' से अण् का लुक्। पुरोडाश अर्थमें अष्टाकपालः।

१२२० शूलोखाद् यत् ४।२।१७।

अणोऽपवादः। शूले संस्कृतं शूल्यम्=मांसम्। उखा=पात्रविशेषः। तस्यां संस्कृतम् उख्यम्।

संस्कृत अर्थ होने पर संस्कृत वस्तु भक्ष्य द्रव्य हो तो सप्तम्यन्त शूल एवं उखा से यत् प्रत्यय होता है। यह अण् का निषेधक है। जहां भक्ष नहीं वहां यत् नहीं होता है 'उख्यः अग्निः' यह प्रयोग कैसे हुआ ?, यहां दिगादित्व प्रयुक्त भवार्थ में यत् प्रत्यय है।

१२२१ दध्नष्ठक् ४।२।१८।

दध्नि संस्कृतं दाधिकम्।

संस्कृत अर्थ में सप्तम्यन्त दधि-से ठक् प्रत्यय होता है। संस्कार यहां लवण आदि प्रयुक्त है। दीर्घ यहां अधिकरण मात्र है। 'प्राग्वहतेः' से वहां संस्कृत अर्थ में ठन् तृतीयान्त से विहित है। दध्ना संस्कृतम् दाधिकम्—यही होता है।

१२२२ उदश्वितोऽन्यतरस्याम् ४।२।१९।

ठक् पक्षेऽण् ।

संस्कृत अर्थ में सप्तम्यन्त उदश्वित शब्द से ठक् प्रत्यय विकल्प से होता है। एवं पक्ष में अण् प्रत्यय भी होता है।

१२२३ इसुसुक्तान्तात्कः ७।३।५१।

इस् उस् उक् त एतदन्तात्परस्य ठस्य कः स्यात् । उदकेन श्वयति=वर्द्धते इत्युदश्वित् तत्र संस्कृत औदश्वित्क । औदश्वित । इसुसोः प्रतिपदोक्तयोर्ग्रहणान्नेह—आशिषा चरति आशिषिकः । उषा चरति औषिकः । ॐदोष उपसंख्यानम्ॐ । दोर्भ्यां चरति दौष्क ।

इस उस उक त इन अन्त में रहे ऐसे सप्तम्यन्त समर्थ से पर ठको कादेश होता है। यह 'ठस्येक' का बाधक है। मठ्ठा का नाम उदश्वित् है उसमें संस्कृत अर्थ 'औदश्वित्क' है।

प्रतिपदोक्त इस् उस् कादेश में उद्देश्यतया ग्रहण है अत आशिषा चरति अर्थ में ठको कादेश न हुआ आशिषिक । औषिक । दोष शब्द पर ठको कादेश का बोधन होता है यथा— दौष्क ।

१२२४ क्षीराड्ढञ् ४।२।२०।

अत्र संस्कृतमित्येव सम्बध्यते, न तु भक्षा इति । तेन यवाग्वामपि भवति क्षैरेयी ।

यहां केवल 'संस्कृतम्' का ही सम्बन्ध है, भक्ष का नहीं है। संस्कृत अर्थ में सप्तम्यन्त क्षीर से ढञ् प्रत्यय होता है। भक्ष का सम्बन्ध न होने से यवागू अर्थ में भी क्षीरे संस्कृता 'क्षैरेयी' यह प्रयोग हुआ।

१२२५ साऽस्मिन् पौर्णमासीति४।२।२१।

इतिशब्दात् संज्ञायामिति लभ्यते । पौषी पौर्णमासी अस्मिन् पौषो मास ।

संज्ञा में सप्तम्यन्तार्थ में प्रथमान्त पौर्णमासी वाचक शब्द से अण् प्रत्यय होता है। यहां निपात इति शब्द से 'संज्ञायाम्' का लाभ हुआ। पुष्य नक्षत्र युक्त चन्द्र संयोग विशिष्ट को पौषी कहते है। वह है जिसमें ऐसा मास को पौष मास । यहां ज्योतिष विभिन्न प्रकार का है। यहां पौषादि पद योगरूढ है। यहां पुष्यपद न केवल पुष्यनक्षत्रमात्र बोधक अण् प्रत्यय की प्रकृति परक है। पौषमास की पूर्णिमा को अवश्य पुष्यनक्षत्र चन्द्र से योग है यह नियम नहीं है। अत पुष्यपद पुष्य एवं पुनर्वसु अन्यतर बोधक है।

> अन्त्योपान्त्यौ त्रिभौ ज्ञेयौ फाल्गुनश्च त्रिभो मत ।
> शेषा मासाः द्विभा ज्ञेया कृत्तिकादिव्यवस्थया ।

फाल्गुनी में फल्गुनी पद पूर्वा फाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनी हस्त इन तीन का बोधक है। किसी आचार्य का मत है कि पौषी का अर्थ धनुस्थ रव्यारब्ध पौर्णमासी घटितत्वावच्छिन्न परक है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना ।

१२२६ आग्रहायण्यश्वत्थाट् ठक् ४।२।२२।

अग्रे हायनं यस्या इत्याग्रहायणी । प्रज्ञादेराकृतिगणत्वादण् । पूर्वपदात् संज्ञायामिति णत्वम् । आग्रहायणी पौर्णमासी अस्मिन्—आग्रहायणिको मासः । अश्वत्थेन युक्ता पौर्णमासी अश्वत्थः । निपातनात् पौर्णमास्यामपि लुप् । आश्वत्थिकः ।

सप्तम्यन्तार्थ में प्रथमान्त आग्रहायणी एवं अश्वत्थ से ठक् प्रत्यय होता है । जो प्रथमान्त है वह पौर्णमासी होता हायन शब्द वर्ष वाचक है । अग्रे हायनम् अस्याः इस वाक्य में आग्रहायणी से प्रज्ञादि आकृति गण है अतः 'प्रज्ञादेः' से अण् प्रत्यय यहां 'पूर्वपदात्' सूत्र से णकार हुआ । अस्मिन् अर्थ में ठक् से आग्रहायणिको मासः । अश्वत्थेन युक्ता पौणमासी अण् का लुक् = अश्वत्थः पौर्णमासी तद्युक्त मास में आश्वत्थिकः ।

१२२७ विभाषा फाल्गुनीश्रवणाकार्तिकीचैत्रीभ्यः ४।२।२३।

एभ्यष्ठग्वा । पक्षेऽण् । फाल्गुनिकः । फाल्गुनो मासः । श्रावणिकः । श्रावणः । कार्तिकिकः । कार्तिकः । चैत्रिकः । चैत्रः ।

अस्मिन् इस सप्तम्यनार्थ में फाल्गुनी, श्रवणा, कार्तिकी चैत्री इन प्रथमान्त से ठक् प्रत्यय विकल्प से होता है । पक्ष में अण् प्रत्यय है । फाल्गुनीनक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी सा फाल्गुनी सा अस्ति अस्मिन् इति ठक् फाल्गुनिकः । पक्ष में फाल्गुनः यहां अण् प्रत्यय हुआ । श्रवणेन युक्ता में अण् का लुक् टाप् श्रवणा से ठक् पक्ष में अण् । कृतिका नक्षत्र युक्ता पौर्णमासी ठक् पक्ष में अण् । चित्रा नक्षत्र से युक्त पौर्णमासी युक्तमास अर्थ में ठक् पक्ष में ।

१२२८ सास्य देवता ४।२।२४।

इन्द्रो देवताऽस्येति ऐन्द्रं हविः । पाशुपतम् । बार्हस्पत्यम् । त्यज्यमान-द्रव्ये उद्देश्यविशेषो देवता, मन्त्रस्तुत्या च । ऐन्द्रो मन्त्रः । आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतयेति तु शैषिकेऽर्थे सर्वत्राग्नीति ढक् ।

अस्य इस षष्ठ्यर्थ में प्रथमान्त देवतोपाधिक प्रातिपदिक से अण् आदि प्रत्यय होते हैं । सम्बन्धित्वेन प्रदेय एवं मन्त्र यह प्रत्ययार्थ है । प्रत्ययार्थ क्वचित् प्रदेय है । क्वचित् मन्त्र है । प्रकृत्यर्थ में देवतात्व वृत्ति स्वभाव के सामर्थ्य से ही लब्ध है । वैध हवन कुण्डादि में हवनीय द्रव्य का जो उद्देश्य उसको देवता कहते हैं । अथवा मन्त्रों द्वारा जिनकी स्तुति की जाय उसको देवता कहते हैं । इन्द्र देवता का मन्त्र या इन्द्र को उद्देश्य कर दत्त हविः में ऐन्द्रः । 'आग्नः' होना चाहिये 'आग्नेयः' ऐसा प्रयोग कैसे हुआ ?, शैषिक अर्थ में 'अग्निकलिभ्यान्' से ढक् प्रत्यय हुआ हैं । अग्नेः अयं भक्तः ।

१२२९ कस्येत् ४।२।२५।

कशब्दस्य इदादेशः स्यात्प्रत्ययसन्नियोगेन । यस्येति लोपात् परत्वा-दादिवृद्धिः । को ब्रह्मा देवताऽस्य कायं हविः । श्री देवताऽस्य श्रायम् ।

प्रत्यय के सन्नियोग से क शब्द को इत् आदेश होता है । यस्येति लोप से परत्व के कारण आदि वृद्धि होती । यथा कः = ब्रह्मा देवता अस्य इस विग्रह में अण् प्रत्यय इदादेश यहां आदि वृद्धि एवं यस्येति च से इकार का लोप प्राप्त है वृद्धि परत्व से हुए आय् आदेश 'कायन्' =

ब्रह्मा को उद्देश्य कर दत्त हवि । श्रायम् = लक्ष्मी को उद्देश्य कर दत्त हवि । यहां क शब्द ब्रह्मा में रूढ का ही ग्रहण करना उचित है।

क शब्द अनेकार्थ है—ब्रह्मा, आत्मा, अनिल, अर्क, शमन, सर्वनाम पावक, मयूर सुख, शीर्ष जल। कार्यानुवृद्धि इत्येव प्रैष' यह कल्पसूत्रोक्त आर्ष प्रयोग है। अथवा इस सूत्र में विमक्त्यन्त किम् का भी तन्त्र से निर्देश है। शब्द परक भी किम् को कादेश है यथा 'क्रिय' इत्यादि में इयङादि। किम् शब्दोऽपि प्रजापति वाची है, अत 'कस्मै देवाय हविषा विधेम" इस श्रुति में कस्मै = प्रजापतये' यह अर्थ है। विष्णु सहस्र नाम में भी 'एकोऽनेक सव क किम् यह भी प्रजापति वाचकत्व में प्रमाण है। सज्ञात्व प्रयुक्त सर्वनाम निषेध की शङ्का न करना आधुनिक सज्ञा का वह निषेधक है, प्राचीन का नहीं अत 'कस्मै' की असिद्धि की आशङ्का न करना। श्रीदेवताऽस्य हवि में श्रायम्।

१२३० शुक्राद् घन् १।२।२६।

शुक्रियम्।

अस्य इस षष्ठ्यर्थ में शुक्रप्रथमान्त से हविरादि अर्थ में घन् प्रत्यय होता है।

शुक्र देवता अस्य हविष शुक्रियम्। घको इयादश है।

१२३१ अपोनप्त्रपान्नप्तृभ्यां घः १।२।२७।

अपोनप्त्रियम्। अपान्नप्त्रियम्। अपोनपात् अपानपाच्च देवता। प्रत्ययसन्नियोगशिष्टेन तृक् रूप निपात्यते। अत एव अपोनपाते अपान्नपातेऽनुब्रूहीति प्रैष।

अपोनपाद् एव अपानपात् समर्थ प्रथमान्त इनसे घ प्रत्यय षष्ठ्यर्थ में होता है। एव घ प्रत्यय प्रकृति अपोनपाद् को अपोनप्तृ। एव अपानपात् को अपानप्तृ आदेश होता है। अपोनपात् देवताऽस्य अर्थ में घ इयादेश। जहां घ प्रत्यय नहीं है वहां अपोनपाते चतुर्थ्येक वचन में रूप है।

१२३२ छ च १।२।२८।

योगविभागो यथासङ्ख्यनिवृत्त्यर्थ। अपोनप्त्रीयम्। अपान्नप्त्रीयम्। ॐ शतरुद्राद् घश्च ॐ। चाच्छ। शत रुद्रा देवता अस्य शतरुद्रियम्। शतरुद्रीयम्। घच्छयोर्विधानसामर्थ्याद् 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति न लुक्।

अपोनपाद, अपानपात् जो प्रथमान्त समर्थ इनसे षष्ठ्यर्थ में छ प्रत्यय एव प्रत्यय की प्रकृति जो उभय उनको क्रम स अपोनप्तृ एव अपानप्तृ आदेश होते है। पूर्व सूत्र से पृथक् करण इस लिए किया है कि यथा सख्य न हो जाय। उभय से उभय प्रत्यय विधान इष्ट है।

शतरुद्र प्र० स० से घ एव छ होता है। घ एव छ इनका विधान के सामर्थ्य से 'द्विगो सूत्र से लुक नहीं होता है।

१२३३ महेन्द्राद् घाणौ च १।२।२९।

चाच्छ। महेन्द्रिय हवि। माहेन्द्रम्। महेन्द्रीयम्।

प्रथमान्त महेन्द्र शब्द से षष्ठ्यर्थ में घ एव अण तथा छ प्रत्यय होता है महांश्चासौ इन्द्रश्च महेन्द्र। महेन्द्र, देवताऽस्य हविष महेन्द्रियम्, माहेन्द्रम् महेन्द्रीयम्।

१२३४ सोमाट् ट्यण् ४।२।३०।

सौम्यम् । टित्त्वात् ङीप्—सौमी ऋक् ।

प्रथमान्त समर्थ सोम से अस्य = षष्ठ्यर्थ में ट्यण् प्रत्यय होता है । 'हलस्तद्धितस्य' से यकार लोप ङीप् से सौमी । हविः अर्थ में सौम्यम् ।

१२३५ वाय्वृतुपित्रुषसो यत् ४।२।३१।

वायव्यम् । ऋतव्यम् ।

वायु, ऋतु, पितृ, उषस् इन प्रथमान्त शब्दों से षष्ठ्यर्थमें यत् होता है ।

१२३६ रीङृतः ७।४।२७।

अकृद् यकारेऽसार्वधातुके यकारे च्वौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीङादेशः स्यात् । यस्येति च । पित्र्यम् । उषस्यम् ।

कृत् से भिन्न एवं सार्वधातुक से भिन्न यकार एवं च्विप्रत्यय पर रहते ऋकारान्त अङ्ग को रीङ् आदेश होता है । यस्येति च से ईकार का लोप होकर पित्र्यम् ।

१२३७ द्यावापृथिवीशुनासीरमरुत्वदग्नीषोमवास्तोष्पतिगृहमेधाच्छ च ४।२।३२।

चाद्यत् । द्यावापृथिवीयम् । द्यावापृथिव्यम् । शुनासीरीयम् । शुनासीर्यम् ।

द्यावापृथिवी, शुनासीर, मरुत्वत्, अग्नीषोम, वास्तोष्पति, गृहमेध इन प्रथमान्त से षष्ठ्यर्थ में छ एवं यत् होता है । यथा द्यावापृथिव्यौ देवते अस्य द्यावापृथिवीयम् । द्यावापृथिव्यम् । शुनासीरीयम् । शुनासीर्यम् । शुनो वायुः । सीरः = आदित्यः । आनङ् ।

१२३८ अग्नेर्ढक् ४।२।३३।

आग्नेयम् ।

देवतार्थक प्रथमान्त अग्निशब्द से षष्ठ्यर्थ में ढक् होता है । अग्निः देवता अस्य हविषः आग्नेयम् ।

१२३९ कालेभ्यो भववत् ४।२।३४।

मासिकम् । प्रावृषेण्यम् ।

कालवाचक शब्दों से भव अर्थ में विहित प्रत्यय 'साऽस्य देवता' अर्थ में होते हैं । कालात् ठञ् एवं प्रावृष एण्य, यहां भी हुए । यथा मासिकम् = मासः देवताऽस्य । मासिकम् । प्रावृट् देवता अस्य प्रावृषेण्यम् ।

१२४० महाराजप्रोष्ठपदाट् ठञ् ४।२।३५।

माहाराजिकम् । प्रौष्ठपदिकम् ।

महाराज एवं प्रोष्ठपद से ठञ् प्रत्यय होता है । महाराजो देवता अस्य माहाराजिकम् ।

१२४१ देवताद्वन्द्वे च ७।३।२१।

अत्र पूर्वोत्तरपदयोराद्यचो वृद्धि स्यात् ञिति, णिति, किति च परे। आग्नि-मारुतम्।

ञित् णित् कित् प्रत्यय पर रहते देवता वाचक द्वन्द्व के पूर्वपद एवं उत्तर पद के आदि अच की वृद्धि होती है।

१२४२ नेन्द्रस्य परस्य ७।३।२२।

परस्येन्द्रस्य वृद्धिर्न स्यात्। सौमेन्द्र। परस्य किम्, ऐन्द्राग्न।

देवता द्वन्द्व में उत्तरपद में स्थित इन्द्र के आदि अच् की वृद्धि नहीं होती है। सोमेन्द्रौ देवते अस्य अण् उभयपद वृद्धि को बाधकर सौमेन्द्र। पूर्वपदस्थ इन्द्र के आद्यच् की वृद्धि होती ही है। ऐन्द्राग्न पूर्वोत्तरपद सम्बन्धी वर्णद्वय निमित्तक अन्तरङ्ग भी गुण बहिरङ्ग वृद्धि निषेध के पूर्व में नहीं होता है। अन्यथा अण निमित्तक यस्येति से अकार लोप एवं गुण से इकार का अपहरण से न्द्र अनन्तक होने से वृद्धि प्राप्त ही नहीं निषेध बोधन व्यर्थ होता

१२४३ दीर्घाच्च वरुणस्य ७।३।२३।

दीर्घात्परस्य वरुणस्य न वृद्धि। ऐन्द्रावारुणम्। दीर्घात् किम्, आग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत। ॐतदस्मिन् वर्तते इति नवयज्ञादिभ्य उपसङ्ख्यानम्ॐ। नावयज्ञिक काल। पाकयज्ञिकः। ॐपूर्णमासादण् वक्तव्य ॐ। पूर्णो मासोऽस्या वर्तते इति पौर्णमासी तिथि।

दीर्घ से पर वरुण के आद्यच् की वृद्धि नहीं होती है। अण प्रत्यय यहां है। इन्द्र वरुण का द्वन्द्व कर 'देवताद्वन्द्वे' से आनङ वरुण के आदि अच की वृद्धि का निषेध दीर्घ से पर अस्थित जो वरुण उसकी वृद्धि होती ही है।

वर्तते = यह इसमें वर्तता है अर्थ में नवयज्ञादि शब्द से ठक होता है। नवयज्ञो वर्तते अस्मिन् काले नावयज्ञिक काल। वर्तते अर्थ में पूर्णमास से अण् प्रत्यय होता है। पूर्ण मास अस्यां वर्तते पौर्णमासी तिथि।

१२४४ पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः ४।२।३६।

एते निपात्यन्ते। ॐपितुर्भ्रातरि व्यत्। पितुर्भ्राता पितृव्य। मातुर्डुलच। मातुर्भ्राता मातुल। मातृपितृभ्या पितरि डामहच। मातु पिता मातामह। पितु पिता = पितामहः। मातरि षिच्चॐ। मातामही। पितामही। ॐअवेर्दुग्धे सोढदूसमरीसचो वक्तव्या ॐ। सकारपाठसामर्थ्यान्न प। अविसोढम्। अविदूसम्। अविमरीसम्। ॐतिलान्निष्फलात् पिञ्जपेजौॐ। तिलपिञ्ज। तिलपेज। वन्ध्य-स्तिल इत्यर्थ। ॐपिञ्जश्छन्दसि डित्चॐ। तिलपिञ्ज।

पितृव्य मातुल मातामह, पितामह ये शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं।

पिता के भाई अर्थ में षष्ठ्यन्त पितृ शब्द से व्यत् प्रत्यय से पितृव्य। मातृ शब्द षष्ठ्यन्त से भ्राता अर्थ में डुलच टिलोप मामा = मातुल। माता के पिता एवं पिता के पिता अर्थ में डामहच प्रत्यय होता है।

माता की माता एवं पिता की माता अर्थ में डामहच् पित् होता है, पित्वका आरोप प्रयुक्त ङीप् मातामही। नानी एवं दादी। दुग्ध अर्थ में अवि से सोढ दूस मरीसच् प्रत्यय होते हैं। प्रत्यय के अवयव होते हुए यहाँ दन्त्य सकार के उच्चारण सामर्थ्य प्रयुक्त षत्व नहीं हुआ। अवे दुंग्धम् अविसोढम् इत्यादि। वन्ध्यतिल अर्थ में तिल से पिञ एवं पेज प्रत्यय होते हैं। वेद में तिल से उत्तर पिञ प्रत्यय टित् माना गया है टिलोप से तिल्पिञः।

१२४५ तस्य समूहः ४।२।३७।

काकानां समूहः काकम्। वाकम्।

समर्थ षष्ठ्यन्तप्रातिपदिक से अणादि प्रत्यय होते हैं। यथा काकमित्यादि।

१२४६ भिक्षादिभ्योऽण् ४।२।३८।

भिक्षाणां समूहो भैक्षम्। गर्भिणीनां समूहो गार्भिणम्। इह 'भस्याढे' इति पुंवद्भावे कृते—

षष्ठ्यन्त भिक्षा आदि शब्दों से समूह अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। भिक्षा समुदाय में भैक्षम्। गर्भवती स्त्रियों का समुदाय अर्थ में अण् प्रत्यय पुंवद्भाव के बाद प्राप्त टिलोप निवारणार्थ सूत्र कहते हैं—

१२४७ इनण्यनपत्ये ६।४।१६४।

अनपत्यार्थेऽणि परे इन् प्रकृत्या स्यात्। तेन 'नस्तद्धिते' इति टिलोपो न। युवतीनां समूहो यौवनम्। शत्रन्तादनुदात्तादेरञि यौवतम्।

अनपत्यार्थ में विहित अण् परक इन् का प्रकृतिभाव होता है। नस्तद्धिते से टिलोप न हुआ। गार्भिणम्। यौवनम्। 'अन्' सूत्रसे प्रकृतिभाव है अञ् प्रत्ययान्त अनुदात्तादि शत्रन्त का यौवतम्।

१२४८ गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाद् वुञ् ४।२।३९।

एभ्यः समूहे वुञ् स्यात्। लौकिकमिह गोत्रम्। तच्चापत्यमात्रम्।

गोत्र प्रत्ययान्त, उक्ष, उष्ट्र, उरभ्र, राजन्, राजन्य, राजपुत्र, वत्स, मनुष्य, अज, शब्द के उत्तर समूह अर्थ में वुञ् प्रत्यय होता है।

१२४९ युवोरनाकौ ७।१।१।

युवु एतयोरनुनासिकयोः क्रमादन अक एतावादेशौ स्तः। ग्लुचुकायनीनां समूहो ग्लौचुकायनकम्। औक्षकमित्यादि। आपत्यस्य चेति यलोपे कृते *प्रकृत्या अके राजन्यमनुष्ययुवानः*। राजन्यकम्। मानुष्यकम्। *वृद्धाच्चेति वक्तव्यम्*। वार्द्धकम्।

अनुनासिक यु एवं वु इनके स्थान में क्रम से अन एवं अक आदेश होते हैं। 'आपत्यस्य' से यकार लोप होने पर अक प्रत्यय पर रहते राजन्य, मनुष्य एवं युवन् शब्द को प्रकृतिभाव होता है। वार्द्धकम्। वृद्ध शब्द से वुञ् प्रत्यय होता है।

१२५० केदाराद्यञ्च ४।२।४०।

चाद् वुञ्। केदार्यम्। कैदारकम्। ❀ गणिकाया यञिति वक्तव्यम् ❀। गाणिक्यम्।

समूह अर्थ में केदार शब्द से यञ् प्रत्यय होता है एवं वुञ् प्रत्यय भी होता है। गणिका शब्द षष्ठ्यन्त से यञ् प्रत्यय समूह अर्थ में होता है।

१२५१ ठञ् कवचिनश्च ४।२।४१।

चात् केदारादपि। कवचिना समूहः कावचिनम्। कैदारिकम्।

समूह अर्थ में षष्ठ्यन्त कवचिन् शब्द से ठञ् प्रत्यय होता है।

१२५२ ब्राह्मणमाणववाडवाद्यन् ४।२।४२।

ब्राह्मण्यम्। माणव्यम्। वाडव्यम्। ❀पृष्ठादुपसंख्यानम्❀। पृष्ठ्यम्।

षष्ठ्यन्त ब्राह्मण, माणव, वाडव से उत्तर समूह अर्थ में यन् प्रत्यय होता है। ब्राह्मणानां समूह ब्राह्मण्यम् आदि। पृष्ठ से भी इसी अर्थ में यन् प्रत्यय होता है।

१२५३ ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् ४।२।४३।

ग्रामता। जनता। बन्धुता। ❀ गजसहायाभ्यां चेति वक्तव्यम् ❀। गजता। सहायता। ❀ अह्नः खः क्रतौ ❀। अहीनः। अहर्गणसाध्यसुत्याकः क्रतुरित्यर्थः। क्रतौ किम्, आह्नम्। इह खण्डिकादित्वादञ्। अह्नष्टखोरेवेति नियमाट्टिलोपो न। ❀ पर्श्वा णस् वक्तव्यः ❀।

षष्ठ्यन्त ग्राम, जन, बन्धु से समूह अर्थ में तल् प्रत्यय होता है। ग्रामों का समूह ग्रामता। षष्ठ्यन्त गज एवं सहाय से समूह में तल् प्रत्यय। यज्ञ वाच्य होने पर अहन् से ख प्रत्यय होता है। अह्नां समूहः अहीनः। दिवस समुदाय से निष्पन्न होने वाला सुत्याक नामका यज्ञ। क्रतु भिन्न में अञ् प्रत्ययान्त आह्नः। यहाँ 'अह्नः' सूत्रकृत नियम से टिलोप का अभाव। षष्ठ्यन्त पर्शु से समूह अर्थ में णस् होता है।

१२५४ सिति च १।४।१६।

सिति परे पूर्वं पदसंज्ञं स्यात्। अभत्वादोर्गुणो न, पर्शूनां समूहः पार्श्वम्।

१२५५ अनुदात्तादेरञ् ४।२।४४।

कापोतम्। मायूरम्।

षष्ठ्यन्त अनुदात्तादि शब्दों [illegible] उत्तर समूह अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है। कापोतम्। मायूरम्। 'लघावन्ते' से यह दोनों मध्योदात्त है। आदि अच शेषनिघात से अनुदात्त है।

१२५६ खण्डिकादिभ्यश्च ४।२।४५।

अञ् स्यात्। खण्डिकानां समूहः खाण्डिकम्।

षष्ठ्यन्त खण्डिकादि शब्दों से समूह में अञ् प्रत्यय होता है।
खण्डिकानां समूहः इस विग्रह में खाण्डिकम्।

१२५७ चरणेभ्यो धर्मवत् ४।२।४६।

काठकम् । छान्दोग्यम् ।

चरण वाचक शब्दों में से जिस प्रकृति के उत्तर जो प्रत्यय धर्म अर्थ में विधान करेंगे वे प्रत्यय उस प्रकृति से उत्तर षष्ठ्यन्त से समूह में अर्थ में होता है । गोत्रचरणाद् वुञ् एवं 'छान्दोगो' से ञ्य प्रत्यय समूह में होकर काठकम् । छान्दोग्यम् ।

१२५८ अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् ४।२।४७।

साक्तुकम् । हास्तिकम् । धैनुकम् ।

समूह अर्थ में अचेतन वाचक शब्द, हस्ति शब्द, धेनु शब्द से समूह में ठक् प्रत्यय होता है । सक्तु समूह में ठक् कर उसको कादेश इकादेश को बाध कर हुआ । साक्तुकम् । धैनुकम् यहां भी ठक् कादेश हुआ ।

१२५९ केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम् ४।२।४८।

पक्षे ठगणौ । कैश्यम् । कैशिकम् । अश्वीयम् । आश्वम् ।

समूह अर्थ में षष्ठ्यन्त केश एवं अश्व से यञ् एवं छ होता है विकल्प से । पक्ष में ठक् एवं अण् भी होता है ।

१२६० पाशादिभ्यो यः ४।२।४९।

पाश्या । तृण्या । धूम्या । वन्या । वात्या ।

समूह अर्थ में पाशादि से य प्रत्यय होता है । पाशसमूह, तृणसमूह, धूमसमूह, वनसमूह, वातसमूह ।

१२६१ खलगोरथात् ४।२।५०।

खल्या । गव्या । रथ्या ।

समूह अर्थ में खल, गो रथ इन षष्ठ्यन्त से य प्रत्यय होता है ।

१२६२ इनित्रकट्यचश्च ४।२।५१।

खलादिभ्यः क्रमात् स्युः । खलिनी । गोत्रा । रथकट्या । ❀ खलादिभ्य इनिर्वक्तव्यः ❀ । डाकिनी । कुटुम्बिनी । आकृतिगणोऽयम् ।

खल, गो, रथ, इनके उत्तर क्रम से इनि, त्र, कट्यच्, प्रत्यय होता है । खलादि से इनि होता है । यह आकृतिगण है ।

१२६३ विषयो देशे ४।२।५२।

षष्ठ्यन्तादणादय स्युरत्यन्तपरिशीलितेऽर्थे स चेद् देशः । शिवीनां विषयो देशः शैवः । देशे किम् , देवदत्तस्य विषयोऽनुवाकः ।

अत्यन्त परिशील अर्थ में वह देश रहे तब षष्ठ्यन्त से अणादि प्रत्यय होते हैं । देश भिन्न में इसकी प्रवृत्ति नहीं यथा देवदत्त का विषय अनुवाक है वहां वाक्य की ही स्थिति रहती है ।

१२६४ राजन्यादिभ्यो वुञ् ४।२।५३।

राजन्यक'।

अ वस्न परिशीलित अर्थ में जो परिशीलित है वह देश रहने पर षष्ठ्यन्त राजन्यादि से वुञ् होता है।

१२६५ भौरिक्याद्यैषुकार्यादिभ्यो विधल्भक्तलौ ४।२।५४।

भौरिकीणां विषयो देशो भौरिकिविधम्। भौलिकिविधम्। ऐषुकारिभक्तम्। सारसायनभक्तम्।

पूर्वोक्त अर्थ में भौरिकि आदि शब्द से एवं ऐषुकारि शब्द से क्रमशः विधल् तथा भक्तल् प्रत्यय होते हैं।

१२६६ सोऽस्यादिरिति च्छन्दसः प्रगाथेषु ४।२।५५।

अण्। पङ्क्तिरादिरस्येति पाङ्क्तः प्रगाथ। ॐस्वार्थे उपसंख्यानम्ॐ त्रिष्टुबेव त्रैष्टुभम्।

प्रगाथ अर्थ में षष्ठ्यन्तार्थ में आदिभूत प्रथमान्तार्थ जो छन्दोवाचक शब्द उसके उत्तर अण् प्रत्यय होता है। स्वार्थ में भी अण् प्रत्यय का उपसंख्यान है।

१२६७ संग्रामे प्रयोजनयोद्धृभ्यः ४।२।५६।

सास्येत्यनुवर्तते। सुभद्रा प्रयोजनमस्य संग्रामस्येति सौभद्र। भरता योद्धारोऽस्य संग्रामस्य भारत।

षष्ठ्यन्तार्थ में प्रथमान्त प्रयोजन एवं योद्धृवाचक शब्द के उत्तर अण् प्रत्यय होता है।

१२६८ तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां णः ४।२।५७।

दण्ड प्रहरणमस्यां क्रीडायां दाण्डा। मौष्टा।

सप्तम्यन्तार्थ में प्रथमान्त प्रहरण वाचक शब्द से ण प्रत्यय होता है यदि सप्तम्यन्तार्थ क्रीडा हो तो।

१२६९ घञः सास्यां क्रियेति ञः ४।२।५८।

घञन्तात् क्रियावाचिनः प्रथमान्तादस्यामिति सप्तम्यर्थे स्त्रीलिङ्गे ञ प्रत्यय' स्यात्। घञ इति कृद्ग्रहणाद् गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्।

सप्तम्यन्तार्थ में प्रथमान्त घञन्त क्रिया वाचक प्रातिपदिक स्त्रीलिङ्ग में ञ प्रत्यय होता है। घञ् कृद्विशेष प्रत्यय है अतः 'गतिरनन्तर' सूत्रस्थ अनन्तर ग्रहण से ज्ञापित परिभाषा "कृद्ग्रहणे गतिकारकस्यापि ग्रहणम्" अर्थात् कृत् सामान्य ग्रहण में या कृद्विशेष ग्रहण में गति विशिष्ट एवं कारक विशिष्ट में कृदन्त तदादित्व या कृदन्ततदादित्व व्याप्य धर्म का आरोप है। गति विशिष्ट घञन्त का कारक विशिष्ट घञन्त का ग्रहण यहाँ घञ् से होता है।

१२७० श्येनतिलस्य पाते ञे ६।३।७१।

श्येन, तिल, एतयोर्मुमागमः स्यात् ञप्रत्यये पातशब्दे उत्तरपदे। श्येनपातोऽस्यां वर्तते श्यैनम्पाता मृगया। तिलपातोऽस्यां वर्तते तैलम्पाता स्वधा। श्येनतिलस्य किम्, दण्डपातोऽस्यां तिथौ वर्तते दाण्डपाता तिथिः।

पात शब्द घञ् प्रत्ययान्त है। घञन्ततदादित्व पातशब्द निष्ठ वास्तविक है किन्तु उस घञन्ततदादित्वका कारक श्येन तद्विशिष्ट श्येनपात में कृद्ग्रहण परिभाषा ने आरोप किया आरोप का फल श्येन के एकार की आदि वृद्धि है। ञप्रत्यय पर रहते एवं पात शब्द उत्तरपद मे रहते श्येन एवं तल को मुन् आगम होता है। पतनं पातः श्येनस्य पातः श्येनपातः स अस्यां मृगयारूपायां क्रियायां वर्तते मुमागम से श्यैनम्पाता मृगया = आखेटनम्। पितरों का उद्देश्य कर तर्पणादिक में तिलों का पात होता है उस स्वधा को तैलम्पाता कहते हैं।

१२७१ तदधीते तद्वेद ४।२।५९।

व्याकरणमधीते वेद वा वैयाकरणः।

द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से अध्ययन कर्ता या ज्ञानकर्ता अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं। वि एवं आ पूर्वक कृञ् धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय कर युको अनादेश समास यण् णत्व व्याकरण से द्वितीया विभक्ति से व्याकरणम् अधीते या वेद अर्थ में अण् प्रत्यय 'न य्वाभ्याम्' से ऐच् आगम अकार लोप वैयाकरणः।

१२७२ क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक् ४।२।६०।

क्रतुविशेषवाचिनामेव ग्रहणम्। तेभ्यो मुख्यार्थेभ्यो वेदतरि, तत्प्रतिपादकग्रन्थपरेभ्यस्त्वध्येतरि। आग्निष्टोमिकः। वाजपेयिकः। उक्थम् = सामविशेषस्तल्लक्षणपरो ग्रन्थविशेषो लक्षणयोक्थम्। तदधीते तद् वेद वा औक्थिकः। ॐमुख्यार्थात्तूक्थशब्दात् ठगणौ नेष्येतेॐ। न्यायम् नैयायिकः। वृत्तिम् वार्तिकः। लोकायतम् लौकायतिक इत्यादि। ॐसूत्रान्तात्त्वकल्पादेरेवेष्यते। सांग्रहसूत्रिकः। अकल्पादेः किम्, काल्पसूत्रः। ॐविद्यालक्षणकल्पान्ताच्चेति वक्तव्यम्ॐ। वायसविद्यिकः। गौलक्षणिकः। आश्वलक्षणिकः। पाराशरकल्पिकः। ॐअङ्गक्षत्रधर्मत्रिपूर्वाद् विद्यान्तान्नेति वक्तव्यम्ॐ। आङ्गविद्यः। क्षात्रविद्यः। धार्मविद्यः। त्रिविद्या विद्या त्रिविद्या ताम् अधीते वेद वा त्रैविद्यः। ॐआख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्चॐ। यवक्रीतमधिकृत्य कृतमाख्यानम् उपचाराद् यवक्रीतं तदधीते वेत्ति वा यावक्रीतिकः। वासवदत्तामधिकृत्य कृता आख्यायिका वासवदत्ता, अधिकृत्य कृते ग्रन्थे इत्यर्थे वृद्धाच्छः, तस्य लुबाख्यायिभ्यो बहुलमिति लुप्, ततोऽनेन ठक् वासवदत्तिकः। ऐतिहासिकः। पौराणिकः। ॐसर्वादेः सादेश्च लुग् वक्तव्यःॐ। सर्ववेदान् अधीते सर्ववेदः। सर्वतन्त्रः। सवार्तिकः। द्विगोर्लुगिति लुक्। द्वितन्त्रः। ॐइकन् पदोत्तरपदात्ॐ। ॐशतषष्टेः षिकन् पथःॐ। पूर्वपदिकः। उत्तरपदिकः। शतपथिकः। शतपथिकी। षष्टिपथिकः। षष्टिपथिकी।

क्रतु विशेष वाचक उक्थादि एवं सूत्रान्त प्रातिपदिक से ठक् होता है। यहाँ सामान्यक्रतु वाचक का ग्रहण नहीं है। प्रधानार्थक क्रतुवाचक शब्द से ज्ञाता = वेत्ता अर्थ में प्रत्यय होता है। लक्षणा वृत्ति से तत् प्रतिपादक ग्रन्थपरक क्रतुवाचक शब्द से अध्येता अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। अग्निष्टोमम् अधीते वेद वा आग्निष्टोमिकः। वाजपेयिकः। सामविशेष को उक्थ कहते हैं। लक्षणा से तत्परक ग्रन्थ को भी उक्थ कहते हैं। मुख्यार्थक उक्थ से ठक् एवं अण् शाब्दिकों को इष्ट नहीं है। न्याय को अध्ययन करे या जाने नैयायिकः। वृत्तिम् अधीते वेद वा वार्तिकः। लोकायतनम् अधीते वेद वा लौकायतनिकः। कल्पशब्द आदि में न हो तो ऐसे सूत्रान्त प्रातिपदिक से ठक् प्रत्यय होता है। संग्रहसूत्रम् अधीते वेद वा सांग्रहसूत्रिकः। अकल्पादि कहने से काल्पसूत्रः। विद्या, लक्षण, कल्प इनमें से कोई अन्त में रहे ऐसे प्रातिपदिक से ठक् प्रत्यय होता है। यथा वायसविद्यिकः। गौलक्षणिकः। आश्वलक्षणिकः। पाराशरकल्पिकः। अङ्ग, क्षत्र, धर्म, त्रि इन शब्दों में से कोई एक पूर्व में रहे ऐसे विद्यान्त प्रातिपदिक से ठक् नहीं होता है। यथा आङ्गविद्यः। आख्यान, आख्यायिका, पुराण से ठक् प्रत्यय होता है। यथा यवक्रीत का अधिकार करके कृत जो आख्यान उसको लक्षणा से यवक्रीत कहते हैं। उससे यवक्रीतम् अधीते वेद वा यावक्रीतिकः। वासवदत्ता को उद्देश्य करके की गयी नाटिका ग्रन्थ उसको लक्षणा से वासवदत्ता कहते हैं उससे अधीते वेद में 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' में वृद्धाच्छः से छ प्रत्यय करके उसका 'लुबाख्यायिकाभ्यः' से लुप् हुआ। तब ठक् वासवदत्तिकः। ऐतिहासिकः। पौराणिकः। सर्वशब्द है आदि में जिसका ऐसा जो प्रातिपदिक एवं सकार है आदि में जिसको ऐसा प्रातिपदिक से उत्तर अण् का लुक् होता है। द्विगन्त में द्विगोर्लुक् से लुक् है। पदशब्द है अन्त में जिसको ऐसे प्रातिपदिक से ष्कन् होता है। उठ एवं षष्टि शब्द से उत्तर में स्थित पथिन् को पिकन् होता है। पूर्वपदिकः। उत्तरपदिकः, आदि। स्त्रीलिङ्ग में ङीष् षष्ठी पथिकी।

१२७३ क्रमादिभ्यो वुन् ४।२।६१।

क्रमकः। क्रम, पद, शिक्षा, मीमांसा क्रमादिः।

द्वितीयान्त क्रमादि शब्दों से अधीते वेद अर्थ में वुन् प्रत्यय होता है। क्रममधीते वेद वा क्रमकः। वुन् को अकादेश है। पदकः। शिक्षकः। मीमांसकः।

१२७४ अनुब्राह्मणादिनिः ४।२।६२।

तदधीते तद्वेदेत्यर्थे। ब्राह्मणसदृशो ग्रन्थोऽनुब्राह्मणं तदधीते अनुब्राह्मणी। मत्वर्थीयेनैव सिद्धे अण्बाधनार्थमिदम्।

अनुब्राह्मणादि शब्दों से अधीत वेद अर्थ में इनि प्रत्यय होता है। ब्राह्मणग्रन्थ समान ग्रन्थ को अनुब्राह्मण कहते हैं उससे द्वितीयान्त से इनिप्रत्यय से अनुब्राह्मणी। यह सूत्र अण् बाधनार्थ केवल है।

१२७५ वसन्तादिभ्यष्ठक् ४।२।६२।

वासन्तिकः। अथर्वाणमधीते आथर्वणिकः। दाण्डिनायनेति निपातनाट्टिलोपो न।

पूर्वोक्त अर्थों में द्वितीयान्त वसन्तादिगणपठित शब्दों से ठक्प्रत्यय होता है। निपातन से टिलोप का अभाव है।

१२७६ प्रोक्ताल्लुक् ४।२।६४।

प्रोक्तार्थकप्रत्ययात्परस्याध्येतृवेदितृप्रत्ययस्य लुक् स्यात् । पणनं पणः । घञर्थे कविधानमिति कः । सोऽस्यास्तीति पणी, तस्य गोत्रापत्यं पाणिनः ।

प्रोक्तार्थकप्रत्यय से पर अध्येतृ या वेदितृ प्रत्यय का लुक् होता है । स्तुति अर्थ वधिक पणधातु से भावार्थक घञ् प्रत्यय के अर्थ में कप्रत्यय हुआ । स्तुनि है जिसकी इस अर्थ में इन् प्रत्यय से पणिन् का प्रथमा एकवचन में पणी । पणिनो गोत्रापत्य अर्थ में अण् प्रत्यय से पाणिनः ।

१२७७ गाथिविदथिकेशिगणिपणिनश्च ६।४।१६५।

एतेऽणि प्रकृत्या स्युः । इति टिलोपो न । ततो यूनि इञ् पाणिनिः ।

अण् प्रत्यय पर रहते गणिन् , विदथिन् , केशिन् , गणिन् , पणिन् इनका प्रकृतिभाव होता है । पाणिन् अण् यहां नस्तद्धिते' से प्राप्त टिलोप न हुआ, अणन्तपाणिनः से युवापत्य में इञ् प्रत्यय हुआ पाणिनिः ।

१२७८ ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः २।४।५८।

ण्यप्रत्ययान्तात् क्षत्रियगोत्रप्रत्ययान्ताद् ऋष्यभिधायिनो गोत्रप्रत्ययान्तात् ञितश्च परयोर्युवाभिधायिनोरणिञो लुक् स्यात् । कौरव्यः पिता । कौरव्यः पुत्रः । श्वाफल्कः पिता । श्वाफल्कः पुत्रः । वासिष्ठः पिता । वासिष्ठः पुत्रः । तैकायनिः पिता । तैकायनिः पुत्रः । एभ्यः किम् , शिवाद्यण् । कौहडः पिता तत इञ् कौहडिः पुत्रः । यूनि किम् , वामरथ्यस्य च्छात्रा वामरथाः । इति अणो लुक् तु न भवति आर्षग्रहणेन प्रतिपदोक्तस्य ऋष्यण एव ग्रहणात् । पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् , वृद्धाच्छः । इञश्चेति अण् तु न, गोत्रे य इञ् तदन्तादिति वक्ष्यमाणत्वात् ततोऽध्येतृवेदितृणो लुक् । स्वरे स्त्रियाञ्च विशेषः ।

पाणिनीयः । पाणिनीया ।

ण्यप्रत्ययान्त, क्षत्रियवाची गोत्रप्रत्ययान्त, ऋषिवाचक गोत्रप्रत्ययान्त प्रातिपदिक से पर, एवं ञित् प्रत्यय से पर युवापत्य अर्थ में विहित अण् प्रत्यय एवं इञ् प्रत्यय इनका लुक् होता है । कुर्वादिभ्यो ण्यः से ण्यप्रत्यय कर उससे इञ् प्रत्यय कर उसका लुक् कौरव्यः पिता पुत्रश्च । श्वाफल्क यहां ऋषित्व प्रयुक्त अण् प्रयुक्त अण् ऋष्यन्धक सूत्रसे, उससे इञ् उसका लुक् । वासिष्ठः —ऋष्यण् इञ् उसका लुक् तैकायनिः । तिकादिभ्यः से फिञ् उसका लुक् । इनसे भिन्न शब्द के उत्तरप्रत्यय का लुक् नहीं होता है । कौहडः यहां शिवादित्व से अण् उसके युवापत्य में इञ् उसका लुक् न हुआ पिता एवं पुत्रमें भिन्न रूप हुए । युवापत्य से भिन्न रूप हुए । युवापत्य से भिन्न अर्थ में विहित प्रत्यय का लुक् नहीं होता है यथा वामरथ से कुर्वादित्व के कारण उससे वृद्धात् से प्राप्त छ को बाधकर कण्वादिभ्यो गोत्रे' शैषिक अण् का लुक् न हुआ । वामरथाः । यहां आर्षग्रहण है । अर्थात् ऋषिवाचक शब्द से विहित जो अण् प्रत्यय उसका ग्रहण है । अर्थात् ऋषि वाचक शब्द से विहित जो अण् प्रत्यय आने पर जो इञ् प्रत्यय उसका ग्रहण है । इस कारण अण् से पर स्थित इञ् का का लुक् न हुआ । पाणिनीयम् । वृद्धाच्छः से छप्रत्यय हुआ है । यहां इञश्च से अण् प्रत्यय न हुआ क्योंकि गोत्रार्थक में जो इञ् तदन्त प्रातिपादिक से ही अण् प्रत्यय होता है । पश्चात् अध्येतृ वेदितृ अर्थ में विहित प्रत्यय का लुक् । लुगन्त के स्वर एवं स्त्रीलिङ्ग के टाप् यह विशेष है ।

१२७९ सूत्राच्च कोपधात् ४।२।६५।

सूत्रवाचिनः ककारोपधाद् अध्येतृवेदितृप्रत्ययस्य लुक् स्यात्। अप्रोक्तार्थ आरम्भः। अष्टावध्यायाः परिमाणमस्य अष्टकं पाणिनेः सूत्रम्। तदधीयते विदन्ति वा अष्टकाः।

ककारोपध सूत्रवाचक से उत्तर अध्येतृ एवं वेदितृ अर्थक प्रत्यय का लुक् होता है। अप्रोक्तार्थक प्रत्ययों का लुक् के लिए आरम्भ है। अष्टन् से 'सङ्ख्यायाः' सूत्र से कन् प्रत्यय है। आठ अध्याय रूप परिमाण से युक्त सूत्र कहा जाता है। उसका अध्ययन कर्ता या ज्ञाता इसमें प्रत्यय का लुक् होता है।

१२८० छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि ४।२।६६।

छन्दांसि ब्राह्मणानि च प्रोक्तप्रत्ययान्तानि तद्विषयाणि स्युः। अध्येतृवेदितृप्रत्ययं विना न प्रयोज्यानि इत्यर्थः। कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः। वैशम्पायनान्तेवासित्वाण्णिनिः। तस्य कठचरकाल्लुक्, ततोऽण् तस्य प्रोक्ताल्लुक्।

इति रक्ताद्यर्थकप्रकरणम्।

प्रोक्त प्रत्ययान्त छन्दोवाचक एवं ब्राह्मणवाचक शब्द अध्येतृ वेदितृ विषयक होता है। अर्थात् अध्येतृ एवं वेदितृ अर्थ में विहित प्रत्यय के बिना इसका प्रयोग नहीं होता है। णिनिप्रत्ययान्त कठ है, णिनि का लुक् उससे अण् उसका प्रोक्तात् लुक्।

प० श्रीधा० कु० पाण्डेयविरचित रत्नप्रभा में रक्ताद्यर्थक प्रकरण समाप्त।



अथ चातुरर्थिकप्रकरणम् ।

१२८१ तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ४।२।६७।

उदुम्बराः सन्त्यस्मिन् देशे औदुम्बरः ।

तद्धित शब्द योगरूढ है तस्मै = प्रकृत्यर्थ के लिए हिताः = उपकारक तद्धित प्रत्यय हैं। वर्तमान कालिक सत्तारूप अर्थ विशिष्ट प्रथमान्त से सप्तम्यन्तार्थ में यथा विहित प्रत्यय होते हैं, प्रत्ययान्त से देश रूप अर्थ की प्रतीति होने पर। औदुम्बरः यहां अण् प्रत्यय हुआ है ।

१२८२ तेन निर्वृत्तम् ४।२।६८।

कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी नगरी ।

निर्वृत्त का अर्थ है सम्पादित । तृतीयान्त प्रातिपदिक से अणादि प्रत्यय होते हैं। स्त्रीलिङ्ग में ङीप् से कुशाम्ब से सम्पादित = निष्पन्न नगरी कौशाम्बी ।

१२८३ तस्य निवासः ४।२।६९।

शिबीनां निवासो देशः शैबः ।

षष्ठयन्त प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होते हैं। निवास अर्थ में अण् शैबो निवासः ।

१२८४ अदूरभवश्च ४।२।७०।

विदिशाया अदूरभवं नगरं वैदिशम् । चकारेण प्रागुक्तास्त्रयोऽर्था सन्निधाप्यन्ते । तेन वक्ष्यमाणप्रत्ययानां चातुरर्थिकत्वं सिध्यति ।

अदूरभव अर्थ में षष्ठयन्त प्रतिपदिक से यथा विहित प्रत्यय होते हैं अदूरम् = अन्तिकम् तत्र भवति यहां सप्तमी समास निपातन लभ्य है समीप में उत्पन्नत्वविशिष्ट । अण् प्रत्यय से वैदिशम् = नगरम् । यहां चकार से देश, निर्वृत्त, निवास इन तीन का सन्निधान से इस प्रकरण के के जो प्रत्यय कहे जायेंगे उनका चातुरर्थिकत्व है । अर्थात् चार अर्थ में वे प्रत्यय होगें । चार अर्थो का समाहार को चतुरर्थी कहते हैं उसमें उत्पन्न प्रत्ययों का चातुरर्थिक कहते हैं। यहां अध्यात्मादित्व प्रयुक्त ठञ् प्रत्यय चतुरर्थी से हुआ 'द्विगोर्लुगनपत्ये' से लुक् प्रत्ययोत्पत्ति के पूर्व तद्धितार्थ में समास है । 'चतुर्षु अर्थेषु भवाः यह लौकिक विग्रह है ।

१२८५ ओरञ् ४।२।७१।

अणोऽपवादः । कक्षतु-काक्षतवम् । नद्यान्तु परत्वान्मतुप् इक्षुमती ।

उवर्णान्त प्रातिपदिक से अण् को बाधकर अञ् प्रत्यय होता है। कक्षतुरस्ति अस्मिन् काक्षतवम् । नदी वाच्य होने पर 'नद्या मतुप्' से अञ् को परत्व के कारण बाध कर मतुप् से इक्षुमती यहां उगितश्च से ङीप् प्रत्यय है ।

१२८६ मतोश्च बह्वजङ्गात् ४।२।७२।

बह्वज् अङ्गं यस्य मतुपस्तदन्तादञ् नाण् । सैध्रकावतम् । बह्वजिति किम्, आहिमतम् । अङ्गग्रहणं बह्वजिति तद्विशेषणं यथा स्यात् मत्वन्तविशेषणं मा भूत् ।

जिसका अङ्ग बहुत अचों से युक्त रहे ऐसा जो मतुप् तदन्त प्रातिपदिक से अञ् प्रत्यय होता है। अण् प्रत्यय यहां नहीं होता। सैध्रकावतम्। आहिमतम् यहां अण् प्रत्यय हुआ है। यहां मतुप् की प्रकृतिभूत अङ्ग द्वयच्क है अनेकाच नहीं है। इस सूत्र में अङ्ग ग्रहण इस लिए किया है कि बह्वज् अङ्ग अर्थ हो। अन्यथा मतुबन्त जो बह्वज् अर्थ होता आहिमतम् में अञ् प्रत्यय उत्पत्तिरूप आपत्ति आती। बह्वज् अङ्ग का ही विशेषण हो जाय यही अङ्ग का प्रधान फल है।

१२८७ बह्वचः कूपेषु ४।२।७३।

अणोऽपवादः। दीर्घवरत्रेण निर्वृत्तो दैर्घवरत्रः कूपः।

बहुत अचों से युक्त जो प्रतिपादिक वह तृतीयान्त रहे तो निर्वृत्त अर्थ में अण् प्रत्यय उससे होता है।

१२८८ उदक् च विपाशः ४।२।७४।

अणोऽपवाद। विपाश उत्तरे कूले ये कूपा स्तेष्वञ्। अबह्वजर्थ आरम्भः। दत्तेन निर्वृत्तो दात्तः कूपः। उदक् किम्, दक्षिणतः कूपेष्वणेव।

विपाशा के उत्तर जो कुल उसमें स्थित जो कूप वह वाच्य रहते तृतीयान्त प्रातिपदिक से से निर्वृत्त अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है। यह बहुत अच युक्त जो शब्द नहीं है उसके लिए है। दात्त कूप। दक्षिण कुल में स्थित होने पर अण् ही होता है।

१२८९ सङ्कलादिभ्यश्च ४।२।७५।

कूपेष्विति निवृत्तम्। सङ्कलेन निर्वृत्त साङ्कलम्।

तृतीयान्त सकल आदि प्रतिपादिक से निवृत्त अर्थ में अञ प्रत्यय होता है। यहां 'कूपेषु' का सम्बन्ध नहीं है।

१२९० स्त्रीषु सौवीरसाल्वप्राक्षु ४।२।७६।

स्त्रीलिङ्गेषु एषु देशेषु वाच्येषु अञ्। सौवीरे—दत्तामित्रेण निर्वृत्ता दात्तामित्री नगरी। साल्वे–वैधूमावती। प्राचि—माकन्दी।

स्त्रीलिङ्ग में सौवीर, साल्व प्राच्य देश वाच्य रहने पर तृतीयान्त से निर्वृत्त अर्थ में अञ प्रत्यय होता है।

१२९१ सुवास्त्वादिभ्योऽण् ४।२।७७।

अञोऽपवाद। सुवास्तोरदूरभवं सौवास्तवम्। वर्णु–वार्णवम्। अण् *ग्रहणं मतुपो बाधनार्थम्। सौवास्तवी।*

षष्ठयन्त सुवास्तु आदि से अदूरभव अर्थ में अण प्रत्यय होता है। मतुप् को बाधनार्थ सूत्र में अण् ग्रहण है।

१२९२ रोणी ४।२।७८।

रोणीशब्दात् तदन्ताचाण्। कूपाञोऽपवादः। रौणः। आजकरौणः।

रोणी एवं रोणी शब्दान्त प्रातिपदिक से अण् प्रत्यय होता है। यह अण् कूपार्थक अञ् का बोधक है।
सौत्रत्व के कारण पञ्चमी का सूत्र में लाये हैं। येन विधि सूत्रस्थ भाष्य विशेष वचन से यहां 'ग्रहणवता' परिभाषा से तदन्त विधि निषेध न हुआ है।

१२९३ कोपधाच्च ४।२।७९।

अण्। अञोऽपवादः। काणच्छिद्रकः कूपः। कार्कवाकवम्। त्रैशङ्कवम्।

कोपध प्रातिपादक से निर्वृत्त आदि अर्थ में अण् प्रत्यय होता है अञ् का निषेधक है। कर्णच्छिद्रकेन निर्वृत्तः कूपः।

१२९४ वुञ्छण्कठजिलसेनिरढञ्ण्ययफक्फिञिञ्ञ्यकक्ठकोऽरीहणकृशाश्वर्श्यकुमुदकाशतृणप्रेक्षाश्मसखिसङ्काशबलपक्षकर्णसुतङ्गमप्रगदिन्वराहकुमुदादिभ्यः ४।२।८०।

सप्तदशभ्यः सप्तदश क्रमात्स्युश्चातुरर्थ्याम्। अरीहणादिभ्यो वुञ् अरीहणेन निर्वृत्तम् आरीहणकम्। कृशाश्वादिभ्यश्छण्—कार्शाश्वीयम्। ऋश्यादिभ्यः कः—ऋश्यकम्। कुमुदादिभ्यष्ठच्—कौमुदिकम्। काशादिभ्य इलः—काशिलः। तृणादिभ्यः सः—तृणसम्। प्रेक्षादिभ्य इनिः—प्रेक्षी। अश्मादिभ्यो रः—अश्मरः। सख्यादिभ्यो ढञ्—साखेयम्। संकाश्यादिभ्यो ण्यः—सांकाश्यम्। बलादिभ्यो यः—बल्यम्। पक्षादिभ्यो फक्—पाक्षायणः। पथः पन्थ च पान्थायनः। कर्णादिभ्यः फिञ् कार्णायनिः। सुतङ्गमादिभ्य इञ्—सौतङ्गमिः। प्रगद्यादिभ्यो ञ्यः प्रागद्यः। वराहादिभ्यः कक् वाराहकः। कुमुदादिभ्यष्ठक् कौमुदिकः।

अरीहणादि सतरह तत् तत् विभक्त्यन्त से देश, निर्वृत्त, निवास एवं अदूरभव इन चारों अर्थों में सप्तदश प्रत्यय होते हैं। प्रत्यय क्रम एवं प्रकृति क्रम मूल में ही स्पष्ट है। आरीहणकम् से कौमुदिकः तक उदाहरण क्रम है।

१२९५ जनपदे लुप् ४।२।८१।

जनपदे वाच्ये चातुरर्थिकस्य लुप् स्यात्।

जनपद (देश) वाच्य होने पर चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् = अदर्शन होता है।

१२९६ लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने १।२।५१।

लुपि सति प्रकृतिगतलिङ्गवचने स्तः। पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः। कुरवः। अङ्गाः। वङ्गाः। कलिङ्गाः।

विशेष्य के अधीन विशेषण का लिङ्ग वचन विशेष अवस्था को छोड़कर होता है यह सामान्य नियम है। किन्तु यहां उस नियम का परिहार कर प्रत्यय का लुप् होने पर प्रकृति के समान लिङ्ग एवं वचन होता है। तात्पर्य यह है कि विशेष्य के अधीन लिङ्ग एवं वचन का त्याग होता है। यथा—पञ्चालानां निवासः जनपदः पञ्चालाः। इसी प्रकार कुरवः। अङ्गाः। वङ्गाः। कलिङ्गाः।

१२९७ तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् १।२।५३।

युक्तवद्वचनं न कर्तव्यम्, सञ्ज्ञानां प्रमाणत्वात्।

यह पूर्व सूत्र पूर्वाचार्यो के अनुरोध प्रयुक्त किया गया है वास्तव में 'लुपि युक्तवद्' सूत्र की आवश्यकता नहीं है। लोक में व्यवहृत सज्ञा के प्रामाण्य होने से जिस प्रकार लोक में सज्ञा व्यवहृत होगी उसी का उसी प्रकार साधुत्व है देशवाचक अङ्ग आदि शब्द बहुवचनान्त ही है। इस लिए प्रकृतिवत् लिङ्ग एवं वचन करना उचित नहीं है। जिस प्रकार 'आपो दाराः' यहाँ लिङ्ग वचन का विधान नहीं किया।

१२९८ लुब्योगाऽप्रख्यानात् १।२।५४।

लुबपि न कर्तव्योऽवयवार्थस्येहाप्रतीतेः।

उपजीवक युक्तवद्भाव का प्रत्याख्यान कर उपजीव्य प्रत्यय लुक् का भी प्रत्याख्यान है। चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् न करना क्योंकि यहां यौगिकार्थ की प्रतीति नहीं होती है। पाञ्चालादि शब्द क्षत्रिय में रूढ है वैसे ही जनपद में रूढ है। अतः यहां तद्धित प्रत्यय का विधान ही असम्भव है। जब प्रत्यय नहीं तब उसका लुक् विधान करना व्यर्थ ही है।

१२९९ योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात् १।२।५५।

यदि हि योगस्यावयवार्थस्येदं बोधकं स्यात्तदा तदभावे न दृश्यते।

यदि प्रत्यय का स्वीकार कर अवयवार्थ की प्रतीति कर दी जाय तो यहां प्रत्यय का लुप् है वहां यौगार्थ का बोध नहीं होगा। पञ्चाल शब्द से क्षत्रिय निवासार्थ का बोध नहीं होगा।

१३०० प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात् १।२।५६।

प्रत्ययार्थः प्रधानमित्येव रूपं वचनमप्यशिष्यम्, कुतः, अर्थस्य लोकत एव सिद्धेः।

प्रकृति का अर्थ एवं प्रत्ययार्थ इनमें प्रधान प्रत्ययार्थ ही होता है इसके लिए वचन निर्माण व्यर्थ है। प्रत्ययार्थ प्राधान्य विषयक बोध स्वभाव-लोक से ही सिद्ध है।

१३०१ कालोपसर्जने च तुल्यम् १।२।५७।

अतीताया रात्रेः पश्चार्द्धेनागामिन्याः पूर्वार्द्धेन च सहितो दिवसोऽद्यतनः। विशेषणम् = उपसर्जनम् इत्यादि पूर्वाचार्यैः परिभाषितं तत्राप्यशिष्यत्व समानम्, लोकसिद्धेः।

बीती हुई रात्रि के १२ बजे बाद से आगामी रात्रि के १२ बजे तक का काल को अद्यतन कहते है। एवं विशेषण को उपसर्जन सज्ञा होती है वे दोनों वचनों की अनावश्यकता है। यह लोक से ही ज्ञात है।

१३०२ विशेषणानां चाजातेः १।२।५२।

लुबर्थस्य विशेषणानामपि तद्वल्लिङ्गवचने स्तो जातिं वर्जयित्वा। पञ्चाला रमणीयाः। गोदौ रमणीयौ। अजातेः किम्, पञ्चाला जनपदः। गोदौ ग्रामः।

हरीतक्यादिषु व्यक्तिः । हरीतक्याः फलानि हारीतक्यः । *खलतिकादिषु वचनम्* । खलतिकस्य पर्वतस्यादूरभवानि खलतिकं वनानि । *मनुष्यलुपि प्रतिषेधः* । मनुष्यलक्षणे लुवर्थे विशेषणानां न लुबन्तस्य तु भवतीत्यर्थः । चञ्चा अभिरूपः ।

जिस प्रत्यय का लुक् हुआ है तदर्थभूत विशेष्य पद उसका जो विशेषण उससे भी विशेष्य समान लिङ्ग एवं वचन होता है किन्तु जातिवाचक शब्द को नहीं ।

हरीतकी आदि शब्दों में प्रकृतिवत् वचन होता है । विशेष्याधीन वचन नहीं होता है । खलतिकादि शब्दों में प्रकृति के समान वचन होता है । विशेष्याधीन नहीं । लुवर्थ मनुष्य होने पर विशेष्य के समान विशेषण का लिङ्ग एवं वचन नहीं होता है किन्तु लुबर्थ के प्रकृतिवत् लिङ्ग एवं वचन होता है । चञ्चा अभिरूपः । कन् का लुप् है ।

१३०३ वरणादिभ्यश्च ४।२।८२।

अजनपदार्थ आरम्भः । वरणानामदूरभवं नगरं वरणाः ।

वरणादि शब्द से पर चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् होता है । यह सूत्र जनपद भिन्न के लिए किया है ।

१३०४ शर्कराया वा ४।२।८३।

अस्माच्चातुरर्थिकस्य वा लुप् स्यात् ।

शर्करा शब्द से पर चातुरर्थिक के प्रत्यय का लुप् होता है ।

१३०५ ठक्छौ च ४।२।८४।

शर्कराया एतौ स्तः । कुमुदादौ वराहादौ च पाठसामर्थ्यात् ठच्ककौ । वाग्रहणसामर्थ्यात् पक्षे औत्सर्गिकोऽण्, तस्य लुब् विकल्पः । षड् रूपाणि—१ शर्करा २ शार्करम् ३ शार्करिकम् ४ शर्करीयम् ५ शर्करिकम् ६ शार्करकम् ।

समर्थ सुबन्त शर्करा से ठक् एवं छ प्रत्यय होता है—कुमुदादि में शर्करा का पाठ है । अतः ठच् प्रत्यय होता है । वराहादि में पाठ होने से ठक् प्रत्यय होता है । 'शर्कराया वा' में वाग्रहण से पक्ष में औत्सर्गिक अण् भी होता है । लुप् विकल्प से होता है । लोप पक्ष में शर्करा । लोपाभाव पक्ष से अणन्त शार्करम् । टक् पक्ष में शार्करिकम् । ठक् पक्ष में शार्करिकम् कक् पक्ष में शार्करकम् । छः रूप हैं । ये रूप विशेषरूप से समझने चाहिए ।

१३०६ नद्यां मतुप् ४।२।८५।

चातुरर्थिकः । इक्षुमती ।

नदी अर्थ की प्रतीति होने पर चातुरर्थिक मतुप् होता है ।

१३०७ मध्वादिभ्यश्च ४।२।८६।

मतुप् स्याच्चातुरर्थिकः । अनद्यर्थ आरम्भः । मधुमान् ।

मधु आदि शब्द से पर चातुरर्थिक मतुप् होता है। नदी वाचक से भिन्न स्थल के लिए यह आरम्भ है। यथा मधुमान्।

१३०८ कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप् ४।२।८७।

कुमुद्वान्, नड्वान्, वेतस्वान्, आदयोर्झय इति अन्त्ये मादुपधाया इति वक्ष्यमाणेन व। ॐ महिषाच्चेति वक्तव्यम् ॐ। महिष्मान् नाम देश।

कुमुद, नड वेतस से ड्मतुप प्रत्यय होता है। पूर्व उदाहरण द्वय में मतुप् के मकार को वकारादेश झय' सूत्र से होता है अन्त में मको व 'मादुपधाया' से हुआ है। डकार ग्रहण टिलोपार्थ है।

१३०९ नडशादाड्ड्वलच् ४।२।८८।

नड्वल। शादो जम्बालघासयो। शाद्वल'।

नड एवं शाद से ड्वलच होता है शाद से जम्बाल एवं घास अर्थ गम्य है।

१३१० शिखाया वलच् ४।२।८९।

शिखावलम्।

शिखा शब्द से वलच प्रत्यय होता है। वह अण का बाधक है।

१३११ उत्करादिभ्यश्छ ४।२।९०।

उत्करीय।

उत्करादिगण पठित शब्द से छ प्रत्यय होता है उत्करीय। छ को ईयादेश है।

१३१२ नडादीनां कुक् च ४।२।९१।

नडकीयम्। ॐ कुञ्चा ह्रस्वत्वञ्च। कुञ्चकीय। ॐ तक्षन्नलोपश्च ॐ। तक्षकीय।

नडादि शब्दों से छ प्रत्यय एवं कुक का आगम नडादि को होता है। नड कुक छ नडकीयम् कुञ्चा से छ प्रत्यय प्रकृति को कुक एवं ह्रस्व। तक्षन् को छ एवं नकार का लोप होता है तक्षकीय।

१३१३ बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक् ६।४।१५३।

नडाद्यन्तर्गता बिल्वकादयस्तेभ्यश्छस्य लुक तद्धिते परे। बिल्वा सन्ति यस्या सा बिलवकीया तस्या भवा बैल्वका। वेत्रकीया। वैत्रका। छस्य किम्, छमात्रस्य लुक् यथा स्यात्, कुको निवृत्तिर्मा भूत्। अन्यथा सन्नियोगशिष्टानामिति कुगपि निवर्तेत। लुग्ग्रहण सर्वलोपार्थम्। लोपोऽपि यमात्रस्य स्यात्।

इति चातुरर्थिकप्रकरणम्।

नडादि के अन्तर्गत जो बिल्वक आदि शब्द, उसके उत्तर तद्धित प्रत्यय पर रहते छ प्रत्यय का लुक् होता है। यथा बिल्वाः सन्ति यस्यां सा छ प्रत्यय से स्त्रीलिङ्ग में बिल्वकीया, तस्यां भवा अण् छ का लुक्। बैल्वकाः। मूल शब्द बिल्व कुक् आगम एवं छ प्रत्यय उससे अण् है

सूत्र में केवल लुक् ही कहते प्रत्यय के अदर्शन की ही लुक् संज्ञा होती है छकार प्रत्यय है उसकी निवृत्ति छ ग्रहण न करने पर भी हो जाती। पुनः छ ग्रहण सूत्र में क्यों किया यह शङ्का हुई है उसका समाधान—छ प्रत्यय एवं कुक् आगम इन दोनों का एक साथ अर्थात् सह विधान है। छ ग्रहण लुक् विधायक में न करते तो कुक् एवं प्रत्यय दोनों की निवृत्ति होकर कुक् का श्रवण जो इष्ट है वह न रहना क्योंकि एक साथ कार्य में नियुक्तों की साथ प्रवृत्ति एवं एक साथ निवृत्ति होती है परिभाषा है "सन्नियोगशिष्टानां सहैव प्रवृत्तिः सहैव निवृत्तिः"।

विमर्श—सारांश यह हुआ कि छ ग्रहण से केवल छ का ही लुक् होता है वह परिभाषा अनित्य है यहां नहीं लगती लोप की अनुवृत्ति से ही कार्य निर्वाह होता सूत्र में लुक् ग्रहण क्यों किया ?, समाधान—लोप अलोऽन्त्य परिभाषा से ईय के यकार को होता, छको ईयादेश हुआ है उसमें स्थानिवद्भाव से छत्व का आनयन होकर। ईकार का श्रवण न हो एतदर्थ लुक् ग्रहण किया है, लुक् ग्रहण से प्रत्ययादर्शन रूप संज्ञी यहां उपस्थित होकर सम्पूर्ण प्रत्यय की (ईय) निवृत्ति हुई। यद्यपि प्रत्ययावयव में भी प्रत्ययत्व व्यवहार है। पुनः लुक् ग्रहण करने पर भी यकार को लुक् क्यों नहीं हुआ ? यह शङ्का का यहां अनवसर है, लुक् ग्रहण सामर्थ्य से प्रत्ययत्व पर्याप्ति सम्बन्ध से जहां रहे उसका लुक् होता है।

पं० श्री बालकृष्ण पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में चातुरर्थिक प्रकरण समाप्त।



अथ शैषिकप्रकरणम् ।

१३१४ शेपे ४।२।९२।

अपत्यादिचतुर्थ्यन्तादन्योऽर्थ =शेपस्तत्राणादय स्यु । चक्षुषा गृह्यते चाक्षुष रूपम् । श्रावण शब्द । औपनिपद. पुरुष । दृषदि पिष्टा दार्षदा' सक्तव । उलूखले क्षुण्ण औलूखलो यावक । अश्वैरुह्यते आश्वो रथ । चतुर्भिरुह्यते चातुर शकटम् । चतुर्दश्या दृश्यते चातुर्दश रक्ष । 'शेपे' इति लक्षण चाधिकारश्च । तस्य विकार इत्यत. प्राक् शेषाधिकार. ।

तद्धित में अपत्यादि चातुरर्थ्यन्त जो अर्थ है उन अर्थों से जो अन्य = भिन्न अर्थ उनको शेष कहते है । उस शेष अर्थ में अणादि प्रत्यय होते है । रूप विषयक ज्ञान में चक्षु करण है अत तृतीया चक्षुषा गृह्यते चाक्षुष रूपम् । श्रवणेन्द्रिय से ज्ञातशब्द अर्थ में श्रावण शब्द । ईश्वर उपनिषद् आगम से प्रतिपादन करने योग्य है औपनिषद पुरुष पत्थर चक्की में पिसा गया सत्तुवा में दार्षदा । उखल म कुटा हुआ यावक को औलुखल कहा है । अश्व से वहन कर्म रथ अर्थ में आश्व । चार बैलों से वहन कर्म गाडी चातुरम् । राक्षसों का प्रधान रूप से दर्शन कर्मता चतुर्दशी को होती है चातुर्दशम् रक्ष रक्षस नपुसक है ।

विमर्श— शेषे' यह सूत्र अण् प्रत्यय विधायक विधिसूत्र है । एव आवृत्ति से उत्तर सूत्रों में सम्बन्धार्थ अधिकार भी है । 'सकृदुच्चरित शब्द सकृदेवार्थं गमयति न्याय से एक 'शेषे' उभयार्थक नहीं अत आवृत्ति है 'शेषे' 'शेषे' इति । यह पङ्क्ति अतीव प्रसिद्ध है ।

चक्षुष इदम्' इस अर्थ में 'तस्येदम्' से अण् प्रत्यय होकर 'चाक्षुषम्' आदि प्रयोग सिद्धि होगी । एव सस्कृत भक्षा ' से 'दार्षदा ' आदि की सिद्धि होती है । पुन 'शेषे' यह अण प्रत्यय विधानार्थ विधिसूत्र व्यर्थ है । अर्थात् प्रयोगसिद्धि रूप प्रयोजनार्थ नहीं है । अधिकार के लिए भी इसकी आवश्यकता नहीं है । यदि अधिकार सूत्र 'शेषे' को न मानेंगे तो अपत्य आदि चातुरर्थिक अर्थ में वक्ष्यमाण प्रत्यय होने लगेंगे यह कथन भी उचित नहीं है ।

आर्द्रक एव शाला आदि का उत्करादि में पाठ करण सामर्थ्य से ज्ञापन होता है कि 'इस प्राचीन जो अर्थ उनमें घादय = घादि प्रत्ययों की प्रवृत्ति नहीं होती है । अन्यथा 'वृद्धाच्छ ' से छ प्रत्यय की उत्पत्ति होती पुन छ प्रत्यय के लिए उत्करादिगण में पाठ आर्द्रकादि का व्यर्थ होगा । अत घादि ट्युट्युल् पर्यन्त प्रत्यय निवृत्ति अपत्यादि में यह अधिकार प्रयोजन नहीं है । एव यह कहेंगे जात आदि भाकल्य अर्थ प्रयोजन अधिकार का है । वह भी नहीं है इसका प्रयोजन । क्योंकि जातादि के अधिकार पूर्व इसका अधिकार है, पूर्वपाठ करण सामर्थ्य से ।

यदि अनिहित जातादि अर्थ में ही घादि प्रत्यय होते तो उसके उत्तर भवादि अर्थों में 'प्राग्दीव्यत यह विशिष्ट अवधि परिच्छिन्न अर्थों में विधीयमान अणादि ही होंगे, तब जाताधिकार के पश्चात् ही 'प्रावृषष्ठप्' इत्यादि के साथ राष्ट्रावारपार' इत्यादि को वहां पढते । इस विवेचन से अधिकारत्व भी व्यर्थ है । 'शेषे' व्यर्थ होकर 'स्थालीपुलाक' न्याय से या एकदेशानुमत्या इस कारिका के ज्ञापनार्थ है ।

शैषिकात् शैषिको न भवति = शैषिक प्रत्यय विधान के अनन्तर सरूपशैषिक प्रत्यय नहीं होता है आदि अर्थ बोधक कारिका का सन् विधायक प्रकरणान्त में विस्तृत व्याख्या होगी। "आद्रकादिभ्यः छ प्रत्ययः स्यात् तर्हि चातुरर्थ्यामेव" इस पक्ष में अपत्यादि अर्थ में घादि प्रत्यय निवृत्त्यर्थ अधिकार की आवश्यकता है। एवं चाक्षुषम् से गृहमागार्थ प्रकारक शाब्द-बोधनार्थ विधि की भी आवश्यकता है। चक्षुरिन्द्रिय जन्य गृहमागत प्रकारक ज्ञान अर्थ विशेष्यक शाब्दबोध सूत्र सत्त्वे एवं विधित्व पक्ष में ही सम्भव है। अन्यथा नहीं। यह फक्किका शास्त्रार्थ एवं परीक्षापयोगिनी भी है। इस प्रकरण के प्रत्यय शेष अर्थ में ही होते हैं।

१३१५ राष्ट्रावारपाराद् घखौ ४।२।९३।

आभ्यां क्रमाद् घखौ स्तः शेषे। राष्ट्रियः। अवारपारीणः। *अवारपाराद् विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम्*। अवारीणः। पारीणः। पारावारीणः। इह प्रकृतिविशेषाद् घादयष्ट्युट्युलन्ताः प्रत्यया उच्यन्ते, तेषां जातादयोऽर्थविशेषाः समर्थविभक्तयश्च वक्ष्यन्ते।

शेषार्थ में राष्ट्र शब्द से घ प्रत्यय होता है एवं अवारपार शब्द से ख प्रत्यय होता है। राष्ट्रे भवः राष्ट्रस्य कार्यम् आदि में राष्ट्रियः। राष्ट्रियम्। आरपार को अवारपार कहते हैं, भवादि अर्थ में ख अवारपारीणः। यहां अवार से पार से पारावार से भी ख प्रत्यय होता है यह वार्तिककार का मत भी आदरणीय है। अवारीणः। पारीणः। पारावारीणः।

इससे प्रकृति विशेष से घादि ट्युल् प्रत्यय कहे गये हैं एवं विशेष विभक्त्यन्त से वे होते हैं, एवं जातादि विशेष अर्थ में यह सब व्यवस्था शीघ्र दिखाई जायगी।

१३१६ ग्रामाद् यखञौ ४।२।९४।

ग्राम्यः। ग्रामीणः।

ग्राम से य प्रत्यय एवं खञ् प्रत्यय शेषार्थ में होते हैं। ग्रामे भवः ग्राम्यः ग्रामीणः।

१३१७ कत्र्यादिभ्यो ढकञ् ४।२।९५।

कुत्सितास्त्रयः कत्त्रयः तत्र जातादिः कात्त्रेयकः। नागरेयकः। ग्रामादित्य-नुवृत्तेः ग्रामेयकः।

कत्र्यादि शब्दों से ढकञ् प्रत्यय होता है शेष में। निन्दित तीन को 'कत्त्रयः' कहते हैं। इनमें जातादि को कात्त्रेयकः कहते हैं। नगरे भवः नागरेयकः। ग्रामेयकः। यहां पूर्व सूत्र से ग्राम की भी अनुवृत्ति है। ढको एयादेश होता है।

१३१८ कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलङ्कारेषु ४।२।९६।

कौलेयकः श्वा। कौलोऽन्यः। कौक्षेयकोऽसिः। कौक्षोऽन्यः। ग्रैवेयकोऽलङ्कारः। ग्रैवोऽन्यः।

कुल से श्वा = कुत्ता अर्थ में, कुक्षि से असि = तलवार अर्थ में एवं ग्रीवा से अलङ्कार = आभूषण अर्थ में ढकञ् प्रत्यय होता है। अन्यार्थ में अण् प्रत्यय।

१३१९ नद्यादिभ्यो ढक् ४।२।९७।

नादेयम् । माहेयम् । वाराणसेयम् ।

जातादि अर्थों में नदी आदि शब्दों से पर ढक् प्रत्यय होता है। नद्यां भवम् नादेयम् । मह्यां भवं माहेयम् । वाराणस्यां भवम्—वाराणसेयम् ।

१३२० दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक् ४।२।९८।

दक्षिणेत्याजन्तमव्ययम् । दाक्षिणात्यः । पाश्चात्यः । पौरस्त्यः ।

दक्षिणा, पश्चात् एवं पुरस् से त्यक् प्रत्यय होता है। यहां आच्प्रत्ययान्त अव्यय दक्षिणा शब्द है।

१३२१ कापिश्याः ष्फक् ४।२।९९।

कापिश्यां जातादि कापिशायनं मधु । कापिशायनी द्राक्षा ।

जातादि अर्थ में कापिशी से पर ष्फक् प्रत्यय होता है। कापिशायन मधु। स्त्रीलिङ्ग में ङीष्।

१३२२ रङ्कोरमनुष्येऽण् च ४।२।१००।

चात् ष्फक् । राङ्कवो गौः । राङ्कवायणः । अमनुष्येति किम् , राङ्कवको मनुष्यः ।

मनुष्य से भिन्न अर्थ होने पर रङ्कु शब्द से अण् एवं ष्फक् होता है।

१३२३ द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् ४।२।१०१।

दिव्यम् । प्राच्यम् । अपाच्यम् । उदीच्यम् । प्रतीच्यम् ।

जातादि अर्थ में दिव्, प्राच्, अपाच्, उदच्, प्रतीच् शब्द से उत्तर यत् प्रत्यय होता है। दिवि भवम्—दिव्यम् । प्राचि भवम् प्राच्यम् । अपाच्यम् । उदीच्यम् । प्रतीच्यम् ।

१३२४ कन्थायाष्ठक् ४।२।१२०।

कान्थिकः ।

जातादि अर्थ में कन्था से ठक् प्रत्यय होता है।

१३२५ वर्णौ वुक् ४।२।१०३।

वर्णुः = नदस्तस्य समीपदेशो वर्णुस्तद्विषयार्थवाचिकन्थाशब्दाद् वुक् स्यात् । यथा हि जातं हिमवत्सु कान्थकम् ।

वर्णु का अर्थ है यहां नद उसके समीप देश में भी सामीप्य मूलक वर्णुत्वारोप है। तद्विषयार्थ वाची कन्था शब्द से वुक् होता है। कान्थकम् ।

१३२६ अव्ययात्त्यप् ४।२।१०४।

❀ अमेहक्वतसित्रेभ्य एव ❀ । अमाऽन्तिकमहाययोः । अमात्यः । इहत्यः । क्वत्यः । ततस्त्यः । तत्रत्यः । परिगणनं किम् , उपरिष्टाद्भवं औपरिष्टं । ❀ अव्ययानां भमात्रे टिलोपः । अनित्योऽयम् , बहिषष्टिलोपविधानात् । तेनेह न, आरातीयः । ❀त्यब् नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम् ❀। नित्यः । ❀ निसो गते ❀ ।

अव्यय संज्ञक के उत्तर त्यप् होता है। सभी अव्ययों का यहाँ ग्रहण न हो जाय इस लिए परिगणन किया है। अमा, इह, क तस् प्रत्ययान्त त्रप्रत्ययान्त इन अव्ययों का ही यहाँ अव्ययपद से ग्रहण होता है।

अमा का अर्थ है समीप एवं सहायक अमा भवः अमात्यः = मन्त्री। अस्मिन्निति इह तत्र भवः इहत्यः। कस्मिन् इति क तत्र भवः क्वत्यः। तस्मात् ततः। तत्र भवः ततस्त्यः। तस्मिन् इति तत्र तत्र भवः। तत्रत्यः। उपरिष्टात् भवः यहाँ परिगणित अव्यय से बहिर्भूत होने से यहाँ त्यप् न हुआ किन्तु उपरिष्टात् से भवार्थ अण्प्रत्यय है।

अव्यय की भ संज्ञा में टिलोप होता है। यह टिलोप अनित्य है यदि नित्य होता तो बहिष् की टिलोप विधान वार्तिक द्वारा व्यर्थ होता। आरात् भवः छ प्रत्यय ईयादेश अनित्यत्व प्रयुक्त टिलोप का अभाव आरातीयः। ध्रुव = स्थिर = अनश्वर अर्थ से नि से त्यप् होता है। नित्यः = जिसका ध्वंस न हो। ध्वंसाप्रतियोगित्वम् = नित्यत्वम्। यस्याभावः स अभावप्रतियोगी, प्रमेयत्व, ज्ञेयत्व वाच्यत्व आकाशत्व परमाणुत्व ईश्वर आदि नित्यपदार्थ हैं। गतार्थक निस् से त्यप् होता है निस् + त्यप्।

१३२७ ह्रस्वात् तादौ तद्धिते ८।३।१०१।

ह्रस्वादिणः परस्य सस्य षः स्यात् तादौ तद्धिते। निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यो निष्ट्यश्चाण्डालादिः। ॐ अरण्याण्णः ॐ। आरण्याः सुमनसः। ॐ दूरादेत्यः। दूरेत्यः। ॐ उत्तरादाहञ् ॐ। औत्तराहः।

तकारादि तद्धित पर रहते ह्रस्व इण् से पर सकार को षकारादेश होता है। चार वर्ण एवं चार आश्रम उनसे पृथक् को निस् + त्यप् षकार ष्टुत्व से 'निष्ट्यः' कहते हैं। अरण्य से णप्रत्यय होता है। अरण्ये भवाः आरण्याः सुमनसः = पुष्पाणि पुष्प वाचक केवल सुमनस् शब्द ही पुंलिङ्ग है। अन्य नपुंसकलिङ्गक हैं।

उत्तरशब्द से आहञ् प्रत्यय भवादि अर्थ में होता है। उत्तरे भवः औत्तराहः।

१३२८ ऐषमोह्यःश्वसोऽन्यतरस्याम् ४।२।१०५।

एभ्यस्त्यब् वा। पक्षे वक्ष्यमाणौ ट्युट्युलौ। ऐषमस्त्यम्। ऐषमस्तनम्। ह्यस्त्यम्। ह्यस्तनम्। श्वस्त्यम्। श्वस्तनम्। पक्षे शौवस्तिकम्।

ऐषमस् ह्यस् श्वस् से भवादि अर्थ में त्यब् विकल्प से होता है। पक्ष में 'सायम्' सूत्र से ट्यु एवं ट्युल् होता है। ऐषमः भवः—ऐषमस्त्यम्। ट्यु एवं ट्युल् पक्ष में ऐषमस्तनम्। अनादेश यु को होता है उसके बाद यहां तुट् आगम होता है। 'अनद्यतने' निर्देश से। अतीते दिने भवम् ह्यस्त्यम्। ह्यस्तनम्। श्वस्त्यम् शौवस्तिकम् ठक् तुट्, द्वारादीनाञ्च से ऐजागम है।

१३२९ तीररूप्योत्तरपदादञ्ञौ ४।२।१०६।

यथासंख्येन। काकतीरम्। पाल्वलतीरम्। शैवरूप्यम्। तीररूप्यान्तादिति नोक्तम्, बाहुरूप्यम्।

तीर शब्द है उत्तरपदमें जिसको ऐसे प्रातिपदिक से अञ् प्रत्यय होता है। एवं रूप्योत्तरपदक प्रातिपदिक से ञ प्रत्यय होता है। काकतीरे भवं काकतीरम्। उत्तरपद शब्द समास के चरमपद

को कहने हैं। बाहुरूप्यम् में बहुच् प्रत्ययपूर्व में है अत यहा रूप्य उत्तरपद नही है ञ प्रत्यय न हुआ।

१३३० दिक्पूर्वपदादसंज्ञाया ञः ४।२।१०७।

अणोऽपवाद । पौर्वशाल । असज्ञाया किम्, सज्ञाभूताया प्रकृते र्मा भूत्। पूर्वेषु कामशम्या भव पूर्वेषुकामशम । प्राचा ग्रामनगराणामित्युत्तरपदवृद्धि ।

दिग्वाचक शब्द है पूर्वपद जिसका ऐसे प्रातिपदिक से उत्तर ञ प्रत्यय होता है असज्ञा में। यह अण का बाधक है। पूर्वस्या शालायां भव तद्धितार्थ में समास विभक्ति लुक् पुंवद्भाव सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे से पूर्वा शा ञ आदि वृद्धि आकार लोप पौर्वशाल । सूत्र में असज्ञा ग्रहण में सज्ञाभूत प्रकृति रहे वहां इस से ञ प्रत्यय नहीं होता है। यथा पूर्वेषु इषुकामशम्या भव वहां उत्तरपद वृद्धि हुई एव अणप्रत्यय है।

१३३१ मद्रेभ्योऽञ् ४।२।१०८।

दिक्पूर्वपदादित्येव। दिशोऽमद्राणामिति मद्रपर्युदासादादिवृद्धि। पौर्व मद्र आपरमद्र ।

जिसके पूर्व में दिगवाचक शब्द रहे एव मद्रशब्द उत्तर में रहे वहां अञ प्रत्यय होता है। अमद्र पर्युदास से वहां आदि अच पूर्वपदस्य को वृद्धि से पौर्वमद्र । आपरमद्र।

१३३२ उदीच्यग्रामाच्च बह्वचोऽन्तोदात्तात् ४।२।१०९।

अञ् स्यात् शैवपुरम्।

इस सूत्र में दिक् पूर्वपदात' का सम्बन्ध नहीं है। बहुत स्वर से युक्त अन्तोदात्त उदीच्यग्राम वाचक प्रातिपदिक से अञ होता है। 'प्रस्थपुर में वृद्धाच्छ की अनुवृत्ति से शिवपुर से छ प्रत्यय न हुआ शिवपुरे भवम् अ प्रत्यय शैवपुरम।

१३३३ प्रस्थोत्तरपदपलद्यादिकोपधादण् ४।२।११०।

माहिकिप्रस्थ । पालद । नैलीनक ।

प्रस्थशब्द है उत्तर पद में जिसको ऐसे प्रातिपदिक से, एव पलदी आदि से, एव ककार है उपधा में जिसको ऐसे प्रातिपदिक से भवादि अर्थ में अणप्रत्यय होता है।

१३३४ कण्वादिभ्यो गोत्रे ४।२।१११।

एभ्यो गोत्रप्रत्ययान्तेभ्योऽण् स्यात्। कण्वो गर्गादि । काण्व्यस्य छात्रा' काण्वा ।

गोत्र सज्ञक प्रत्यय है अन्त में जिन को ऐसे कण्व आदि से अण् प्रत्यय होता है। यञ प्रत्ययान्त काण्व्य से अण् हलस्तद्धितस्य से यकार लोप अण् प्रत्ययान्त काण्वा ।

१३३५ इञश्च ४।२।११२।

गोत्रे य इञ् तदन्तादण् स्यात। दाक्षा । गोत्रे किम्। सौतङ्गमेरिद सौतङ्ग मीयम्। गोत्रमिह शास्त्रीय न तु लौकिकम्। तेनेह न, पाणिनीयम्।

गोत्रार्थ में जो इञ् प्रत्यय तदन्त से अण् प्रत्यय होता है। यथा दक्षस्यापत्यम् दाक्षिः तस्य छात्राः दाक्षाः। चातुरर्थिक इञ् प्रत्यय गोत्रार्थक नहीं अत सुतङ्गम से इञ् तस्य इदम् वृद्धत्व प्रयुक्तछ सौतङ्गमेरिदम् सौतङ्गमीयम्। 'अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्' यह शास्त्रीय गोत्र का यहां ग्रहण है न लौकिक का। अतः पाणिनीयम् यहां इसकी प्रवृत्ति न हुई।

१३३६ न द्व्यचः प्राच्यभरतेषु ४।२।११३।

इञश्चेत्यणोऽपवादः। प्राष्ठीयाः। काशीयाः। भरतानां प्राच्यत्वेऽपि पृथगुपादानम् अन्यत्र प्राच्यग्रहणे भरतानामग्रहणस्य लिङ्गम्।

दो स्वरों से युक्त प्रातिपदिक से प्राच्य गोत्र या भरत गोत्र की प्रतीति हो तो गोत्रार्थक इञ् से उत्तर अण् प्रत्यय नहीं होता है। यह इञश्च से विदित अण् का बाधक है। प्राच्यगोत्र के भीतर भरत गोत्र गतार्थ ही है यहां केवल प्राच्य ग्रहण ही करना चाहता था पुनः सूत्र में उच्चरित जो भरत वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि प्राच्यगोत्र प्रयुक्त कार्य भरत से नहीं होता भाष्यांश का फल अन्यत्र है एतावता मूल में अन्यत्र ग्रहण किया है वह भाष्य के शरीर के कुक्षिप्रविष्ट कथमपि नहीं। "प्राच्यग्रहणेन भरतानां ग्रहणन्न" यह भाष्य स्वरूप है।

१३३७ वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम् १।१।७३।

यस्य समुदायस्याचां मध्ये आदिर्वृद्धिस्तद्वृद्धसंज्ञं स्यात्।

जिस शब्द के अच् समुदाय में आदि अच् आ ऐ औ रहे उस शब्द की वृद्ध संज्ञा होती है।

१३३८ त्यदादीनि च १।१।७४।

वृद्धसंज्ञानि स्युः।

त्यदादि की भी वृद्ध संज्ञा होती है।

१३३९ वृद्धाच्छ ४।२।११४।

शालीयः। मालीयः। तदीयः।

वृद्धसंज्ञक शब्द से उत्तर छ प्रत्यय भवादि अर्थ में होता है। शालायां भवः, मालायां भवः, तस्य अयम् क्रमशः शालीयः। मालीयः। तदीयः।

१३४० एङ् प्राचां देशे १।१।७५।

एङ् यस्याचामादिस्तद्वृद्धसंज्ञं वा स्याद् देशाभिधाने। एणीपचनीयः। गोनर्दीयः। भोजकटीयः। पक्षे अणि ऐणीपचनः। गौनर्दः। भौजकटः। एङ् किम् आहिच्छत्रः। कान्यकुब्जः। ❀ वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या ❀। देवदत्तीयः। दैवदत्तः।

जिस शब्द के अवयव अचों में ए ओ आदि रहे देश अर्थ गम्यमान रहे वहां उस शब्द की वृद्ध संज्ञा होती है। पक्ष में अण् भी होता है। नामवाचक रहे वहां संज्ञा में वृद्ध संज्ञा होती है छ प्रत्यय एवं पक्ष में अण् होता है।

१३४१ भवतष्ठक्छसौ ४।२।११५।

वृद्धाद् भवत एतौ स्तः। भावत्कः। जस्त्वम्—भवदीयः। वृद्धादित्यनुवृत्तेः शत्रन्तादणेव। भावतः।

वृद्धसंज्ञक भवत् से ठक् एवं छस् प्रत्यय होते हैं। ठको प्राप्त इकादेश को बाधकर 'इसुसु' से क आदेश आदि वृद्धिः भावत्कः। छस् में सकार की इत् संज्ञा से 'सिति' से पूर्व को पद संज्ञा है जश्त्व से भवदीय.। भूधातु से शत् शत् से भवत् यहां आदि अच् वृद्धि संज्ञक नहीं अत वृद्ध संज्ञा भवत् को न हुई अत ठक् छस न होकर अण् से भावतः।

१३४२ काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ ४।२।११६।

इकार उच्चारणार्थः। काशिकी। काशिका। वैदिकी। वैदिका। *आपदादिपूर्वपदात् कालान्तात्*। आपदादिराकृतिगणः। आपत्कालिकी। आपत्कालिका।

काशी आदि शब्दों से पर ठञ् एवं ञिठ प्रत्यय होता है। काश्यां भवः काशिकी काशिका। आपद आदि शब्द है पूर्वपद में जिसको एवं काल शब्द है अन्त में जिसको ऐसे शब्दों से ठञ् एवं ञिठ प्रत्यय होता है। आपत्कालिकी। आपत्कालिका।

१३४३ वाहिकग्रामेभ्यश्च ४।२।११७।

वाहिकग्रामवाचिभ्यो वृद्धेभ्यष्ठञ्–ञिठौ स्तः। छस्यापवादः। कास्तीरं नाम वाहिकग्रामः—कास्तीरिकी। कास्तीरिका।

वाहिक ग्राम वाचक वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक से पर ठञ् एवं ञिठ होता है। छका अपवाद है।

१३४४ विभाषोशीनरेषु ४।२।११८।

एषु ये ग्रामास्तद्वाचिभ्यो वृद्धेभ्यष्ठञ्ञिठौ वा स्तः। सौदर्शनिकी। सौदर्शनिका। सौदर्शनीया।

उशीनर देश में जो ग्राम है उसका वाचक जो वृद्ध संज्ञक प्रातिपदिक उससे ठञ् प्रत्यय एवं ञिठ प्रत्यय होता है विकल्प से।

१३४५ ओर्देशे ठञ् ४।२।११९।

उवर्णान्ताद् देशवाचिनष्ठञ्। निषादकर्षूः—नैषादकर्षुकः। केऽण इति ह्रस्वः। देशे किम्, पटोश्छात्राः पाटवः। ञिठं व्यावर्तयितुं ठञ्ग्रहणम्। वृद्धाच्छं परत्वादयं बाधते दाक्षिकर्षुकः।

उवर्णान्त देश वाचक शब्द से पर ठञ् प्रत्यय होता है। उदाहरण में केऽणः से ऊकार का ह्रस्व है। सन्नियोगशिष्ट न्याय से यहां ञिठ की भी अनुवृत्ति आती उसकी व्यावृत्ति के लिए सूत्र में ठञ् ग्रहण किया है। ठ को कादेश है। यह छप्रत्यय को परत्व के कारण बाध करता है।

१३४६ वृद्धात् प्राचाम् ४।२।१२०।

प्राग्देशवाचिनो वृद्धादेवेति नियमार्थं सूत्रम्। आढकजम्बुकः। शाकजम्बुकः। मल्लावास्तु मालवास्तवः।

वृद्ध संज्ञक ही प्राग्देशवाचि प्रातिपदिक से ठञ् होता ही है, इस नियम के लिए यह सूत्र है। जो वृद्ध संज्ञक नहीं एवं प्रागदेशवाची है उससे अण् ओर्गुणः से गुण होकर माल्वास्तवः। वृद्ध से प्रत्यय ठक् हो तो प्राग्देश वाची से ही यह विपरीत नियम नहीं है। अप्राग्देश वाची वृद्ध उवर्णान्त नहीं है।

१३४७ धन्वयोपधाद् वुञ् ४।२।१२१।

धन्वविशेषवाचिनो यकारोपधाच्च देशवाचिनो वृद्धाद् वुञ् स्यात्। ऐरावतं धन्व ऐरावतकः। सांकाश्यकाम्पिल्यशब्दौ वुञ्छणादिसूत्रेण ण्यान्तौ। सांकाश्यकः। काम्पिल्यकः।

यहां धन्व से स्वरूप एवं पर्याय का ग्रहण नहीं है। इनमें वृद्धत्व असम्भव है अतः धन्वविशेष का यहां ग्रहण है।

धन्वविशेष वाचक शब्द एवं यकारोपध देशवाचक वृद्ध शब्द से वुञ् प्रत्यय होता है। ऐरावतं धन्व—ऐरावतकः। ण्यप्रत्ययान्त सांकाश्य से वुञ् सांकाश्यकः। "धन्वा तु मरुदेशे ना क्लीबं चापे स्थलेऽपि च" यह मेदिनीकोशकार कहते हैं। जल रहित प्रदेश में भी धन्व का प्रयोग है। गत्यर्थक धिवि से कनिन् प्रत्यय है। "इष्वासो धन्वधन्विनोः" यह हैमकोश है। धनुष् की संज्ञा।

१३४८ प्रस्थपुरवहान्ताच्च ४।२।१२२।

एतदन्ताद् वृद्धाद् देशवाचिनो वुञ् स्यात्। छस्यापवादः। मालाप्रस्थकः। नान्दीपुरकः। पैलुवहकः। पुरान्तग्रहणमप्रागर्थम्। प्राग्देशे तूत्तरेण सिद्धम्।

प्रस्थ, पुर, वह ये है अन्त में जिनको ऐसा देशवाचक वृद्ध संज्ञक प्रातिपादिक से वुञ् होता है। वृद्धाच्छ का निषेधक है। प्राग् देशवाची जो पुरान्त शब्द नहीं वहां वुञर्थ पुर ग्रहण है। एवं प्राग् देशवाची में तो उत्तर सूत्र ही वुञ् करेगा।

यद्यपि जनपदत्व से ही सिद्ध था अवधि ग्रहण व्यर्थ होकर वुञ् ही हो अन्य प्रत्यय न हो एतदर्थं नियमार्थ है। त्रिगर्त से छप्रत्यय नहीं हुआ किन्तु वुञ ही हुआ "वृद्धादपि बहुवचन-विषयात्" से त्रैगर्तक। 'गर्तोत्तरपदात्' से नहीं। श्यामायनक। वृद्ध का उदाहरण है।

१३५१ अवृद्धादपि बहुवचनविषयात् ४।२।१२५।

अवृद्धाद् वृद्धाच्च जनपदतदवधिवाचिनो बहुवचनविषयात् प्रातिपदिकाद् वुञ् स्याद् अवृद्धादणो वृद्धाच्छस्यापवादः। अवृद्धाज्जनपदात् आङ्गकः। अवृद्धाज्जनपदावधेः आजमीढकः। वृद्धाज्जनपदात् दार्वकः। वृद्धाज्जनपदावधेः कालञ्जरकः। विषयग्रहणं किम्, एकशेषेण बहुत्वे मा भूत्। वर्तनी च वर्तनी च वर्तनी च वर्तन्यस्तासु भवो वार्तनः।

अवृद्ध संज्ञक या वृद्ध संज्ञक जनपद या उसकी सीमारूप अवधिवाचक बहुवचन विषयक प्रातिपदिक से वुञ् होता है। अवृद्ध संज्ञक से प्राप्त अण का यह बाधक है। एवं वृद्धसंज्ञक से प्राप्त छ प्रत्यय का यह निषेधक है। देश एवं उसकी अवधि में स्वाभाविक बहुवचनान्ता रहे वहां यह वुञ् होता है इस लिए विषय ग्रहण किया है। एकशेष से बहुत्व में वुञ नहीं वहां अण् वार्तन।

१३५२ कच्छाग्निवक्त्रवर्तोत्तरपदात् ४।२।१२६।

देशवाचिनो वृद्धादवृद्धाच्च वुञ् स्यात्। दारुकच्छकः। काण्डाग्नकः। सैन्धुवक्त्रकः। बाहुवर्तकः।

कच्छ, अग्नि, वक्त्र, वर्त है उत्तर पद में जिसको ऐसे देशवाचक वृद्ध संज्ञक या अवृद्ध संज्ञक उससे वुञ होता है।

१३५३ धूमादिभ्यश्च ४।२।१२७।

देशवाचिभ्यो वुञ्। धौमकः। तैर्थकः।

देशरूप अर्थ का प्रत्यायक जो धूमादिगण पठित शब्द उससे भवादि अर्थ में वुञ प्रत्यय होता है। तीर्थे भव- तैर्थक।

१३५४ नगरात् कुत्सनप्रावीण्ययोः ४।२।१२८।

नगरशब्दाद् वुञ् स्यात् कुत्सने प्रावीण्ये च गम्ये। नागरकश्चौरः, शिल्पी वा। कुत्सनेति किम्, नागरा ब्राह्मणाः।

कुत्सन एवं प्रावीण्य अर्थ गम्यमान होने पर नगर शब्द से वुञ् प्रत्यय होता है। नगर में उत्पन्न होकर तस्करवृत्तिकर्ता यहां निन्दा गम्यमान है। नगर का निपुण कार्य करने वाला कारीगर यहां प्रशंसा गम्य है नागरिक। जहां कुत्सन या निपुणता की प्रतीति नहीं वहां नगरे भवा नागरा = ब्राह्मणा यहां भवार्थक अण् ही होता है।

१३५५ अरण्यान्मनुष्ये ४।२।१२९।

वुञ्। अरण्याण्ण इत्यस्यापवादः। ॐ पथ्यध्यायन्यायविहारमनुष्यहस्तिष्विति वाच्यम् ॐ। आरण्यकः पन्था अध्यायो न्यायो विहारो मनुष्यो हस्ती वा। ॐ वा गोमयेषु ॐ। आरण्यका आरण्या वा गोमयाः।

मनुष्य अर्थ गम्य रहे वहां अरण्य से वुञ् प्रत्यय होता है। यह सूत्र ण का बाधक है। अरण्य से वुञ् होता है मार्ग, अध्याय, न्याय, विहार, मनुष्य एवं हस्ति इन अर्थो मे। गोवर रूप गोमय अर्थ में वुञ् विकल्प से होता है। पक्ष में णप्रत्यय। आरण्यकाः—आरण्याः—वा गोमयाः।

१३५६ विभाषा कुरुयुगन्धराभ्याम् ४।२।१३०।

वुञ्। कौरवकः। कौरवः। यौगन्धरकः। यौगन्धरः।

कुरु एवं युगन्धर से वुञ् विकल्प से होता है। वुञ् को अकादेश आदि वृद्धि ओ गुंण से गुण अवादेशः कौरवकः। पक्षमे अण् कौरवः। कच्छादित्व प्रयुक्त अण् कुरु का इस गणमे पाठ है। कुरु से वुञ् अण् सिद्ध था पुनः विभाषा ग्रहण युगन्धर के लिए ही है। अवृद्धात से प्राप्त नित्य वुञ् को यह विकल्प से बाध करता है पक्ष मे अणर्थ है।

१३५७ मद्रवृज्योः कन् ४।२।१३१।

जनपदवुञोऽपवादः। मद्रेषु जातो मद्रकः। वृजिकः।

मद्र एवं वृजि मे जातादि अर्थ में कन् प्रत्यय होता है।

१३५८ कोपधादण् ४।२।१३२।

माहिषिकः।

ककार है उपधा में जिसको ऐसे शब्द से जातादि अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।

१३५९ कच्छादिभ्यश्च ४।२।१३३।

देशवाचिभ्योऽण्। वुञादेरपवादः। काच्छः। सैन्धवः।

देशवाचक कच्छादि शब्दो से वुञादि जो प्राप्त है उनको बाधकर अण् प्रत्यय होता है। काच्छः। सैन्धवः।

१३६० मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ् ४।२।१३४।

कच्छाद्यणोऽपवादः। कच्छे जातादि काच्छको मनुष्यः। काच्छकं हसितम्। मनुष्येति किम्, काच्छो गौः।

मनुष्य एवं मनुष्य स्थित पदार्थ वाच्य रहे तो कच्छशब्द से जाताद्यर्थ में वुञ् होता है। यह सूत्र कच्छादि से विहित अण् का बाधक है। कच्छे जातः काच्छकः, यहां मनुष्य रूपार्थ प्रतीति है कच्छे जातम् हसितम् यहां मनुष्य स्थिति हास्य की प्रतीति है—काच्छकं हसितम्। काच्छो गौः यहां अण् प्रत्यय है।

१३६१ अपदातौ साल्वात् ४।२।१३५।

साल्वशब्दस्य कच्छादित्वाद् वुञि सिद्धे नियमार्थमिदम्। अपदाताविवेति। साल्वको ब्राह्मणः। अपदातौ किम्, साल्वः पदाति व्रजति।

पाद से गमन कर्ता को पदाति कहते हैं। तद्भिन्न अर्थ में साल्व से वुञ् होता है। साल्व का पाठ कच्छादिगण में है कच्छादित्वप्रयुक्त वुञ् सिद्ध ही था पुनः यह सूत्र व्यर्थ होकर नियमार्थ है नियमाकार यह है। यदि कच्छ से वुञ् हो तो अपदाति अर्थ मे हो, अन्यत्र नही इस का फल यह हुआ की जहां पैर से गमन कर्ता है वहां साल्व वहीं होगा कच्छादि प्रयुक्त वुञ् नही हुआ। किन्तु अण्।

१३६२ गोयवाग्वोश्च ४।२।१३६।

साल्वाद् वुञ् । कच्छाद्यणोऽपवादः । साल्वको गौः । साल्विका यवागूः । साल्वमन्यत् ।

गो [illegible] यवागू अर्थ की प्रतीति होने पर साल्व से वुञ् होता है । यह वुञ् अण् का निषेधक है ।

१३६३ गर्तोत्तरपदाच्छः ४।२।१३७।

देशे । अणोऽपवादः । वृकगर्तीयम् । उत्तरपदग्रहणं बहुच्पूर्वनिरासार्थम् ।

गर्तशब्द है उत्तर पद में जिसको ऐसे समर्थ प्रातिपदिक से जातादि अर्थ में छप्रत्यय होता है देश रूप अर्थ की प्रतीति होने पर । यह अण् का बाधक है । गर्तान्तात् कहते तो बहुगर्त से भी छप्रत्यय होता उत्तरपद कहने से यहां पूर्व में बहुच् प्रत्यय है समास नहीं है, समास चरमावयव-रूप उत्तरपद का अभाव में छ न हुआ, किन्तु अण् 'बाहुगर्त' ।

१३६४ गहादिभ्यश्च ४।२।१३८।

छ स्यात् । गहीयः । ❀ मुखपार्श्वतसोर्लोपश्च ❀ । मुखतीयम् । पार्श्वतीयम् । अव्ययानां भमात्रे टिलोपस्यानित्यता ज्ञापयितुमिदम् । ❀ कुग् जनस्य परस्य च ❀ । जनकीयम् । परकीयम् । ❀ देवस्य च ❀ देवकीयम् । ❀ स्वस्य च ❀ । स्वकीयम् । ❀ वेणुकादिभ्यश्छण् वाच्यः ❀ । वैणुकीयम् । वैत्रकीयम् । औत्तरपदकीयम् ।

गहादि शब्द के उत्तर छप्रत्यय होता है तसिल प्रत्ययान्त मुख [illegible] पार्श्व से छप्रत्यय होता है एवं तस के अन्त्यवर्ण सकार का लोप होता है मुखतीयम् । पार्श्वतीयम् । यहां शङ्का होती है कि अव्ययों की टि का लोप विधायक "अव्ययानां भमात्रे टिलोप' है पुनः यह लोप विधान व्यर्थ है गणसूत्र से यह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि अव्ययों की भसंज्ञा में टिलोप विधायक वचन अनित्य है । तेन आरातीय यहां अनित्य का फल यह हुआ कि टिलोप न हुआ । जन एवं पर को छप्रत्यय होता है तत्सन्नियोग शिष्ट इन दोनों को कुक् आगम भी होता है, जनकीयम् । परकीयम् । देव को भी छ एवं कुक्, देवकीयम् । स्वको भी छ एवं कुक स्वकीयम् । वेणुकादि से छण् प्रत्यय होता है ।

१३६५ प्राचां कटादेः ४।२।१३९।

प्राग्देशवाचिनः कटादेश्च छः स्यात् । अणोऽपवादः । कटनगरीयम् । कटघोषीयम् । कटपल्वलीयम् ।

पूर्वदेशवाचक कटादि से पर छप्रत्यय होता है । यह अण् का बाधक है ।

१३६६ राज्ञः क च ४।२।१४०।

वृद्धत्वाच्छे सिद्धे तत्सन्नियोगेन कादेशमात्रं विधीयते । राजकीयम् ।

राजन् शब्द को क आदेश होता है एवं राजन् से उत्तर छ प्रत्यय होता है । राज्ञ इदम् कार्यम् राजकीयम् ।

१३६७ वृद्धादकेकान्तखोपधात् ४।२।१४१।

अक इक एतदन्तात् खोपधाच्च वृद्धाद्देशवाचिनश्छः स्यात् । ब्राह्मणको नाम जनपदो यत्र ब्राह्मणा आयुधजीविनस्तत्र जातो ब्राह्मणकीयः । शाल्मलिकीयः । अयोमुखीयः ।

अक एवं इक वे हैं अन्त में जिनको ऐसे शब्दों से खोपध देशवाचक वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक से छप्रत्यय होता है । वृद्ध एवं देशवाचक का सर्वत्र अन्वय है जहां ब्राह्मण शास्त्रधारण से जीवन निर्वाह करते है वहां उत्पन्न अर्थ में ब्राह्मणकीयः । यहां कोपधादण् से अण् प्राप्त था । अयोमुखीयः यहां वाहीक ग्राम लक्षण ठञ् ञिठ प्राप्त था उसको छ ने बाध किया ।

१३६८ कन्थापलदनगरग्रामह्रदोत्तरपदात् ४।२।१४२।

कन्थादिपञ्चकोत्तरपदाद् देशवाचिनो वृद्धाच्छः स्यात् । ठञ्ञिठादेरपवादः दाक्षिकन्थीयम् । दाक्षिपलदीयम् । दाक्षिनगरीयम् दाक्षिग्रामीयम् । दाक्षिह्रदीयम् ।

कन्था, पलद, नगर, ग्राम, ह्रद इनके उत्तरपद में रहते देशवाचक एवं वृद्धसंज्ञक प्रतिपादिक से छ प्रत्यय होता है । वाहीक ग्रामत्वेन ठञ् एवं ञिठ तथा रोपधेतोः' से वुञ् इनका यह अपवाद है ।

१३६९ पर्वताच्च ४।२।१४३।

पर्वतीयः ।

पर्वतशब्द से जातादि अर्थ में छप्रत्यय होता है । पर्वते भवः– पर्वतीयः ।

१३७० विभाषाऽमनुष्ये ४।२।१४४।

मनुष्यभिन्नेऽर्थे पर्वताच्छो वा स्यात् । पक्षेऽण् । पार्वतीयानि पार्वतानि वा फलानि । अमनुष्येति किम् , पर्वतीयो मनुष्यः ।

मनुष्य भिन्न अर्थ में पर्वत से जातादि अर्थ से छ विकल्प से होता है । पक्ष में अण् फल अर्थ दो रूप । मनुष्य अर्थ में छप्रत्ययान्त एक रूप है ।

१३७१ कृकणपर्णाद् भारद्वाजे ४।२।१४५।

भारद्वाजदेशवाचिभ्यां छः । कृकणीयम् । पर्णीयम् । भारद्वाजेति किम् कार्कणम् । पार्णम् ।

भारद्वाज देशवाचक कृकण एवं पर्ण इन से छप्रत्यय होता है । अन्यत्र अण् यहां भारद्वाज शब्द देश परक हैं प्रत्ययार्थ नहीं वह प्रकृत्यर्थ में विशेषण है ।

१३७२ युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च ४।३।१।

चाच्छः । पक्षेऽण् । युवयो युष्माकं वा अयं युष्मदीयः । अस्मदीयः ।

युष्मद् अस्मद् शब्द से खञ् विकल्प से होता है । चकार से छप्रत्यय भी होता है । पक्ष में अण् प्रत्यय होता है । खञ् एवं अण् में विशेष कार्य वक्ष्यमाण है अतः छ प्रत्यय के रूप प्रथम यहां निर्दिष्ट किये है सूचिकटाह न्याय से अल्प समय साध्य कार्य प्रथम एवं अधिक समय साध्य कार्य पश्चात होता है । लोहकार के पास जाकर एक ने कहा कि 'सूचिं कुरु' अन्य ने कहा

'कराड कुरु' तथैव प्रकृत में युष्मदीय, अस्मदीय । छप्रत्यय यहां है 'त्यदादीनि च' से वृद्धसंज्ञा कर वृद्धाच्छ से छप्रत्यय हुआ । नित्य छप्रत्यय प्राप्त था किंतु खञ् अण् ने उसको विकल्प किया ।

१३७३ तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ ४।३।२।

युष्मदस्मदोरेतावादेशौ स्तः खञि अणि च । यौष्माकीणः । आस्माकीणः यौष्माकः । आस्माकः ।

खञ एवं अण प्रत्यय पर रहते युष्मद् एवं अस्मद् के स्थान में क्रमशः युष्माक एवं अस्माक आदेश होता है । खञ पक्ष में ख को ईनादेश आदि वृद्धि युष्माक एवं अस्माक आदेश आदि वृद्धि से यौष्माकीण । आस्माकीण । अण पक्ष में यौष्माक आस्मक युवयो युष्मावम् वा अयम् आवयो अस्माकम् वा यहां द्विवचनान्त या बहुवचनान्त में पूर्वोक्त रूप है ।

१३७४ तवकममकावेकवचने ४।३।२।

एकार्थवाचिनो युष्मदस्मदोस्तवकममकौ स्तः खञ्यणि च । तावकीनः । तावकः । मामकीनः । मामकः । छे तु ।

खञ या अण् पर में रहते एकत्व विशिष्टार्थक युष्मद् एवं अस्मद् स्थान में क्रमशः तवक एवं ममक आदेश होते हैं । तव अयं तावकीनः खञ पक्ष में अण् में तावकः । ममायम् मामकीन । मामकः । छप्रत्यय में तो ।

१३७५ प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ७।२।९८।

मपर्यन्तयोरेकार्थयोस्त्वमौ स्तः प्रत्यये उत्तरपदे च । त्वदीयः । मदीयः ।

प्रत्यय या उत्तरपद पर में रहते एकत्व विशिष्टार्थक युष्मद् एवं अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को त्व एवं म आदेश क्रमशः होता है । तव अयं त्वदीयः ममायम् मदीयः । त्व अद् अतो गुण से पररूप हुआ ।

१३७६ अर्धाद् यत् ४।३।४।

अर्ध्यः ।

अर्ध शब्द से उत्तर यत् प्रत्यय होता है ।

१३७७ परावराधमोत्तमपूर्वाच्च ४।३।५।

परार्द्ध्यम् । अपरार्द्ध्यम् । अधमार्द्ध्यम् । उत्तमार्द्ध्यम् ।

पर अवर, अधम, उत्तम इनके पूर्व से रहते अर्ध से यत् प्रत्यय होता है ।

१३७८ दिक्पूर्वपदाट्ठञ्च ४।३।६।

चाद् यत् । पौर्वार्द्धिकम् । पूर्वार्द्ध्यम् ।

दिक् वाचक शब्द पूर्व में रहते अर्ध से ठञ् एवं चकार से यत् प्रत्यय होता है ।

१३७९ ग्रामजनपदैकदेशादञ्ठञौ ४।३।७।

ग्रामैकदेशवाचिनो जनपदैकदेशवाचिनश्च दिक्पूर्वपदाद् अर्द्धान्ताद् अञ् ठञौ स्तः । इमेऽस्माकं ग्रामस्य जनपदस्य वा पौर्वार्द्धाः । पौर्वार्द्धिकाः । ग्रामस्य

पूर्वस्मिन् देशे भवा इति तद्धितार्थे समासः। ठञ्ग्रहणं स्पष्टार्थम्। अञ् चेत्युक्तेर्यतोऽनुकर्षः सम्भाव्येत।

ग्रामका एक अंश का वाचक एवं देश का एक अंश वाचक जो दिग्वाचक शब्द पूर्वक अर्धान्त प्रातिपदिक उससे अञ् एवं ठञ् प्रत्यय होता है। यहां ठञ् ग्रहण स्पष्टार्थ है। 'अञ् च' कहने से यत् का भी अनुकर्षण की सम्भावना होती उसकी व्यावृत्ति व्याख्यान से होती किन्तु स्पष्टज्ञानार्थ ठञ् किया है।

१३८० मध्यान्मः ४।३।८।

मध्यमः।

मध्यशब्द से उत्तर मप्रत्यय होता है। मध्ये भवः=मध्यमः।

१३८१ अ साम्प्रतिके ४।३।९।

मध्यशब्दात् अकारप्रत्ययः स्यात् साम्प्रतिकेऽर्थे। उत्कर्षापकर्षहीनो मध्यो वैयाकरणः। मध्यं दारु। नातिह्रस्वं नातिदीर्घमित्यर्थः।

साम्प्रतिक अर्थ में मध्य शब्द से अकार प्रत्यय होता है। साम्प्रतिक=न्याय्य्। साधारण वैयाकरक अर्थ में अप्रत्यय से मध्यः। न बहुत छोटा न बहुत बड़ा काठ अर्थ में मध्यं दारु।

१३८२ द्वीपादनुसमुद्रं यञ् ४।३।१०।

समुद्रस्य समीपे यो द्वीपस्तद्विषयाद् द्वीपशब्दाद् यञ् स्यात्। द्वैप्यम्। द्वैप्या।

समुद्र के समीप में जो द्वीप तद् विषयीभूत द्वीप से यञ् प्रत्यय होता है। द्वैप्यम्। द्वैप्या यहां यञश्च से ङीप् न हुआ अपत्याधिकारस्थ यञ् का उसमें ग्रहण है। समुद्रम् समया 'अनुसमुद्रम्' अनुयत्समया से अव्ययीभावः। विद्यमानक्रियाद्वारा अधिकरणत्वेन सप्तमी। समीपे विद्यमानमित्यर्थः।

१३८३ कालाट्ठञ् ४।३।११।

कालवाचिभ्यष्ठञ् स्यात्। मासिकम्। सांवत्सरिकम्। सायम्प्रातिकः। पौनःपुनिकः। कथं तर्हि 'शार्वरस्य तमसो निषिद्धये' इति कालिदासः। अनुदितौषसरागेति भारविः। समानकालीनं प्राक्कालीनमित्यादि च। अपभ्रंशा एवैत इति प्रामाणिकाः। तत्र जात इति यावत्कालाधिकारः।

कालवाचक शब्द से ठञ् प्रत्यय होता है भवादि अर्थ में। मासे जातम्=मासिकम्। संवत्सरे जातम् सांवत्सरिकम्। सायम्प्रातः जातम् सायम्प्रातिकः। अव्ययानां भमात्रे से टिलोप शार्वरिकम् होना चाहिये औषसिकः एवं समानकालिकः होना चाहिये शार्वर आदि न होना चाहिये। वे सूत्रमर्यादाविरुद्ध होने से अप्रामाणिक ही हैं। 'तत्र जातः' तक काल का अधिकार है। यहाँ काल पद से कालबोधक का ग्रहण है अतः कालबोधक 'सायम्प्रातः' है। यहां काल से कालस्वरूप का ग्रहण न करना, ठञ् बाधनार्थ 'सन्धिवेला' सूत्र से अण् विधान से। कालबोधक मासादिवत् काल भी है अतः कालिकः आदि प्रयोग सिद्धिः। कालिकी—व्याप्तिः।

१३८४ श्राद्धे शरदः ४।३।१२।

ठञ् स्यात् । ऋत्वणोऽपवादः । शारदिकं श्राद्धम् ।

श्राद्ध अर्थ में भवादि अर्थ में समर्थ शरद् से ठञ् प्रत्यय होता है। यह अण् का बाधक है। पितरों के लिए भक्ति से जो कर्म शास्त्रानुमोदित किया जाय उसको श्राद्ध कहते हैं। 'प्रज्ञाश्रद्धा' आदि से अण् प्रत्ययान्त श्रद्धायुक्तपुरुष का श्राद्ध से यहां ग्रहण नहीं है, अनभिधान के कारण।

१३८५ विभाषा रोगातपयोः ४।३।१३ ।

शारदिकः शारदो वा रोग आतपो वा । एतयोः किम् , शारदं दधि ।

रोग एवं आतप अर्थ में शरद् से विकल्प ठञ् होता है। अन्यत्र अण्।

१३८६ निशाप्रदोषाभ्यां च ४।३।१४।

वा ठञ् स्यात् । नैशिकम् । नैशम् । प्रादोषिकम् । प्रादोषम् ।

निशा एवं प्रदोष से विकल्प ठञ् होता है। प्रदोष = रजनीमुखम्।

१३८७ श्वसस्तुट् च ४।३।१५ ।

श्वस् शब्दाट् ठञ् वा स्यात्तस्य तुडागमश्च ।

श्वस से विकल्प ठञ् होता है एवं उसको तुट् का आगम होता है।

१३८८ द्वारादीनां च ७।३।४।

द्वार, स्वर, व्यल्कश, स्वस्ति, स्वर, स्फ्यकृत्, स्वादु, मृदु, श्वस्, श्वन्, स्व, एषां न वृद्धिरैजागमश्च । शौवस्तिकम् ।

द्वारादिगण पठित शब्दों के आदि अच् की वृद्धि नहीं होती है किन्तु पदान्त यकार वकार को ऐच् (ऐ औ) आगम होता है।

१३८९ सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण् ४।३।१६।

सन्धिवेलादिभ्य ऋतुभ्यो नक्षत्रेभ्यश्च कालवृत्तिभ्योऽण् स्यात् । सन्धिवेलायां भवं सान्धिवेलम् । ग्रैष्मम् । तैषम् । सन्धिवेला-सन्ध्या, अमावास्या, त्रयोदशी चतुर्दशी । पौर्णमासी । प्रतिपद् । *संवत्सरात् फलपर्वणोः । सांवत्सरं फलं पर्व वा । सांवत्सरिकम् अन्यत् ।

कालवृत्ति सन्धिवेलादि शब्दों ऋतु वाचक शब्दों से नक्षत्र वाचक शब्दों से अण् प्रत्यय होता है। फल एवं पर्व अर्थ में संवत्सर से अण प्रत्यय होता है। छप्रत्यय को बाधनार्थ सूत्र में अण् ग्रहण किया है। अन्यथा यथा विहित प्रत्यय से अण् हो ही जाता। पौर्णमासी से वृद्धत्व प्रयुक्त छ प्रत्यय न हुआ। 'तैषम्' में हस्तादित्व से यकार लोप है।

१३९० प्रावृष एण्यः ४।३।१७।

प्रावृषेण्यः ।

प्रकर्षेण मेघो वर्षति यस्याम् ऋतौ सा प्रावृट् । तत्र भव अर्थ में प्रावृष से एण्य प्रत्यय होता है। वर्षा ऋतु में होने वाला पदार्थ।

१३९१ वर्षाभ्यष्ठक् ४।३।१८।

वर्षासु साधु वार्षिकं वासः। कालात् साधुपुष्यत्पच्यमानेष्विति साध्वर्थे।

साधु अर्थ में वर्षा से ठक् प्रत्यय होता है। ठको इकादेश आदि वृद्धि आकार का लोप। कालवाचक से साधु अर्थ में पुष्यत् में एवं पच्यमान अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।

१३९२ सर्वत्राण् तलोपश्च ४।३।२२।

हेमन्तादण् स्यात् तकारलोपश्च वेदलोकयोः। चकारात् पक्षे ऋत्वण्—हैमनम् हैमन्तम्।

लोक एवं वेद में हेमन्त शब्द से अण् प्रत्यय एवं तकार का लोप होता है। सूत्र में चकार ग्रहण से पक्ष में ऋतु वाचक से विहित अण् होता है 'सन्धिवेला ऋतु' से इस अण् में तलोप नहीं।

१३९३ सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च ४।३।२३।

सायमित्यादिभ्यश्चतुर्भ्योऽव्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्यष्ट्यु ट्युलौ स्तस्तयोस्तुट् च। तुटः प्रागनादेशः, 'अनद्यतने' इत्यादिनिर्देशात्। सायन्तनम्। चिरन्तनम्। प्राह्णप्रगयोरेदन्तत्वं निपात्यते। प्राह्णेतनम्। प्रगेतनम्। दोषातनम्। दिवातनम्। ॐ चिरपरुत्परारिभ्यस्त्नो वक्तव्यः ॐ। चिरत्नम्। परुत्नम्। परारित्नम्। ॐ अग्रादिपश्चाड्डिमच् ॐ। अग्रिमम्। आदिमम्। पश्चिमम्। ॐ अन्ताच्च ॐ। अन्तिमम्।

सायम्, चिरम्, प्राह्णे, प्रगे इन अव्यय से एवं कालवाचक अन्य अव्ययों से ट्यु एवं ट्युल् प्रत्यय होता है एवं इन दोनों प्रत्ययों को तुट् आगम होता है।

अनद्यतन इस निर्देश से तुट् आगम के पूर्व ही युवोरनाकौ' से अनादेश होता है। निर्देश का अनाश्रयण करते तो अन्तरङ्गत्व के कारण तुट् आगम से मृत्यु की तरह ल्यु प्रत्यय होने से अङ्गसंज्ञा निमित्त जो यु उसको विधीयमान अनादेश न होकर अनद्यत्नु के 'अनद्यत्नी' निर्देश होता एवं सायन्तनम् आदि प्रयोगों की असिद्धि होती। अनादेश की पूर्व प्रवृत्ति में 'यकालतनेषु' यह भी प्रमाण है। अन्तरङ्ग परिभाषा अनित्य है अतः पूर्व तुट् न हुआ। अनित्य में निर्देश ही प्रमाण है। सायन् भवं सायन्तनम्। षो अन्तकर्मणि से घञ् दिन के अवसान में सायन् रूढ है प्रत्यय सन्नियोग में मान्तत्व निपातित है।

भाष्यकार ने 'सायम्' को अव्यय मान कर सूत्र में सायम् का यहां प्रत्याख्यान कर दिया है। कालवाचक साय शब्द नहीं है अतः ठञ् नहीं अनिष्ट रूप की असम्भावना ही है। अथवा ऐसे रूपों का ठक् प्रत्ययान्त का अनभिधान ही है। चिरन्तनम्। यहां भी प्रत्यय सन्नियोगशिष्ट चरको मान्तत्व निपातन है। स्वरादि में पठित मान्त चिरम् अव्यय है पुनः चिर का ग्रहण यहां नहीं करना। प्राह्णेतनम्। प्राह्णः सोढोऽस्य प्राह्णेतनम्। प्राह्ण एवं प्रग इनको एकारान्तत्व का निपातन है।

सप्तमी होने पर 'घकालतनेषु' से अलुक् होकर रूपसिद्धि होती पुनः एकार निपातन न करना यह भी किसी का मत विचारणीय है। चिरत्नम्। यहां ट्यु एवं ट्युल् भी होता है सूत्र में चिरग्रहण से यह कथन ठीक नहीं है मान्त चिरम् से ही ट्युट् ट्युल् का विधान है, चिरम्

अव्यय है वह भी न करना। चिर, परुत् परारि से त्न प्रत्यय होता है*। चिरत्नम्। पूर्ववर्ष को परुत् कहते हैं। पूर्वतर को परारि कहते हैं। अग्र आदि शब्द से एवं पश्चात् से डिमच् प्रत्यय होता है। अन्त शब्द से भी डिमच् होता है। डित्त्व प्रयुक्त टिलोप होता है। अन्तिमम् = अन्ते भवम्।

१३९४ विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम् ४।३।२४।

आभ्यां ट्युट्युलौ वा स्तस्तयोस्तुट् च। पक्षे ठञ्। पूर्वाह्णेतनम्। अपराह्णेतनम्। घकालतनेष्वित्यलुक्। पूर्वाह्णः सोढोऽस्येति विग्रहे तु पूर्वाह्णतनम्। अपराह्णतनम्। पौर्वाह्णिकम्। आपराह्णिकम्।

पूर्वाह्ण एवं अपराह्ण के उत्तर ट्यु एवं ट्युल् प्रत्यय होता है। एवं प्रत्यय को तुट् का आगम होता है। यहां सप्तमी का अलुक् है। अह पूर्वं पूर्वाह्ण स सोढ. अस्य इस विग्रह में पूर्वाह्णतनम्।

१३९५ तत्र जातः ४।३।२५।

सप्तमीसमर्थाज्जात इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च स्युः। स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः। औत्सः। राष्ट्रियः। अवारपारीणः। इत्यादि।

सप्तमी विभक्ति है अन्त में जिसको ऐसा जो समर्थ प्रातिपादिक उससे जात अर्थ में अणादि प्रत्यय एवं घादि प्रत्यय होते है। 'शेषे' सूत्र विधायक है उससे अण् यहां जात अर्थ में सिद्ध ही है। एवं घादि प्रत्ययों के अधिकार से वे भी सिद्ध ही है पुनः यह सूत्र क्यों किया? जात अर्थ में ही अणादि एवं घादि प्रत्यय होते है इस नियम के लिए तो यह नहीं है। चक्षुषा गृह्यते आदि में चाक्षुषम् आदि रूपों की असिद्धि का प्रसङ्ग होगा। समर्थ विभक्ति निर्देशार्थ भी नहीं। आक्षेप से ही लब्ध हो जाती है। सूत्र यह किस प्रयोजन के लिए है?, समाधान—'प्रावृषष्ठप्' इत्यादि के बाधनार्थ इसकी आवश्यकता है। स्रुघ्ने जातः अण् स्रौघ्न। औत्स यहां अञ् प्रत्यय है। राष्ट्रिय यहां घ प्रत्यय है। अवारपारीण यहां ख प्रत्यय है।

१३९६ प्रावृषष्ठप् ४।३।२६।

एण्यस्यापवादः। प्रावृषि जातः प्रावृषिकः।

जात अर्थ में सप्तम्यन्त प्रावृष् से ठप् होता है। यह एण्य का बाधक है।

१।३।९७ संज्ञायां शरदो वुञ् ४।३।२७।

ऋत्वणोऽपवादः। शारदकाः = दर्भविशेषा मुद्गविशेषाश्च।

संज्ञा अर्थ में सप्तम्यन्त शरद् से जात अर्थ में वुञ् प्रत्यय होता है। यह अण् का बाधक है। शरदि जाता शारदका = कुशा या मूंग।

१३९८ उत्तरपदस्य ७।३।१०।

अधिकारोऽयम्। हनस्त इत्यस्मात् प्राक्।

हनस्त सूत्र के पूर्व तक उत्तरपद का अधिकार है। सूत्र को उद्देश्यकर यहां अधिकारत्व विधेय है। अधिकार पुल्लिङ्ग है तद्गत पुंस्त्व से 'अधिकारोऽयम्' कहा है उद्देश्य एवं विधेय का ऐक्य

सम्पादक सर्वनाम कचित् उद्देश्यगत लिङ्ग का बोधक होता है। कचित् विधेयगत लिङ्ग का बोधक होता है यथा यहाँ सूत्र नपुंसक है उसका लिङ्ग को बोधन न किया। यथा शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य।

१३९९ अवयवाद् ऋतोः ७।३।११।

अवयववाचिनः पूर्वपदाद् ऋतुवाचिनोऽचामादेरचो वृद्धिः स्यात् ञिति णिति किति च तद्धिते परे। पूर्ववार्षिकः। अपरहैमनः। अवयवात् किम्, पूर्वासु वर्षासु भवः पौर्ववर्षिकः। ऋतोर्वृद्धिमद् विधावयवानामिति तदन्तविधिः पूर्वत्र, इह तु न, अवयवत्वाभावात्।

ञित्, णित्, कित् तद्धितप्रत्यय पर रहने अवयव वाचक पूर्वपद से पर ऋतु वाचक जो शब्द उसके अवयव जो अच् समूह उनका जो आदि अच् उसकी वृद्धि होती है। वर्षाणां पूर्वः, हेमन्तस्य अपरः इस विग्रह में पूर्वापराधरोत्तरम् से यह एकदेशिसमास है। पूर्ववार्षिकः। वर्षाभ्यष्ठक् से ठक् प्रत्यय है। वर्षा के आदि अच् अकार को वृद्धि न हुई, उत्तरपदवृद्धि से उसका बाध हुआ है। अपरहैमनः। सर्वत्राण् तलोपश्च से अण् तलोप उत्तर पद के आदि अच् की वृद्धि है। जहां पूर्वपद अवयव वाचक नहीं इससे उत्तर पद के आदि अच् की वृद्धि नही हुई।

पूर्वासु वर्षासु यहां पूर्वपदार्थ एवं उत्तर पदार्थ का एकार्थ बोधकत्व रूप सामानाधिकरण्य है यहां पूर्वा शब्द अवयव वाचक नहीं है। यथा—पूर्वासु वर्षासु भवः यहां तद्धितार्थ में समास है। ठक् प्रत्यय पूर्वपद के आदि अच् की वृद्धि से पौर्ववर्षिकः। 'वर्षाभ्यष्ठक्' से केवल वर्षा से ही ठक् प्रत्यय होता है तदन्त से नहीं अतः तदन्त विधि का उपाय करते हैं—

ऋतु वाचक शब्द से वृद्धि के निमित्तक प्रत्यय विधान में तदन्तविधि होती है, वह ऋतु वाचक शब्द अवयव वाचक शब्द से पर में रहने पर। यथा पूर्ववार्षिकः। अपरहैमनः। पौर्ववर्षिकः यहां पूर्व शब्द अवयव वाचक नहीं है अतः तदन्त विधि नहीं है वर्षाभ्यष्ठक् से यहां ठक् नहीं हुआ किन्तु सामान्य सूत्र जो 'कालात् ठञ्' से ठञ् प्रत्यय हुआ है। एवं 'अवयवाद् ऋतोः' से वृद्धि भी नहीं हुई है।

१४०० सुसर्वार्द्धाज्जनपदस्य ७।३।१२।

उत्तरपदस्य वृद्धिः। सुपाञ्चालकः। सर्वपाञ्चालकः। अर्धपाञ्चालकः जनपदतदवध्योरिति वुञ्। सुसर्वार्द्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्येति तदन्तविधिः।

सु सर्व अर्ध इनसे उत्तर जनपद वाचक जो शब्द उसके अवयव जो अच् समूह उनमें जो आदि अच् उसकी वृद्धि होती है। 'सुपाञ्चालकः' यहां वुञ् प्रत्यय है उत्तरपद के आद्यच् की इससे वृद्धि है। यहां सुसर्वार्ध वार्तिक से तदन्तविधि है। इस लिए पूर्वोक्त प्रयोगों में वुञ् प्रत्यय हुआ है।

१४०१ दिशोऽमद्राणाम् ७।३।१३।

दिग्वाचकाज्जनपदवाचिनो वृद्धिः। पूर्वपाञ्चालकः। दिशः किम्, पूर्वपाञ्चालानाम् अयं पौर्वपञ्चालः। अमद्राणां किम्, पौर्वमद्रः। योगविभाग उत्तरार्थः।

दिग् वाचक शब्द से उत्तर मद्रभिन्न जनपद वाचक जो शब्द उसके आदि अच् की वृद्धि होती है। यथा पूर्वपाञ्चालक। जहा पूर्वशब्द दिक् वाचक नहीं है। वहा पूर्व पद के आदि अच् को 'तद्धितेषु' सूत्र से होती है। पूर्वपञ्चालानाम् अयम् पौर्वपञ्चाल। उत्तरपद वाचक मद्र होने से पौर्वमद्र। उत्तर सूत्र में दिग् वाचक की अनुवृत्ति के लिए योगविभाग किया है।

१४०२ प्राचां ग्रामनगराणाम् ७।३।१४।

दिशः परेषां ग्रामवाचिनां नगरवाचिनां चाङ्गानामवयवस्य च वृद्धिः। पूर्वेषुकामशम्यां भवः पौर्वेषुकामशमः। नगरे—पूर्वपाटलिपुत्रकः।

दिग् वाचक शब्द से पर प्राच्यग्राम वाचक एवं प्राच्य नगर वाचक जो शब्द वे है अन्त में जिसको ऐसा जो अङ्ग उसका अवयव जो उत्तर पद उसके अवयव जो अच् समुदाय उसका अवयव जो आदि अच् उसको वृद्धि होती है। यथा—पूर्वा चासौ इषुकामशमी तत्र भवः अण् उत्तरपद के आदि अच को इससे वृद्धि पुवद्भाव पौर्वेषुकामशम। यह ग्राम का उदाहरण है। नगर में पूर्वपाटलिपुत्रक।

विमर्श—सूत्र में ग्राम से पृथक नगर ग्रहण क्यों किया ?, ग्राम से ही नगर का ग्रहण होता, मनुष्य जहा निवास करते हैं वह ग्राम है नगर पदार्थ भी वही है। ग्राम में जो कार्य इष्ट नहीं है वह नगर में भी नहीं किया जाता है। यथा—'अभक्ष्यो ग्रामकुक्कुटः' इति इतरो नागरोऽपि न भक्ष्यते 'ग्रामे नाध्येतव्यम्' इति साधीयो नगरेऽपि नाधीयते। इससे सिद्ध हुआ कि नगर भी ग्राम ही है।

शास्त्र में भी "उदीच्यग्रामाच्च बह्वचोऽन्तोदात्तात्' एवं "वाहीकग्रामेभ्यश्च' तथा दिक् शब्दा ग्रामजनपदाख्यानचानराटेषु' यहा ग्राम से नगर का ग्रहण होता ही है। इस शङ्का का समाधान इस प्रकार है—उभय का उपादान 'सम्बन्ध भेद प्रतिपत्त्यर्थ है' इसका आशय यह है—दिक् पूर्वपदो हि समुदाय —पूर्वेषु कामशम्यादि ग्रामनामधेय है। पाटलिपुत्रादि पुनरुत्तरपदमेव नगरमाह— 'तत्र ग्रामवाचिनामङ्गानामवयवस्य दिक्पूर्वपदादुत्तरस्य च नगरवाचिनामुत्तरपदानामवयवस्य वृद्धिर्भवति इत्येवमभिसम्बन्धः क्रियते। इतरत्र तु दिशः उत्तरेषां नगराणामित्येव। यह संक्षेप यहां है।

श्रीहरदत्तमिश्र कृत पदमञ्जरी एवं श्रीजिनेन्द्र बुद्धिपाद विरचित न्यास जो श्रीवामनाचार्यकृत व्या० 'काशिका' पर है उसको देखिए। वैयाकरण गण इन ग्रन्थ रत्नों की व्याख्याओं की उपेक्षा न करें महान् शब्दराशि एवं वैदुष्य वर्धक शास्त्रीय विषय इनमें है। यह कवि की उक्ति सार्थक है।

अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥

शास्त्रार्थ वाद प्रधान व्याकरणाध्ययन से प्रमेय बाहुल्य इस आर्षज्ञान भण्डार की उपेक्षा से शब्द विद्या का महान् ह्रास हुआ है।

अनेक वैयाकरणों ने आजीवन इन ग्रन्थ रत्नों का दर्शन ही नहीं किया होगी यह महान् कष्ट का विषय है। पाठ्यक्रम में जो विषय नहीं उसकी उपेक्षा प्राय स्नातक भी करते हैं।

श्रीपञ्चोलि विरचित अभिनव प्रभा समस्त सूत्रपाठ पर है उसे देखिए। जिसमें समस्त सूत्र की संस्कृत में व्याख्या एवं प्रत्येक के अनेक उदाहरण एवं स्थल विशेष में अन्य रहस्य प्रकाशन है। वैदिक मन्त्रों का उदाहरणों में संग्रह है। वैयाकरणों की प्रशंसा में यह उक्ति है।

रूपान्तरेण ये देवा विचरन्ति महीतले।
ये व्याकरणसंस्कारपवित्रितमुखा नराः॥

यह पद्य पदमञ्जरीकार श्रीहरदत्तोक्ति का है।

१४०३ पूर्वाह्णापराह्णार्द्रमूलप्रदोषावस्कराद् वुन् ४।३।२८।

पूर्वाह्णकः। अपराह्णकः। आर्द्रकः। मूलकः। प्रदोषकः। अवस्करकः।

पूर्वाह्ण, अपराह्ण, आर्द्र मूल, प्रदोष, अवस्कर इन सप्तम्यन्त से जातादि अर्थ में वुन् होता है। 'विभाषा पूर्वाह्ण' को बाधकर वुन् = पूर्वाह्णकः। इसी प्रकार अपराह्णकः। आर्द्रकः। मूलकः। इन दो स्थलों में नक्षत्रत्वेन प्राप्त अण् का बाधक है। प्रदोषकः में निशाप्रदोषाभ्याम् को बाधकर वुन्। अवस्करकः औत्सर्गिक अण् का बाधक है।

१४०४ पथः पन्थः च ४।३।२९।

पथि जातः पन्थकः।

सप्तम्यन्त पथिन् शब्द से जात अर्थ में वुन् होता है एवं पथिन् को पन्थ आदेश होता है। पन्थकः।

१४०५ अमावास्याया वा ४।३।३०।

अमावास्यकः। आमावास्यः।

सप्तम्यन्त अमावास्या से जात अर्थ में वुन् प्रत्यय होता है। यह सूत्र 'सन्धिवेला' से प्राप्त अण् का बाधक है। यहां ह्रस्वमध्य अमावस्या का भी ग्रहण है। अमा उपपदपूर्वक वस् से ण्यत् उपधावृद्धि कर ह्रस्व होकर अमावस्या, ह्रस्व विकल्प से पक्ष में अमावास्या सूत्र 'अमावास्यदन्यतरस्याम्'। प्रकृति ग्रहण से विकृति का भी ग्रहण होता है। अमावस्यकः। वुन् अमावास्यकः। अण् में आमावास्यः।

१४०६ अ च ४।३।३१।

अमावास्यः।

अमावास्या शब्द से जात अर्थ में अकार प्रत्यय होता है। अमावास्यायां जातः अमावास्यः।

१४०७ सिन्ध्वपकराभ्यां कन् ४।३।३२।

सिन्धुकः। कच्छाद्यणि मनुष्यवुञि च प्राप्ते। अपकरकः। औत्सर्गिकेऽणि प्राप्ते।

सप्तम्यन्त सिन्धु एवं अपकर से जात अर्थ में कन् प्रत्यय होता है। इस कन् ने अण् एवं वुञ् का बाध किया है। यथा सिन्धुकः यहां कच्छादि के कारण अण् प्रत्यय प्राप्त है। एवं मनुष्यार्थक में वुञ् प्राप्त है सूत्र—मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ्। अपकरकः में औत्सर्गिक अण् प्रत्यय की प्राप्ति होती है। कन् प्रत्यय हुआ।

१४०८ अणञौ च। ४।३।३३।

क्रमात् स्तः। सैन्धवः। आपकरः।

सप्तम्यन्त सिन्धु एव अपकर से जात अर्थ में अण् एवं अन् प्रत्यय क्रमश: होता है। यथासंख्यार्थ योगविभाग है। सैन्धव –अण्। आपकर –अञ्।

१४०९ श्रविष्ठाफल्गुन्यनुराधास्वातितिष्यपुनर्वसुहस्तविशाखा-पाढाबहुलाल्लुक् ४।३।३४।

एभ्यो नक्षत्रवाचिभ्य परस्य जातार्थप्रत्ययस्य लुक् स्यात्।

श्रविष्ठा, फल्गुनी, अनुराधा, स्वाति, तिष्य, पुनर्वसु, हस्त, विशाखा, आषाढा बहुला इन नक्षत्र वाचक शब्दों से पर जातार्थक प्रत्यय का लुक्=अदर्शन होता है।

१४१० लुक् तद्धितलुकि १।२।४९।

तद्धितलुकि सत्युपसर्जनस्त्रीप्रत्ययस्य लुक् स्यात्। श्रविष्ठासु जातः श्रविष्ठः। फाल्गुनइत्यादि। ॐ चित्रारेवतीरोहिणीभ्यः स्त्रियामुपसङ्ख्यानम् ॐ। चित्रायां जाता चित्रा। रेवती रोहिणी आभ्यां लुक् तद्धितलुकीति लुकि कृते पिप्पल्यादेराकृतिगणत्वात् पुन ङीप्। ॐ फल्गुन्यषाढाभ्यां टानौ वक्तव्यौ ॐ। स्त्रियामित्येव। फल्गुनी। अषाढा ॐ श्रविष्ठाषाढाभ्यां छण् वक्तव्यः ॐ। अस्त्रियामपि। श्राविष्ठीय। आषाढीय।

तद्धित प्रत्यय का लुक् होने पर उपसर्जन स्त्रीप्रत्यय का भी लुक् होता है। श्रविष्ठा = श्रविष्ठा तासु जात अण् लुप् टाप् का लुक् श्रविष्ठ। अप्रधान उपसर्जन का यहां ग्रहण है। शास्त्रीय असम्भव है। 'गो स्त्रियो' मे शास्त्रीय उपसर्जन गृहीत है इस लिए हरीतक्या फलानि हारीतक्य यहां ह्रस्व न हुआ। अवन्ती। कुन्ती, कुरू यहां उपसर्जन नहीं अत स्त्रीप्रत्ययों का इससे लुक् नहीं हुआ।

चित्रा रेवती रोहिणी से स्त्रीलिङ्ग में जातादि अर्थ में विहित प्रत्यय का लुक् होता है। यथा चित्रायां जाता चित्रा अण् का लुप्। रेवती एवं रोहिणी के उत्तर तद्धित लुक् उपसर्जन स्त्रीप्रत्यय का लुक कर के पिप्पलादि आकृति गण होने से पुन ङीप् हुआ है। स्त्रीलिङ्ग में फल्गुनी, अषाढा शब्द से ट एवं अन् प्रत्यय होता है। फल्गुनी यहा टित्वात् ङीप्। अषाढा यहां अन् टाप्। यह स्त्रीलिङ्ग में ही कार्य होता है श्रविष्ठा एवं आषाढा से छण् प्रत्यय स्त्रीलिङ्गभिन्नमें भी। श्राविष्ठीयः। आषाढीय पुरुष।

१४११ जे प्रोष्ठपदानाम् ७।३।१८।

प्रोष्ठपदानामुत्तरपदस्याचामादेरचो वृद्धिः स्याज्जातार्थे ञिति णिति किति च। प्रोष्ठपदासु जात प्रोष्ठपादो माणवकः। जे इति किम्, प्रोष्ठपदासु भवः प्रौष्ठपद। बहुवचननिर्देशात्पर्य्यायोऽपि गृह्यते। भद्रपाद।

जातार्थ में विधीयमान ञित्, णित्, कित् प्रत्यय पर रहते प्रोष्ठपद के परवर्ती आदि अच् को वृद्धि होती है। 'तद्धितेषु' का अपवाद है। जातार्थ में इस की प्रवृत्ति है भवार्थक प्रत्यय में यह उत्तरपद को वृद्धि नहीं करता है। यहां सूत्र मे बहुवचन निर्देश से प्रोष्ठपदा का समानार्थक का भी ग्रहण है भद्रपदासु जात भद्रपाद।

१४१२ स्थानान्तगोशालखरशालाच्च ४।३।३५।

एभ्यो जातार्थप्रत्ययस्य लुक् स्यात् । गोस्थानः । गोशालः । खरशालः । विभाषा सेनेति ह्रस्वत्वम् ।

सेनान्त, गोशाल, खरशाल शब्द से विहित जातार्थक प्रत्यय का लुक् होता है । गोस्थाने जातः । गोस्थानः । गोशाले जातः । खरशाले जातः । यहां शाला का आकार का 'विभाषा सेना' से ह्रस्व हुआ है ।

१४१३ वत्सशालाभिजिदश्वयुक् छतभिषजो वा ४।३।३६।

एभ्यो जातार्थस्य लुक् वा स्यात् । वत्सशाले जातो वत्सशालः । वात्सशाल इत्यादि । * जातार्थे प्रतिप्रसूतोऽण वा डिन् वक्तव्यः * । शातभिषः । शातभिषजः । शतभिषक् ।

वत्सशाल, अभिजित्, अश्वयुक्, शतभिषज् से विहित जो जातार्थक प्रत्यय उसका विकल्प से लुक् होता है । कालात् ठञ् से निवृत्त जो औत्सर्गिक अण् सन्धिवेलादि सूत्र से पुन अनुज्ञात है वह जातार्थक अण् विकल्प से डित् होता है । प्रत्यय का विकल्प से लोप । दो विकल्प में तीन रूप हुए । जहां डित् वहां टिलोप—शातभिषः । डित् के अभाव में शातभिषजः । लुक् शतभिषक् ।

१४१४ नक्षत्रेभ्यो बहुलम् ४।३।३७।

जातार्थप्रत्ययस्य बहुलं लुक् स्यात् । रोहिणः । रौहिणः ।

नक्षत्र वाचक शब्द से विहित जातार्थक प्रत्यय का बहुल करके लुक् होता है । रोहिण्यां जातः रोहिणः प्रत्यय जो अण् उसका लुक् कर लुक्तद्धित से स्त्री प्रत्यय का भी लुक् से रोहिणः । लुगभावपक्ष में रौहिणः ।

१४१५ कृतलब्धक्रीतकुशलाः ४।३।३८।

तत्रेत्येव । स्रुघ्ने कृतो लब्धः क्रीतः कुशलो वा स्रौघ्नः ।

सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से कृत, लब्ध, क्रीत, कुशल अर्थ में अणादि एवं घादि प्रत्यय होते हैं । कृतत्व एवं क्रीतत्व ये दोनों क्रमशः कृतार्थ एवं लब्धार्थ का व्याप्य है ऐसी अवस्था में इनका ग्रहण क्यों किया ? कृतत्व एवं क्रीतत्व प्रकारक बोधार्थ उनका ग्रहण किया है । इसी लिए जातार्थक में विहित प्रत्यय का लोप होनेपर भी कृतार्थ में लुक् नहीं होता है । स्रुघ्ने कृतः लब्धः जातः कुशलो वा स्रौघ्नः ।

१४१६ प्रायभवः ४।३।३९।

तत्रेत्येव । स्रुघ्ने प्रायेण बाहुल्येन भवति स्रौघ्नः ।

सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से 'प्रायः होता है' इस अर्थ में अणादि एवं घादि प्रत्यय होते हैं । प्रायः = बाहुल्यम् ।

१४१७ उपजानूपकर्णोपनीवेष्ठक् ४।३।४०।

औपजानुकः । औपकर्णिकः । औपनीविकः ।

उपजानु, उपकर्ण, उपनीवि शब्द से जातादि अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । यह तीनों का सामीप्य अर्थ में अव्ययीभाव है । सौत्रत्व के कारण पुंल्लिङ्ग है ।

१४१८ सम्भूते ४।३।४१।

स्रुघ्ने सम्भवति स्रौघ्नः ।

सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से अणादि प्रत्यय होते हैं ।

१४१९ कोशाड्ढञ् ४।३।४२।

कौशेय वस्त्रम् ।

सप्तम्यन्त कोश से सम्भवार्थ में ढञ् प्रत्यय होता है । कोशे भवम्=कौशेयम् । यह वस्त्रविशेष में योगरूढ है सदेव सौम्य ? इदमग्रे आसीत् यह सत्कार्य वाद है यह समस्त पदार्थ समूह अनादि परम्परया विद्यमान है केवल आविर्भाव एव तिरोभाव होने से उत्पत्ति नाश की कल्पनामात्र है न कोइ पदार्थ, उत्पन्न होता है न नष्ट ही होता है यह सत्कार्यवाद साङ्ख्यसम्मत एवं वैयाकरण सम्मत है ।

"आविर्भावतिरोभावौ भावानां सैव नास्तिता ।
लब्धक्रमे तिरोभावे नश्यतीति व्यपदिश्यते ॥"

यह वाक्यपदीय कारिका से स्पष्ट है । प्रकृत में कोश में सम्भव इसी सिद्धान्त से सम्भव है ।
मतान्तर में विकारार्थक ढञ्प्रत्यय होता है—कौशेयम् ।

१४२० कालात् साधुपुष्प्यत्पच्यमानेषु ४।३।४३।

हेमन्ते साधुर्हैमन्तः=प्राकारः । वसन्ते पुष्यन्ति वासन्त्यः=कुन्दलताः । शरदि पच्यन्ते शारदाः=शालयः ।

कालवाचक शब्द से साधु, प्रस्फुटन, पच्यमान अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं । यहां पुष्यत् शत्रन्त है । दिवादिगणपठित पुष् धातु श्यन् विकरण है ।

साधु अर्थ में हैमन्तः=प्राकारः । पुष्यत् में वासन्त्यः । पच्यमान में शारदाः ।

१४२१ उप्ते च ४।३।४४।

हेमन्ते उप्यन्ते हैमन्ता यवाः ।

कालवाचक शब्द से उत्तर वपनकर्म=उप्त अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं । जब हेमन्त में बोये जाते हैं ।

१४२२ आश्वयुज्या वुञ् ४।३।४५।

ठञोऽपवादः । आश्वयुज्याम् उप्ता आश्वयुजका माषाः ।

सप्तम्यन्त आश्वयुजी से वुञ् प्रत्यय होता है । अश्विनी नक्षत्र का पर्यायवाचक अश्वयुक् उससे युक्ता पौर्णमासी आश्वयुजी तत्र उप्ताः=यवा आश्वयुजकाः ।

१४२३ ग्रीष्मवसन्तादन्यतरस्याम् ४।३।४६।

पक्षे ऋत्वण् । ग्रैष्मकम् । ग्रैष्मम् । वासन्तकम् । वासन्तम् ।

सप्तम्यन्त ग्रीष्म एव वसन्त से विकल्प वुञ् होता है । पक्ष में अण् ।

१४२४ देयमृणे ४।३।४७।

कालादित्येव । मासे देयम् ऋणं मासिकम् ।

दानकर्म को देय कहते हैं । दा धातुसे कर्म में यत् ईद्यति से ईकार गुण से देयम् । कालवाचक सप्तम्यन्त से देय ऋण अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। मासे देयम् ऋणम् मासिकम् ।

१४२५ कलाप्यश्वत्थयवबुसाद् वुन् ४।३।४८।

यस्मिन् काले मयूराः कलापिनो भवन्ति स उपचारात्कलापी तत्र देयम् ऋणं कलापकम् । अश्वत्थस्य फलमश्वत्थस्तद्युक्तः कालोऽप्यश्वत्थः । यस्मिन् कालेऽश्वत्थाः फलन्ति तत्र देयम् अश्वत्थकम् । यस्मिन् यवबुसमुत्पद्यते तत्र देयं यवबुसकम् ।

कलापिन् , अश्वत्थ, यवबुस, इन काल वाचक शब्द से देय ऋण अर्थ में वुन् प्रत्यय होता है। जिस समय मोर पिच्छ युक्त हो उस समय में लक्षणारूपा वृत्ति का अवलम्बन करने के कारण कलापी से समय प्रसिद्ध होता है उस समय में देय ऋण अर्थ में वुन् प्रत्यय से कलापकम् ।

अश्वत्थ के फल अर्थ में लक्षणया अश्वत्थ फल युक्त समय भी उपचार = लक्षणा से अश्वत्थ है जिस काल में अश्वत्थ फल युक्त होता है उस काल में देय ऋण में अश्वत्थकम् ।

विमर्श—जिस समय यव का भूसा उत्पन्न होता है उस समय देय ऋण अर्थ में यवबुसकम् । भारत की सामाजिक व्यवस्था उस काल का इस से प्रतीति होती है कि पशुपालक एवं कृषक वर्ग उधार कर्ज लेकर जीवन निर्वाह करते थे एवं उनकी आर्थिक स्थिति जिस समय कुछ सुधरती थी तब कर्ज को वे चुकाते हैं इसमें आनाकानी या समय अनावश्यक व्यतीत नहीं करते थे एवं ऋण समय कृत प्रतिज्ञा का पालन वे सत्यनिष्ठा से करते थे । सम्प्रति भी खेतिहरों को कृषि की उन्नति के लिए राज्य सरकार (सर्वकार) कर्ज देती है ।

१४२६ ग्रीष्मावरसमाद् वुञ् ४।३।४९।

ग्रीष्मे देयम् ऋणं ग्रैष्मकम् । आवरसमकम् ।

सप्तम्यन्त ग्रीष्म एवं अवरसम से वुञ् होता है देय ऋण अर्थ में । सूत्र में समाहारद्वन्द्व है । अवरशब्द यहाँ दिग् वाचक नहीं है अतः दिक्संख्ये संज्ञायाम् नियम की अप्राप्ति से असंज्ञा में समास से कर्मधारय हो गया है । अवरसम का अर्थ = आगामि वर्षों में प्रथम वर्ष है । अवरसम में देयम् ऋणम् आवरसमकम् ।

१४२७ संवत्सराग्रहायणीभ्यां ठञ् च ४।३।५०।

चाद् वुञ् । सांवत्सरिकम् । सांवत्सरकम् । आग्रहायणिकम् । आग्रहायणकम् ।

सप्तम्यन्त संवत्सर एवं आग्रहायणी शब्द से ठञ् प्रत्यय होता है । चकार से पक्ष में वुञ् होता है । ठञ् एवं वुञ् से दो दो रूप हुए । यहां 'ठञ् च' न कहकर 'वा' कहकर 'वा' कहना ही उचित है ।

१४२८ व्याहरति मृगः ४।३।५१।

कालवाचिनः सप्तम्यन्ताच्छन्दायत इत्यर्थे अणादयः स्युः, यो व्याहरति स मृगश्चेत् । निशायां व्यवहरति नैशो मृगः । नैशिकः ।

शब्द का उच्चारण कर्ता मृग रहने पर काल वाचक सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से शब्दायते अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं। निशाया व्याहरति नैश- अण् प्रत्यय। नैशिक- में ठञ् प्रत्यय हुआ है। 'निशाप्रदोषाभ्याञ्च' से।

१४२९ तदस्य सोढम् ४।३।४२।

कालादित्येव। निशासहचरितमध्ययनं निशा तत् सोढमस्य नैशः। नैशिकः।

प्रथमान्त से 'अस्य सोढम्' अर्थ में अणादि प्रत्यय होता है। इसीसे कालवाचक शब्द से पर प्रत्यय होता है। रात्रि में अध्ययन को उपचार से निशा कहते हैं। वह सहन कर्म हो इसको वह नैश अण्। नैशिक ठञ् होता है। सह+क्त कर्म में सहन कर्म सोढम्। 'न लोका व्यय' से निषेध ने अस्य में कर्तरि षष्ठी का सम्भव नहीं है अतः क्रियाकारकभाव सम्बन्ध की विवक्षा में शेषे षष्ठी है। सोढम् = अभ्यस्तम्। अन्य से उक्त दुर्वचन सहनरूप क्षमारूप नहीं है किन्तु पुनः पुनः परिशीलन में क्रिया तत्परक है। अतः सोढम् = अभ्यस्तम् कहा है। काल का स्वरूपतः सहन का अयोग है अतः सहचरित क्रिया में यहाँ लक्षणा है।

१४३० तत्र भवः ४।३।५३।

स्रुघ्ने भवः स्रौघ्नः। राष्ट्रियः।

भव अर्थ में सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से अण् आदि प्रत्यय होते हैं। अण् स्रौघ्न। घप्रत्यय राष्ट्रिय।

१४३१ दिगादिभ्यो यत् ४।३।५४।

दिश्यम्। वर्ग्यम्।

पुग्यम्। पक्ष्यम्। धाय्यम्, मित्र्यम्। मेध्यम्। वश्यम्। अनुवंश्यम्। वेश्यम्। काश्यम्। मुख एव जघन में भी यत् मुख्यम्। जघन्यम्। सेनायाः मुखे भवम् मुख्यम्। यहाँ मुख शब्द शरीरावयव नहीं है। सेनाया जघने भवम् = जघन्यम्।

१४३२ शरीरावयवाच्च ४।३।५५।

दन्त्यम्। कर्ण्यम्।

शरीर के अवयव वाचक सप्तम्यन्त से भवादि अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। दन्ते भवम्-दन्त्यम्। कर्णे भवम् कर्ण्यम्।

१४३३ प्राचां नगरान्ते ७।३।२४।

प्राचां देशे नगरान्तेऽङ्गे पूर्वपदस्योत्तरपदस्य चाचामादेरचो वृद्धिर्ञिति णिति किति च। सुह्मनगरे भवः सौह्मनागरः। पौर्वनागरः। प्राचां किम्, मद्रनगरम् उदक्षु तत्र भवो माद्रनगरः।

ञित णित कित तद्धित पर रहते प्राचीन देशीय नगरान्त अङ्ग के पूर्वपद एवं उत्तरपद के आद्यच् की वृद्धि होती है। यहाँ षष्ठ्यन्त 'अङ्गस्य' अर्थवश सप्तम्यन्तत्व से परिणत हुआ है। उदक्षुभव में माद्रनगर यही होता है।

१४३४ जङ्गलधेनुवलजान्तस्य विभाषितमुत्तरम् ७।३।२५।

जङ्गलाद्यन्तस्याङ्गस्य पूर्वपदस्याचामादेरचो वृद्धिरुत्तरपदस्य वा ञिति णिति किति च। कुरुजङ्गले भवं कौरुजाङ्गलम्। कौरुजङ्गलम्। वैश्वधेनवम्। वैश्वधैनवम्। सौवर्णवालजम्। सौवर्णवलजम्।

ञित णित कित तद्धित प्रत्यय पर रहते जंगल है आदि में जिन शब्दों के उनके अन्त में रहने पर पूर्वपद के आदि अच् की वृद्धि नित्य होती है उत्तरपद के आदि अच् की विकल्प से वृद्धि होती है। कुरुदेश का अरण्य में उत्पन्न अर्थ में अण्, उभयपद वृद्धि से कौरुजाङ्गलम्। संसार के धेनु में उत्पन्न अर्थ में वैश्वधैनवम्। यहां उकार का 'ओर्गुणः' से गुण अवादेश है।

१४३५ दृतिकुक्षिकलशिवस्त्यस्त्यहेर्ढञ् ४।३।५६।

दार्तेयम्। कौक्षेयम्। कलशिः=घटः तत्र भवं कालशेयम्।

दृति, कुक्षि, कलशि, वस्ति, अस्ति, अहि इन सप्तम्यन्त से भवादि अर्थ में ढञ् प्रत्यय होता है। चर्मविकार को दृति कहते हैं। अथवा शरीरावयवविशेष दृति वाच्य है। कुक्षि शब्द का धूमादि में पाठ से वुन् प्राप्त था उसको ढञ् ने बाध किया है। मन्थपात्र को कलशि कहते हैं। नाभि के नीचे के भाग को वस्ति कहते हैं। अस्ति तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय है। वह तिङन्त समानार्थ एवं भिन्नार्थक है। अस्तिक्षीरा गौः यहां समानार्थक है। अस्तिमान्=धनवान् यहां भिन्नार्थक है। सर्पार्थक अहि से विष अर्थ में प्रत्यय होता है। दार्तेयम्। कौक्षेयम्। कालशेयम्। वास्तेयम्। आस्तेयम्। आहेयम्।

१४३६ ग्रीवाभ्योऽण् ४।३।५७।

चात् ढञ्। ग्रैवम्। ग्रैवेयम्।

सप्तम्यन्त ग्रीवादि शब्दों से उत्तर भवादि अर्थ में अण् प्रत्यय एवं चकार से ढञ् प्रत्यय होता है। यह 'शरीरावयवाद् यत्' का निषेधक है। धमनीसंघात को ग्रीवा कहते हैं। अवयवगत संख्या उद्भूत होने से बहुवचन है। तिरोहित अवयव गत संख्यायुक्त से भी एकवचनान्त से प्रत्यय द्वय होते ही हैं।

ग्रीवासु ग्रीवायां वा भवं ग्रैवम्। ग्रैवेयकम्।

१४३७ गम्भीराञ्ञ्यः ४।३।५८।

गम्भीरे भवं गाम्भीर्यम्।

सप्तम्यन्त गम्भीरशब्द से भवार्थ में ञ्यप्रत्यय होता है। गाम्भीर्यम्।

१४३८ अव्ययीभावाच्च ४।३।५९।

परिमुखं भवं पारिमुख्यम्। ॐपरिमुखादिभ्य एवेष्यतेॐ। नेह-औपकूलः।

अव्ययीभाव संज्ञक से ञ्यप्रत्यय होता है। वह केवल सभी अव्ययीभाव संज्ञक से नहीं किन्तु परिमुखादि से ही अतः कूलस्य समीपम् उपकूलम् तत्र भव यहां अण् ही हुआ, ञ्य न हुआ। यह परिगणन का फल है। सामान्य शास्त्र में परि आदि से अतिरिक्त में संकोच बोधन करना है।

१४३९ अन्तःपूर्वपदाट्ठञ् ४।३।६०।

अव्ययीभावादित्येव । देशमनि इति अन्तर्वेश्मन्, तत्र भवम् आन्तर्वेश्मिकम् ※ आन्तर्गणिकम् । अध्यात्मादेष्ठञिष्यते ※ । अध्यात्मं भवमाध्यात्मिकम् ।

अन्त शब्द है पूर्व में जिसको ऐसे अव्ययीभावसंज्ञक से ठञ प्रत्यय होता है । विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव कर सप्तम्यर्थ प्रतीति में भव अर्थ में ठञ हुआ है । अध्यात्मादि शब्दों से भी ठञ् होता है आत्मनि इति अध्यात्मम् तत्र भवम् अनेन से ठञ प्रत्यय है आध्यात्मिकम् प्रातिशारयन् । 'आन्तर्वेश्मिकम्' नपुंसकात्' से टच है ।

१४४० अनुशतिकादीनाञ्च ७।३।२०।

एषामुभयपदवृद्धि स्यात् ञिति णिति किति च । आधिदैविकम् । आधिभौतिकम् । ऐहलौकिकम् । अध्यात्मादिराकृतिगण ।

ञित णित कित तद्धितप्रत्यय पर रहते अचो के मध्य में जो आदि अच उनकी वृद्धि उभय पद की होती है । अध्यात्मादिराकृतिगण है ।

१४४१ देविकाशिंशपादित्यवाड्दीर्घसत्रश्रेयसामात् ७।३।१।

एषा पञ्चाना वृद्धिप्राप्तावादेरच आत् ञिति णिति किति च । दाविकम् । देविकाकूले भवा दाविकाकूला =शालय । शिंशपाया विकार शांशपश्चमस । पलाशादिभ्यो वेत्यञ । दित्यौह इद दात्यौहम् । दीर्घसत्र भव दार्घसत्रम् । श्रेयसि भव श्रायसम् ।

ञित णित कित तद्धित पर रहते देविका, शिंशपा, दित्यवाट, दीर्घसत्र श्रेयस इनके आदि अच् को प्राप्त वृद्धि को बाध करके आत्व होता है देविकाया भवन् दाविकम अण् आकारादेश अन्यथा कार का लोप है । नदी विशेष वाचक देविका शब्द है देविकाया कूलम् तत्र जाता शालय षष्ठी तत्पुरुष कर जातार्थक अण् आकारादेश दाविकाकूला शालय । शिंशपाया विकार अर्थ में अञ् आत्व शांशप =चमस । दित्यवाह् से षष्ठी में दित्यौह इद दात्यौहम् । दार्घसत्रम् । प्रशस्य ईयसुन् आदेश प्रकृति भाव गुण श्रेयस् तत्र भव श्रायसम् ।

१४४२ ग्रामात् पर्यनुपूर्वात् ४।३।६१।

ठञ स्यात । अव्ययीभावादित्येव । पारिग्रामिक । आनुग्रामिक ।

परि एव अनुपूर्वक ग्रामान्त अव्ययीभाव संज्ञक से भवादि अर्थ में ठञ प्रत्यय होता है ।

१४४३ जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः ४।३।६२।

जिह्वामूलीयम् । अङ्गुलीयकम् ।

जिह्वामूल एव अङ्गुलि से छप्रत्यय होता है । जिह्वामूलीयम् । अङ्गुलीयम् ।
सप्तम्यन्त जिह्वामूल एव अङ्गुलीय से भवार्थ में छप्रत्यय होता है ।
जिह्वाया मूल तत्र भव । शरीरावयवाच्च स प्राप्त यत् का बाधक यह है ।

१४४४ वर्गान्ताच्च ४।३।६३।

कवर्गीयम् ।

सप्तम्यन्त वर्गान्त प्रातिपदिक से छप्रत्यय होता है। कवर्गे भवम्-कवर्गीयम् ।

१४४५ अशब्दे यत्खावन्यतरस्याम् ४।३।६४।

पक्षे पूर्वेण छः। मद्वर्ग्यः। मद्वर्गीणः। मद्वर्गीयः। अशब्दे किम्, कवर्गीयो वर्णः।

अशब्द अर्थ में वर्गान्त सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से भावार्थ में यत् ख एवं छप्रत्यय होता है। यत मद्वर्ग्यः। ख-मद्वर्गीणः। छ-मद्वर्गीयः। कवर्ग में उत्पन्न वर्ण अर्थ में केवल पूर्व से छप्रत्यय होकर कवर्गीयः = वर्णः।

१४४६ कर्णललाटात्कन् अलङ्कारे ४।३।६५।

कर्णिका। ललाटिका।

सप्तम्यन्त कर्ण एवं ललाट से अलङ्कार अर्थ में कन् प्रत्यय होता है। आभूषण विशेष स्त्रीलिङ्ग में कर्णिका। ललाटिका।

१४४७ तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः ४।३।६६।

सुपां व्याख्यानः सौपो ग्रन्थः। कार्तः। सुप्सु भवम् सौपम्।

व्याख्यातव्य ग्रन्थ के प्रतिपादक षष्ठयन्त से व्याख्यान अर्थ में तादृश सप्तम्यन्त से भावार्थ में में अण् प्रत्यय होता है। सुपान् तिङान्, कृतां व्याख्यानः सौपः। तैङः। कार्तः सप्तम्यन्त से भावार्थ में सुप्सु भवं सौपम्। व्याख्यान का कर्म विषय होता है। कर्ता आचार्य एवं कथन रूपा क्रिया है।

१४४८ बह्वचोऽन्तोदात्ताट्ठञ् ४।३।६७।

षत्वणत्वयोर्विधायकं शास्त्रं षत्वणत्वं तस्य व्याख्यानः, तत्र भवो वा षात्वणत्विकः।

पूर्व प्रदर्शित अर्थ में बहुत अचों से युक्त अन्तोदात्त शब्द से पर ठञ् प्रत्यय होता है। षत्व (षकार) णत्व (णकार) उसका विधायक जो शास्त्र उसको षत्व णत्व कहते हैं उसका व्याख्यान या उसमें भव में षात्वणत्विकः।

१४४९ क्रतुयज्ञेभ्यश्च ४।३।६८।

सोमसाध्येषु यागेष्वेतौ प्रसिद्धौ। तत्रान्यतरोपादानेन सिद्धे उभयोरुपादानसामर्थ्यादसोमका अपीह गृह्यन्ते। अग्निष्टोमस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा आग्निष्टोमिकः वाजपेयिकः। पाकयज्ञिकः। नावयज्ञिकः। बहुवचनं स्वरूपविधिनिरासार्थम्। अनन्तोदात्तार्थ आरम्भः।

व्याख्यातव्य ग्रन्थ के प्रतिपादक षष्ठयन्त से व्याख्यान अर्थ में एवं तादृश सप्तम्यन्त से भवार्थ में क्रतु एवं यज्ञ वाचक शब्द से ठञ् प्रत्यय होता सोम साध्य याग में वे दोनों प्रसिद्ध है।

इनमें एक के कथन मात्र से कार्य निर्वाह होता पुन सूत्र में दोनों का ग्रहण क्यों किया ? वह व्यर्थ होकर बोधन करता है कि सोमसाध्य मे भिन्न अर्थात् असोमक का भी यहां ग्रहण होता है यथा आग्निष्टोमिक । स्वरूप विधि निरास के लिए सूत्र में बहुवचन निर्देश है। अन्तोदात्तार्थ इस सूत्र का प्रारम्भ है। पाकयज्ञ – अल्पयज्ञ, वैश्वदेव होम । नवयज्ञ = आग्रयणम् । वाजपेयिक वाजे = यवागूमि सम्पादनीय वाजपेय मध्योदात्त पेयशब्द 'यताऽनाव' से आद्युदात्त है।

१४५० अध्यायेष्वेवर्षेः ४।३।६९।

ऋषिशब्देभ्यो लक्षणया व्याख्येयग्रन्थवृत्तिभ्यो भवे व्याख्याने चाध्याये ठञ् स्यात् । वसिष्ठेन दृष्टो मन्त्रो वसिष्ठस्तस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा वासिष्ठिकोऽध्याय । अध्यायेषु किम्, वासिष्ठी ऋक ।

लक्षणा से व्याख्येय ग्रन्थवृत्ति ऋषिवाचक शब्द से भवार्थ में एव व्याख्यानार्थ में अध्यायरूप अर्थ वाच्य रहते ठञ् प्रत्यय होता है। वसिष्ठेन दृष्टा ऋक् वासिष्ठी भवार्थ में अण् लोप ।

१४५१ पौरोडाशपुरोडाशात् ष्ठन् ४।३।७०।

पुरोडाशसहचरितो मन्त्र पुरोडाश स एव पौरोडाश तत. ष्ठन् पौरोडाशिक । पुरोडाशिक ।

पुरो दाश्यते पुरोडाश, दाशृ दाने कर्मणि घञ निपातनात् दकार को डकार । पुरोडाशसहचरितमन्त्र में लक्षणावृत्ति से पुरोडाशत्व का आरोप है। स्वार्थ में अण् से पौरोडाश उससे ष्ठन् प्रत्यय पौरोडाशिक । पुरोडाशिक ।

१४५२ छन्दसो यदणौ ४।३।७१।

छन्दस्य । छान्दस ।

छन्दस् शब्द से भव एव व्याख्यान अर्थ में यत् एव अण् होता है। यह द्व्यच्लक्षण ठक का अपवाद है। यहां दो अर्थ एव दो प्रत्यय में अस्वरितत्व के कारण यथा सख्य नहीं है।

१४५३ द्व्यजृद्ब्राह्मणर्क्प्रथमाध्वरपुरश्चरणनामाख्याताट्ठक् ४।३।७२।

द्व्यच —ऐषिक । पाशुक । ऋत्-चातुर्होतृक । ब्राह्मणिक । आर्चिक इत्यादि ।

दो अच युक्त ऋक रा त, ब्राह्मण, ऋच्, प्रथम अध्वर, पुरश्चरण, नामन्, आख्यात इन शब्द [illegible] उत्तर ठक् प्रत्यय होता है।

१४५४ अण् ऋगयनादिभ्यः ४।३।७३

ठञादेरपवाद । आर्गायन । औपनिषद । वैयाकरण ।

ऋगयन आदि शब्दों के पर अण् प्रत्यय होता है। यह ठञादि प्रत्ययों का बाधक है। ठक् छ प्रत्यय भी बाध्य इसका है। ऋक् अयन का समास है। अयन शब्द भाव साधन है, 'अनो भाव कर्मवचन' से ऋगयन अन्तोदात्त है। अभेद का उपचार से ग्रन्थ में भी यह है। यहां 'बह्वचोऽन्तो

दत्तात्' से ठञ् प्राप्त था उसका अण् ने बाध किया। औपनिषदः यहां भी पूर्ववत् ज्ञान करना। विद्या, न्याय, शिक्षा से द्व्यच् लक्षण ठक् प्राप्त है। व्याकरण से 'वृद्धाच्छः' से छ प्राप्त है।

१४५५ तत आगतः ४।३।७४।

स्रुघ्नादागतः स्रौघ्नः।

पञ्चम्यन्त से आया = आगत अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं।

१४५६ ठगायस्थानेभ्यः ४।३।७५।

शुल्कशालाया आगतः शौल्कशालिकः।

आय स्थान का अर्थ - एति = गच्छति एनं स्वामी, अथवा स्वामिनम् अयन् पति आयः = स्वामिग्राह्यो भागः। स यस्मिन् उत्पद्यते तत् आयस्थानम्। जिसको लेने के लिए स्वामी जाय, या स्वामी को प्राप्त होनेवाला राजादि से ग्रहण कर्म अंश = टैक्स वहां जहां प्राप्त हो वह स्थान विशेष आयस्थान है। यहां स्वरूप निरासार्थ सूत्र में बहुवचन निर्देश है। शुल्कशाला से प्राप्त आय को शौल्कशालिकः कहते हैं। आयस्थानवाचक पञ्चम्यन्त से आगत अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है यह सूत्रार्थ है।

१४५७ शुण्डिकादिभ्योऽण् ४।३।७६।

आयस्थानठकश्छादीनां चापवादः। शुण्डिकादागतः शौण्डिकः। कार्कणः। तैर्थः।

पञ्चम्यन्त शुण्डिक आदि से आगत अर्थ में अण् होता है। यह अण् आयस्थान वाचक से प्राप्त ठक् एवं छ आदि प्रत्ययों का बाधक है। 'कार्कणः' में कृकणपर्णात् से छप्राप्त था। तैर्थमे धूमादित्व-प्रयुक्त वुञ् प्राप्त था। आदेशवाची में आयस्थान से ठक् प्राप्त था।

१४५८ विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ् ४।३।७७।

औपाध्यायकः। पैतामहकः।

विद्या एवं योनिसम्बन्ध वाचक शब्द यदि पञ्चम्यन्त हो तो आगत अर्थ में वुञ् प्रत्यय होता है। उपाध्यायात् आगतः पितामहात् आगतः उभयत्र वुञ्।

१४५९ ऋतष्ठञ् ४।३।७८।

वुञोऽपवादः। हौतृकम्। भ्रातृकम्।

पञ्चम्यन्त ऋकारान्त शब्द से आगत अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। होतुः, भ्रातुः, आगतम् हौतृकम्, भ्रातृकम् यहाँ ठको कादेश है।

१४६० पितुर्यच्च ४।३।७९।

चाट्ठञ्। रीङ् ऋतः। यस्येति लोपः। पित्र्यम्। पैतृकम्।

पञ्चम्यन्त पितृ शब्द से आगत अर्थ में यत् प्रत्यय चकार से ठञ् प्रत्यय होता है। पितृ+यत् रीङादेश ईकार लोप पित्र्यम्। ठक् को कादेश वृद्धि पैतृकम्।

१४६१ गोत्रादङ्कवत् ४।३।८०।

बिदेभ्य आगतं बैदम्। गार्गम्। दाक्षम्। औपगवकम्।

पञ्चम्य से आगत अर्थ में गोत्रप्रत्ययान्त से पर अङ्क अर्थ में विहित प्रत्यय होते हैं। सपाङ्क से अङ्काथ में अण् विहित है। उसको गोत्रान्त से आगत अर्थ में करना। औपगवकम् में गोत्रचरणात् से वुञ है। अपत्याधिकार से अन्यत्र लौकिकगोत्र का ग्रहण है। अङ्क में दृष्ट सभी प्रत्ययों का यहाँ अतिदेश करता है। विशेष विहित का ही नहीं अतिदेश करता है। 'सस्वेदम्' सामान्य विहित प्रत्यय भी अङ्क में दृष्ट है उसका भी अतिदेश हुआ।

१४६२ नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलनिपुणानाम् ७।३।३०।

नञः परेषां शुच्यादि पञ्चानामादेरचो वृद्धिः पूर्वपदस्य तु वा ञ्णिदादौ परे। आशौचम् अशौचम्। आनैश्वर्यम्। अनैश्वर्यम्। आक्षैत्रज्ञम्। अक्षैत्रज्ञम्। आकौशलम्। अकौशलम्। आनैपुण्यम्। अनैपुण्यम्।

नञ् से पर शुचि ईश्वर, क्षेत्रज्ञ, कुशल, निपुण इनके आदि अच् की वृद्धि होती है, पूर्वपद के आदि अच की विकल्प से वृद्धि होती है, नित् णित् कित् तद्धित प्रत्यय पर रहते।

१४६३ हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः ४।३।८१।

समादागतं समरूप्यम्। विषमरूप्यम्। पक्षे गहादित्वाच्छः। समीयम्। विषमीयम्। देवदत्तरूप्यम्। दैवदत्तम्।

हेतु एवं मनुष्यवाचक पञ्चम्यन्त से आगत अर्थ में रूप्य प्रत्यय विकल्प से होता है। सम एव विषम का पाठ गहादि में है अत छप्रत्यय भी होता है।

सम विषम हेतुवाचक एवं देवदत्त मनुष्य वाचक है। अहेस्वर्थ मनुष्यग्रहण किया है। बहुवचन स्वरूप निरासार्थ है। समरूप्यम्। विभाषा गुणे में योगविभाग से अगुण वाचक से भी पञ्चमी होती है समात् आगतम् = समरूप्यम्। योग विभाग में भाष्योक्त प्रयोग प्रमाण है "बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टे" इति।

१४६४ मयट् च ४।३।८२।

सममयम्। विषममयम्। देवदत्तमयम्।

पञ्चम्यन्त हेतुवाचक एवं मनुष्यवाचक से आगत अर्थ में मयट् प्रत्यय होता है।

१४६५ प्रभवति ४।३।८३।

तत इत्येव। हिमवतः प्रभवति हैमवती गङ्गा।

पञ्चम्यन्त से उत्पन्न उसमें होता है अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं। प्रभवति का अर्थ प्रथम प्रकाश है। उत्पत्यर्थक प्रभवति का यहाँ ग्रहण नहीं है। 'तत्र जात' से इसका भेद से निर्देश है। हिमालय से भागिरथी गङ्गा का प्रथम प्रकाशन है।

१४६६ विदूराञ्ञ्यः ४।३।८४।

विदूरात् प्रभवति वैदूर्यो मणिः।

प्रभवति = प्रथम प्रकाशन अर्थ में पञ्चम्यन्त विदूर से ञ्यप्रत्यय होता है।

विदूर शब्द पर्वत एवं नगर का वाचक है पर्वत में मणि उत्पन्न होकर विदूर नामक नगर में उसका संस्कार होता है। बालवाय पर्वत से यह मणि उत्पन्न होता है। बालवाय की विदूर

प्रकृत्यन्तर है। यहां अनेक मत हैं। नागेशाचार्यमत में वाल्वाय एवं विदूर शब्द पर्याय वाचक हैं ञ्यप्रत्ययरूप तद्धित वृत्तिविषय विदूर शब्द ही है। अतः वाल्वाय से ञ्यप्रत्यय विदूरादेश प्रकृति को यह व्याख्यान अनावश्यक गौरवग्रस्त है उपेक्ष्य है। यह श्रीपङ्क्तोलि मत है।

१४६७ तद्गच्छति पथिदूतयोः ४।३।८५।

स्रुघ्नं गच्छति स्रौघ्नः पन्था दूतो वा।

द्वितीयान्त समर्थ प्रतिपादिक से 'गच्छति' अर्थ में मार्ग या दूत वाच्य रहने पर अणादि प्रत्यय होते हैं।

१४६८ अभिनिष्क्रामति द्वारम् ४।३।८६।

तदित्येव। स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति स्रौघ्नम् = कान्यकुब्जद्वारम्।

द्वितीयान्त समर्थ प्रतिपादिकसे 'अभिनिष्क्रामति' अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। जो अभिनिष्क्रमति वह द्वार ही रहे स्रुघ्न के अभिमुख निष्क्रमण से वह करण भूत है। पूर्व की तरह करण को यो यहाँ कर्तृत्व है।

१४६९ अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ४।३।८७।

तदित्येव शारीरकमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शारीरकीयः। शारीरकं भाष्यमिति त्वभेदोपचारात्।

पूर्वकालिक अधिकार क्रिया जो क्रिया तन्निरूपित कर्मत्व प्रयुक्त द्वितीया होकर तत् = द्वितीयान्त यह अर्थ लब्ध है।

तदित्यधिकृत्य 'कृते ग्रन्थे' इसका अधिकार करके कृत ग्रन्थ इस अर्थ में द्वितीयान्त प्रातिपदिक से अणादि प्रत्यय होते हैं। कुत्सितं शरीरम् = शरीरकम्, तत्सम्बन्धी शारीरकः = जीवात्मा उसको अधिकृत्य = प्रस्तुत्य कृत = ग्रन्थ शारीरकीयः = चतुर्लक्षणीसूत्रसन्दर्भः, 'वृद्धाच्छः' से छप्रत्यय है।

शारीरकम् = जीवम् यह अर्थ है। शरीरस्य इदम् अर्थ में 'तस्येदम्' से अण् प्रत्यय कर स्वार्थ में शारीरमेव शारीरकम् प्रत्यय प्रतिपाद्य जीव प्रतिपादक भाष्य यहां दोनों का लक्षणा से अभेदारोप से शारीरकं भाष्यम् यह प्रयोग यथा कथञ्चित सिद्ध हुआ।

१४७० शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः ४।३।८८।

शिशूनां क्रन्दनं शिशुक्रन्दस्तमाधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शिशुक्रन्दीयः। यमस्य सभा यमसभम्, क्लीवत्वं निपातनात्। यमसभीयः। किरातार्जुनीयम्। इन्द्रजननादिराकृतिगणः। इन्द्रजननीयम्। विरुद्धभोजनीयम्।

शिशुक्रन्द, यमसभ, द्वन्द्वसमास युक्त शब्द, इन्द्रजननादि 'कृते ग्रन्थे' अर्थ में छप्रत्यय होता है। सभा में सूत्र निर्देश से नपुंसकत्व निमित्तक ह्रस्व है। किरातः = भिल्लवेशधारी भगवान् शङ्करः अर्जुनः = मध्यमपाण्डुपुत्रः इति द्वन्द्व से किरातार्जुनौ तौ अधिकृत्य कृतं कवि कर्म रूपं काव्यम् तत् किरातार्जुनीयम्। इन्द्रजननादि आकृतिगण है। विरुद्धञ्च तत् भोजनम् तद् अधिकृत्य कृतम् आख्यानम् विरुद्धभोजनीयम्। द्वन्द्व में देवासुरादि में छप्रत्यय का प्रतिषेध है दैवासुरम्। राक्षोसुरम्।

१४७१ सोऽस्य निवासः ४।३।८९।

स्रुघ्नो निवासोऽस्य स्रौघ्नः ।

प्रथमान्त समर्थ प्रातिपादिक से 'अस्य निवास.' अर्थ में अणादि होते हैं जो प्रथमान्तार्थ है वह निवास रहने पर ।

१४७२ अभिजनश्च ४।३।९०।

स्रुघ्नोऽभिजनोऽस्य स्रौघ्नः । यत्र स्वयं वसति स निवासः । यत्र पूर्वैरुषितं सोऽभिजन इति विवेकः ।

प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'अस्य अभिजन' अर्थ में अणादि प्रत्यय होता है । जिस स्थान में स्वयं कार्य विशेषार्थ रहता है वह निवास है । अभिजनाः = पूर्वबान्धवाः पित्रादय. अर्थात् पूर्व-पुरुषों ने जिस स्थान में वास किया है वह स्थलविशेष अभिजन है । निवास एवं अभिजन का यह भेद है निपूर्वक 'वस निवासे' से अधिकरण में घञ् प्रत्यय से वासक्रिया का अधिकरणस्थान=वास-क्रिया का कर्ता या कर्म उसका आधारभूत स्थान है अधिकरणकारक कर्तृ या कर्म द्वारा क्रिया का आधार है । साक्षात् नहीं है । स्रुघ्नाधिकरणकवासकर्ता यह अर्थ सिद्ध हुआ । पूर्वबान्धव वाची अभिजनशब्द लक्षणा से देश में विद्यमान यहां है । 'अस्य' यह षष्ठी कर्ता की शेषत्व विवक्षा में है ।

१४७३ आयुधजीविभ्यश्छः पर्वते ४।३।९१।

पर्वतवाचिनः प्रथमान्ताद् अभिजनशब्दाद् अस्येत्यर्थे छः स्यात् । हृद्-गोलः पर्वतोऽभिजनो येषान्ते हृद्गोलीयाः । आयुधेति किम् , ऋक्षोदः पर्वतो-ऽभिजनो येषान्ते आर्क्षोदा द्विजाः ।

पर्वतवाचक प्रथमान्त अभिजनवाचक शब्द से षष्ठ्यर्थ में (अस्य) छप्रत्यय होता है । भिन्न आयुधजीवियों से भिन्नार्थ में अण् आर्क्षोदा द्विज । 'आयुधजीविभ्य.' में तादर्थ्य में चतुर्थी है । 'क्रियार्थोपपदस्य' से चतुर्थी यहां होती है ।

१४७४ शण्डिकादिभ्यो ञ्यः ४।३।९२।

शण्डिकोऽभिजनोऽस्य शाण्डिक्यः ।

प्रथमान्त अभिजनवाचक से अस्य अर्थ में ञ्यप्रत्यय होता है । सार्वसेन्य । शाक्यः यह भी उदाहरण है ।

१४७५ सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ ४।३।९३।

सिन्ध्वादिभ्योऽण् स्यादुक्तेऽर्थे । सैन्धवः । तक्षशिला नगरी अभिजनोऽस्य ताक्षशिलः ।

प्रथमान्त अभिजनवाचक से अस्य यह षष्ठ्यर्थ में सिन्धु आदि से अण् प्रत्यय एवं तक्षशिलादि से अञ् प्रत्यय होता है ।

१४७६ तूदीशलातुरवर्मतीकूचवाराड्ढक्छण्ढञ्यकः ४।३।९४।

तूदी अभिजनोऽस्य तौदेयः । शालातुरीयः । वार्मतेयः । कौचवार्यः ।

प्रथमान्त समर्थ अभिजनवाचक तुदी, शलातुर, वर्म्मती, कुचवार इन चारों प्रातिपदिक से अस्य यह षष्ठ्यर्थ में। क्रमशः ढक्, छण्, ढञ्, यक् प्रत्यय होता है ढक्-तौदेयः। छण्—शालातुरीयः। ढञ् - वार्मतेयः। यक् = कौचवार्यः।

१४७७ भक्तिः ४।३।९५।

सोऽस्येत्यनुवर्तते। भज्यते = सेव्यते इति भक्तिः। स्रुघ्नो भक्तिरस्य स्रौघ्नः।

इसकी भक्ति इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से अणादि प्रत्यय होते हैं। कर्म में क्तिन् प्रत्ययान्त भक्ति शब्द सेवन क्रिया कर्मार्थक है। स्रुघ्न देश है सेवन क्रिया कर्म जिसका उसको स्रौघ्न कहते हैं।

१४७८ अचित्ताद् अदेशकालाट्ठक् ४।३।९६।

अपूपा भक्तिरस्य आपूपिकः। पायसिकः। अचित्तात् किम, दैवदत्तः। अदेशात् किम्, स्रौघ्नः। अकालात् किम्, ग्रैष्मः।

चेतन भिन्न देश एवं काल से भिन्न प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'अस्य भक्ति' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। अपूप = पूंवा = मालपूंवा है सेवन कर्म जिसका वह आपूपिकः। पयः भक्तिः अस्य पायसिकः। देवदत्तः भक्तिरस्य यहां चेतन देवदत्त हैं अण् प्रत्यय दैवदत्तः। स्रौघ्नः यहां देश है अतः अण्। ग्रैष्मः यहां कालवाचक प्रकृति से अण्। यहां 'अचित्त' स्वरूप ग्रहण नहीं है, अदेश काल का स्वरूप ग्रहण में वैयर्थ्य प्रसङ्ग के कारण।

१४७९ महाराजाट् ठञ् ४।३।९७।

माहाराजिकः।

प्रथमान्त समर्थ महाराज शब्द से 'अस्य भक्तिः' अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है।

१४७० वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् ४।३।९८।

वासुदेवकः। अर्जुनकः।

प्रथमान्त समर्थ वासुदेव एवं अर्जुन से 'अस्य भक्तिः' अर्थ में वुन् होता है।

वासुदेवो भक्तिरस्य वासुदेवकः। अर्जुनो भक्तिरस्य अर्जुनकः। 'अजाद्यदन्तम्' 'अल्पाच्तरम्' इन दो सूत्रों से यहां द्वन्द्व में अर्जुन का पूर्व निपात प्राप्त है किन्तु आचार्य द्वारा पूर्व निपात का अकरण ज्ञापन करता है कि सर्वथा अभ्यर्हित = पूज्य का ही पूर्व निपात अन्य योग में होता है।

विमर्श—वसुदेव के अपत्य अर्थ में ऋष्यन्धक से अण् प्रत्ययान्त वासुदेव शब्द है उससे 'गोत्र-क्षत्रियाख्येभ्यः' से वुञ् होकर रूप सिद्ध होता वुन् विधान इसको क्यों किया ?, वृद्धि प्रयुक्त विशेष भी नहीं है प्रथम से ही वा का आकार वृद्धि युक्त है। 'वृद्धि निमित्तस्य' पुंवद्भाव निषेधरूप प्रयोजन भी नहीं वुन् को करने पर भी 'न कोपधायाः' से पुंवद्भाव निषेध होता ही है।

वुञ् वुन् में स्वरप्रयुक्त विशेष भी नहीं आद्युदात्तत्व 'ञ्नित्यादिः' से है। 'अभ्यर्हितं पूर्वं न्' यह ज्ञापनार्थ भी वासुदेव ग्रहण यहां नहीं है पूर्वनिपात प्रकरण में 'अभ्यर्हितं पूर्वम्' पठित ही है। वह भी अनित्य है 'श्वयुवमघोनाम्' इस निर्देश से पुनः यहां वासुदेव ग्रहण का प्रयोजन चिन्त्य है। वस्तुतः वासुदेव यह भगवान् की संज्ञा है—सर्वत्र इनकी स्थिति है समस्त संसार जिनमें स्थित है इस लिए विद्वद्गण इनको वासुदेव कहते हैं।

"सर्वत्रासौ समस्तञ्च वसत्यत्रेति वै यत ।
तवोऽसौ वासुदेवेति विद्वद्भि परिकीर्त्यते" ॥

इस स्मृति मे परमात्मा वासुदेव है । वासु श्वासौ देवश्च वासुदेव ।

वासु वगादि वण प्रत्ययान्त है । यहां गोत्राख्या या क्षत्रियाख्या नहीं है । अत वुञ् अप्राप्त है । वुन् प्रत्ययार्थ सूत्र में वासुदेव ग्रहण उचित ही है । इति श्री पञ्चोलिन ।

१४८१ गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यो बहुलं वुञ् ४।३।९९।

अणोऽपवादः । परत्वाद् वृद्धाच्छं बाधते । ग्लुचुकायनि र्भक्तिरस्य ग्लौचुकायनक' । नाकुलकः । बहुलग्रहणान्नेह—पणिनो भक्तिरस्य पाणिनीय' ।

गोत्रप्रत्ययान्त एव क्षत्रिय वाचक समर्थ प्रथमान्त प्रातिपादिक से 'अस्य भक्ति' अर्थ में वुञ्प्रत्यय होता है । यहां लौकिक गोत्र है । यह अण् का बाधक होते हुए परत्व के कारण जहां वृद्धाच्छ प्राप्त है इसका भी बाधक है यथा 'औरगवक' । फिन् प्रत्ययान्त ग्लुचुकायनि से वुञ् ग्लौचुकायनक' । बहुलग्रहण से सर्वत्र वुञ् नहीं होता है । पाणिनो भक्तिरस्य पाणिनीय । यहां आख्या ग्रहण है 'क्षत्रिय शूर' यहां शूर से वुञ् न हुआ । 'पाणिन' यहां प्रवराध्यायप्रसिद्धत्व रूप लौकिकगोत्रत्व के अभाव से वुञ की इस सूत्र से प्राप्ति नहीं है पुन यह बहुलग्रहण का प्रयोजन नहीं है । यह प्रयोजन खोजने योग्य है । क्षत्रियांश में बहुल का प्रयोजन 'पौरवीय' यह है ।

१४८२ जनपदिनां जनपदवत्सर्वं जनपदेन समानशब्दानां बहुवचने ४।३।१००।

जनपदस्वामिवाचिना बहुवचने जनपदवाचिनां समानश्रुतीना जनपदवत् सर्वं स्यात् प्रत्यय' प्रकृतिश्च । जनपदतदवध्योश्चेति प्रकरणे ये प्रत्यया उक्तास्तेऽत्रातिदिश्यन्ते । अङ्गा जनपदो भक्तिरस्याङ्गक' । अङ्गाः=क्षत्रिया भक्तिरस्याङ्गक' । जनपदिना किम्, पञ्चाला ब्राह्मणा भक्तिरस्य पाञ्चालाः । जनपदेनेति किम्, पौरवो राजा भक्तिरस्य पौरवीय. ।

बहुवचन में जनपद वाचक शब्द के समान जो जनपद स्वामिवाचक शब्द उससे जनपद वाचक शब्द के समान प्रकृति एव प्रत्यय होता है । "जनपदतदवध्योश्च" इस सूत्र के प्रकरण में जो प्रत्यय उक्त है उन सबका यहां अतिदेश होता है । सारांश यह हुआ कि जनपद स्वामि वाचक बहुवचनान्त अङ्गादि शब्दोत्तर इस सूत्र से अण् प्रत्यय को बाधकर वुञ् प्रत्यय अतिदेश हुआ—यथा अङ्गा' जनपद' भक्ति' अस्य आङ्गक' । अङ्गा' क्षत्रिया भक्ति' अस्य आङ्गक. । जनपद स्वामी न होने पर पाञ्चाल । जनपद के असमान न होने पर पौरवो राजा भक्तिरस्य पौरवीय' । बहुल ग्रहण से पूर्व सूत्रकी यहा प्रवृत्ति न हुई । यह सूत्र स्वस्वामिभाव रूप मत्वर्थीय में प्रत्यय विधायक है । सर्वपदार्थ=प्रकृति एव प्रत्यय है । इसका फल 'मद्रक' है । मद्राणां राजा द्व्यच् लक्षण अण् माद्र स भक्ति- अस्य मद्रक "मद्रवृज्यो' कन्" ।

१४८३ तेन प्रोक्तम् ४।३।१०२।

पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् ।

प्रकर्ष से उक्त न कृत अन्यथा 'कृते ग्रन्थे से गतार्थ यह हो जायगा। तृतीयान्त समर्थ से प्रकर्ष कथनार्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं।

स्वयं या अन्य कृत व्याकरण को अध्यापन क्रिया से या अर्थ व्याख्यान से प्रकाशित यह अर्थ है पाणिनिना प्रोक्त व्याकरणम् पाणिनीयम्।

१४८४ तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण् ४।३।१०२।

'छन्दोब्राह्मणानि' इति तद्विषयता। तित्तिरिणा प्रोक्तमधीयते तैत्तिरीयाः।

पूर्वत्र छन्दोब्राह्मणानि सू० १३७९ इस सूत्र प्रोक्त से प्रत्ययान्त छन्दोवाचक, ब्राह्मणवाचक, ब्राह्मणवाचक शब्द को अध्येतृ वेदितृ प्रत्यय विषयत्व है, तृतीयान्त तित्तिरि, वरतन्तु खण्डिक उख, शब्द के उत्तर प्रोक्तार्थक छण् प्रत्यय होता है। इस सूत्र से लेकर 'तेनैकदिक्' सूत्र तक वक्ष्यमाण प्रत्यय छन्दः वाच्य होने पर होते हैं। यह नियमार्थ है। दो नियम करता है—१ तित्तिरि आदि शब्दों से छण् ही होता है। २ छन्द में ही। यहां छन्दः शब्द मन्त्र मात्र परक है। अतः कल्प सूत्र का भी छन्दः पद से ग्रहण हुआ है।

प्रोक्तार्थक प्रत्यय का लुक् अध्येतृ प्रत्यय का लुक् छण् तैत्तिरीयाः।

१४८५ काश्यपकौशिकाभ्याम् ऋषिभ्यां णिनिः ४।३।१०३।

काश्पेन प्रोक्तमधीयते काश्यपिनः।

काश्यप एवं कौशिक इन ऋषि वाचक तृतीयान्त शब्दों से प्रोक्त अर्थ में णिनि प्रत्यय होता है। काश्यपिनः प्रत्यय में णकार का प्रयोजन नहीं उत्तरत्र अनुवृत्ति होकर वृद्धि के लिए है अध्येतृ आदि में णिनि प्रत्ययान्त का स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग नहीं अतः वृद्धि निमित्तस्य से पुंवद्भाव निषेध रूप यहां प्रयोजन णकार का नहीं है। अथवा चरणत्व के कारण जातित्व कारण 'जातेश्च' से पुंवद्भाव का निषेधसिद्ध ही है। यह छप्रत्यय का बाधक है। ऋषिवाचक नहीं आधुनिक संज्ञावाचक में काश्यपीयम् यहीं हुआ।

१४८६ कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च ४।३।१०४।

कलाप्यन्तेवासिभ्यः—हरिद्रुणा प्रोक्तमधीयते हारिद्रविणः। वैशम्पायनान्तेवासिभ्यः—आलम्बिनः।

कलापी एवं वैशम्पायन ऋषि के अन्ते वासी = छात्र में अर्थ में तृतीयान्त प्रोक्त अर्थ में णिनि प्रत्यय होता है। यह अण् का निषेधक है। यह छप्रत्यय को भी परत्व के कारण बाध करता है। चार कलापिन् के अन्तेवासी हैं—'हरिद्रुः, छगली, तुम्बुरुः, उपल। वैशम्पायन के अन्तेवासी नव हैं—आलम्बिः, कलिङ्गः, कमलः, ऋचाभः, आरुणिः, ताण्ड्यः, श्यामायनः, कठः, कलापी।

१४८७ पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ४।३।१०५।

तृतीयान्तात् प्रोक्तार्थे णिनिः स्यात्, यत्प्रोक्तं पुराणप्रोक्ताश्चेद् ब्राह्मणकल्पास्ते भवन्ति। पुराणेन चिरन्तेन मुनिना प्रोक्ताः। भल्लुः—भाल्लविनः। शाट्यायनः—शाट्यायनिनः। कल्पे–पिङ्गेन प्रोक्तः पैङ्गी कल्पः। पुराणेति

किम् । याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि । आश्मरथ्यः कल्पः । अणि आपत्यस्येति यलोपः ।

तृतीयान्त समर्थ में णिनि प्रोक्त अर्थ में होता है, जो प्रोक्त हो वह यदि पुराणप्रोक्त ब्राह्मण एवं कल्प हो । पुराण = चिरन्तन । पुराण प्रोक्त जहां नहीं वहा णिनि का अभाव होता है । याज्ञवल्क्य आश्मरथ्य कण्वादि है अतः यञ प्रत्ययान्त से अण् है । आपत्यस्य से यलोप । यहां छप्रत्यय नहीं होता है । यज्ञ अचिरकाणोद्भव है पुराण नहीं है । महाभारत में चिरन्तनमुनि में इन का ग्रहण नहीं है । वे पाणिनिसमा आधुनिक है यह अभिमान से युक्ति है । भाष्यकार ने तो णिनि प्रतिषेधार्थ यहां विशेषवचन किया है वे भी पुराण मुनि है । शाट्यायन तुल्य कालोद्भव होने से 'याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधस्तद्विषयता न' इति ।

१४८८ शौनकादिभ्यश्छन्दसि ४।३।१०६।

छन्दस्यभिधेये एभ्यो णिनि । शौनकेन प्रोक्तमधीयते शौनकिनः ।

वेद वाच्य होने पर तृतीयान्त शौनकादि से 'प्रोक्तमधीयते' अर्थ में णिनिप्रत्यय होता है । शौनकिनः । वेदभिन्न में शौनकीया शिक्षा ।

१४८९ कठचरकाल्लुक् ४।३।१०७।

आभ्यां प्रोक्तप्रत्ययस्य लुक् स्यात् । कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः । चरकाः ।

तृतीयान्त कठ एवं चरक से प्रोक्तार्थक प्रत्यय का लुक् होता है । कठ से णिनि एवं चरक से अण् इनको लुक् । वेदभिन्न में लुक् का अभाव है । चारका श्लोका ।

१४९० कलापिनोऽण् ४।३।१०८।

कलापिना प्रोक्तमधीयते कालापाः ।

तृतीयान्त कलापिन् से 'प्रोक्तमधीयते' अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

वैशम्पायन के छात्र होने से णिनि को बाधकर अण् हुआ । यहां 'इनण्यपत्ये' सूत्र से प्रकृति भाव प्राप्त है नस्तद्धिते से टिलोप न होना चाहिए अतः प्रकृति भावबाधनार्थ वक्ष्यमाण वचन है ।

॥ नान्तस्य टिलोपे सब्रह्मचारिपीठसर्पिकलापिकौथुमितैतिलिजाजलिलाङ्गलिशिलालिशिखण्डिसूकरसद्मसुपर्वणामुपसङ्ख्यानम् ॥ इत्युपसङ्ख्यानाट्टिलोपः ॥ ।

अण् पर रहते इन शब्दों की टिकालोप होता है । सब नान्त है ।

१४९१ छगलिनो ढिनुक् ४।३।१०९।

छगलिना प्रोक्तमधीयते छागलेयिनः ।

तृतीयान्त छगलिन् में 'प्रोक्तमधीयते' में ढिनुक प्रत्यय होता है भिक्षुत्व का सम्पादक सूत्र को भिक्षुसूत्र कहते हैं । यथा नटसूत्र के ज्ञान से नटत्व की सम्पत्ति=प्राप्ति होती है । इसी प्रकार इन सूत्रों के ज्ञान से व्यावहारिक कर्मों में अनादरपूर्वक ब्रह्मज्ञान में प्रवृत्ति "तमेतं ब्राह्मणा वेदानुवचनेन विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति ।

"वेदान्तान् विधिवच्छ्रुत्वा सन्यसेदनृणो द्विजः" ।
द्रष्टव्यस्तत्र मन्तव्यः श्रोतव्यश्च द्विजातिभिः ॥

वेदान्त के समस्त ज्ञानप्रदसिद्धान्तों को आचार्य द्वारा श्रवण कर मनुष्य ऋण देवऋण एवं पितृऋण से मुक्त होकर सर्वकर्मत्यागपूर्वक संन्यासाश्रम में द्विज को स्थित रहना चाहिये। पुनः भवसागर के बन्धन में न आना पड़े एवं मोक्षप्राप्त हो जाय। "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" यह श्रुतिवचन है।

१४९२ पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः ४।३।११०।

पाराशर्येण प्रोक्तं भिक्षुसूत्रमधीयते पाराशरिणो भिक्षवः। शैलालिनो नटाः।

पूर्वप्रदर्शित अर्थ में भिक्षुवाच्य होने पर णिनि प्रत्यय एवं नटसूत्र अर्थवाच्य होने पर शिलालिन् से णिनि प्रत्यय होता है। शिलालिना प्रोक्तम् नटसूत्रमधीयते—शैलालिनो नटाः।

१४९३ कर्मन्दकृशाश्वादिनिः ४।३।१११।

भिक्षुनटसूत्रयोरित्येव। कर्मन्देन प्रोक्तमधीयते कर्मन्दिनो भिक्षवः। कृशाश्विनो नटाः।

भिक्षु अर्थ में तृतीयान्त समर्थ कर्मन्द से एवं नटसूत्र अर्थवाच्य रहते कृशाश्व से इनि प्रत्यय प्रोक्तमधीयते अर्थ में होता है।

१४९४ तेनैकदिक् ४।३।११२।

सुदाम्ना अद्रिणा एकदिक् सौदामनी।

समानदिक् अर्थ में तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से अणादि प्रत्यय होते हैं। छन्द का अधिकार निवृत्त्यर्थ 'तेन' का पुनः उपादान किया है। 'सौदामिनी' 'अन्' से प्रकृति भाव होने से टिलोप का अभाव है। 'तटित् सौदामनी विद्युत' यह कोश है।

१४९५ तसिश्च ४।३।११३।

स्वरादिपाठादव्ययत्वम्। पीलुमूलेन एकदिक् पीलुमूलतः।

समान दिक् अर्थ में तृतीयान्त से तसि प्रत्यय होता है। तसिप्रत्ययान्त स्वरादि होने से अव्यय संज्ञा हुई। पीलुमूलतः। तस्प्रत्ययान्त स्वाभाविक अधिकरण शक्ति प्रधान अव्यय है। तृतीयान्त की भी प्राधान्य से प्रतीति होती है यह कुन्मेजन्त के भाष्य से बोध होता है।

१४९६ उरसो यच्च ४।३।११४।

चात् तसिः। अणोऽपवादः। उरसा एकदिक् उरस्यः। उरस्तः।

तृतीयान्त उरस् से समाना दिक् अर्थ में अण् को बाधकर यत् एवं तसिप्रत्यय होता है।

१४९७ उपज्ञाते ४।३।११५।

तेनेत्येव। पाणिनिना उपज्ञातं पाणिनीयम्।

विना उपदेश ज्ञात अर्थ में तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से प्रत्यय होता है।

१४९८ कृते ग्रन्थे ४।३।११६।

वररुचिना कृतो ग्रन्थो वाररुचः।

जो किया गया वह ग्रन्थ रहे तब तृतीयान्त से कृत अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।

१४९९ संज्ञायाम् ४।३।११७।

तेनेत्येव । अमन्त्यार्थमिदम् । मक्षिकाभिः कृतं माक्षिकं मधु ।
तृतीयान्त प्रातिपदिक से संज्ञा गम्यमान रहते कृत अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

१५०० कुलालादिभ्यो वुञ् ४।३।११८।

'तेन कृते संज्ञायाम्' । कुलालेन कृतं कौलालकम् । वारुडकम् ।
तृतीयान्त से कृत अर्थ में संज्ञा की प्रतीति होने पर वुञ् प्रत्यय होता है ।

१५०१ क्षुद्राभ्रमरवटरपादपाद् अञ् ४।३।११९।

तेन कृते संज्ञायाम् । क्षुद्राभिः कृतं क्षौद्रम् । भ्रामरम् । वाटरम् । पादपम् ।
तृतीयान्त क्षुद्रा, भ्रमर, वटर, पादप से संज्ञा में कृत अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है ।

१५०१ तस्येदम् ४।३।१२०।

उपगोरिदम् औपगवम् । ❀ वहेस्तुरणिट च ❀ सवोढुः स्व सांवहित्रम् । ❀ अग्नीधः शरणे रण भं च ❀ । अग्निम् इन्धे अग्नीत् तस्य स्थानम् आग्नीध्रम् । तात्स्थ्यात्सोऽप्याग्नीध्र । ❀ समिधामाधाने षेण्यण ❀ । सामिधेन्यो मन्त्र' । सामिधेनी ऋक् ।

यहां 'शेष का सम्बन्ध है । अतः अपत्यादि अर्थों में यह प्रवृत्त नहीं होता है । षष्ठ्यन्त से इदम् अर्थ 'उसका यह' में समर्थ प्रातिपादिक से शैषिक प्रकरणोक्त अणादि प्रत्यय होते हैं । उपगता गावः यस्य स उपगुः तस्य इदम् में अण् औपगवम् यहां 'ओर्गुण' से गुण' । तृन् एव तृच् प्रत्ययान्त वह धातु से अण् प्रत्यय का एव इट् का आगम होता है । सांवहित्रम् ।

अग्नीध् शब्द से गृह अर्थ में रण् प्रत्यय होता है । एव अग्नीध को भ संज्ञा होती है । अग्नि को दीप्त करने वाला होता आग्नीध्र है । अग्नि जिस स्थान में प्रकट किया जाय उस गृह आग्नीध्र है । आधान अर्थ में षष्ठ्यन्त समिध् शब्द से षेण्यण् प्रत्यय होता है । समिधाम् यह यह कर्म में षष्ठी है । करणव्युत्पन्न आधारशब्द है । कर्मषष्ठ्यन्त से आधान में षेण्यण हो सामिधेन्य । स्त्रीलिङ्ग में पित्वात् ङीप एवं हलस्तद्धितस्य से यकार लोपकर सामिधेनी ऋक ।

१५०३ रथाद्यत् ४।३।१२१।

रथ्यम्=चक्रम् ।

षष्ठ्यन्त रथ से इदमर्थ में यत् प्रत्यय होता है । यह अण् का बाधक है । रथ से रथाङ्ग में यत् रथ्यम् = चक्रम् । "रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ तदन्तविधि" से रथान्त से भी यत् होता है । परमरथ्यम् । द्विरथम् यहां यत् का 'द्विगो' से लुक है । रथाङ्ग भिन्न में 'तद्वहति' सूत्र से यत् रथ्योऽश्वः । तद्वहति में रथग्रहण इत्यादि यत् का लुक द्विगु में होता है उसमें ज्ञापक है ।

१४०४ पत्त्रपूर्वादञ् ४।३।१२२।

पत्त्रम्=वाहनम् । अश्वरथस्येदम् आश्वरथम् ।

वाहन वाचक शब्द पूर्वक जो रथ शब्द तदन्त प्रातिपदिक से 'इदम्' अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है । यह रथाङ्ग में प्रवृत्त होता है । पत्त्र में अर्थ ग्रहण है ।

१५०५ पत्त्राध्वर्युपरिषदश्च ४।३।१२३।

अञ्। ॐ पत्त्राद् वाह्ये ॐ। अश्वस्येदं वहनीयम् आश्वम्। आध्वर्यवम्। पारिषदम्।

पत्त्र वाचक, अध्वर्यु, परिषद् इन षष्ठ्यन्त से अञ् प्रत्यय होता है। इदमर्थ में पत्त्र से वहनीय अर्थ में प्रत्यय होता है। पत्त्र में अर्थ ग्रहण है। यह भी रथाङ्ग में लगता है।

१५०६ हलसीराट्ठक् ४।३।१२४।

हालिकम्। सैरिकम्।

षष्ठ्यन्त हल् एवं सीर से इदमर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।

१५०७ द्वन्द्वाद् वुन् वैरमैथुनिकयोः ४।३।१२५।

काकोलूकिका। कुत्सकुशिकिका। ॐ वैरे देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधः ॐ। दैवासुरम्।

यह अण् का बाधक है छप्रत्यय को भी विकल्प से बाध करता है। काक एवं उलूक का वैर प्रसिद्ध है। वुन् प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग है। मैथुनिका का अर्थ विवाह सम्बन्ध है। मिथुनम् = दम्पती उनका कर्म = क्रियानिष्पादनरूपम्। मनोज्ञादित्व प्रयुक्त वुञ् प्रत्ययान्त है स्त्रीलिङ्ग है।

सूत्रार्थ—वैरमें एवं स्त्री पुरुष कर्म रूप मैथुनिका में द्वन्द्व समास निष्पन्न शब्द से पर वुन् प्रत्यय होता है। काकोलूकिका। कुत्साश्च काशिकाश्च तेषां मैथुनिका 'कुत्सकुशिकिका'। द्वन्द्व-समास संज्ञक देवसुरादि से वुन् नहीं होता है। इदमर्थ में अण् हुआ—दैवासुरम्।

१५०७ गोत्रचरणाद् वुञ् ४।३।१२६।

औपगवकम्। ॐ चरणाद् धर्माम्नाययोरिति वक्तव्यम् ॐ। काठकम्।

गोत्रप्रत्ययान्त एवं चरणवाचक से 'तस्येदम्' अर्थ में वुञ् प्रत्यय होता है। औपगवस्येदम् औपगवकम्। चरण से धर्म एवं आम्नाय अर्थ में वुञ्। आम्नायः = सम्प्रदायः = शास्त्रम्। प्रवराध्यायसिद्ध लौकिक गोत्र का ग्रहण यहां है। काठकम्।

१५०९ सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्यञिञामण् ४।३।१२७।

घोषग्रहणमपि कर्तव्यम् ॐ। अञ्—बैदः सङ्घोऽङ्को घोषो वा, बैदं लक्षणम्। यञ्—गार्गः। गार्गम्। इञ्—दाक्षः। दाक्षम्। परम्परासम्बन्धोऽङ्कः। साक्षात् तु लक्षणम्।

सङ्घ, अङ्क, लक्षण एवं वार्तिकमत से घोष इन अर्थों में अञ्, यञ् इञ् प्रत्ययान्त से अण् प्रत्यय है। यहां यथासंख्य नहीं है। सूत्र में निर्दिष्ट तीन अर्थ एवं प्रत्यय चार हैं। लक्षण में नपुंसक है अन्यत्र पुंस्त्व है। बैदः अञ् प्रत्ययान्त से अण् है। गार्गः यञ् प्रत्ययान्त से अण्। आपत्यस्य से यलोप है। इञ् प्रत्ययान्त दाक्षि से अण्। परम्परासम्बन्ध को अङ्क कहते हैं, यथा—"गवादनिष्ठः स्वामिना गोद्वारा सम्बन्धः"। साक्षात् सम्बन्ध को लक्षण कहते हैं यथा विदानां विद्या तद्वान्।

१५१० शाकलाद् वा ४।३।१२८।

अण् प्रोक्तार्थे। पक्षे चरणत्वाद् वुञ्। शाकलेन प्रोक्तमधीयते शाकलास्तेषां सङ्घोऽङ्को घोषो वा शाकलः। शाकलकः। लक्षणे क्लीबता।

पूर्व वर्णित अर्थों में शाकल तृतीयान्त से 'प्रोक्तमधीयते' अर्थ में अण् विकल्प से होता है। पक्ष में वुञ्।

१५११ छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः ४।३।१२९।

छन्दोगानां धर्मे आम्नायो वा छान्दोग्यम्। औक्थिक्यम्। याज्ञिक्यम्। बाह्वृच्यम्। नाट्यम्। चरणाद् धर्माम्नाययोरित्युक्तं तत् साहचर्यान्नटशब्दादपि तयोरेव।

छन्दोग औक्थिक, याज्ञिक, बह्वृच, नट, इन षष्ठ्यन्त से ञ्य प्रत्यय होता है। धर्म या आम्नाय अर्थ में छान्दोग्यम्।

चरणवाचक से धर्म एवं आम्नाय = सम्प्रदाय = शास्त्र अर्थ में प्रत्यय होता है। इसके साहचर्य से नट से भी इन दो अर्थ में प्रत्यय होता है।

१५१२ न दण्डमाणवान्तेवासिषु ४।३।१३०।

दण्डप्रधाना माणवा दण्डमाणवास्तेषु शिष्येषु च वुञ् न स्यात्। दाक्षा दण्डमाणवाः शिष्या वा।

यहां 'तस्येदम्' की अनुवृत्ति है। दण्डप्रधान माणव को दण्डमाणव कहते हैं। दण्डमाणव एवं उनके शिष्य अर्थ में वुञ नहीं होता है। इञ् प्रत्ययान्तदाक्षिशब्दान्त से 'इतश्च' से अण् दाक्षा।

१५१३ रैवतिकादिभ्यश्छः ४।३।१३१।

तस्येदमित्यर्थे। वुञोऽपवादः। रैवतिकीयः। बैजवापीयः।

यह इसका है इस अर्थ में षष्ठ्यन्त रैवतिकादिशब्दों से छप्रत्यय होता है। यह वुञ् का बाधक है।

(क) कौपिञ्जलहास्तिपदादण् ४।३।१३२।

कुपिञ्जलस्यापत्यम्। इहैव निपातनादण् तदन्तात्पुनरण् कौपिञ्जलः। गोत्रवुञोऽपवादः। हस्तिपादस्यापत्यं हास्तिपदस्तस्यायं हास्तिपदः।

कौपिञ्जल एवं हास्तिपाद से 'तस्येदम्' में अण् प्रत्यय होता है। कुपिञ्जलस्यापत्यम् यहां निपातनात् अण् पुनः कौपिञ्जल से अण्। गोत्रार्थक वुञ् का बाधक यह है। हस्तिपादस्यायम् हास्तिपद तस्यायम् हास्तिपद। 'रैवतिकादिभ्यः' सूत्र पर कौपिञ्जलादि वचन वार्तिक रूप में ही पठित है। कैयटाचार्य भी इसको वार्तिक ही मानते हैं। सौत्रत्वेन इसका पाठ उचित नहीं है। प्राचीन पुस्तकों में सूत्रत्वेन उपन्यास भी मिलता है जब उत्तर वचन सूत्रत्वेन उपन्यस्त है तो इसका सूत्रत्वेन उपन्यास क्यों नहीं। यह गवेषणा का विषय है। उत्तर सूत्रत्वेन उपन्यस्त वार्तिक है ऐसा भी मत है।

(ख) आथर्वणिकस्येकलोपश्च ४।३।१३३

चादण्। आथर्वणिकस्यायम् आथर्वणो धर्म आम्नायो वा। चरणात्वाद् वुञोऽपवादः।

समाप्ताः शैषिकाः।

षष्ठ्यन्त आथर्वणिक् से अण् एवं इक का लोप होता है। यह चरण वाचक से विहित वुञ् का बाधक है। अथर्वणा प्रोक्तो वेदः स उपचार से अथर्वा तमधीते वसन्तादित्वेन ठक् 'दाण्डिनायन' इति निपातन से टिलोपाभाव इससे अण् इक का लोप आथर्वणः। प्रदीप एवं उद्द्योतकार के मत में यह सूत्र है। वार्तिक नहीं है। प्रदीप में कहा है कि "अण् च वक्तव्यम्" कौपिञ्जल हारितपदेत्यस्यापाणिनीयत्वात। हरदत्ताचार्य इसका वार्तिक ही मानते हैं।

पं० श्री दा. कृ. पञ्चोलि विरचितरत्नप्रभा में शैषिक प्रकरण समाप्त।



अथ प्राग्दीव्यतीयप्रकरणम्

१५१४ तस्य विकारः ४।३।१३४।

ॐअश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्य ॐ। अश्मनो विकार आश्म । भास्मन. । मार्तिक ।

षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से विकार अर्थ अणादि प्रत्यय होते है। षादि सम्बद्ध तस्य की निवृत्ति के लिए सूत्र में तस्य ग्रहण किया है। नियत अवधि प्रथम उद्घोषित है अत अणादि की निवृत्ति नहीं है। 'प्राग्दीव्यत प्राग् भवनाद' यह अवधिनिश्चित बनती है। इसके अपवाद प्रत्यय वक्ष्यमाण है उन अपवादों के विषय जहाँ नहीं है ऐसा इसका उदाहरण प्रदर्शन करते है यथा अश्मनो विकार आश्म । विकारार्थ प्रत्यय परक अश्मन् को टिलोप होता है। आश्म । मनिन् प्रत्ययान्त अश्मन् एव भस्मन दोनों है। भास्मन । यह टिलोप विधायक वचन नहीं है। मृत्तिकाया विकारो मार्तिक ।

१५१५ अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ४।३।१३५।

चाद् विकारे। मयूरस्यावयवो विकारो वा मायूरः। मौर्वं काण्ड भस्म वा। पैप्पलम्।

षष्ठ्यन्तप्राणी, ओषधि, वृक्ष वाचक से अवयव एव विकार अर्थ में अणादि प्रत्यय होते है। मायूर यहां 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' से अञ प्रत्यय विकार एव अवयव में हुआ। मौर्वम्। 'तृणधान्यानाम्' से आद्युदात्तपूर्वा शब्द है यह ओषधि का उदाहरण है। वृक्ष का उदाहरण है – पैप्पलम्। ङ्यावन्त से यह आद्युदात्त है।

१५१६ बिल्वादिभ्योऽण् ४।३।१३६।

बैल्वम्।

षष्ठ्यन्त बिल्वादि से विकार एव अवयव अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। बैल्वम्-बिल्व का विकार या अवयव। यह अञ् एव मयट् का बाधक है। मैद्गम् आदि अनेक उदाहरण है।

१५१७ कोपधाच्च ४।३।१३७।

अण्। अञोऽपवाद.। तर्कु तार्कवम्। तैत्तिडीकम्।

षष्ठ्यन्त कोपध से विकार एव अवयव में अण् होता है। यह 'ओरञ्' का बाधक है। एव अनुदात्तादेश्च का भी यह बाधक है, तैत्तिडीकम्।

१५१८ त्रपुजतुनो षुक् ४।३।१३८।

आभ्याम् अण् स्याद् विकारे एतयो. षुगागमश्च। त्रापुषम्। जातुषम्।

षष्ठ्यन्त त्रपु एव जतु से विकार अर्थ में अण् एव इन दोनों को षुक् आगम होता है। त्रापुषम्। जातुषम्।

१५१९ ओरञ् ४।३।१३८।

दैवदारवम् । भाद्रदारवम् ।

षष्ठ्यन्त उवर्णान्त प्रातिपदिक से विकार में अञ् प्रत्यय होता है। देवदारवम् भाद्रदारवम् ये दोनों आद्युदात्त हैं।

१५२० अनुदात्तादेश्च ४।३।१४०।

दाधित्थम् । कापित्थम् ।

अनुदात्तादिषष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से विकार अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है। दाधित्थम्। दधिन तिष्ठति दधित्थः 'सुपि स्थः' सूत्र से कप्रत्यय आकारलोप उपपद समास पृषोदरादित्व-प्रयुक्त सकार को तकारादेश, कृदुत्तरपदप्रकृति स्वर से अन्तोदात्त है। शेषनिघात से आदि अच् अनुदात्त है अञ् आदि वृद्धि अकारलोप नपुंसकत्वप्रयुक्त सुको अम् पूर्वरूप दाधित्थम्। यही क्रम कापित्थम् में है।

१५२१ पलाशादिभ्यो वा ४।३।१४१।

पालाशम् । कारीरम् ।

अवयव एवं विकार अर्थ में षष्ठ्यन्त पलाशादि से अञ् प्रत्यय विकल्प से होता है। पलाश शब्द अन्तोदात्त है घृतादित्व प्रयुक्त आदि अच् अनुदात्त है। किर धातु से ईरन् करीन् नित् स्वर से आद्युदात्त है।

१५२२ शम्याः ष्लञ् ४।३।४१।

शामीलं भस्म । पित्त्वान्ङीप् शामीली स्रुक् ।

षष्ठ्यन्तशमी से विकार अर्थ में ष्लञ् होता है। स्त्रीलिङ्ग में पित्व के कारण ङीप् होता है। शम्या विकारभूतं भस्म शामीलम्।

१५२३ मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः ४।३।१४३।

प्रकृतिमात्रान्मयड् वा स्याद् विकारावयवयोः। अश्ममयम् । आश्मनम् । अभक्ष्येत्यादि किम्, मौद्गः सूपः । कार्पासमाच्छादनम् ।

लोक में विकार एवं अवयव अर्थ में प्रकृति मात्र से विकल्प मयट् होता है, भक्ष्य एवं आच्छादन अर्थ छोड़कर। पक्ष में अण्। अश्मनो विकारोऽवयवो वा अश्ममयम्। अश्मनोऽवयवरूपम् आश्मनम्। 'अश्मनः टिलोपः'से टिलोप पाषाण वाचक प्रसिद्ध अश्मन् में होता है। यहां तो अश्मभेद शब्द से अण् है भेद का 'विनापि प्रत्ययम्' से लोप है यह अप्रसिद्ध है। अथवा कल्माषाङ्घ्रि में राजा की मदयुक्ता स्त्री में वसिष्ट से उत्पन्न पुत्र का नाम वाचक अश्मन् शब्द यहां है, प्रसिद्ध पाषाण वाचक नहीं है। मौद्गः घृतादित्वप्रयुक्त अन्तोदान्त है। आदि अनुदात्त है। यहां भक्ष्य है मयट् न हुआ। कार्पासम्, 'कृञः पासे' गुण रपरत्व ङीप् अनुदात्तादेश्च से प्राप्त अञ् को बाधकर बिल्वादित्व से अण् प्रत्यय है।

१५२४ नित्यं वृद्धशरादिभ्यः ४।३।१४४।

आम्रमयम् । शरमयम् । ॐ एकाचो नित्यम् ॐ । त्वङ्मयम् । वाङ्मयम् । कथं तर्हि आप्यम् । अम्मयमिति । तस्येदमिति अणन्तात् स्वार्थे ष्यञ् ।

षष्ठ्यन्त वृद्धसंज्ञक एवं शरादि से अभक्ष्य एवं अनाच्छादन अर्थ में मयट् होता है अवयव या विकार अर्थ में। आम्रस्य अवयवो विकारो वा आम्रमयम्। शरका अवयव या विकार में शरमयम्। एकाच् से नित्य मयट होता है। अपमयम् होनी चाहिये आप्यम् क्यों हुआ ? तस्येदमिति अण् कर स्वार्थ में ष्यञ् हुआ है।

१५२५ गोश्च पुरीषे ४।३।१४५।

गोः पुरीष गोमयम्।

षष्ठ्यन्त गो शब्द से विष्ठा अर्थ में मयट होता है। गोमयम्। यहां भी विकारार्थ मे मयट् गोमुक्त जो आहार विशेष उसका विकार में गोविकारत्व का आरोप यहां है। गोमुक्ताहारविकारे गोविकारत्वम् आरोप्यते इति विकारार्थक एव मयट्।

१५२६ पिष्टाच्च ४।३।१४६।

मयट् स्यात् विकारे। पिष्टमय भस्म। कथं पैष्टी सुरेति, सामान्यविवक्षाया तस्येदमित्यण्।

षष्ठ्य त पिष्ट से विकार अर्थ में मयट होता है। पिष्टमयी सुरा न होकर पैष्टी रूप जो हुआ है वहां इदनवन रूप से सामान्य अर्थ विवक्षा में तस्येदम् से अण् हुआ कर ङीप पैष्टी सुरा।

१५२७ संज्ञायां कन् ४।३।१४७।

पिष्टादित्येव। पिष्टस्य विकारविशेष पिष्टक। पूपोऽपूप पिष्टक स्यात्।

षष्ठ्यन्त पिष्ट से विकार अर्थ में कन् प्रत्यय होता है संज्ञा में। पूआ इस संज्ञा में पिष्टक। पूआँ अपूप पिष्टक पर्याय वाचक है।

१५२८ व्रीहेः पुरोडाशे।

मयट् स्यात्। बिल्वाद्यणोऽपवाद। व्रीहिमय पुरोडाश। व्रैहम् अन्यत्।

पुरोडाश अर्थ में व्रीहि षष्ठ्यन्त से मयट् प्रत्यय होता है। यह अण् का बाधक है। पुरोडाश भी व्रीहि का अवयव है अत विकारार्थ यह मयट है। अन्यत्र अण् व्रैहम्।

१५२९ असंज्ञायां तिलयवाभ्याम् ४।३।१४९।

तिलमयम्। यवमयम्। संज्ञायान्तु तैलम्। यावक।

असंज्ञा में षष्ठ्यन्त तिल एवं यव से मयट होता है। संज्ञा में अण् तैलम्। यावक यहां अणन्त याव से 'यावादिभ्य' सूत्र से स्वार्थ में कन् याव एव यावक।

१५३० तालादिभ्योऽण् ४।३।१५२।

अञ्मयटोरपवादः। ※ तालाद् धनुषि ※। ताल धनु। अन्यत् तालमयम्। ऐन्द्रायुधम्।

ताल से धनुष अर्थ में अण् होता है। यह प्राणिरजतादिभ्य से अञ एवं मयट् का बाधक है। अण् ग्रहण यहां बाधक बाधनार्थ है। विकारार्थक अञ, 'नित्य वृद्ध से मयट् न हुआ। सूत्ररूप वचनसे 'जितश्च तत्प्रत्ययात्' सूत्र बाधकर चरितार्थ है। धनुष् से भिन्नार्थ में मयट् तालमयम्।

१५३१ जातरूपेभ्यः परिमाणे ४।३।१५३।

अण् । बहुवचनात्पर्य्यायग्रहणम् । हाटकः तापनीयः । सौवर्णो वा निष्कः । परिणामे किम्, हाटकमयी यष्टिः ।

परिणाम अर्थ में सुवर्ण पर्य्याय वाचक षष्ठयन्त शब्द से विकार एवं अवयव अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । हाटकः । यहां वृद्धत्व प्रयुक्त मयट् प्राप्त था अण् हुआ । तपनीय से अनुदात्तादेश्च से अञ् प्राप्त था बाधकर अण् तापनीयः यह भी उदाहरण ही है । विवरण नहीं है । सुवर्णस्य अवयवो विकारो वा सौवर्णः = निष्कः । परिणाम भिन्न में मयट् हाटकमयी सुवर्णयुक्ता यष्टिः । सुवर्ण से रचित छड़ी ।

१५३२ प्राणिरजतादिभ्योऽञ् ४।३।१५२।

शौकम् । बाकम् । राजतम् ।

षष्ठयन्त प्राणिवाचक से एवं रजतादि से अवयव एवं विकार अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है । आद्युदात्त शुक एवं बक है, अनुदात्तादेश्च से अप्राप्त अञ् का यह विधान करता है । रजतादि शब्द रजत, सीस, लोह उदुम्बर अनुदात्तादि है अञ् सिद्ध था पुनः विधान मयट् बाधनार्थ है । राजतम् ।

१५३३ ञितश्च तत्प्रत्ययात् ४।३।१५५।

ञिद् यो विकारावयवप्रत्ययस्तदन्तादञ् स्यात् तयोरेवार्थयोः । मयटोऽपवादः । शामीलस्य शामीलम् । दाधित्थस्य दाधित्थम् । कापित्थम् । ञितः किम्, बैल्वमयम् ।

विकार एवं अवयव अर्थ में ञकार की इत् संज्ञावाला विकारावयव प्रत्यय तदन्त के उत्तर अञ् प्रत्यय होता है । यह मयट् का अपवाद है । शमी से ष्लञ् कह चुके हैं दधित्थ से अञ् पूर्व विहित है, शम्याष्लञ्, अनुदात्तादेश्च । तदन्त से इस से अञ् यह मयट् का बाधक है । अणन्त बैल से मयट् बैल्वमयम् । यह णित है ञित नहीं ।

१५३४ क्रीतवत्परिमाणात् ४।३।१५६।

प्राग्वहतेष्ठगित्यारभ्य क्रीतार्थे ये प्रत्यया येनापाधिना परिमाणाद् विहितास्ते तथैव विकारेऽतिदिश्यन्ते । अणादीनामपवादः । निष्केण क्रीतं नैष्किकम् । एवं निष्कस्य विकारोऽपि नैष्किकः । शतस्य विकारः शत्यः । शतिकः ।

'प्राग्वहतेष्ठक्' से आरम्भ कर क्रीतार्थ में जो प्रत्यय जिस उपाधि से परिमाण वाचक से कहे गये हैं वे समस्त प्रत्यय परिमाण वाचक से विकार में आरोपित होकर होते हैं । यथा क्रीतार्थ में निष्केन क्रीतम् नैष्किकम् तथैव निष्कस्य विकारोऽपि नैष्किकः । शतेन क्रीतः शतस्य विकारो वा शत्यः, शतिकः । तेन क्रीतम् ठक् । शताच्च ठन्यतौ से ठन् एवं यत् । पूर्वत्र क्रमिक समझने चाहिये ।

१५३५ उष्ट्राद् वुञ् ४।३।१५७।

प्राण्यञोऽपवादः । औष्ट्रकः ।

षष्ठयन्त उष्ट्र से अवयव या विकार अर्थ में विकल्प से वुञ् होता है, यह अञ् का बाधक है ।

१५३६ उमोर्णयोर्वा ४।३।१५८।

औमम् । औमकम् । और्णम् । और्णकम् ।

वुञभावे यथाक्रममणञौ ।

षष्ठ्यन्त उमा एवं ऊर्णा शब्द से अवयव एवं विकार अर्थ में वुञ् विकल्प से होता है। पक्ष में उमा आद्युदात्त से अण्। ऊर्णा अन्तोदात्त है, आदि अनुदात्त है अतः अञ् प्रत्यय होता है अण् अञ् में रूप साम्य है, स्वर में अन्तोदात्त, आद्युदात्त का विशेष है। रूप तीन हुए किन्तु साम्यत्व के कारण मूल में दो रूप बताये हैं।

१५३७ एण्या ढञ् ४।३।१५९।

ऐणेयम् । एणस्य तु ऐणम् ।

एणी से ढञ् प्रत्यय होता है। एण से तो ढञ् नहीं किन्तु प्राण्यञ् है। स्त्रीलिङ्ग निर्देश विवक्षित है। अतः पुंस्त्वविशिष्टार्थक में इसकी अप्रवृत्ति है।

१५३८ गोपयसोर्यत् ४।३।१६०।

गव्यम् । पयस्यम् ।

षष्ठ्यन्त समर्थ गो एवं पयस् से अवयव एवं विकार में यत् प्रत्यय होता है। गोर्विकारः—गव्यम्, पयस्यम्।

१४३९ द्रोश्च ४।३।१६१।

द्रुः=वृक्षस्तस्यावयवो विकारो वा द्रव्यम् ।

षष्ठ्यन्त वृक्षवाचक द्रु से अवयव एवं विकार अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। द्रव्यार्थक द्रव्य शब्द में द्रु धातु से यत् में होता है।

१५४० माने वयः ४।३।१६२।

द्रोरित्येव । द्रुवयम् । यौत्तवं द्रुवयं पाय्यमिति मानार्थकं त्रयम् ।

षष्ठ्यन्त द्रु शब्द से मान अर्थ में वय प्रत्यय होता है। यह तीन पद परिमाण वाचक हैं। द्रुवयम्। द्रु का विकारभूत प्रस्थादि परक है। यह यत् का बाधक है। विकार रूप मान में प्रत्यय वय का विधायक यह है।

१५४१ फले लुक् ४।३।१६३।

विकारावयवप्रत्ययस्य लुक् स्यात् फले ।

आमलक्याः फलम् आमलकम् ।

फल बोध्य होने पर विकारार्थ एवं अवयवार्थक प्रत्यय का लुक् होता है। फलित वृक्ष का फल विकार एवं अवयव है, वह स्वतः सिद्ध है। आमलकी से मयट् उसका लुक् लुक्तद्धितलुकिसूत्र से ङीष् का लुक्। आमलकम्=आँवरा।

१५४२ प्लक्षादिभ्योऽण् ४।३।१६४।

विधानसामर्थ्यान्न लुक् । प्लाक्षम् ।

षष्ठ्यन्त प्लक्ष आदि से विकारादि अर्थ में विहित अण् होता है फल अर्थ में। किन्तु इस अण् का लुक् नहीं होता है विधान ही लुक् करने में व्यर्थ होगा सूत्र वैयर्थ्यरूप दोष से लुगभावः।

१५४३ न्यग्रोधस्य च केवलस्य ७।३।५।

अस्य न वृद्धिरैजागमश्च। नैयग्रोधम्।

अण् पर में रहते न्यग्रोध के आदि अच की वृद्धि नहीं होती किन्तु यकार के पूर्व ऐच् आगम होता है। यकारपूर्व में ऐ, वकार पूर्व में औ होता है आगम। न्यक रोहति न्यग्रोधः। यहां अव्युत्पत्तिपक्ष में अण् विधि एवं ऐजागम नैयग्रोधम् = फलम्। न्यग्रोधमूले भवाः शालयः न्याग्रोधमूलाः। यहां केवलनहो है, ऐजागम की अप्राप्ति से आदि वृद्धि हुई है।

१५४४ जम्ब्वा वा ४।३।१६५।

जम्बूशब्दात् फलेऽण् वा स्यात्। जाम्बवम्। पक्षे ओरञ्, तस्य लुक् जम्बु।

फलवाच्य होने पर षष्ठ्यन्त जम्बू से विकारार्थक अण् होता है विकल्प से। पक्ष में ओरञ् से अञ् उसका फल रूप विकार अर्थ है उस अञ् का फले लुक्सूत्र से लुक्। नपुंसक ह्रस्व।

१५४५ लुप् च ४।३।१६६।

जम्ब्वा फलप्रत्ययस्य लुप् वा स्यात्। लुपि युक्तवत्। जम्ब्वाः फलं जम्बूः। ॐ फलपाकशुषामुपसङ्ख्यानम् ॐ। व्रीहयः। मुद्गाः। ॐ पुष्पमूलेषु बहुलम् ॐ। मल्लिकायाः पुष्पं मल्लिका। जात्याः पुष्पं जाती। विदार्य्या मूलं विदारी। बहुलग्रहणान्नेह—पाटलानि पुष्पाणि। साल्वानि मूलानि। बहुलकात् क्वचिल्लुक् अशोकम्। करवीरम्।

जम्बू शब्द से उत्तर फल अर्थ में विहित प्रत्यय का विकल्प से लुक होता है। लुप् होने पर प्रकृति से समान लिङ्ग एवं वचन होता है।

फलपरिपक्व होने पर जो सूख जाँय तद् वाचक शब्द से पर फल अर्थ में विहितप्रत्यय का लुक होता है। व्रीहीणां फलानि व्रीहयः। मुद्गाः। पुष्प एवं मूल वाच्य रहने पर विकारार्थक प्रत्यय का बहुल लुप् होता है। यथा मल्लिका आदि। बहुल ग्रहण से लुक् का अभाव पाटलानि, साल्वानि। अशोक करवीर से उत्तर विकारार्थक प्रत्ययका लुक् हुआ है।

१५४६ हरीतक्यादिभ्यश्च ४।३।१६७।

एभ्यः फलप्रत्ययस्य लुप् स्यात्। हरीतक्यादीनां लिङ्गमेव प्रकृतिवत्। हरीतक्याः फलानि हरीतक्यः।

हरीतकी आदि शब्द से पर फलार्थक प्रत्यय का लुप् होता है। हरीतक्या दिका लिङ्ग ही प्रकृतिवत् होता है वचन तो विशेष्य के अनुरोध से होता है। हरीतक्याः फलानि हरीतक्यः।

१५४७ कंशीयपरशव्ययोर्यञञौ लुक् च ४।३।१६८।

कसीयपरशव्यशब्दाभ्यां यञञौ स्तश्छयतोश्च लुक्। कसाय हितं कसीयम् तस्य विकारः कांस्यम्। परशवे हितं परशव्यम्। तस्य विकारः पारशवः।

इति प्राग्दीव्यतीयाः।

षष्ठ्यन्त कसीय एवं परशव्य से विकारादि अर्थ में यञ् एवं अञ् क्रमश होता है एवं प्रकृतिगत छ एवं यत् का लुक् होता है। तस्मै हितम् से छ एवं उवर्णान्त से छप्रत्यय को बाधकर उगवादिभ्यो यत् से यत् प्रत्यय छप्रत्ययान्त कसीय, यत् प्रत्ययान्त परशव्य है ओर्गुणः से गुण कर अवादेश। अनुदात्तादेश्च से परशव्य से अञ् सिद्ध है उसका अनुवादकर लुक् के लिए इस का यहाँ ग्रहण है।

पं० श्री बा० कृ० पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में प्राग्दीव्यतीय प्रकरण समाप्त।



अथ ठगधिकारप्रकरणम्

१५४८ प्राग्वहतेष्ठक् ४।४।१।

तद् वहतीत्यतः प्राक् ठगधिक्रियते । ॐतदाहेति माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम्ॐ । मा शब्दः कारि इति य आह स माशब्दिकः ।

'तद् वहति' सूत्र से पूर्व तक ठक् का अधिकार है । वह कहता है इस अर्थ में मा शब्द आदि से ठक् प्रत्यय होता है यह वाक्य से ही प्रत्यय विधायक है । वाक्य अप्रातिपदिक उससे द्वितीया का असम्भव है—मा शब्दः कारि इति च निषेधति स माशब्दिकः । नित्यः शब्द इति यः कथयति स नैत्यशब्दिकः । एवं कार्यशब्दिकः ।

१५४९ स्वागतादीनाञ्च ७।३।७।

ऐच् न स्यात् । स्वागतमित्याह स्वागतिकः स्वाध्वरिकः । स्वङ्गस्यापत्यं स्वाङ्गिः व्यङ्गस्यापत्यं व्याङ्गिः । व्यडस्यापत्यं व्याडिः । व्यवहारेण चरति व्यावहारिकः । स्वपतौ साधु स्वापतेयम् । ॐ आहौ प्रभूतादिभ्यः ॐ । प्रभूतम् आह प्राभूतिकः । पार्याप्तिकः । ॐपृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः ॐ । सुस्नातं पृच्छति सौस्नातिकः । सौखशायनिकः । अनुशतिकादिः । ॐगच्छतौ परदारादिभ्यःॐ । पारदारिकः । गौरुतल्पिकः ।

स्वागत आदि शब्द के यकार एवं वकार के पूर्व में ऐच् आगम नहीं होता है । सु + आगत स्वागत अम् से 'तदाहेति' से ठक् इकादेश एच् का अभाव आदि वृद्धि स्वागतिकः । सु + अध्वर स्वाध्वर अम् से ठक् स्वाध्वरिकः । स्वङ्ग षष्ठ्यन्त से अपत्य में इञ् एच् का अभाव आदि वृद्धि स्वाङ्गिः । वि + अङ्ग व्यङ्ग से अपत्यार्थक इञ् एच् का अभाव व्याङ्गिः । आह इस अर्थ में प्रभूतादि से ठक् प्रत्यय होता है । पृच्छति अर्थ में सुस्नातादि से ठक् प्रत्यय होता है । सुस्नातादि में पूर्व एवं उत्तरपद के आदि अच् की वृद्धि अनुशतिकादीनाम्' से होती है । गमनकर्ता अर्थ में परदारादि से ठक् प्रत्यय होता है ।

१५५० तेन दीव्यति खनति जयति जितम् ४।४।२।

अक्षैर्दीव्यति आक्षिकः । अभ्र्या खनति आभ्रिकः । अक्षैर्जयति आक्षिकः । अक्षैर्जितम् आक्षिकम् ।

तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से दीव्यति = क्रीडा करना है खनति खनन करता है = खोदना है जयति = विजय प्राप्त करता है जितम् = जीत गया इन अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है । यहां वर्तमान काल, प्रथम पुरुष एवं एकवचन की विवक्षा नहीं है । एवं तेन में भी एकवचन अविवक्षित है । अक्षैः अदेवीद् देविष्यति देविष्यामि यहां भी आक्षिकः । काठ का कुद्दाल को अभ्रिः कहते हैं ।

१५५१ संस्कृतम् ४।४।३।

दध्ना संस्कृतं दाधिकम् । मारिचिकम् ।

संस्कृत अर्थ में तृतीयान्त से ठक् प्रत्यय होता है । उत्तरार्थ यह योगविभाग है ।

सत उत्कर्षाधान संस्कार = संस्कृतम् = उत्कर्ष के लिए संस्कार जो किया जाय उस को संस्कृत कहते हैं। जैसा दधि में सडा खाने में स्वादिष्ट होता है। दाधिकम्।

१५५२ कुलत्थकोपधादण् ४।४।४।

ठकोऽपवाद । कुलत्थैः संस्कृतं कौलत्थम्। तैतिडिकम्।

तृतीयान्त कुलत्थ एव ककारोपध से संस्कृत अर्थ में ठक का बाधकर अण् प्रत्यय होता है। सप्तम्यन्त कुल शब्द उपपद रहते स्थाधातु से 'सुपि स्थ' से कप्रत्यय, आकार लोप उपपदसमास पृषोदरादित्व के कारण सकार को तकार कुलत्थ तृतीयान्त से अण् कौलत्थम्। तितिडिक अण् तैतिडिकम्।

१५५३ तरति ४।४।५।

उडुपेन तरति औडुपिक ।

तरति = तरता है इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ से ठक् प्रत्यय होता है। तृणादि से विरचित तरण के साधन को उडुप कहते हैं। उडुपो जलात् पाति। औडुपिक ।

१५५४ गोपुच्छाट् ठञ् ४।४।६।

गौपुच्छिक'।

तृतीयान्त गोपुच्छ से तरति अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। गौपुच्छिक ।

गो पुच्छम् तेन तरति वैतरणीं नदीम् य स गौपुच्छिक = गो कर्मक दानकर्ता।

१५५५ नौद्व्यचष्ठन् ४।४।७।

नाविकः। घटिकः। बाहुभ्यां तरति बाहुका स्त्री।

तरति अर्थ में नौ शब्द तृतीयान्त से ठन् एव तृतीयान्त द्व्यच् शुक्ल से ठन् प्रत्यय होता है। नावा तरति नाविक । घटेन तरति घटिक । बाहुका में ठन् को कादेश टाप। बाहुका स्त्री।

१५५६ चरति ४।४।८।

तृतीयान्ताद् गच्छति भक्षयतीत्यर्थयोष्ठक् स्यात्। हस्तिना चरति हास्तिकः। शाकटिक । दध्ना भक्षयति दाधिकः।

तृतीयान्त प्रातिपदिक से जाता है भोजन करता है इन दो अर्थ में अर्थात् गच्छति, भक्षयति, अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। चर गतिभक्षणयो ।

१५५७ आकर्षात् ष्ठल् ४।४.९।

आकर्षो निकषोपलः। आकषादिति पाठान्तरम्। तेन चरति आकर्षिकः। षित्वान्ङीष्। आकर्षिकी।

आकर्ष शब्द निकष पत्थर को कहता है।

तृतीयान्त आकर्ष शब्द से चलता है = चरति अर्थ में ष्ठल् प्रत्यय होता है। स्त्रीलिङ्ग में ङीष् के लिए षकार है। क्वचित् आकष ऐसा रेफ रहित पाठ है।

१५५८ पर्पादिभ्यः ष्ठन् ४।४।१०।

पर्पेण चरति पर्पिकः। पर्पिकी। येन पीठेन पङ्गवश्चरन्ति स पर्पः। अश्विकः। रथिकः।

तृतीयान्त पर्पादि शब्दों से चरति अर्थ में ष्ठन् प्रत्यय का होता है। पर्प उसको कहते हैं जिस पीठ या यान से लंगडे चलते हैं। षित से स्त्रीलिङ्ग में ङीष्।

१५५९ श्वगणाट्ठञ्च ४।४।११।

चात् ष्ठन्।

चरति अर्थ में तृतीयान्त श्वगण से ठञ् एवं चकार से ष्ठन् प्रत्यय होते हैं।

१५६० श्वादेरिञि ७।३।८।

ऐच् न। श्वभस्त्रस्यापत्यं श्वाभस्त्रिः। श्वादंष्ट्रिः। तदादिविधौ चेदमेव ज्ञापकम्। ॐ इकारादाविति वाच्यम ॐ। श्वगणेन चरति श्वागणिकः। श्वागणिकी। श्वगणिकः। श्वगणिकी।

श्वन् शब्द पूर्वक जो शब्द तदन्त जहां रहे वहां वृद्धि को बाधकर ऐच् नहीं होता है, इञ् प्रत्यय पर रहते। श्वाभस्त्रिः। द्वारादिगण में श्वन् का पाठ है, श्वभस्त्र आदि का पाठ नहीं है। ऐच् आगम प्राप्त ही नहीं है पुनः निषेधक यह सूत्र व्यर्थ है, व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है। कि द्वारादि गण पठित शब्दों में तदादिविधि भी है। अतः श्वभस्त्रादि को भी ऐच् प्राप्त है उसके निषेधार्थ श्वादेरिञि की आवश्यकता है। इञ् सूत्र में न कह कर इकारादि तद्धित पर में रहते ऐच् नहीं होता है श्वन् शब्दादि को ऐसा कहना चाहिये। इससे श्वागणिकः आदि में भी इञ् नहीं है तो भी ऐच् न हुआ।

१५६१ पदान्तस्यान्यतरस्याम् ७।३।९।

श्वादेरङ्गस्य पदशब्दान्तस्यैज्वा। श्वापदस्येदं शौवापदम्। श्वापदम्।

पदशब्द है अन्त में जिसको ऐसा श्वन् शब्द पूर्वक अङ्ग को विकल्प ऐच् आगम होता है। इद-मर्थक अण् ऐच् शौवापदम्। पक्ष में श्वापदम्। अन्येषामपि दृश्यते से दीर्घ है।

१५६२ वेतनादिभ्यो जीवति ४।४।१२।

वेतनेन जीवति वैतनिकः। धानुष्कः।

जीवन को धारण करता है = जीवति अर्थ में तृतीयान्त वेतन आदि शब्दों से ठक् प्रत्यय होता है।

वी धातु गत्यादि अर्थ में है उससे तनन् प्रत्यय करण में होकर वीयते अनेन वेतनम् जीविका का साधन = भृत्यवृत्ति द्वारा जो नियत द्रव्य प्राप्त होता है उसको वेतन कहते हैं। उस द्रव्य से जीवन निर्वाह करने वाला वैतनिक कहा जाता है। धनुषा जीवति = शस्त्रास्त्र द्वारा = सैनिक वृत्ति से जीवन धारण करने वाला धानुष्कः। यहां ठक् को कादेश है। एकादश संज्ञा वेतन की हैं कर्मण्या, विधा, भृत्या भृति भर्म, वेतन भरण्य मूल्य निर्वेश पण हैं।

१५६३ वस्नक्रयविक्रयाट् ठन् ४।४।१३।

वस्नेन = मूल्येन जीवति वस्निकः क्रयविक्रयग्रहणं संघातविगृहीतार्थम्। क्रयविक्रयिकः। क्रयिकः। विक्रयिकः।

जीवति अर्थं में तृतीयान्त मूल्यार्थक वा वस्न एवं क्रयविक्रय से ठन् प्रत्यय होता है। सूत्रस्थ क्रयविक्रय ग्रहण समुदाय परक है एव पृथक् अर्थ बोधक भी है। अत. केवल क्रय एव विक्रय से भी प्रत्यय होता है। एव क्रयविक्रय समुदाय से भी। वस् धातु से अधिकरण में न प्रत्यय है वसति अत्र वस्नम् = धन, वस्त्र, मूल्य, भृति अर्थ में है यह हेमाचार्य की उक्ति है। विक्रेय वस्तु के मूल्य द्रव्य की संज्ञा वस्न है।

१५६४ आयुधाच्छ च ४।४।१४।

घाट्ठन्। आयुधेन जीवति आयुधीयः। आयुधिकः।

तृतीयान्त आयुध शब्द से जीवन धारण करता है = जीवति अर्थ में छप्रत्यय एव चकार से ठन् प्रत्यय होता है। आयुध्यतेऽनेन आयुधम् = शत्रु पर प्रहार का साधन। आयुध, प्रहरण, शस्त्र, अस्त्र ये पर्य्याय वाचक शब्द है। घञर्थ में कप्रत्यय आङ्पूर्वक प्रहरणार्थक युध् से करण में है। आयुधीय.। ठन् से आयुधिक।

१५६५ हरत्युत्सङ्गादिभ्यः ४।४।१५।

उत्सङ्गेन हरत्यौत्सङ्गिकः।

हरण करता है इस अर्थ में तृतीयान्त उत्सङ्ग आदि शब्दों से ठक् प्रत्यय होता है।

१५६६ भस्त्रादिभ्यः ष्ठन् ४।४।१६।

भस्त्रया हरति भस्त्रिकः। षित्वात् ङीष् भस्त्रिकी।

हरति अर्थ में तृतीयान्तभस्त्रादि शब्दों से ष्ठन् प्रत्यय होता है। षकार की इत्संज्ञा लोप से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होता है। भस्त्रा = चर्मविकार.।

१५६७ विभाषा विवधात् ४।४।१७।

विवधेन हरति विवधिकः। पक्षे ठक्। वैवधिकः। एकदेशविकृत-स्यानन्यत्वाद् वीवधादपि ष्ठन्। वीवधिकः। वीवधिकी। विवधवीवधशब्दौ उभयतो बद्धशिक्ये स्कन्धवाह्ये काष्ठे वर्तेते।

हरति अर्थ में तृतीयान्त शब्द से पर विकल्प से ष्ठन् प्रत्यय होता है। पक्ष में ठक् प्रत्यय हुआ। विवध वीवध दो एकार्थक शब्द केवल ह्रस्व इकार एव ईकार का भेद है। एकदेश = एकावयव विकार युक्त स्ववत् होने से वीवध शब्द से भी ष्ठन् प्रत्यय होता है। पक्ष में ठक् भी। दोनों का अर्थ—दोनों पार्श्वों में बद्ध किया बाध से वहन योग्य काष्ठ है। भाषा में—कावड या बाँक कहते हैं।

१५६८ अण् कुटिलिकायाः ४।४।१८।

कुटिलिका = व्याधानां गतिविशेष.। कर्मारोपकरणभूत लोहञ्च। कुटिलिकया हरति मृगान् अङ्गारान् वा कौटिलिको व्याधः कर्मारश्च।

हरति अर्थ में तृतीयान्त कुटिलिका से अण् प्रत्यय होता है। व्याधों की गतिविशेष या कर्मकार के उपकरण भूत लोहा को कुटिलिक कहते है।

१५६९ निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः ४।४।१९।

अक्षद्यूतेन निर्वृत्तम् आक्षद्यूतिकं वैरम् ।

सम्पादित अर्थ में तृतीयान्त अक्षद्यूत आदि शब्दों से ठक् प्रत्यय होता है ।

देवनक्रिया = जूआ से सम्पादन किया हुआ वैर = शत्रुता इसमें आक्षद्यूतिकम् समुदाय से वैर अर्थ की प्रतीति हुई । जूआ में झगड़े होना प्रायः स्वाभाविक है ।

१५७० क्त्रेर्मम्नित्यम् ४।४।२०।

क्त्रिप्रत्ययान्तप्रकृतिकात् तृतीयान्तान्निर्वृत्तेऽर्थे मप् स्यान्नित्यम् । कृत्या निर्वृत्तं कृत्रिमम् । पक्त्रिमम् । ॐभावप्रत्ययान्तादिमप् वक्तव्यःॐ । पाकेन निर्वृत्तं पाकिमम् । त्यागिमम् ।

क्त्रिप्रत्यय है अन्त में जिसको ऐसा जो समर्थ प्रातिपदिक उससे विहित जो तृतीया विभक्ति वह है अन्त में जिसको उससे निर्वृत्त अर्थ में मप् होता है नित्य । डुकृञ् द्रव्यविनिमये में डु एवं ञ् की इत्संज्ञा है । ड्वितः क्त्रिः । ककार की इत संज्ञा लोप कृत्रि से तृतीया उससे मप् कृत्रिम सु अम् पूर्वरूप कृत्रिमम् । यहाँ क्त्रेर्मप् यह एक सूत्र ततः 'नित्यम्' पृथक् सूत्र पूर्व के समा न ही अर्थ नित्य का है नित्यम् सूत्र यह व्यवस्था करता है कि क्त्रिप्रत्ययान्त सदामप् से युक्त ही रहता है । तदर्थकमप् रहित वाक्य इस अर्थ में नहीं रहता है । अर्थात् मप् रहित क्त्रि है अन्त में जिसको ऐसा प्रयोग नहीं होता है । भाष्यकार ने भी कहा है कि "त्र्यन्तमप् विषयमेव यथा स्यात् केवलस्य प्रयोगो मा भूत्" कार्य द्वारा सम्पादित वैर कृत्रिमम् । उचित कार्य द्वारा सम्पादित मित्रता आदि ।

विलक्षण तेजः संयोगः पाक तेन निर्वृत्तरूप पक्त्रिमम् । डुपचष् पाके । क्त्रिप्रत्यय मप् चकार को कुत्व । भावप्रत्ययान्त प्रकृतिक तृतीयान्त से निर्वृत्त अर्थ में मप् प्रत्यय होता है । पचनं पाकः 'भावे' सूत्र से भाव = धात्वर्थ में घञ् उपधा वृद्धि, 'चजोः' सूत्र से कुत्व से पाक इससे तृतीया इमप् पाकिमम् । त्यजनं त्यागः तेने निर्वृत्तम्, त्यागिमम् ।

१५७१ अपमित्ययाचिताभ्यां कक्कनौ ४।४।२१।

अपमित्येति ल्यबन्तम् । अपमित्य निर्वृत्तम् आपमित्यकम् । याचितेन निर्वृत्तं याचितकम् ।

अपमित्य एवं तृतीयान्त याचित से क्रमशः कक् एवं कन् होता है । अपमित्य ल्यबन्त अव्यय है तृतीया एकवचन है । अपमित्य से प्रत्यय नहीं होता किन्तु प्रथमान्त अपमित्य से प्रत्यय होता है । अपपूर्वक माङ् से 'उदीचां माङः' से क्त्वा प्रत्यय गतिसमास मा का आकार को इत्व ल्यप् तुक् अपमित्य 'मियतेरिदन्यतरस्याम्' से इकार यहां हुआ है । कक्प्रत्यय । याञ्चार्थक याच् से क्त प्रत्यय इटागम याचित से तृतीया निर्वृत्त अर्थ में कन् याचितकम् ।

१५७२ संसृष्टे ४।४।२२।

दध्ना संसृष्टं दाधिकम् ।

तृतीयान्तसमर्थ प्रातिपदिक से संसृष्ट अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

१५७३ चूर्णादिनिः ४।४।२३।

चूर्णैः संसृष्टाश्चूर्णिनोऽपूपाः ।

तृतीयान्त चूर्ण से संसृष्ट अर्थ में इनि प्रत्यय होता है। चूर्ण = आटा उससे निर्मित या युक्त अपूप = पुँआ यहाँ इनि से चूर्णिन = अपूपाः।

१५७४ लवणाल्लुक् ४।४।२४।

लवणेन संसृष्टो लवणः = सूपः। लवणं शाकम्।

तृतीयान्त लवण शब्द से संसृष्ट अर्थ में विहित ठक् का लुक् होता है। लवण से युक्त दाल यह अर्थ 'लवण, सूपः' का अर्थ है। निमक से युक्त शाक अर्थ में ठक् का लुक् है लवणम् = शाकम्।

१५७५ मुद्गादण् ४।४।२५।

मौद्ग ओदनः।

संसृष्ट अर्थ में तृतीयान्त मुद्ग से अण् प्रत्यय होता है। मुद्गेन = मूंग से युक्त ओदन अर्थ में अण् मौद्ग = ओदनः।

१५७६ व्यञ्जनैरुपसिक्ते ४।४।२६।

ठक्। दध्ना उपसिक्तं दाधिकम्।

उपसिक्त अर्थ होने पर तृतीयान्त प्रातिपदिक से ठक् प्रत्यय होता है। सेचन क्रिया से मृदु करण को उपसेक कहते हैं। अन्नादि के रस का अभिव्यञ्जक तृतीयान्त से उपसेक रूप अर्थ में ठक् होता है यही सूत्रार्थ का स्वारस्य है।

१५७७ ओजःसहोऽम्भसा वर्तते ४।४।२७।

ओजसा वर्तते औजसिकः शूरः। साहसिकश्चौरः। आम्भसिको मत्स्यः।

वर्तमान कालिक सत्ता विशिष्टकर्ता अर्थात् वर्तने अर्थ में तृतीयान्त ओजस, सहस्, अम्भस् से ठक् प्रत्यय होता है। ओजसा = बल से युक्त अर्थ में ठक् औजसिकः शूरः पुरुषः। साहसिक-सहसा वर्तते साहसिकः चौरः। प्राणनिरपेक्ष कर्म को साहस कहते हैं। जल से युक्त मत्स्य अर्थ में आम्भसिकः।

१५७८ तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलम् ४।४।२८।

द्वितीयान्तादस्माद् वर्तते इत्यस्मिन्नर्थे ठक् स्यात्। क्रियाविशेषणत्वाद् द्वितीया। प्रतीपं वर्तते प्रातीपिकः। आन्वीपिकः प्रातिलोमिकः। आनुलोमिकः। प्रातिकूलिकः। आनुकूलिकः।

द्वितीयान्त प्रति, अनुपूर्वक ईप, लोम, कूल शब्द से वर्तते इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। वृत धातु वाच्य अर्थ फल एवं व्यापार ये दोनों अर्थ एक आधार वृत्ति होने से अर्थात् फल समानाधिकरण व्यापारवाचकत्व रूप अकर्मक वृत धातु से निष्पन्न वर्तते का वाच्य अर्थ योग में 'प्रतीपम्' आदि द्वितीयान्तत्व का सम्भव नहीं है। इस शङ्का के निरासार्थ समाधान करते हैं कि प्रसिद्ध द्रव्यादिकर्म रहित वृत धातु अकर्मक होने हुए भी तदर्थ सत्तानुकूल व्यापार अर्थ में व्यापार जन्य सत्तारूप फल का विशेषणत्व प्रयुक्त फलविशेषण वाचक से फल भी व्यपदेशिवद् भावसे फलाश्रय है अतः फलरूप क्रिया विशेषण वाचक से द्वितीया होने से 'प्रतीपं वर्तते' आदि कथन यहाँ उचित ही है एवं वर्तते योग में द्वितीयान्तत्व सम्भव है। फल में विशेषण रूप अर्थ का अभेद

सम्बन्ध से फल में अन्वय है वह विशेषणार्थ भी फलस्वरूप ही है। व्यपदेशिवद्भावमूलक फला-श्रयत्व से प्राप्त द्वितीया यह वचन अनुवादक है अपूर्व नहीं—"क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकत्वम् एकवचनञ्च" इति। इस व्यवस्था जो प्रकृत में की गई उसमें प्रमाण द्वितीयान्त तद् घटित निर्देश ही है। सिद्धस्य गतिश्चिन्तनीया इस राद्धान्तानुसार।

प्रतीपं वर्तते प्रातिपिकः। अनुकूलं वर्तते आनुकूलिकः। प्रतिगता आपोऽस्मिन् इसमें बहुव्रीहि समास कर 'ऋक् पूः' से अ प्रत्यय कर द्वयन्तरूपसर्गेभ्योऽप ईत् से अप् के अकार को ईकार दीर्घ से प्रतीपन् की सिद्धि हुई है। यह केवल व्युत्पत्तिमात्र ही है तदर्थ यहां नहीं है। प्रतिकूल एवं अनुकूलार्थक यहां है।

१५७९ परिमुखञ्च ४।४।२९।

परिमुखं वर्तते पारिमुखिकः। चात् पारिपार्श्विकः।

द्वितीयान्त परिमुख से वर्तते अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। सूत्र में चकार अनुक्त एवं इष्ट शब्द का संग्राहक है अतः परिपार्श्वम् वर्तते पारिपार्श्विकः।

१५८० प्रयच्छति गर्ह्यम् ४।४।३०।

द्विगुणार्थं द्विगुणं तत्प्रयच्छति द्वैगुणिकः। त्रैगुणिकः। ॐवृद्धेर्वृधुषिभावो वक्तव्यःॐ। वार्धुषिकः।

देता है एतदर्थक प्रयच्छति अर्थ में निन्दायोग्य=गर्ह्य वाचक द्वितीयान्त प्रातिपदिक से ठक् प्रत्यय होता है। औपचारिक से ही यह प्रत्यय होता है, शब्द शक्ति के अभिधान स्वारस्य से द्विगुणार्थम् से उपचार का बीजनिरूपण यहां किया है। औपचारिक से प्रत्यय विधान करने पर ही गर्ह्यत्व की प्रतीति हुई। अन्यथा न होती।

वृद्धि शब्द को वृधुषि आदेश होता है। ठक् वृद्धि, वार्धुषिकः।

१५८१ कुसीददशैकादशात् ष्ठन्ष्ठचौ ४।४।३१।

गर्ह्याभ्यामाभ्यामेतौ स्तः प्रयच्छतीत्यर्थे। कुसीदम्=वृद्धिस्तदर्थं द्रव्यं कुसीदं तत्प्रयच्छतीति कुसीदिकः। कुसीदिकी। एकादशार्थत्वादेकादश ते च ते वस्तुतो दश चेति विग्रहे अकारः समासान्त इहैव सूत्रे निपात्यते। दशैकादशिकः। दशैकादशिकी। दशैकादशान् प्रयच्छतीत्युत्तमर्ण एवेहापि तद्धितार्थः।

द्वितीयान्त गर्ह्यार्थक कुसीद एवं दशैकादश से प्रयच्छति अर्थ में क्रम से ष्ठन् एवं ष्ठच् प्रत्यय होते हैं। सूद द्वारा वृद्धि जो होती है उसको भी कुसीद कहते हैं। अर्थात् केवल वृद्धि अर्थ का प्रतिपादक कुसीद का द्रव्यत्व विशिष्ट में लक्षणा से आरोप है। कुसीदिकः। स्त्री में कुसीदिकी ङीष्। दशैकादश से ष्ठच् हुआ। ग्यारह करने के लिए दिये गये उसको भी एकादश कहते हैं वस्तुत वे दश ही है एकादश च ते दश इस विग्रह में समास कर अकार समासान्त का यहां निपातन है। दशैकादशान् प्रयच्छति अर्थ में ष्ठच् हुआ। यहां तद्धितार्थ उत्तमर्ण हुआ। अधमर्ण नहीं।

१५८२ उञ्छति ४।४।३२।

बदराणि उञ्छति बादरिकः ।

द्वितीयान्त से उञ्छति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। खेत या भूमि में गिरे हुए अन्न कणादि को एक एक करके एकत्रित करने वाला उञ्छति शब्द वाच्यार्थ है। मुनिजन जब कृषक अपने अन्न को खेत से ले जाते थे तब वे खेत में गिरे हुए अन्न कण जीवननिर्वाहार्थ लाते थे उसमें भी लाये अन्न में छठमा अंश राजा को करस्वरूप में देते थे राजा आश्रमों की सुव्यवस्था में उससे प्राप्त द्रव्य द्वारा करता था यह प्राचीन भारतीय व्यवस्था में उञ्छ वृत्ति पवित्रतम मानी जाती थी।

कालिदास ने उञ्छ वृत्ति का चित्रण महाकाव्य रघुवंश में 'उञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि' से किया है। भूमि में गिरे हुए बेर को इकट्ठा करने वाला बादरिक। "आर्द्रकन्तु सदा पथ्यं कुपथ्य बदरीफलम्" अर्थात् स्वास्थ्य के लिए उत्तम पथ्य है, बेर भक्षण कुपथ्यकारी है।

१५८३ रक्षति ४।४।३३।

समाज रक्षति सामाजिकः ।

द्वितीयान्त प्रातिपदिक से रक्षा करने वाला अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। समाज रक्षति अर्थ में ठक् आदि वृद्धि आदि कार्य से सामाजिक।

१५८४ शब्ददर्दुरं करोति ४।४।३४।

शब्द करोति शाब्दिकः । दार्दुरिकः ।

द्वितीयान्त शब्द एवं दर्दुर से करोति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। शाब्दिक = वैयाकरण। जो प्रकृति एवं प्रत्यय उनका अर्थ एवं उन अर्थ द्वय का परस्पर सम्बन्ध का व्याकरण नियम पूर्वक प्रतिपादन करता है। दार्दुरिक। यहाँ दर्दुर से भाण्ड अर्थ है।

१५८५ पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति ४।४।३५।

स्वरूपस्य पर्यायाणां विशेषाणां च ग्रहणं मत्स्यपर्यायेषु मीनस्यैव । पक्षिणो हन्ति पाक्षिकः । शाकुनिकः । मार्गिकः । हारिणिकः । सारङ्गिकः ।

'हन्ति' मारता है इस अर्थ में द्वितीयान्त पक्षिवाचक, मत्स्य वाचक मृगवाचक से ठक होता है। पक्षि आदि से स्वरूप, पर्याय एवं तद् विशेष का ग्रहण है। मत्स्य पर्याय में मीन का ही यहां ग्रहण है। अनेक पक्षियों का नाशक अर्थ में पाक्षिक। अन्य रूप मूल में स्पष्ट है।

१५८६ परिपन्थं च तिष्ठति ४।४।३६।

अस्माद् द्वितीयान्तात् तिष्ठति हन्ति चेत्यर्थे ठक् स्यात् । पन्थानं वर्जयित्वा, व्याप्य वा तिष्ठति पारिपन्थिकश्चौरः । परिपन्थं हन्ति पारिपन्थिकः ।

यहां सूत्र में उच्चरित चकार अन्यत्र उक्त है अन्यत्र उसका सम्बन्ध है। तिष्ठति के बाद च तिष्ठति च चकार से हन्ति रूप अर्थ का चयन हुआ है। तब द्वितीयान्त का सम्बन्ध है। द्वितीयान्त परिपन्थ से तिष्ठति, हन्ति, इन दो अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है। परि वर्जन अर्थ का बोधक है। द्वितीयान्त मार्ग है। इस को सूचनार्थ पन्थानं वर्जयित्वा व्याप्य यह लिखा है स्थिति क्रिया निरूपित कर्तृत्व चौर में है एवं शत्रुकर्मक हनन क्रिया कर्तृत्व भी चौर में है। पारिपन्थिकः चौर। विपरीतपथयुक्त हन्ति पारिपन्थिक। परिपन्थम् यहां अव्ययीभाव समास है पन्थानं वर्जयि-

त्वा इत्यर्थः। अथवा मयूरव्यंसकादित्वप्रयुक्ततत्पुरुष है निपातन से पन्थादेश हुआ है। तिष्ठति या हनन क्रिया निरूपित क्रिया विशेषत्व के कारण द्वितीया है।

१५८७ माथोत्तरपदपदव्यनुपदं धावति ४।४।३७।

दण्डाकारो माथः = पन्था दण्डमाथः। दण्डमाथं धावति दाण्डमाथिकः। पादविकः। आनुपदिकः।

मार्गवाचकमाथ है उत्तर पद में जिसका ऐसा द्वितीयान्त शब्द, पदवी शब्द, अनुपद शब्द इन द्वितीयान्त से उत्कट गमन कर्ता (धावति) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है यष्टि के समान ठीक सीधा रास्ता दण्डमाथ को धावन कर्ता अर्थ में दाण्डमाथिकः। विलोटनार्थक माथ् धातु से कर्म में घञ् माथ्यते = विलोट्यते गन्तृभिः = माथः पदवी शब्द भी मार्गार्थक है द्वितीयान्त से ठक् पादविकः। पदंपदम् अनुपदं तद् धावति आनुपदिकः।

१५८८ आक्रन्दाट्ठञ्च ४।४।३८।

अस्माट्ठञ् स्यात्, चात् ठक् धावत्यर्थे। आक्रन्दम् = दुःखिनां रोदनस्थानं धावति आक्रन्दिकः।

धावति अर्थ में द्वितीयान्त आक्रन्द शब्द से ठञ् एवं ठक् होता है। उभय प्रत्यय से रूप में भेद नहीं किन्तु स्वर भेद आद्युदात्त एवं अन्तोदात्त है। दुःख से युक्त जो व्यक्ति उनका जो स्थान = स्थिति का अधिकरण उस के प्रति धावन कर्ता सहायतार्थ वह आक्रन्दिकः कहा जाता है।

१५८९ पदोत्तरपदं गृह्णाति ४।४।३९।

पूर्वपदं गृह्णाति पौर्वपदिकः। औत्तरपदिकः।

पद है उत्तरपद में जिनको ऐसे जो द्वितीयान्त प्रातिपदिक उससे ग्रहण करता है इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। अन्त न कह कर सूत्र में जो उत्तरपद ग्रहण किया है वह बहुच् प्रत्यय पूर्वक जो पद शब्द द्वितीयान्त उससे ठक् निवृत्ति के लिए है। पूर्वञ्च तद् पदं पूर्वपदं तद् गृह्णाति पौर्वपदिकः। औत्तरपदिकः।

१५९० प्रतिकण्ठार्थललामञ्च ४।४।४०।

एभ्यो गृह्णात्यर्थे ठक् स्यात्। प्रतिकण्ठं गृह्णाति प्रातिकण्ठिकः। आर्थिकः। लालामिकः।

गृह्णाति = ग्रहण करता है इस अर्थ में द्वितीयान्त प्रतिकण्ठ, अर्थ, एवं ललाम से ठक् प्रत्यय होता है। प्रातिकण्ठिकः। अर्थं गृह्णाति आर्थिकः। प्रतिकण्ठम् में वीप्सा में। अव्ययीभाव समास है कण्ठं कण्ठम् इति प्रतिकण्ठम् प्रतिगतः कण्ठम् यह प्रादिसमास का यहां ग्रहण नहीं है। लालामिकः। लटनम् = ललामः। लट बाल्ये विलासे है, उससे सम्पदादित्व प्रयुक्त क्विप् टकार लकार का ऐक्य है। ललममति अम् गत्यादिषु से कर्मण्यण् ललाम। कनिन् प्रत्ययान्त नान्त भी है बाहुलक से। ललामं ललाम च। लिप्सु अर्थ में भी ललाम का प्रयोग है कन्याललामकमनीयम् अजस्य लिप्सोः।

१५९१ धर्मं चरति ४।४।४१।

धार्मिकः। ॐ अधर्माच्चेति वक्तव्यम् ॐ। आधर्मिकः।

द्वितीयान्त धर्म शब्द से चरति अर्थ में ठक् प्रत्यय एवं द्वि० अधर्म से भी ठक् प्रत्यय होता है। धर्मविरोधि दुःख गुण विशेषजनक कर्मरूप = अधर्म।

१५९२ प्रतिपथमेति ठंश्च ४।४।४२।

प्रतिपथमेति प्रातिपथिकः।

यहां वीप्सा में अव्ययीभाव से पन्थानम् प्रतिपथम। 'ऋक्पू' से अ प्रत्यय टिलोप। चलता है इस अर्थ में द्वितीयान्त प्रतिपथ से ठन् होता है चात् ठक् भी। पारिपथिक।

१५९३ समवायान् समवैति ४।४।४३।

सामवायिकः। सामूहिकः।

यहां बहुवचन से अर्थ निर्देश है। द्वितीयान्त समूह वाचक शब्द से समवैति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। समवायान् समवैति सामवायिक। समूह समवैति सामूहिकः। यहां समवैति शब्दार्थगत विशेषण जो प्रवेश क्रिया तन्निरूपित कर्मत्व वाचक जो द्वितीयान्त उससे ठक् होने से समवेता युयुत्सव यहां धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे में अधिकरणत्व विवक्षा से सप्तमी है।

१५९४ परिषदो ण्यः ४।४।४४।

परिषद् समवैति पारिषद्यः।

समवैति अर्थ में द्वितीयान्त परिषद् से ण्यप्रत्यय होता है। परिषद् = सभा। पारिषद्यः सभा में प्रवेशार्थ नियमित उसका सदस्य। पारिषद्य।

१५९५ सेनाया वा ४।४।४५।

ण्यः स्यात् पक्षे ठक्। सैन्याः। सैनिकाः।

समवैति अर्थ में द्वितीयान्त सेना शब्द से ण्यप्रत्यय होता है, पक्ष में ठक् भी होता है सैन्या। ण्यप्रत्यय पक्ष में ठक् है। सेना में प्रविष्ट होने वाले सैनिक।

१५९६ संज्ञायां ललाटकुक्कुट्यौ पश्यति ४।४।४६।

ललाट पश्यति लालाटिकः सेवकः। कुक्कुटीशब्देन तत्पातार्ह स्वल्प-देशो लक्ष्यते। कौक्कुटिको भिक्षुः।

देखता है इस अर्थ में द्वितीयान्त ललाट एवं कुक्कुटी से ठक् प्रत्यय होता है। स्वामी के भाल प्रदेश रूप ललाट को देखता है कार्य नहीं करता ऐसे सेवक को लालाटिक कहते हैं। यहाँ मुर्गी वाचक कुक्कुटी शब्द मुख्यार्थ को न कहता हुआ उसका पतन स्थान जो निवास का अधिकरण है अतीव अल्प = न्यून उसको लक्षणा से या अप्रसिद्ध शक्ति से बोधन करता है। तथैव अत्यन्त स्वल्प प्रदेश चरण विक्षेपार्थ देखता है, अर्थात् नेत्र व्यापार को संयमन पूर्वक संन्यासी देखता है। पादविक्षेपयोग्यदेशपर्यन्तमेव चक्षुषा पश्यति। आधुनिक परिस्थिति उससे अधिकांश विपरीत देखी जाती है। प्राचीन भारतीय धर्म व्यवस्था में त्याग प्रधान सन्त जीवन का इससे चित्रण स्पष्ट होता है। चरणपातन दिखना भी अत्यावश्यक है अन्यथा उसकी भी उपेक्षा वे करते यह दिन जिस दिन पुनः उदित होगा तब भारतीय सन्त समाज उस समय जगद्गुरुत्व के महत्त्व पद पर आसीन होगा। अन्यथा नहीं। गृहस्थों को मन्त्र दीक्षा देने का शास्त्र

-अधिकार गृहस्थ सदाचारी ब्राह्मण को ही है" मेरे गुरुदेव विरचित वैदिक धर्म रहस्य को देखिए। संन्यासी केवल आत्मा का उद्धार मात्र ही करें। अन्य कार्य न करें। संन्यासी के लिए आपद्धर्म नहीं है।

१५९७ तस्य धर्म्यम् ४।४।४७।

आपणस्य धर्म्यम् आपणिकः।

धर्म से युक्त को धर्म्य कहते हैं अनपेत अर्थ में यत् धर्मादनपेतं धर्म्यम्। धर्म्य अर्थ में षष्ठ्यन्त से ठक् प्रत्यय होता है। आपणिकः।

१५९८ अण् महिष्यादिभ्यः ४।४।४८।

महिष्या धर्म्यं माहिषम्। याजमानम्।

धर्म्य अर्थ में षष्ठ्यन्त महिषी आदि से अण् प्रत्यय होता है। यजमानस्य धर्म्यं याजमानम्। इज्यते इति यजमानः। यज् लट् शानच् शप् मुक् यागकर्ता।

१५९९ ऋतोऽञ् ४।४।४९।

यातुर्धर्म्यं यात्रम्। ❀ नराच्चेति वक्तव्यम्। नरस्य धर्म्या नारी। ❀ विशसितुरिड् लोपश्चाञ् च वक्तव्यः ❀। विशसितु धर्म्यं वैशस्त्रम्। ❀ विभाजयितुर्णिलोपश्चाञ् च वक्तव्यः ❀। वैभाजित्रम्।

धर्म्य अर्थ में षष्ठ्यन्त ऋकारान्त से अञ् प्रत्यय होता है। याति = याता तस्य धर्म्यम् यात्रम्। षष्ठ्यन्त नर से भी अञ् होता है। स्त्रीलिङ्ग में ङीप् नारी षष्ठ्यन्त विशसितृ से इट् आगम का लोप पूर्वक अञ् प्रत्यय होता है। ण्यन्त विभाजयितृ षष्ठ्यन्त में णिलोप पूर्वक अञ् होता है— वैभाजित्रम्।

१६०० अवक्रयः ४।४।५०।

षष्ठ्यन्ताट्ठक् स्याद् अवक्रयेऽर्थे। आपणस्यावक्रयः—आपणिकः। राजग्राह्यद्रव्यमवक्रयः।

षष्ठ्यन्त से ठक् होता है राजग्राह्यद्रव्यरूप अवक्रय अर्थ में। आपणस्य अवक्रयः आपणिकः = दुकानदार से आयरूप लाभ से इन्कम टैक्स प्राचीन समय से ही राजा के द्वारा गृहीत होता था। वर्तमानवत्।

१६०१ तदस्य पण्यम् ४।४।५१।

अपूपाः पण्यम् अस्य आपूपिकः।

प्रथमान्त समर्थ से अस्य = इसका पण्य = विक्रय के लिए प्रकारित द्रव्य अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। मालपूआ विक्रेय वस्तु है जिसका वह आपूपिकः। यहां प्रसारित का अर्थ स्थापित है।

१६०२ लवणाट्ठञ्च ४।४।५२।

लावणिकः।

प्रथमान्त लवण से 'अस्य पण्यम्' अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है, चकार से ठक् भी स्वरभेद मात्र है।

१६०३ किसरादिभ्यः ष्ठन् ४।४।५३।

किसर पण्यम् अस्य किसरिक । षित्वान्ङीप् । किसरिकी । किसर, उशीर, नलद इत्यादि किसरादय । सर्वे सुगन्धिद्रव्यविशेषवाचिनः ।

'अस्य पण्यम्' अर्थ में प्रथमान्त किसरादि शब्दों में ष्ठन् प्रत्यय होता है। षित्करण से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् हुआ। वे सुगन्धि द्रव्य वाचक है। इत्र आदि में प्रयुक्त है।

१६०४ शलालुनोऽन्यतरस्याम् ४।४।५४।

ष्ठन् स्यात् पक्षे ठक् । शलालुक । शलालुकी । शालालुक । शालालुकी । शलालु —सुगन्धिद्रव्यविशेष ।

प्रथमान्त समर्थ शलालु से अस्य पण्यम् अर्थ में ष्ठन् एवं पक्ष में ठक् होता है। ठ को कादेश यहां हुआ है इकादेश को बाधकर। षित्व प्रयुक्त स्त्रीलिङ्ग में ङीष् यह भी सुगन्धि द्रव्यार्थक है।

१६०५ शिल्पम् ४।४।५५।

मृदङ्गवादन शिल्पमस्य मार्दङ्गिक ।

अभ्यासपूर्व क्रियासु कौशलम् = शिल्पम् । प्रथमान्त से अस्य शिल्प अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। मृदङ्ग को बजाने का शिल्पयुक्त। वैणविक = वेणुनिर्मित वंशी को बजाने का अभ्यास में निपुण वे तूर्याङ्ग है।

१६०६ मड्डुकझर्झरादणन्यतरस्याम् ४।४।५६।

मड्डुकवादन शिल्पमस्य माड्डुक । माड्डुकिकः । झार्झरः । झार्झरिक ।

प्रथमान्त मड्डुक एव झर्झर स 'अस्य पण्यम्' अर्थ में अण विकल्प से होता है। पक्ष में ठक् प्रत्यय होता है।

१६०७ प्रहरणम् ४।४।५७।

तदस्येत्येव । असि प्रहरणम् अस्य आसिक = धानुष्कः ।

प्रथमान्त से प्रहरण साधन अर्थ में ठन् प्रत्यय अस्य षष्ठ्यर्थ में होता है। प्रहरण शब्द करण ल्युडन्त है। आसिक - तलवार है प्रहरण का करण = साधन जिसका ऐसा पुरुष। धनु प्रहरण मस्य धानुष्क यहां कादेश है आदि वृद्धादि । 'इस न' से षकारादेश हुआ।

१६०८ परश्वधाट्ठञ्च ४।४।५८।

पारश्वधिक ।

प्रथमान्त परश्वध से अस्य प्रहरण अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है, चकार से ठक्। परश्वधः प्रहरणमस्य पारश्वधिक ।

१६०९ शक्तियष्ट्योरीकक् ४।४।५९।

शाक्तीक । याष्टीक ।

प्रथमान्त शक्ति शब्द एव यष्टि शब्द से अस्य प्रहरण अर्थ में ईकक् प्रत्यय होता है। शक्ति = गदा वा प्रहरणम् = प्रहार का करण अर्थात साधन अर्थ में शाक्तिक। यष्टि = लगुड = लाठी प्रहरण साधन युक्त याष्टीकः ।

१६१० अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः ४।४।६०।

तदस्येत्येव। अस्ति परलोक इत्येवं मति र्यस्य च आस्तिकः। 'नास्ति' इति मति र्यस्य स नास्तिकः। दिष्टं मति र्यस्य स दैष्टिकः।

वृत्तिविषय में स्वविषयमति अर्थ लक्षणा से बोधक अस्ति आदि से प्रथमा है, सप्तम्यर्थ में प्रत्यय। पर लोक यह तो शब्द शक्ति स्वभावतः लब्ध है दिष्ट शब्द दैव = भाग्य पर्यायार्थक है। काल वाचक पुंलिङ्ग नहीं है। दैवं दिष्ट यह कोश है। परलोक विषयक प्रज्ञावान् आस्तिकः। परलोक विषयक प्रज्ञाऽभाववान् को नास्तिकः कहते हैं। गुर्जर प्रान्तोद्भव उदीच्य सद्ब्राह्मण सत्यार्थ प्रकाशक टङ्काराभिजन पण्डितेन्द्र श्री दयानन्द सरस्वती ने 'नास्तिको वेद-निन्दकः' यह लिखा है, जन्मान्तर कृतकर्म से सम्पादित भाग्याधीन सुख दुःख की अनुभूति होती है। दिष्टम् = दैवम् = भाग्यम् तत्र मतिः दैष्टिकः। अस्ति मति अर्थ में यदि प्रत्यय करेंगे तो चोर में भी मति है आस्तिकः चोरः यह प्रयोग होगा। एवं मति रहित अचेतन में नास्तिक प्रयोग होगा अतः परलोक घटित व्याख्या की गई।

१६११ शीलम् ४।४।६१।

अपूपभक्षणं शीलमस्य आपूपिकः।

इसका स्वभाव अर्थ में प्रथमान्त से ठक् प्रत्यय होता है। शीलम् = स्वभावः। महाभारत में शील प्रकरण की व्याख्या भीष्मपितामह ने पाण्डवों के उत्कर्ष वर्णन में दुर्योधन से कही है। "शीलवान् भव त्वम्" स्वभावकाज्ञान अधिक सहवासादि से होता है 'शीलं कालेन विशेयम्। प्राचीन भारत में पूआ मिष्टान्नों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। आपूपिकः। समाज व्यवस्था आदि के द्योतक उदाहरण होते हैं। स्वकर्मकमक्षण में अपूप शब्द यहां लाक्षणिक है।

१६१२ छत्रादिभ्यो णः ४।४।६२।

गुरोर्दोषाणामावरणं छत्त्रं तच्छीलमस्य छात्त्रः।

प्रथमान्त छत्त्र आदि से 'अस्य शीलम्' अर्थ में ण प्रत्यय होता है। छद्धातु से त्रप्रत्यय है दकार को तकार है अत छत्त्र इस प्रकार लिखना चाहिये जो लोग छत्र लिखते हैं वे असाधु शब्द लेखनप्रयुक्त प्रत्यवायभागी होंगे। इसी प्रकार पतति पत्त्रम्। गुरुगत दोषों का आच्छादक छत्त्र यह स्वभावयुक्त अर्थ में छात्त्रः।

विमर्श—वस्तुतः यह अर्थ असङ्गत है, दोषयुक्त गुरु से अध्ययन निषिद्ध है। एवं दोषों का आच्छादनकर्ता भी दोषभागी होता है। अतः यहां छत्त्र = छाता तत्सदृश में भी छत्त्रत्वारोप है जिस प्रकार छत्त्र आतपादि से स्वस्वामी की रक्षा करता है तथैव छत्त्र समान अन्तेवासी है गुरु छत्त्र समान विद्यार्थी की सुरक्षा करते हैं यहां पाल्यपालकभावरूप सम्बन्ध दोनों का है। छत्त्रम् आतपादिना स्वस्वामिनं रक्षति, स्वामी च छत्त्रवत् तस्यापि सुरक्षां करोति यह भाष्यादित्त-त्त्ववित् श्रीपद्मोल्लिमत है।

१६१३ कार्मस्ताच्छील्ये ६।४।१७२।

कार्म इति ताच्छील्ये णे टिलोपो निपात्यते। कर्मशीलः = कार्मः। 'नस्तद्धिते' इत्येव सिद्धे अण् कार्यं ताच्छीलिके णेऽपि। तेन चौरी तापसी इत्यादि सिद्धम्।

प्रथमान्त कर्मन् से अस्य शील अर्थ में णप्रत्यय होता है एवं टिलोप का निपातन होता है।

विमर्श—यहां शङ्का करते हैं कि जो कार्य सूत्रादि से प्राप्त न रहें उनका ही निपातन करना चाहिये यहां तो कर्मन् ण से आदि वृद्धि कर 'नस्तद्धिते' से अन् का टिलोप प्राप्त ही है पुन टिलोप निपातन से क्यों किया ?, समाधान—यह टिलोप का निपातन व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि ताच्छील्य अर्थ में विहित णप्रत्यय अणवत्=अणसदृश होता है अर्थात् अण् पर में रहते जो कार्य होता है वह कार्य णकार प्रत्यय पर में रहते प्रकृति को वा प्रकृति के अवयव को करना, 'अन्' सूत्र से अण पर में रहते प्रकृतिभाव से 'नस्तद्धिते' का बाध है वह अन् यहां प्रवृत्त होकर टिलोप न होने देगा अत टिलोप विधान साधक है ज्ञापन का फल चुरा शीलमस्य यहां णप्रत्यय अण वत् से ङीप् 'टिड्ढ'से हुआ चौरी एवं तापसी ज्ञाप्यवचन में ताच्छील्य कहने से दाण्डा में प्रहरणार्थक णप्रत्यय अणवत् न हुआ टाप् हुआ दण्ड प्रहरण यस्यां क्रियायां सा दाण्डा क्रिया।

कार्मण में ताच्छील्यार्थक न होने से टिलोपाभाव हुआ है।

१६१४ कर्माध्ययने वृत्तम् ४।४।६३।

प्रथमान्तात् षष्ठ्यर्थे ठक् स्यादध्ययने वृत्ता या क्रिया सा चेत्प्रथमान्तस्यार्थः। ऐकान्यिकः। यस्याध्ययने प्रवृत्तस्य परीक्षाकाले विपरीतोच्चारणरूपं स्खलितमेकं जातं सः।

अध्ययन में जो कर्म=क्रिया निष्पन्न हो वह यदि प्रथमान्तार्थ रहे तो षष्ठ्यर्थ में प्रथमान्त से ठक् होता है। यथा—अध्ययन में प्रवृत्त जिस को परीक्षाकाल में विपरीत उच्चारणरूप एक स्खलित गलती हुए उसको ऐकान्यिक कहते हैं इस उदाहरण से प्राचीनकाल में छात्रगण विषय का अध्ययन पूर्ण रूप से करते थे एवं उनकी मौखिक परीक्षा भी होती थी। वर्तमान युग में परीक्षा एवं छात्रों की मनोवृत्ति का वर्णन असामयिक यहां है, परिस्थिति प्रत्यक्षगम्य ही है। सम्प्रति परीक्षा निरीक्षकों पर प्राणघातक प्रहार परीक्ष्य कुछ छात्रों द्वारा अनेकत्र स्थलों में होते हैं यह निन्द्य कार्य है।

१६१५ बह्वच्पूर्वपदाट्ठच् ४।४।६४।

प्रागुक्तविषये। द्वादशान्यानि कर्माण्यध्ययने वृत्तान्यस्य द्वादशान्यिकः। द्वादश अपपाठा अस्य जाता इत्यर्थः।

पूर्व सूत्र में वर्णित अर्थ में बहुत स्वरों से युक्त पूर्वपदक प्रथमान्त पद से ठच् प्रत्यय होता है। परीक्षाकाल में बारह गलती करनेवाला छात्र द्वादशान्यिक।

१६१६ हितं भक्षाः ४।४।६५।

अपूपभक्षणं हितम् अस्मै आपूपिकः।

प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से अस्मै इनके लिए हितम्=उपकारकम् अर्थ में ठक्प्रत्यय होता है। यथा आपूपिक।

१६१७ तदस्मै दीयते नियुक्तम् ४।४।६६।

अग्रभोजनं नियतं दीयते अस्मै आग्रभोजनिकः।

प्रथमान्त प्रातिपदिक से इस को उद्देश्य कर नियमित रूप से भोज्य पदार्थ दिये जाते हैं इस अर्थ में 'अस्मै दीयते नियुक्तम्' में ठक् प्रत्यय होता है प्राचीन भारत में यह प्रथा थी कि

पूज्य एवं अवस्था कृत वृद्धजनों को प्रथम भोजन कराया जाता था, अभी भी उच्च कुलों में यह प्रथा सुरक्षित है। आग्रभोजनिकः।

१६१८ श्राणामांसौदनाट्टिठन् ४।४।६७।

श्राणा नियुक्तं दीयतेऽस्मै श्राणिकः। श्राणिकी। मांसौदनग्रहणं सङ्घातविगृहीतार्थम्। मांसौदनिकः। मांसिकः। औदनिकः।

नियम से उसको उद्देश्य कर दिया जाय इस अर्थ में प्रथमान्त श्राणा से मांसौदन से, मांस से ओदन से टिठन् प्रत्यय होता है। ओदन में ठक् प्रत्यय करते तो वृद्धि होती टिठन् से वृद्धि न हुई इससे सिद्ध हुआ कि विगृहीत का भी यहां ग्रहण है। अन्यत्र ओदन को छोड़कर सभी वृद्धिमत आदि अच् युक्त ही हैं। माजी श्राणा यह प्रयोग प्रथम आ चुका है।

१६१९ भक्तादणन्यतरस्याम् ४।४।६८।

पक्षे ठक्। भक्तमस्मै नियतं दीयते भाक्तः। भक्तिकः।

भक्त = सिद्धान्त ओदन अर्थ में भक्त का प्रयोग है भज् धातु से कर्म में क्तः। हैमकोष में 'भक्तमन्नेतत्परे च' है।

१६२० तत्र नियुक्तः ४।४।६९।

आकरे नियुक्त आकरिकः।

सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से नियुक्त अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। नियत को नियुक्त कहते हैं। स्वानुष्ठेय क्रिया व्यापक दान कर्म को नियुक्त कहते हैं। जहां जहां भृत्यादि द्वारा अनुष्ठान क्रिया है वहां वहां स्वामि द्वारा दान कर्मत्व है यह व्याप्ति बनाकर यहां ज्ञान करना चाहिये। आकर रक्षार्थ पुरुष को उद्देश्य कर उसको वेतनादि रूप पारितोषिक राजप्रदत्त नियमित प्राप्त होता है अतः दीयते का यहां सम्बन्ध पूर्ववत् है। अथवा केवल नियोजन अर्थ में प्रत्यय होता है। यहां दीयते का सम्बन्ध नहीं है यह भी पक्ष है।

१६२१ अगारान्ताट्ठन् ४।४।७०।

देवागारे नियुक्तो देवागारिकः।

अगार शब्द अन्त में रहते सप्तम्यन्त से नियुक्त अर्थ में ठन् प्रत्यय होता है। देव मन्दिर में नियुक्त पुरुष को स्वकार्य सम्पादन हेतु दान क्रिया कर्म वेतनादि की प्राप्ति है वहां देवागारिकः। नियोजन क्रिया कर्ता स्वामी नियुक्त भृत्यादि नियोजनरूपा क्रिया इन तीनों का भान होता है। नियुक्त का अधिकृत अर्थ है। खनि को आकर कहते हैं। यहां दीयते का सम्बन्ध नहीं है तो अधिकृत मात्र अर्थ रखना चाहिये।

१६२२ अध्यायिन्यदेशकालात् ४।४।७१।

निषिद्धदेशकालवाचकाट्ठक् स्यादध्येतरि। श्मशानेऽधीते श्माशानिकः। चतुर्दश्यामधीते चातुर्दशिकः।

अध्ययन क्रिया कर्ता को अध्यायिनी कहते हैं वहां सप्तम्यन्त निषिद्ध देश या काल वाचक जो शब्द उससे ठक् प्रत्यय होता है। मृत दाह स्थानरूप श्मशान अपवित्र स्थान होने से वहां अध्ययन निषिद्ध है वहां अध्ययन क्रिया कर्ता अर्थ में ठक् से श्माशानिकः हुआ है। पर्व में अध्ययन निषिद्ध है चतुर्दशी पर्व काल में अध्येता को चातुर्दशिकः।

१६२३ कठिनान्तप्रस्तारसंस्थानेषु व्यवहरति ४।४।७२।

तत्रेत्येव । वंशकठिने व्यवहरति वांशकठिनिकः । वंशा = वेणवः कठिना यस्मिन् देशे स वंशकठिनस्तस्मिन् देशे या क्रिया यथानुष्ठेया तां तथैवानुतिष्ठतीत्यर्थः । प्रास्तारिकः । सांस्थानिकः ।

कठिन शब्दान्त जो सप्तम्यन्त प्रातिपदिक उससे एवं सप्तम्यन्त प्रस्तार एवं संस्थान व्यवहरति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जिस प्रदेश में कठिन वंश = वेणु है उस प्रदेश में जो क्रिया जिस प्रकार अनुष्ठित होनी उचित है उसको जो उसी प्रकार अनुष्ठित करें उसको 'वांशकठिनिक' कहते है। सन्निवेश के पर्यायार्थक संस्थान प्रस्तार शब्द यहाँ है। प्रस्तार में प्रपूर्वक स्तृ धातु से अयज्ञ में घञ् प्रत्यय है—प्रेस्त्रोऽयज्ञे ३ ३।३२। विलक्षण अवयव सम्बन्ध के सन्निवेश कहते है वहां कार्य असम्भव है अतः प्रस्तारयुक्त संस्थानयुक्त का लक्षणा प्रहण करना। अथवा अधिकरण प्रत्ययान्त ये दोनों है। प्रस्तारे व्यवहरति प्रास्तारिकः। संस्थाने व्यवहरति सांस्थानिकः।

१६२४ निकटे वसति ४।४।७३।

नैकटिको भिक्षुः ।

वास करता है इस अर्थ में सप्तम्यन्त निकट शब्द से ठक् प्रत्यय होता है। भिक्षु, विरक्त, त्यागी सन्यासी, प्रायः ये शब्द समानार्थ है। जनसमूह ग्राम या महाजन समूह नगर में वे वास न कर नगरादि के समीप अरण्य में वास करते थे प्राचीन भारत में केवल भिक्षा ग्रहणार्थ नगर या ग्राम में प्रवेश करते थे 'अरति जनसंसदि' यह क्रम था। नैकटिको भिक्षुः। ग्राम एक कोश भिक्षु को दूर रहना चाहिए किन्तु शास्त्र का अनादरकर निकट में रहता है यह निन्दा में ही नैकटिक होता है। इसमें वृत्ति ग्रन्थ भी प्रमाण है।

१६२५ आवसथात् ष्ठल् ४।४।७४।

आवसथे वसति आवसथिकः । पित्त्वान्ङीष् आवसथिकी ।

'आकर्षात्पर्पादेर्भस्त्रादिभ्यः कुसीदसूत्राच्च ।
आवसथात् किसरादेः षितः षडेते ठगधिकारे ॥"

षड्इति षट्सूत्रेण विहिता इत्यर्थः, प्रत्ययास्तु सप्त ।

इति ठकोऽवधिः समाप्तः

वसति अर्थ में सप्तम्यन्त आवसथ से ष्ठल् प्रत्यय होता है। आवसन्ति यत्र इति आवसथः 'उपसर्गे वसे' से अवपूर्वक निवासार्थक वस अथ प्रत्यय से हुआ है, स्थिति का आधारभूत स्थान यह अर्थ है उस स्थान में निवास करने वाला को आवसथिक कहते है। प्रत्यय में लकार स्वरार्थ है स्त्रीलिङ्ग में षित्व से ङीष् है। ठक् के अधिकार के मध्य में १ 'आकर्षात् ष्ठल्' २ पर्पादिभ्यः ष्ठन्, ३ भस्त्रादिभ्यः ष्ठन् ४ कुसीददशैकादशात् ष्ठन्ष्ठचौ ५ किसरादिः ष्ठन् ६ आवसथात् ष्ठल् ये छः सूत्रों से विहित सात प्रत्यय षित् है। मुद्रणादि दोष में भ्रम निवृत्ति के लिए स्पष्ट ज्ञानार्थ यह यत्न किया गया।

पं० श्री बा कृ पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में ठक् की अवधि समाप्त



अथ प्राग्घितीयप्रकरणम्

१६२६ प्राग्घिताद्यत् ४।४।७५।

तस्मै हितमित्यतः प्राग् यदधिक्रियते ।

'तस्मै हितम्' सूत्र के पूर्व तक यत् का अधिकार है। उत्तरोत्तर सूत्रों में यत् का सम्बन्ध होता है इस प्रकरण में विशेष विधीयमान प्रत्यय यत् के बाधक होगें वहां यत् नहीं होना है।

१६२७ तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् ४।४।७६।

रथं वहति रथ्यः । युग्यः । वत्सानां दमनकाले स्कन्धे काष्ठमासज्यते स प्रासङ्गस्तं वहति प्रासङ्ग्यः ।

द्वितीयान्त रथ, युग, प्रासङ्ग से वहन करता है इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। तकार तित्स्वरार्थ है तित्स्वरितम्। रथ को वहन कर्ता वह रथ्यः है। यस्येति च से अकारलोप। युगं रथाङ्गं वहति युग्यः। प्रासङ्ग्यः। वत्सों को दमन काल में उनके कंधारूप स्थान में जो काष्ठ रक्खा जाता है उसको प्रासङ्ग कहते हैं।

१६२८ धुरो यड्ढकौ ४।४।७७।

हलि चेति दीर्घे प्राप्ते—

द्वितीयान्त धुर् शब्द से वहति इस अर्थ में यत् एवं ढक् प्रत्यय होता है। हलि च से दीर्घ जो प्राप्त है उसके निवारणार्थ वक्ष्यमाण सूत्र है—

१६२९ न भकुर्छुराम् ८।२।७९।

भस्य कुर्छुरोश्चोपधाया दीर्घो न स्यात्। धुर्यः। धौरेयः।

भसंज्ञक जो शब्द, एवं कुर् एवं छुर् इनकी जो उपधा उसका दीर्घ नहीं होता है। धुर्वी धातु से 'भ्राजभास' सूत्र से क्विप्, 'राल्लोपः' से वकारलोप से धुर् शब्द है। धुरं वहति धुर्यः यहां हलि च से प्राप्त दीर्घ का निषेध से धुर्यः। ढक् में ढ को एयादेश आदि वृद्धि धौरेयः।

१६३० खः सर्वधुरात् ४।४।७८।

सर्वधुरां वहतीति सर्वधुरीणः।

पूर्वकालैक से समास 'ऋक्पूः' से समासान्त अ प्रत्यय है। द्वितीयान्त सर्वधुरा से खप्रत्यय वहति अर्थ में होता है। सर्वधुरां वहति सर्वधुरीणः।

१६३१ एकधुराल्लुक् च ४।४।७९।

एकधुरां वहति एकधुरीणः। एकधुरः।

सवर्णदीर्घ के प्रथम टाप् का लुक् 'अन्तरङ्गान् अपि' परिभाषा से। द्वितीयान्त एकधुरा शब्द से वहति इस अर्थ में खप्रत्यय होता है एवं उसका लुक् विकल्प से होता है।

१६३२ शकटादण् ४।४।८०।

शकट वहति शाकटो गौः।

द्वितीयान्त शकट शब्द से वहति अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।

१६३३ हलसीराट् ठक् ४।४।८१।

हल वहति हालिक । सैरिक ।

द्वितीयान्त हल एवं सीर उनसे ठक प्रत्यय होता है। हल वहति हालिक । सैरिक । गोदारण च सीर । सीर स्यादशमालिनी । 'लाङ्गले' इति हैम । हल की सज्ञा है।

१६३४ संज्ञायां जन्या ४।४।८२।

जनी.=वधूस्ता वहति=प्रापयति जन्या ।

सज्ञा में द्वितीयान्त जनी से वहति अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। जन्या = मातृवयस्या । नवीन-विवाहित वधू को के यान के वाहन को वहन करने वाली। 'जन्या स्निग्धवरस्ये' कोष है। विश्वकोष में "जन्यो वरवधूज्ञातिप्रियभृत्यहितेषु च'। धरणिकोशकार का मत जनमी जनयित्रोश्च जन्य निर्वादिद्वयो । भाष्यमत में जननी को जनीभाव एव यत् प्रत्यय है। उसका खण्डन कर जन् धातु से इण प्रत्यय कृदिकारात् स ङोप् जनी तां वहति जन्या। यह योगरूढ है, पङ्कजवत् ।

१६३५ विध्यत्यधनुषा ४।४।८३।

द्वितीयान्ताद् विध्यतीत्यर्थे यत् स्यात् न चेत् तत्र धनु करणम्। पादौ विध्यन्ति = पद्या शर्करा ।

धनुष् करण न होने पर द्वितीयान्त से विध्यति अर्थ में यत प्रत्यय होता है। कंकण पाद = चरणों मे चलने में कष्ट देते हैं। व्यथ ताडने का विध्यति रूप है। यहाँ धनुष् करण मात्र का उपलक्षण है चौरो विध्यति खड्गेन यहां भी न हुआ। 'चौर विध्यति' का अनभिधान है।

१६३६ धनगणं लब्धा ४।४।८४।

तृन्नन्तमेतत् । धन लब्धा धन्य । गण लब्धा गण्य ।

लाभ करने वाला अर्थ में द्वितीयान्त धन एव गण से यत्प्रत्यय होता है। धन को प्राप्त करने वाला 'धन्य' है। गण को प्राप्त करने वाला गण्य है। लब्धा तृन्नन्त है कर्म को तद्योग में षष्ठी न हुई 'न लोकाव्यय' से षष्ठी का निषेध हुआ।

१६३७ अन्नाण्णः ४।४।८५।

अन्न लब्धा आन्न ।

द्वितीयान्त अन्न से लब्धा अर्थ में णप्रत्यय होता है। अन्न को प्राप्त करनेवाला आन्न ।

१६३८ वशं गतः ४।४।८६।

वश्य परेच्छानुचारी ।

'गत' अर्थ में द्वितीयान्त वश से यत प्रत्यय होता है। वश्य = दूसरे की इच्छानुसार आचरण करने वाला = परतन्त्र ।

१६३९ पदमस्मिन् दृश्यम् ४।४।८७।

पद्यः = कर्दमः । नातिशुष्क इत्यर्थः ।

अस्मिन् दृश्य इस अर्थ में द्वितीयान्त पद से यत् प्रत्यय होता है। गिले कीच में पैर दीख पड़ता है उसको पद्यः कहते हैं ।

पद्यः = पदम् अस्मिन् दृश्यम् । अनतिशुष्कः कर्दमः ।

१६४० मूलमस्याबर्हि ४।४।८८।

आवर्हणमावर्हः = उत्पाटनं तदस्यास्तीत्यावर्हि मूलमावर्हि येषान्ते मूल्या मुद्गाः ।

प्रथमान्त आवर्हि उपाधिक मूल शब्द के उत्तर अस्य षष्ठ्यर्थ में यत् प्रत्यय होता है । आवर्हः का अर्थ है उत्पाटन, उत्पाटन युक्त को आवर्हि कहते हैं । मूलम् आवर्हि येषान्ते मूल्या मुद्गाः ।

१६४१ संज्ञायां धेनुष्या ४।४।८९।

धेनुशब्दस्य पुगागमो यप्रत्ययश्च स्वार्थे निपात्यते संज्ञायाम् ।

'धेनुष्या बन्धके स्थिता संज्ञा में धेनुशब्द को पुक् आगम होता है एवं स्वार्थ में यप्रत्यय होता है। किसी से किसी ने कर्ज लिया है । कर्ज देने वाला उत्तमर्ण है उसको कर्ज या ऋण लेने वाले ने अपनी गायको दोहने के लिए उसे दी वह धेनु धेनुष्या है ।

१६४२ गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः ४।४।९०।

गृहपतिः = यजमानस्तेन संयुक्तो गार्हपत्योऽग्निः ।

तृतीयान्त गृहपति शब्द से संयुक्त अर्थ में ञ्य प्रत्यय होता है। गृहपति का यहां अर्थ यजमान है।

१६४३ नौवयोधर्मविषमूलमूलसीतातुलाभ्यस्तार्यतुल्यप्राप्यवध्यानाम्यसमसमितसम्मितेषु ४।४।९१।

नावा तार्यं नाव्यम् । वयसा तुल्यो वयस्यः । धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम् । विषेण वध्यो विष्यः । मूलेन आनाम्यं मूल्यम् । मूलेन समो मूल्यः । सीतया समितं सीत्यं क्षेत्रम् । तुलया सम्मितं तुल्यम् ।

तृतीयान्त नौ आदि शब्दों से पर तार्यादि अर्थ में यत् प्रत्यय होता है । अर्थात् नौ से तार्य अर्थ में यत् नौका द्वारा पार करने योग्य जल नाव्यम् । 'वान्तो यि' से आव् आदेश । वयस् से तुल्य अर्थ में यत् वयस्यः = मित्रम् । धर्म से प्राप्य अर्थ में धर्म से प्राप्त करने योग्य कार्य या राज्य धर्म्यम् । विष से नाश करने योग्य शत्रु विष्यः यहां वध्य अर्थ में यत् । मूल से आनाम्यम् जड़ से नमाने योग्य मूल्यम् । मूलेन समः = तुल्यो मूल्यः । हल के अग्रभाग को सीता कहते हैं सीतया समितम् = समानकृतम् सीत्यं क्षेत्रम् । तुला = तराजू उस से तुल्य तुल्यम् ।

१६४४ धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते ४।४।९२।

धर्मादनपेतं धर्म्यम् । पथ्यम् । अर्थ्यम् । न्याय्यम् ।

अपेत = रहित अनपेत = युक्त । अनपेत अर्थ में पञ्चम्यन्त धर्म पथिन् , अर्थ, न्याय इनसे यत् प्रत्यय होता है । धर्म से युक्त अर्थ में धर्म्यम् आदि ।

१६४५ छन्दसो निर्मिते ४।४।९३।

छन्दसा निर्मितं छन्दस्यम् । इच्छया कृतमित्यर्थः ।

निर्मित अर्थ में तृतीयान्त छन्दस् से यत् होता है स्वेच्छा से कृत कार्य को छन्दस्य कहते हैं ।

१६४६ उरसोऽण् च ४।४।९४।

चाद् यत् । उरसा निर्मितः पुत्र औरसः । उरस्यः ।

निर्मित अर्थ में तृतीयान्त समर्थ उरस् से अण् प्रत्यय होता है, पक्ष में यत् ।

१६४७ हृदयस्य प्रियः ४।४।९५।

हृद्यो देशः । हृदयस्य हृल्लेखेति हृदादेशः ।

प्रिय अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ हृदय से यत् प्रत्यय होता है । हृदय को प्रिय देश को हृद्य कहते कहते हैं । यहां यत् हृदय को हृदादेश ।

१६४८ बन्धने चर्षौ ४।४।९६।

हृदयशब्दात् षष्ठ्यन्ताद् बन्धने यत् स्याद् वेदेऽभिधेये ।

हृदय को वशीकरण करने वाला मन्त्र को 'हृद्य' कहते है ।

१६४९ मतजनहलात् करणजल्पकर्षेषु ४।४।९७।

मतं ज्ञानं तस्य करणं भावः साधनं वा मत्यम् । जनस्य जल्पो जन्यः । हलस्य कर्षो हल्यः ।

करण, जल्प कर्ष अर्थ में क्रम से षष्ठ्यन्त मत जन हल से यत् प्रत्यय होता है । मनु अवबोधन से क्तप्रत्यय नकारका लोप से मतम् = ज्ञानम्, तस्य करणम् = भावः साधनम् इस अर्थ में मत + य अकार लोप मत्यम् । ज्ञान का साधन । जन्यः । हल्यः ।

१६५० तत्र साधुः ४।४।९८।

अग्रे साधुः—अग्र्य । सामसु साधुः सामन्यः । ये चाभावकर्मणोरिति प्रकृतिभावः । कर्मण्यः । शरण्यः ।

साधु इस अर्थ में सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से यत् होता है । सामन्य.। कर्मण्यः में 'ये चाभावकर्मणोः' से प्रकृतिभाव प्रयुक्त टिलोप का अभाव है ।

१६५१ प्रतिजनादिभ्यः खञ् ४।४।९९।

प्रतिजनं साधुः प्रातिजनीनः । सांयुगीनः । सार्वजनीनः । वैश्वजनीनः ।

साधु अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ प्रतिजनादि से खञ् प्रत्यय होता है । जनं प्रतिजनम् तत्र साधु प्रातिजनीनः । संयुगे साधुः सर्वजने साधुः । विश्वजने साधु यहां खञ् प्रत्यय करना ।

१६५२ भक्ताण्णः ४।४।१००।

भक्ते साधवो भाक्ताः = शालयः ।

सप्तम्य भक्त से साधु अर्थ में णप्रत्यय होता है। भक्ते साधवः भाक्ताः शालयः।

१६५३ परिषदो ण्यः ४।४।१०१।

पारिषद्यः। परिषद इति योगविभागाण्णोऽपि। पारिषदः।

सप्तम्यन्त परिषद् से पर साधु अर्थ में ण्य प्रत्यय होता है। परिषदि साधुः पारिषद्यः। 'परिषदः' यह पृथक् सूत्र कर उसमें पूर्व सूत्र से ण की अनुवृत्ति कर पारिषदः। 'ण्यः' इस विभक्त योग में परिषदः की अनुवृत्ति कर ण्यप्रत्यय से पारिषद्यः।

१६५४ कथादिभ्यष्ठक् ४।४।१०२।

कथायां साधुः काथिकः।

सप्तम्यन्त कथादि शब्दों से साधु अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। कथायां साधुः काथिकः।

१६५५ गुडादिभ्यष्ठञ् ४।४।१०३।

गुडे साधु गौडिक इक्षुः। साक्तुको यवः।

समर्थ सप्तम्यन्त गुड आदि से साधु अर्थ में ठञ् होता है। इक्षु गुड के लिए साधु अर्थ में गुड से ठञ् गौडिकः। सक्तु में साधु ठञ् क आदेश साक्तुकः यवः।

१६५६ पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ् ४।४।१०४।

पथि साधु पाथेयम्। आतिथेयम्। वसनम् = वसति स्तत्र साधु वासितेयी रात्रिः। स्वापतेयं धनम्।

सप्तम्यन्त पथिन्, अतिथि, वसति इनसे साधु अर्थ में ढञ् प्रत्यय होता है। यात्रार्थ गमन में मार्ग के उपकारक खाद्यादि वस्तु को पाथेय कहते हैं। जिसके आने की प्रथम सूचना न हो एवं अचानक आये हुए अभ्यागत को अतिथि कहते हैं उसमें उचित सत्कारार्थ कर्म आतिथेयम्। वस धातु से तिप् शप् प्रत्यय से वसति तत्र साधु वासितेयी निवास में साधु रात्रि०। स्वस्य = धनस्य पतिः स्वामी स्वपति आढ्य को कहते हैं। आढ्य से साधु में स्वापतेयम् = धनम्।

१६५७ सभाया यः ४।४।१०५।

सभ्यः।

साधु अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ सभा शब्द से यप्रत्यय होता है। सभायां साधुः सभ्यः।

१६५८ समानतीर्थे वासी ४।४।१०७।

साधुरिति निवृत्तम्। वसतीति वासी। समाने तीर्थे=गुरौ वसतीति सतीर्थ्यः।

यहाँ से साधु की निवृत्ति हुई। वासी = निवासकर्ता इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ समानतीर्थ से यत् प्रत्यय होता है। समान को स आदेश। एक गुरु से अध्ययनार्थ गुरु कुल में साथ निवास करने वाला छात्र परस्पर सतीर्थ्य कहे जाते हैं। प्राचीन छात्रों का सम्मेलन शिक्षण संस्था में होता है वह सतीर्थ्य सम्मेलन भी कहते हैं भूतपूर्व गति से सहवासी की कल्पना। तीर्थ शब्द अनेकार्थक है—शास्त्र, यज्ञ, क्षेत्र, उपाय, गुरु, मन्त्री, योनि घाट = जलावतार।

१६५९ समानोदरे शयित ओ चोदात्तः ४।४।१०८।

समाने उदरे शयितः = स्थितः = समानोदर्यो भ्राता।

शयित = शयनकिया इस कर्म अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ समानोदर से पर यत प्रत्यय होता है। एक माता के उदर में स्थित भ्राता में समानोदर्य व्यवहार होता है। वैमात्रेय भ्राता में नहीं।

१६६० सोदराद्यः ४।४।१०९।

सोदर्यः। अर्थः प्राग्वत्।

प्राग्घितीयप्रत्ययसमाप्ताः।

सप्तम्यन्त समर्थ सोदर से समानोदारशयित अर्थ में यत प्रत्यय होता है। सोदर्यः— एकमातृ को भ्राता। चतुर्थाध्याय समाप्त है। पञ्चम्याध्याय का प्रारम्भ हो रहा है।

पं. श्री. बा कृ पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में प्राग्घितीय प्रकरण समाप्त।



अथ छयदधिकारप्रकरणम्

१६६१ प्राक् क्रीताच्छः ५।१।१।

'तेन क्रीतम्' इत्यतः प्राक् छोऽधिक्रियते ।

तेन क्रीतम् सूत्र के पूर्व तक जिन-जिन सूत्रों में प्रत्यय निर्दिष्ट नहीं है एवं केवल अर्थ का ही निर्दिश है उन-उन सूत्रों में छ प्रत्यय की इससे उपस्थिति होती है। विशेष प्रत्यय छ को बाधते हैं अतः वहां छ प्रत्यय नहीं होता है। निरवकाशमूलक बाध स्थल में उत्सर्ग का विधेय नहीं होता है। यहां अर्थाधिकार है अतः अवधि एवं अवधिमान का साजात्य से यह अधिकार अर्थ बोधक पद घटित शास्त्र में ही जायगा। अन्यथा नहीं।

१६६२ उगवादिभ्यो यत् ५।१।२।

प्राक् क्रीतादित्येव। उवर्णान्ताद् गवादिभ्यश्च यत् स्यात्। छस्यापवादः। ॐ नाभि नभञ्च ॐ। नभ्योऽक्षः। नभ्यम्=अञ्जनम्। रथनाभावेवेदम्। शुनः सम्प्रसारणं वा च दीर्घत्वम् (ग)। शून्यम्। शुन्यम्। ऊधसोऽनङ् च। ऊधन्यः।

तेन क्रीतम् से पूर्व अर्थों में समर्थ चतुर्थ्यन्त उवर्णान्त एवं गवादि से छ प्रत्यय को बाधकर यत् प्रत्यय होता है। नाभि शब्द से य प्रत्यय होता है एवं नाभि को नभ आदेश होता है। नभ्योऽक्षः। रथ के छिद्रयुक्त चक्र को नाभि कह कहते। काष्ठ विशेष रूप अक्ष तदनुगुण होने से नाभि के लिए हित प्रद है। नभ्यम् = अञ्जनम्। यहां तैलाभ्यङ्ग को अञ्जन जानना चाहिये। यह भी जलीयांश से संमिश्रित होने के कारण तैल स्नेह गुण युक्त होने से नाभि के लिए हितकर है। रथ की नाभि में ही इस विधान की प्रवृत्ति होती है शरीरावयव में नाभ्यम्. यत्। श्वन् से यत् प्रत्यय होता है, एवं सम्प्रसारण होता है। तथा सम्प्रसारण को दीर्घ वैकल्पिक होता है। ऊधस् से यत् प्रत्यय एवं ऊधस् को अनङ् आदेश अन्त्य को होता है, ऊधन्यः यहां 'ये चाभावकर्मणोः' से प्रकृतिभाव होता है। अतः टिलोप न हुआ।

१६६३ कम्बलाच्च संज्ञायाम् ५।१।३।

यत् स्यात्। कम्बल्यम्=ऊर्णापलशतम्। संज्ञायां किम्, कम्बलीया ऊर्णा।

संज्ञा में चतुर्थ्यन्त कम्बल शब्द से यत् प्रत्यय होता है। यह छ का बाधक है। सौ गण्टे भर ऊर्णा की संज्ञा कम्बल्यम् है। यत् प्रत्यय हुआ। असंज्ञा में छ प्रत्यय कम्बलीया ऊर्णा।

१६६४ विभाषा हविरपूपादिभ्यः ५।१।४।

आमिक्ष्यं दधि। आमिक्षीयम्। पुरोडाश्यास्तण्डुलाः। पुरोडाशीयाः। अपूप्यम्। अपूपीयम्।

चतुर्थ्यन्त हविर्वाचक शब्द एवं अपूपादिशब्द इनसे हितार्थ में विकल्प से यत् प्रत्यय होता है। पक्ष में छ प्रत्यय से दो रूप हुए।

आमिक्ष्य दधि = गर्म दूध में दहि को रखकर जो पदार्थ निर्मित होता है 'छेना' बंगाल में प्रसिद्ध है उसको आमिक्षा कहते है—तप्ते पयसि दध्यानयति सा आमिक्षा उसके लिए हितकर दहि। छप्रत्यय आमिक्षीयम्। पुरोडाश के लिए हितकर चावल अर्थ में पुरोडाश्या पुरोडाशीया। अपूप के लिए हितप्रद चूर्ण को अपूप्यम्, अपूपीयम्।

१६६५ तस्मै हितम् ५।१।५।

वत्सेभ्यो हितो वत्सीयो गोधुक्। शङ्कवे हितं शङ्कव्यं दारु। गव्यम्। हविष्यम्।

चतुर्थ्यन्त से हित अर्थ में छप्रत्यय होता है। गाय के बछड़े के लिए हितकारी दोहन क्रिया कर्त्ता है जो सब दूध नहीं दोह लेता वत्स के लिए कुछ छोड़ देता है वत्सीय स। कील के लिए हित काष्ठ शङ्कु उसमे यत् आर्गुण से गुण अवादेश शङ्कव्यम्। गवे हितम् गव्यम्। हविष्यम्।

१६६६ शरीरावयवाद् यत् ५।१।६।

दन्त्यम्। कण्ठ्यम्। ॐ नस् नासिकायाः ॐ। नस्यम्। नाभ्यम्।

हितम्' अर्थ में चतुर्थ्यन्त शरीर के अवयव वाचक शब्द से यत् प्रत्यय होता है। दन्तेभ्यो हितम्—दन्त्यम्। कण्ठाय हितम् = कण्ठ्यम्। नासिकायै हितम् यहाँ यत् प्रत्यय एवं नासिका के स्थान में नस् आदेश होता है। नाभि के लिए हित यहां शरीरावयव नाभि है अत पूर्व नाभि जो रथाङ्ग है तत्प्रयुक्त कार्य को यह परत्व के कारण बाध करता है। नाभ्यम्।

१६६७ ये च तद्धिते ६।१।६१।

यादौ तद्धिते परे शिरश्शब्दस्य शीर्षन्नादेशः स्यात्। शीर्षण्यः। तद्धिते किम्, शिर इच्छति शिरस्यति। ॐ वा केशेषु ॐ। शीर्षण्याः। शिरस्या वा केशाः। ॐ अचि शीर्षः इति वाच्यम् ॐ। अजादौ तद्धिते शिरसः शीर्षादेशः। स्थूलशिरस इदं स्थौलशीर्षम्।

'यस्मिन् विधि' इस परिभाषा से यान्त अर्थ न होकर यादि अर्थ हुआ।

यकारादि तद्धित प्रत्यय पर रहने सान्त हलन्त शिरस् शब्द को नान्त हलन्त शीर्षन् आदेश होता है। शिरस्+यत् शीर्षन्+यत् णत्व एवं विभक्ति कार्य शीर्षण्य प्रकृतिभाव से टिलोपाभाव है नाम धातु में क्यच् का यकार तद्धित नहीं अतः उसके पर में रहने शिरस् को शीर्षन् आदेश न हुआ—शिरस्यति। शिरस्या शीर्षण्या केशा केश अर्थ में शीर्षन् आदेश विकल्प से होता है।

अजादि तद्धित प्रत्यय पर में रहते अदन्त शीर्ष आदेश शिरस् को होता है स्थूलश्च तद् शिरः तस्य इदम् अण् प्रत्यय शीर्ष आदेश से स्थौलशीर्षम्।

१६६८ खलयवमाषतिलवृषब्रह्मणश्च ५।१।७।

खलाय हितं खल्यम्। यव्यम्। माष्यम्। तिल्यम्। वृष्यम्। ब्रह्मण्यम्। चाद् रथ्या।

चतुर्थ्यन्त खल, यव, माष, तिल, वृष ब्रह्मन् इन से हित अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। सूत्र में अनुक्त समुच्चयार्थक चकार से इष्टानुरोध से रथ का ग्रहण कर रथाय हिता रथ्या = मार्ग।

१६६९ अजाविभ्यां थ्यन् ५।१।८।

अजथ्या यूथिः। अविथ्या।

चतुर्थ्यन्त अज एवं अवि से पर थ्यन् प्रत्यय होता है। यूथ शब्द मेदिनी कोष में 'तिर्यक् समूहे पुष्पभेदे च' में आया है। यूथी पशुओं के समुदाय में भी व्यवहृत है।

१६७० आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः ५।१।९।

हितार्थ में चतुर्थ्यन्त समर्थ आत्मन्, विश्वजन, भोगोत्तर पद इन प्रातिपदिकों से पर खप्रत्यय होता है।

१६७१ आत्माध्वानौ खे ६।४।१६९।

एतौ खे प्रकृत्या स्तः। आत्मने हितमात्मनीनम्। विश्वजनीनम्। ❀ कर्मधारयादेवेष्यते ❀। षष्ठीतत्पुरुषाद् बहुव्रीहेश्च छ एव, विश्वजनीयम्। ❀ पञ्चजनादुपसङ्ख्यानम् ❀ पञ्चजनीनम्। ❀ सर्वजनाट्ठञ् खश्च ❀। सार्वजनिकः। सर्वजनीनः। ❀ महाजनाट्ठञ् च ❀। माहाजनिकः। मातृभोगीणः। पितृभोगीणः। राजभोगीनः। ❀ आचार्यादणत्वञ्च ❀ आचार्यभोगीणः।

खप्रत्यय मे पूर्व आत्मन् एवं अध्वन् का प्रकृतिभाव होता है। आत्मनीनम्। यत्न, धृति, बुद्धि, स्वभाव, ब्रह्म, वर्ष्म इन अर्थों में अमरकोष के प्रमाण से आत्मन् शब्द का प्रयोग है। अन्य कोष के मत से 'आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि। चित्ते धृतौ च बुद्धौ च पर व्यावर्तनेऽपि च। विश्वजनीयम्। खप्रत्यय प्रकृतिभाव है। विश्वे च ते जनाः तेभ्यो हितम्। यहां ही कर्मधारय खप्रत्ययय विश्वजन से होता है। षष्ठी तत्पुरुष में विश्वस्य जनः तस्मै हितम् यहां खप्रत्यय नहीं होता है किन्तु छप्रत्यय ही होता है एवं इसका बहुव्रीहिसमास करने पर भी छप्रत्यय है।

विमर्श—(क) सुख एवं दुःखादि जनकताऽवच्छेदकत्वरूप जो है वह आत्मत्व जातियुक्त आत्मा प्रसिद्ध है, जो इन्द्रियों द्वारा ज्ञान सम्पादक है, ज्ञान के प्रति इन्द्रियों करण हैं, करण का व्यापार कर्तृ व्यापार के अधीन होता है, जैसे कुठारादि। इन्द्रियों आत्मा नहीं, वे अचेतन हैं।

शरीर को आत्मत्व नहीं, वह उत्पन्न विनाश शाली है, आलयविज्ञान, प्रवृत्ति विज्ञान को आत्मा नहीं मान सकते, वह द्वितीयक्षण वृत्ति ध्वंस प्रतियोगी है। एवं क्षणिक विज्ञान से विज्ञानान्तर विज्ञानान्तर में अनन्त क्षणिक विज्ञान एवं उनके ध्वंस एवं अनेक अनुभूत संस्कारों का ध्वंस पुनः अनन्त संसारों की उत्पत्ति आदि महागौरव है, अतः चार्वाक एवं बौद्धमतादि का खण्डनपूर्वक नित्यविज्ञान को आत्मा मानने वाले अद्वैत वेदान्ती को प्रत्युत्तर में कहा जाता है कि ज्ञान सविषयक है निर्विषयक ज्ञान में प्रमाण का अभाव है अतः शरीर, इन्द्रिय, सूक्ष्ममन, क्षणिक विज्ञान, नित्यविज्ञान आदि से भिन्न आत्मा है जो इन्द्रियों द्वारा ज्ञान सम्पादक है। यह केवल दिग्दर्शन है। विस्तृत वर्णन श्री पक्षोलि कृत न्याय मु० टीका से शास्त्रार्थ अवगत करना।

विमर्श (ख) यहाँ विश्वजन से कर्मधारय में ही ख होता है एतदर्थ क्रियमाणवार्तिक अपूर्व नहीं है किन्तु "निषादस्थपति" अधिकरण न्याय से लाघवमूलक है। तत्पुरुष में पदार्थद्वय संयोजन सम्बन्धविशेषज्ञान एवं बहुव्रीहि में अन्यपदार्थ ज्ञान इनके ज्ञान प्रयुक्त गौरव है। कर्मधारय में तो उभयार्थ प्राधान्य, इतरार्थ का ज्ञान प्रसक्त नहीं अतः लाघव है। अर्थात् लाघवमूलक यह व्याख्यान है।

'एतया निषादस्थपति याजयेत्' यहाँ सन्देह है त्रिविध समासों में कौन समास है, गौरव से षष्ठी तत्पुरुष एवं बहुव्रीहि का खण्डन कर कर्मधारय मानकर जातिविशेष जो अनधिकारी हैं उनमें अपूर्व विधा की कल्पना की है कि अन्यान्यवैदिक मन्त्रों में अधिकार न होते हुए भी इस श्रुतिप्रामाण्यप्रयुक्त परिगणित कार्य करने में वह जातिविशेष युक्त व्यक्ति अधिकारी है। विशेषज्ञान मीमांसा के ग्रन्थों से अवगत करना चाहिए। यह प्राचीन भारतीय व्यवस्था शास्त्रानुमोदित रही थी।

पञ्चजन से ख प्रत्यय होता है, चतुर्थ्यन्त से हितार्थ में। *सर्वजन चतुर्थ्यन्त से ठञ् एवं ख होता है। 'आचार्यभोगीन' यहाँ णत्व का अभाव होता है। योग = शरीर को कहते हैं—आचार्य के शरीर के लिए हित

१६७२ सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ ५।१।१०।

ॐ सर्वाण्णो वेति वक्तव्यम् ॐ। सर्वस्मै हितं सार्वम्। सर्वीयम्। पुरुषाद्-वधविकारसमूहतेनकृतेषु ॐ भाष्यकारप्रयोगात् तेनेत्यस्य द्वन्द्वमध्ये निवेशः। पुरुषस्य वधः पौरुषेयः। 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्'इत्यञि प्राप्ते समूहेऽप्यणि प्राप्ते,

"एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव"

इति माघः। तेन कृते ग्रन्थेऽणि प्राप्ते, अग्रन्थे तु प्रासादादावप्राप्त एवेति विवेकः।

चतुर्थ्यन्त सर्व एवं पुरुष शब्द से हित अर्थ में ण एवं ढञ् प्रत्यय क्रम से होते हैं। सार्वम्। सर्व शब्द से ण विकल्प होता है पक्ष में 'प्राक् क्रीता-छः' से छ प्रत्यय से सर्वीयम्। पुरुष शब्द से वध, विकार, समूह तेनकृत अर्थ में उक्त प्रत्यय होते हैं। 'तेन कृत' समास घटक में होना चाहिए तेनकृत यह भाष्य प्रयोग से द्वन्द्व के मध्य में हुआ। पुरुष के वध अर्थ में ढञ् पौरुषेय। यहाँ अञ् प्रत्यय प्राप्त था, एवं समूह अर्थ में अण् प्राप्त था, इन दोनों को बाधकर ढञ् प्रत्यय हुआ। वे इकल्ले थे कि तु तेजोविशेष से पुरुष समुदायसे युक्त से दिख पड़ते थे। यहा ढञ् से पौरुषेय' प्रयोग हुआ। 'पुरुषेण कृतो ग्रन्थः' इसमें पुरुष से अण् प्राप्त था एवं ग्रन्थभिन्न में अप्राप्त प्रत्यय था इन सब अर्थों में ढञ् हुआ है।

यहाँ वधादि में अन्वय बोधजनकत्वरूप योग्यता के सामर्थ्य से पुरुष से षष्ठी हुई। एवं ग्रन्थ अर्थ में तृतीयान्तत्व पुरुष को है। पौरुषेय प्रसाद यह ढञ् किसी का अपवाद नहीं है।

१६७३ माणवचरकाभ्यां खञ् ५।१।११।

माणवाय हितं माणवीनम्। चारकीणम्।

चतुर्थ्यन्त माणव एवं चरक से हित अर्थ में खञ् प्रत्यय होता है।

विमर्श—माणव में ञ का वृद्धि रूप फल यद्यपि नहीं है यहाँ आद्यच स्वतः वृद्धिमान् है किन्तु 'माणवीनभार्य' यहाँ वृद्धिनिमित्त यह तद्धित होने से 'वृद्धिनिमित्तस्य' से पुंवद्भाव का निषेधार्थ प्रत्यय खञ् में ञित् का फल है। कश्यप पत्नी मनु है उनका कुत्सितपुत्र को 'माणव' कहते हैं।

अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः।
नकारस्य च मूर्धन्यस्तेन सिद्ध्यति माणवः।

यहां सूत्रनिर्देश से ही णत्वसिद्ध है पुनः णकार करने के लिए अपूर्व वचनारम्भ न करना। माणवीनम्। चारकीणन्—चरति चरः पचादित्व प्रयुक्त अच्, 'चरिचलिपतिवदीनाम्' विकल्प से द्वित्व करता है अतः यहां द्वित्वाभाव है, चर से संज्ञा अर्थ में क प्रत्यय से चरकः तस्मै हितम् अर्थ में खञ् प्रत्यय हुआ है। इसकी काशिका देखिए ज्ञानवृद्धि के लिए।

१६७४ तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ ५।१।१२।

विकृतिवाचकाच्चतुर्थ्यन्तात् तदर्थायां प्रकृतौ वाच्यायां छप्रत्ययः स्यात् अङ्गारेभ्य एतानि अङ्गारीयाणि काष्ठानि। प्राकारीया इष्टकाः। शङ्कव्यं दारु।

यहां 'तस्मै हितम्' का सम्बन्ध है। 'तदर्थम्' में सामान्ये नपुंसकम् है, व्यत्यय से सप्तमी के स्थान में प्रथमा है। काष्ठ प्रकृति है, एवं इष्टक प्रकृति है।

विकृतिवाचक चतुर्थ्यन्त पद से उसके निमित्त प्रकृति वाच्य होनेपर छप्रत्यय होता है हित अर्थ में। अङ्गार के लिए हित काठ एवं प्राकार = दुर्गनिर्माण के लिए हितप्रद ईंट्टे इस अर्थ में विकृति वाचक अङ्गार एवं प्रासाद से छप्रत्यय हुआ।

१६७५ छदिरुपधिबलेर्ढञ् ५।१।१३।

छादिषेयाणि तृणानि। बालेयास्तण्डुलाः। ॐ उपधिशब्दात्स्वार्थे इष्यते ॐ उपधीयते इत्युपधिः = रथाङ्गं, तदेव औपधेयम्।

सूत्र में समाहार में द्वन्द्व है, एवं सौत्रत्व प्रयुक्त पुंस्त्व है। छप्रत्यय का यह अपवाद है।

चतुर्थ्यन्त चर्मविकारार्थक छदि, एवं उपहारार्थक बलि, रथाङ्ग उपधि इन से ढञ् प्रत्यय होता है। छद से करणार्थक इस् प्रत्यय से छदिः छादनेऽनेन यह व्युत्पत्ति है। यहां परत्व के कारण 'चर्मणोऽञ्' से अञ् प्राप्त था। किन्तु पूर्वविप्रतिषेध से ढञ् हुआ है। बाल्य अवस्था में जो लौहित्य आदि गुण थे उनसे रहित तण्डुल को बालेयाः = तण्डुलाः। यहां प्रकृति विकृति भाव यथा कथञ्चित् कल्पना से समझना चाहिये। तदुत्पत्तिप्रयोजकनाशप्रतियोगित्वरूप का प्रकृतित्व नहीं सम्भव है। बालेयाः। उपाधिः = रथाङ्ग से स्वार्थ में प्रत्यय हुआ है।

उपाधि एव औपधेयम्। उपधा + किप्रत्यय आकार का लोप उपधिः।

१६७६ ऋषभोपानहोर्ञ्यः ५।१।१४

छस्यापवादः। आर्षभ्यो वत्सः। औपानह्यो मुञ्जः। चर्मण्यप्ययमेव पूर्वविप्रतिषेधेन। औपानह्यं चर्म।

ऋषभ एवं उपानह् से छप्रत्यय को बाधकर ञ्य होता है। यहां भी प्रकृति विकृतिभाव सम्बन्ध है। विकृति वाचक चतुर्थ्यन्त से तदर्थ प्रकृति वाच्य होने पर ऋषभ एवं उपानह् से प्रत्यय होता है। ऋषभावस्था प्राप्त्यर्थं पोषित वत्स में यथाकथञ्चित् प्रकृति विकृतिभाव की कल्पना करनी चाहिये। आर्षभ्यो वत्सः।

विमर्श = प्रकृति उसको कहते हैं "यस्योत्पत्तेः प्राक्काले तत्त्वे सति तत्प्रतिपादकत्वं प्रकृतित्वम्"। इसमें एवं पूर्व में प्रकृति विकृति भावार्थक पद की अनुवृत्ति है यह भी एक पक्ष है किन्तु यह उचित नहीं है इससे उत्तर में तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ की अनुवृत्ति है अतः मध्यमें विच्छेद अनुचित है।

चतुर्थ्यन्त उपानह् विकृति वाचक है, चर्म प्रकृति रूप अर्थ वाच्य है हुआ पर अञ् को बाधकर पूर्वविप्रतिषेध से ञ्यप्रत्यया चर्मणोऽञ् पर है उसको पूर्व विप्रतिषेध से ञ्य बाध करता है इस कथन में क्या प्रमाण है ? इस शङ्का की निवृत्त्यर्थ प्रमाणोपन्यास—'उगवादिभ्योयत्' सूत्रस्थ भाष्य वार्तिक ही प्रमाण है। "यञ् ञ्यावम पूर्वविप्रतिषेधेन"। यञ् एव ञ्य वे दोनों अञ् को पूर्वविप्रतिषेध से बाध करते हैं। उपानन्नाम चर्म विकारस्तत्र समय प्रप्नोति ञ्यो भवति पूर्वविप्रतिषेधन यह भाष्योक्ति है।

१६७७ चर्मणोऽञ् ५।१।१५।

चर्मणो या विकृतिस्तद्वाचकादञ् स्यात्। वध्र्यै इदं वाध्रं चर्म। वारत्रं चर्म।

तदर्थम् आदि की अनुवृत्ति है।

चर्म के विकार वाचक चतुर्थ्यन्त से अञ् प्रत्यय होता है। कूँआ में से पानी निकालने के रस्से को = डोर के अर्थ में प्रयुक्त वध्री शब्द है—कोषकार—"नध्री वर्ध्री वरत्रा स्यात्" इसु वर्धने रन् गौरादित्वात् ङीप् अथवा ष्ट्रन् प्रत्यय है। चममय रज्जु तस्यै इदं चर्म अञप्रत्यय वाध्रं चर्म। वरत्राय इदं वारत्रं चर्म।

१६७८ तदस्य तदस्मिन् स्यादिति ५।१।१६।

प्राकार आसाम् इष्टकानां स्यात् प्राकारीया इष्टका। प्रासादीयं दारु। प्राकारोऽस्मिन् स्यादिति प्राकारीयो देशः। इतिशब्दो लौकिकीं विवक्षामनुसारयति। तेनेह न। प्रासादो देवदत्तस्य स्यादिति।

समर्थ प्रथमान्त से 'वह होगा' या 'वह इसमें होगा' इन दो अर्थों में अञ् आदि प्रत्यय होता है = प्रथमान्तसमर्थात् प्रातिपदिकात् षष्ठ्यर्थे सप्तम्यर्थे च यथा विहित प्रत्यया स्यु यह संस्कृत में अर्थ हुआ।

इन इट्टों का कोला होगा प्राकारीया इष्टका। छप्रत्यय हुआ दुर्ग इस देश में होने की सम्भावना है इस अर्थ में सप्तम्यर्थ में प्रत्यय हुआ है वह देश है प्राकारोऽस्मिन् देशे स्यात् प्राकारीयो देशः। सूत्र में इति शब्द लौकिकी विवक्षा का अनुसरण कराता है—देवदत्त का अनुसरण कराता है—देवदत्त का प्रासाद की सम्भावना यह लोक में विवक्षा नहीं होती है अतः यहां वाक्य ही रहता है, अणादि प्रत्यय नहीं होते।

१६७९ परिखाया ढञ् ५।१।१७।

पारिखेयी भूमिः।

इति छयतो पूर्णोऽवधिः।

समर्थ प्रथमान्त परिखा से 'वह होगा' या वह इसमें होगा इन दो अर्थों में ढञ् प्रत्यय होता है। परिखा = खाई का नाम है।

पं० श्री बा० कृ० पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में छ एवं यत् का अधिकार समाप्त



अथाऽऽर्हीयप्रकरणम्

१६८० प्राग्वतेष्ठञ् ५।१।१८।

'तेन तुल्यम्' इति वतिं वक्ष्यति ततः प्राक् ठञधिक्रियते।

तृतीयान्त से सदृश अर्थ में 'तेन तुल्यम्' से वति प्रत्यय होता है उस सूत्र के पूर्व तक अर्थ बोधक पदघटित सूत्रों में ठञ् का अधिकार होता है। अवधि द्योतक 'प्राग्वते' में वत्यर्थ = सादृश्यपरक वति है, अवधि एवं अवधिमान का साजात्य नियम है। अतः अर्थबोधक पदघटित सूत्रों में ही अधिकार एवं अपवाद बोधक प्रत्यय घटित शास्त्र में ठञ् का अधिकार नहीं होता है। यह अधिकार मध्य में अपवाद से विच्छिन्न है तो भी 'प्राग्वतेः' ग्रहण सामर्थ्यरूप अवध्यर्थक पद से ठञ् के अपवादसूत्रों के अग्रिम सूत्रों में यह अधिकार का निष्कण्टक गमन होकर ठञ् का विधान 'पारायणचान्द्रायण' सूत्र करेंगे ही। वहाँ अञ् अञ् यत् से ठञ् का बाध पूर्ववर्ती सूत्रों से है = यथा 'सर्वभूमि' एवं शीर्षच्छेदात्। इन सूत्रों से उत्तर 'पारायण' सूत्र है।

१६८१ आर्हादगोपुच्छसङ्ख्यापरिमाणाट्ठक् ५।१।१९।

'तदर्हति' इत्येतदभिव्याप्य ठञ् अधिकारमध्ये ठञोऽपवादष्ठगधिक्रियते गोपुच्छादीन् वर्जयित्वा।

'तदर्हति'। ५।१।६३ सूत्र तक ठञ् के अधिकार के मध्य में ठक् जो ठञ् का बाधक है उसका अधिकार है किन्तु गोपुच्छ, संख्यावाचक एवं परिणाम वाचक को छोड़कर यह अधिकार ठक् का है। आर्हात् में शिष्टोक्त व्याख्यान से तदर्हति का ग्रहण है, तदर्हन् ४।१।११७ का ग्रहण नहीं है।

विमर्श यह परिमाण शब्द परिच्छेदक परक है। 'परिमाणन्तु सर्वतः' यह नहीं है। यह कहना सर्वथा असङ्गत है, संख्या ग्रहण सामर्थ्य से। अतः सङ्कुचित परिमाण का ही ग्रहण है।

> ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणन्तु सर्वतः।
> आयामस्तु प्रमाणं स्यात् सङ्ख्या बाह्या तु सर्वतः॥

तात्पर्य यह है कि ऊर्ध्व जिससे नापा जाय उसका उन्मान कहते हैं। यथा तराजू में बटखरा = बाट के रखने के बाद तोलने की वस्तु एवं तोलने वाला अर्थात् परिच्छेद्य एवं परिच्छेदक उनका उपरि या नीचे गमन को उन्मान अर्थात् उन्मिति का कारण कहते हैं। आरोह = उच्छ्राय, परिणाहः = विस्तार ये दोनों जिसमें नापे जाय उसको परिमाण कहते हैं। जैसे काठ से बना हुआ आढक कुडव एवं प्रस्थ आदि इनको परिमाण कहते हैं। आयाम = दैर्घ्यम् केवल लम्बाई नापी जाय जिससे उसे प्रमाण कहते हैं। जैसे कपड़ा काठ आदि की लम्बाई गज हाथ आदि से नापी जाती है वह नापने के साधन को प्रमाण कहते हैं। संख्या इन सबों से से विलक्षण है। एवं परिच्छेदक भी है। भगवान् भाष्यकार संख्या विषय में कहते हैं। संख्या केवल भेद मात्रार्थक है।

> भेदमात्रं ब्रवीत्येषा नैषा मानं कुतश्चन।
> एवञ्च कृत्वा संख्यायाः पृथग् ग्रहणं क्रियते॥

'असमासे निष्कादिभ्य' सूत्रस्थ भाष्य प्रमाण से यहाँ परिमाण एवं उन्मान इन दोनों को 'आर्हात्' सूत्रस्थ परिमाणग्रहण बोधन करता है।

१६८२ असमासे निष्कादिभ्यः ५।१।२०।

आर्हादित्येत् तेन क्रीतमिति यावत् सप्तदशसूत्र्यामनुवर्तते। निष्कादिभ्योऽसमासे ठक् स्याद् आर्हीयेष्वर्थेषु। नैष्किकम्। समासे तु ठञ्।

आर्हात् की तेन क्रीतम् ५।१।३७। इस सूत्र पर्यन्त १७ सूत्रों में अनुवृत्ति होती है। समास न होने पर आर्हीय अर्थ में निष्कादि शब्दों से पर ठक् प्रत्यय होता है। निष्क उन्मान है, निष्केन क्रीत नैष्किकम्। निष्क आ ठक् प्रातिपदिक संज्ञा विभक्तिलोप आदि वृद्धि इकादेश म- संज्ञा यस्येति च से अकारलोप है।

समास होने पर ठञ होता है, यथा—परमनैष्किकम्।

१६८३ परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः ७।३।१७।

उत्तरपदवृद्धि स्यात् ञिदादौ। परमनैष्किकः। असमासग्रहणं ज्ञापकं भवति—'इतः प्राक् तदन्तविधिरिति'। तेन सुगव्यम्। 'यवापूप्यम्' इत्यादि। इत ऊर्ध्वं तु सङ्ख्यापूर्वपदाना तदन्तग्रहण प्राग्वतेरिष्यते तच्चालुकि। पारायणिकः। द्वैपारायणिकः। 'अलुकि' इति किम्, द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतं द्विशूर्पम, द्विशूर्पेण क्रीते शूर्पादञ् मा भूत्, किन्तु ठञ्—द्विशौर्पिकम्।

यहाँ परिमाण से शाणपर्युदास से परिच्छेदक का ग्रहण है "परिमाणन्तु सर्वत." का नहीं। संज्ञा न होने पर ञित् आदि तद्धित पर रहते शाणभिन्न परिमाणवाचक शब्द अन्त में रहे वहाँ उत्तर पद के आदि अच् की वृद्धि होती है। परमश्चासौ निष्कस्तेन क्रीत परमनैष्किक। संज्ञा में ठञ् पाञ्चकलापिकम् "ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तग्रहण नास्ति" इति परिभाषा से तदविधि निषेध से इष्ट सिद्धि होती पुन असमासग्रहण क्यों किया? यह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि पूर्व परिभाषा को अनित्यत्व बोधन द्वारा इससे पूर्व में तदन्त विधिर्भवति। इसका फल गव्यम् की तरह यवापूप्यम्। उगवादिभ्यो यत्। विभाषा हविरपूपादिभ्य' इनकी प्रवृत्ति हुई। असमासग्रहण ज्ञापक लब्ध तदन्तविधि की विशेष व्यवस्थार्थ कहते है कि इसके पर सङ्ख्यावाचक शब्द पूर्वक पद का तदन्त ग्रहण होता है—वति के पूर्व तक अलुक विषय में। यथा पारायणिक'। द्वैपारायणिक'। अलुक न होने पर द्विशूर्पिकम् यह अनिष्ट न हुआ। यहाँ क्रीतार्थक प्रत्यय अञादि या 'अध्यर्धपूर्वाद् से लुक् स'. ठञ् यह द्विगुनिमित्त नहीं अत लुक का अभाव, 'परिमाणान्त' से उत्तरपद वृद्धि हुई।

१६८४ अर्द्धात्परिमाणस्य पूर्वस्य तु वा ७।३।२६।

अर्द्धात्परिमाणवाचकस्योत्तरपदस्यादेरचो वृद्धिः, पूर्वपदस्य तु वा ञिति, णिति, किति च। अर्द्धद्रोणेन क्रीतम् आर्द्धद्रौणिकम्। अर्द्धद्रौणिकम।

ञित णित कित तद्धितप्रत्यय पर में रहते अर्ध शब्द से पर परिमाणवाचक शब्द के आदि अच् की वृद्धि होती है, पूर्वपद के आदि अच की विकल्प से वृद्धि होती है।

१६८५ नातः परस्य ७।३।२७।

अर्धात्परस्य परिमाणाकारस्य वृद्धिर्न, पूर्वपदस्य तु वा ञिदादौ। अर्धप्रस्थिकम्। आर्धप्रस्थिकम्। अतः किम्, अर्धकौडविकम्। तपरः किम्, अर्धखार्य्यां भवा अर्धखारी। अर्धखारीभार्य इत्यत्र वृद्धिनिमित्तस्येति पुंवद्भावो न स्यात्।

ञित आदि प्रत्यय पर रहते अर्ध शब्द से पर परिमाणक शब्द के अकार की वृद्धि नहीं होती, किन्तु पूर्वपद के आदि अच् को विकल्प से वृद्धि होती है। अर्धप्रस्थिकम्। आर्धप्रस्थिकम्। अर्धकौडविकम् यहां उत्तर पद परिमाण वाचक है किन्तु आदि अच् अकार नहीं उकार है अतः यहां निषेध न होकर उकार को औकार वृद्धि हुई है।

सूत्र में 'अस्य' कहते तपरग्रहण क्यों किया ?, दीर्घ को वृद्धि हो या न हो कोई विशेष नहीं है। तपर ग्रहण फल को देते हैं—अर्धखारी भार्या यस्य यहां वृद्धि निमित्तक तद्धित न होने से पुंवद्भाव निषेध नहीं होता है। यह कहना वस्तुतः ठीक नहीं क्योंकि पूर्वपद के आदि अच् की वृद्धि विकल्प में तद्धित प्रत्यय में फलोपधानरूपा कारणता है ही अतः पुंवद्भाव निषेध होता है। तपरकरण स्पष्टार्थ ही है।

१६८६ शताच्च ठन्यतावशते ५।१।२१।

शतेन क्रीतं शतिकम्। शत्यम्। अशते किम्, शतं परिमाणमस्य शतकः संघः। इह प्रत्ययार्थो वस्तुतः प्रकृत्यर्थान्न भिद्यते तेन ठन्यतौ न, किन्तु कनेव। असमास इत्येव। द्विशतेन क्रीतं द्विशतकम्।

शतभिन्नार्थ में तृतीयान्तशत शब्द से क्रयण कर्मरूप क्रीत अर्थ में ठन् एवं यत् प्रत्यय होता है। शतमुद्रा से क्रीत वस्तु में ठन् में शतिकम्। यत् में शत्यम्। जहां प्रत्ययार्थ शत रहे वह इसकी प्रवृत्ति नहीं हुई वहां उत्तर सूत्र से कन् प्रत्यय होता है शतसंख्यक परिमाण युक्त संघ यह अर्थ 'शतकः' का हुआ है यहां वास्तविक विचार किया जाय तो प्रकृत्यर्थ शतार्थ है प्रत्ययार्थ भी शतरूपार्थ है।

इस कारण ठन् यत् न होकर क प्रत्यय हुआ है। सूत्रस्थ चकार यहां 'असमासे' का अनुकर्षण करता है। अतः समास से इसकी अप्रवृत्ति होती है। दो सौ रुपैये से क्रीत वस्तु में 'द्विशतकम्' यहां कन् हुआ। ठन् यत् नहीं। यहां 'अशते' यह विशेषण प्रकृत्यर्थ का नहीं है असम्भव से किन्तु प्रत्ययार्थ का है। उससे भी जहां प्रकृत्यर्थ शत का ही प्रत्ययार्थत्व है वहां ही निषेध इष्ट है। जो संघ है वह प्रकृत्यर्थ रूप ही है।

१६८७ सङ्ख्याया अतिशदन्तायाः कन् ५।१।२२।

सङ्ख्यायाः कन् स्याद् आर्हीयेऽर्थे न तु त्यन्तशदन्तायाः। पञ्चभिः क्रीतः पञ्चकः। बहुकः। त्यन्तायास्तु साप्ततिकः। शदन्तायाः चात्वारिंशत्कः।

आर्हीय अर्थ में तृतीयान्त संख्यावाचक शब्द से (क्रीतम्) अर्थ में कन् प्रत्यय होता है, किन्तु वह संख्यावाचक शब्द यदि 'ति' अन्तवाला या 'शत' अन्तवाला रहे तो वहां कन् प्रत्यय न होकर ठन् प्रत्यय होता है। पञ्चकः। बहुकः। सप्तति ७० संख्यावाचक है उससे क्रीत = क्रयण कर्म वस्तु में सप्तति शब्द के अन्त में 'ति' है अतः कन् न होकर ठञ् साप्ततिकः। शत अन्त में होने से ४० बोधक चत्वारिंशत् से क्रीत अर्थ में ठञ् को कादेश वृद्धि में चात्वारिंशत्कः।

इस सूत्र में कृत्रिम अकृत्रिम उभयविध संख्या का ग्रहण है, यदि केवल कृत्रिम संख्या का ही ग्रहण करते तो त्यन्त भिन्न शत भिन्न ग्रहण व्यर्थ होगा अत यहाँ—उभयगतिरिह भवति।

१६८८ वतोरिड् वा ५।१।२३।

वत्वन्तात् कन इड् वा स्यात्। तावतिकः। तावत्कः।

वतुप प्रत्ययान्त शब्द से पर कन् प्रत्यय को विकल्प से इट् होता है। तत् परिमाणम् अस्य तावत् से कन् इट् तावतिक। इट के अभाव में तावत्क। तावत का अर्थ तितना। तत् से वतुप् प्रत्यय तावत्। आ सर्वनाम्न से आत्व है। 'कियत्तद' सू० म वतुप् है।

१६८९ विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुन्नसंज्ञायाम् ५।१।२४।

योगविभाग. कर्तव्य। आभ्या कन् स्यात्। असंज्ञायां ड्वुन् स्यात्। कनोऽपवाद'। विंशक'। त्रिंशकः। संज्ञायान्तु विंशतिकः। त्रिंशत्कः।

यहाँ योग विभाग करना अपेक्षित है। तृतीयान्त विंशति एवं त्रिंशत् से क्रीतार्थ में कन् प्रत्यय होना है। प० इनसे असंज्ञा में कन् को बाधकर ड्वुन् प्रत्यय होता है। नकार वृद्धि के लिए है, टिलोपार्थ डकार है, वुको अकादेश होता है। यथा विंशत्या क्रीत विंशक'। त्रिंशक, कन् ड्वुन् पक्ष में विंशति के 'ति' का ति विंशतेर्डिति से लोप, अकार का यस्येति च से लोप विंशक। त्रिंशक में अत् का टिलोप है।

१६९० कंसाट् टिठन् ५।१।२५।

टो ङीबर्थः। इकार उच्चारणार्थः। कंसिक'। कंसिकी। ॐ अर्धाच्चेति वक्तव्यम् ॐ। अर्धिकः। अर्धिकी। ॐ कार्षापणाट् टिठन् वक्तव्यः ॐ। प्रतिरादेशश्च वा ॐ। कार्षापणिक'। कार्षापणिकी। प्रतिकः। प्रतिकी।

तृतीयान्तकंसशब्द से क्रीतार्थ में टिठन् प्रत्यय होता है। प्रत्यय घटक अनुबन्धों का फल-टकार ङीबर्थ है। इकार केवल उच्चारण क्रिया फलक है।

रुपैये का आधा अंश अर्थ में अर्धशब्द रूढ है तृतीयान्त अर्ध से टिठन् प्रत्यय होना है। अर्धिक। स्त्री में अर्धिकी। कार्षापणशब्द से टिठन् प्रत्यय होता है एवं कार्षापण के स्थान में प्रति आदेश विकल्प से होता है। रूपद्वय हुए जो मूल में वर्णित है।

१६९१ शूर्पादञन्यतरस्याम् ५।१।२६।

शौर्पम्। शौर्पिकम्।

शूर्पपरिमितधान्याद्यर्थक शूर्पशब्द है। तृतीयान्त समर्थ शूर्प से क्रीत अर्थ में अञ् प्रत्यय विकल्प से होता है, पक्ष में ठञ् प्रत्यय होता है।

१६९२ शतमानविंशतिकसहस्रवसनादण् ५।१।२७।

एभ्योऽण् स्यात् ठञ्ठक्कनामपवादः। शतमानेन क्रीत शातमानकम्। वैंशतिकम्। साहस्रम्। वासनम्।

तृतीयान्त शतमान, विंशतिक, सहस्र, वसन इनसे क्रीत आदि अर्थ में अण् प्रत्यय होता है इस सूत्र से विहित अण् ठञ् ठक् कन् का बाधक है। शतमान परिमाणम् इस अर्थ में ठञ् प्राप्त है।

असंज्ञा में विंशति से ट्वुन् प्राप्त है। संज्ञा में अस्य परिमाण अर्थ में ठञ् प्राप्त है। अर्थान्तर में ठक् प्राप्त है। वसन से ठन् प्राप्त है। सहस्र से कन् प्राप्त है इनको बाधकर अण् होता है।

१६९३ अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोर्लुगसंज्ञायाम् ५।१।२८।

अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोश्च परस्यार्हीयस्य लुक् स्यात्। अध्यर्धकंसकम्। द्विकंसम्। संज्ञायान्तु पञ्चकालापिकम्।

संज्ञा न होने पर अध्यर्धशब्दपूर्वक द्विगु समास के निमित्त जो परत्वविशिष्ट आर्हीय प्रत्यय उसका लुक् होता है। जो तद्धित द्विगु का निमित्त नहीं है उसका लुक् इस से नहीं होता है क्यों कि यहां भाष्यवार्तिक है—

विमर्श—"द्विगोर्लुकि तन्निमित्तग्रहणं कर्तव्यम्"। द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतं द्विशूर्पम् तेन क्रीतं 'द्विशौर्पिकम्' यहां क्रीतार्थक पश्चाद् भव जो ठञ् है वह द्विगु का निमित्त नहीं है। अतः उसका लुक् न हुआ। यहां निमित्त ग्रहण न करते परत्व से व्याख्यान करते तो द्विगु से पर क्रीतार्थक ठञ् का लुक् होता। इस व्याख्यान में दोष देते हैं कि द्वयोः शूर्पयोः समाहारो द्विशूर्पी तया क्रीतम् अर्थ में 'द्विशूर्पम्' यही प्रयोग इष्ट है वह न होगा क्रीतार्थक ठञ् यहां भी द्विगु का निमित्त नहीं है एवं प्रत्यय लुक् इष्ट सर्वथा है। इस शंका के समाधान है एक अन्य भाष्यवार्तिक का समाश्रयण करना-वह यह है—"अर्थविशेषासम्प्रत्यये अतन्निमित्तादपि" = जहां तद्धितार्थद्विगु से अर्थ विशेष की भेद प्रतीति नहीं है वहां द्विगु के निमित्त जो तद्धित नहीं भी है तो भी लुक् होता ही है।

प्रकृत में द्विशूर्प एवं द्विशूर्पी से क्रीत इन दोनों में अर्थ भेद नहीं है किन्तु अर्थ में ऐक्य है। अतः लुक् अतन्निमित होते हुए भी हुआ अर्थात् ऐसे स्थल विशेष में द्विगु से पर तद्धित का लुक् यह व्याख्यान कहना।

वस्तुतः सूत्र में 'द्विगोः' को दिग् योग लक्षण पञ्चम्यन्त न मानकर 'द्विगोः' षष्ठ्यन्त है, अर्थ व्याख्यानाधीन है, द्विगु का तद्धित सम्भव नहीं अतः द्विगो का निमित्त तद्धित यह अर्थ का लाभ होगा प्रथमोक्त भाष्य वार्तिक का अनाश्रयण पक्ष ही लाघवार्थ श्रेयस्कर है।

'द्विशूर्प्या क्रीतम्' में द्विशूर्पी से ठञ् नहीं विधान किया, किन्तु 'अविरविक' न्याय से द्विशूर्प से ही क्रीतार्थक ठक् है अतः द्वितीय वार्तिक भी प्रत्याख्यान योग्य है। यहां शङ्का करते हैं कि अध्यर्ध शब्द भी संख्यावाची ही है। एक भी अध्यर्ध में 'द्वौ' = द्वित्वविशिष्ट दो वस्तु व्यवहार होता है। संख्यावाचक होने से 'अध्यर्धकम्' यहां कन् प्रत्यय हुआ है। 'अध्यर्धकंसम्' में तद्धितार्थ में द्विगुसमास है। 'अध्यर्धसांवत्सरिकः' यहां 'संख्यायाः' सूत्र से उत्तरपद के आदि अच् की वृद्धि हुई है।

सूत्र में क्रियमाण अध्यर्ध ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापक है कि—"संख्याकार्य इसको कहीं नहीं भी होता है"। उससे कन् द्विगु समास वृद्धि इनको छोडकर अन्य संख्या प्रयुक्तकार्य अध्यर्ध से नहीं होता है। कृत्वसुच् प्रत्ययादि। 'पाञ्चकालापिकम्' = पञ्चकलापाः परिमाणमस्य यहां तद्धितार्थ में द्विगु है। 'तदस्य परिमाणम्' से ठञ्। पाञ्चलोहितकम्। पञ्च लोहिन्यः = गुञ्जाः परिमाणम् अस्य में पूर्ववत्समासादि कार्य होते हैं।

भस्याढे तद्धिते' से पुंवद् भाव से ङीप् नकार की निवृत्ति से लोहिनी का लोहित स्वरूप हुआ है। परिमाण विशेष के नाम में पूर्वोक्त एवं इसका व्यवहार है। यहां असंज्ञा प्रत्ययान्त का विशेषण है, द्विगु का नहीं है। यहां 'असंज्ञायाम्' का भाष्य एवं वार्तिककार ने खण्डन किया है। भाष्य देखिये।

१६९४ विभाषा कार्षापणसहस्राभ्याम् ५।१।२९।

लुग्वा स्यात् । अध्यर्धकार्षापणम् । अध्यर्धकार्षापणिकम् । द्विकार्षापणम् । द्विकार्षापणिकम् । औपसंख्यानिकस्य ठिठनो लुक् । पक्षे अध्यर्धप्रतिकम् । द्विप्रतिकम् । अध्यर्धसहस्रम् । अध्यर्धसाहस्रम् । द्विसहस्रम् । द्विसाहस्रम् ।

कार्षापण एव सहस्र शब्द के उत्तर आर्हीय प्रत्यय का विकल्प से लुक् होता है। पूर्व बोधित टिठन् का लुक् विकल्प से हुआ है। रूपद्वय हुए। पक्ष में अध्यर्ध से पर टिठन् प्रत्यय सन्नियोग शिष्ट प्रति आदेश कार्षापण को हुआ है अत प्रत्यादेश सन्नियोग में प्रत्यय की सदा सत्ता ही रहती है वह लुप्त नहीं होता है। अर्थात् दर्शनाभाव का प्रतियोगी नहीं होता है। 'अध्यर्ध-साहस्रम्' में 'शतमानविंशतिक' से विहित अण् का लुक् हुआ है विकल्प से। लुक् के अभाव पक्ष में 'संख्यायाः संवत्सर' स उत्तरपद के आद्यच् की वृद्धि हुई है, अध्यर्ध शब्द संख्यावाची है यह अभी वर्णित ही है।

१६९५ द्वित्रिपूर्वान्निष्कात् ५।१।३०।

लुग् वा स्यात् । द्विनिष्कम् । द्विनैष्किकम् । त्रिनिष्कम् । त्रिनैष्किकम् । ❋बहुपूर्वाच्चेति वक्तव्यम्❋ । बहुनिष्कम् । बहुनैष्किम् ।

द्विशब्द एव त्रिशब्द पूर्वक निष्क शब्दान्त द्विगु से पर आर्हीय प्रत्यय का विकल्प से लुक् होता है। सूत्र में 'द्वित्रिभ्याम्' करने पर कार्य निर्वाह होता पूर्व ग्रहण व्यर्थ ही है। द्विनैष्किकम्। यहां प्राग्वहतेष्ठञ् से ठञ् प्रत्यय है। 'परिमाणान्तस्य' से उत्तरपद वृद्धि है। द्वयो निष्क तेन क्रीतम् 'द्विनैष्किकम्' यहां लुक् न हुआ, क्योंकि द्विगु से पर तद्धित नहीं है। अध्यर्धपूर्वात् का असम्बन्ध से अध्यर्धनैष्किकम् यहां लुक् न हुआ।

बहुपूर्वक निष्कशब्दान्त द्विगु से पर आर्हीय प्रत्यय का विकल्प से लुक् होता है। लुक् पक्ष में बहुनिष्कम्। अभाव लुक का हुआ वहां बहुनैष्किकम्।

१६९६ बिस्ताच्च ५।१।३१।

द्वित्रिबहुपूर्वाद् बिस्ताद् आर्हीयस्य लुग् वा स्यात्। द्विबिस्तम्। द्विबै-स्तिकम् इत्यादि।

द्वि, त्रि बहुपूर्वक बिस्त से आर्हीय प्रत्यय का लुक विकल्प से होता है। चकार से अनुकृष्ट द्वित्रि एव बहु है उसका उत्तर सूत्र में सम्बन्ध नहीं है—'चानुकृष्टं नोत्तरत्र' परिभाषा है। द्विबिस्तम्। पक्ष में द्विबैस्तिकम्, ठञ् हुआ उत्तरपद वृद्धिमत है।

१६९७ विंशतिकात्खः ५।१।३२।

अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोरित्येव । अध्यर्धविंशतिकीनम् । द्विविंशतिकीनम् ।

अध्यर्धपूर्वक एव द्विगुसमास से पर स्थित विंशतिक शब्द से (तृतीयान्त से । आर्हीय खप्रत्यय होता है। 'शतमानविंशति' सू० से अण् प्राप्त था एव लुक् प्राप्त था खप्रत्यय का हमने विधान किया है। अध्यर्ध विंशतिक से ख उसको ईनादेश अकार लोप यहां है।

१६९८ खार्या ईकन् ५।१।३३।

अध्यर्धखारीकम् । द्विखारीकम् । ॐकेवलायाश्चेति वक्तव्यम्ॐ । खारीकम् ।

अध्यर्ध शब्दपूर्वक एवं द्विगुसमास से पर तृतीयान्त खारी शब्द से आर्हीय अर्थ में ईकन् प्रत्यय होता है। यहां कन् प्रत्यय कर 'केऽणः' से ह्रस्व से सिद्ध होता ईकार के उच्चारण सामर्थ्य से लोप का बाध पूर्वक दीर्घ 'अकः' सूत्र से होता पुनः ईकन् के स्थान में लाघवार्थ इकन् क्यों नहीं किया इस शङ्का का निवारण इस प्रकार है—इकारादि में यद्यपि मात्रा लाघव है किन्तु ज्ञापक करने में ज्ञान गौरव है मात्रा लाघव का आदर करना एवं ज्ञान गौरव का आदर न करना ऐसी कोई राजा की आज्ञा नहीं है। उभय का साम्य ही है।

केवल तृतीयान्त खारी से क्रीताद्यर्थ में ईकन् होता है। द्रोणचतुष्टय को खारी कहते हैं। खारीकन्।

१६९९ पणपादमाषशताद्यत् ५।१।३४।

अध्यर्धपण्यम् । द्विपण्यम् । अध्यर्धपाद्यम् । द्विपाद्यम् । इह 'पादः पत्' इति इति न, 'यस्य' इति लोपस्य स्थानिवद्भावात् । 'पद्यत्यतदर्थे' इत्यपि न, प्राण्यङ्गार्थस्यैव तत्र ग्रहणात् ।

अध्यर्ध पूर्वक एवं द्विगु समास के अन्त में स्थित पण, पाद, माष, शत शब्द उनसे पर यत् प्रत्यय होता है। अध्यर्धपण्यम् । द्विपण्यम् । अध्यर्धपाद्यम् । द्विपाद्यम् । यहां 'पादः पत्' से पदादेश इस लिए न हुआ कि 'यस्येति च' सूत्र से जायमान यकार का अलोप का यहां स्थानिवद् भाव से आर्धोयारोप होकर अकारान्त पादत्व बुद्धि उदित हुई है। 'पद्यत्यतदर्थे' की प्रवृत्ति प्राणी के अङ्ग वाचक पाद में होती है, अन्यत्र नहीं।

१७०० शाणाद्वा ५।१।३५।

यत् स्यात् पक्षे ठञ् । तस्य लुक् । अध्यर्धशाण्यम् । अध्यर्धशाणम् ।

अध्यर्ध पूर्वक समर्थ तृतीयान्त शाण शब्द से आर्हार्थ अर्थ में यत् प्रत्यय विकल्प से होता है एवं पक्ष में ठञ् प्रत्यय होता है इस ठञ् का लुक् होकर 'अध्यर्धशाणम्' रूप हुआ, यत् पक्ष में 'अध्यर्धशाण्यम्' रूप है।

१७०१ द्वित्रिपूर्वादण् च ५।१।३६।

शाणादित्येव । चाद्यत् । तेन त्रैशाण्यम् । परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोरिति पर्युदासादिवृद्धिरेव । द्वैशाणम् । द्विशाण्यम् । द्विशाणम् ।

इह ठञादयस्त्रयोदश प्रत्ययाः प्रकृतास्तेषां समर्थविभक्त्योऽर्थाश्चाकाङ्क्षितास्त इदानीमुच्यन्ते ।

द्वि एवं त्रि पूर्वक जो शाणशब्द तदन्त से विकल्प से अण् प्रत्यय एवं चकार से यत् होता है अण्, ठञ् यत् से तीन रूप यहां हुए हैं, यथा अण् में द्वैशाणम्, यत् में द्विशाण्यम्, ठञ् एवं उसका लुक् में द्विशाणम्। उत्तरपद के आद्यच् की वृद्धि विधायक परिमाणान्तस्य में शाणभिन्न कथन से यहां उत्तरपद वृद्धि न होकर आदि वृद्धि 'तद्धितस्य' सूत्र से हुए अण् प्रत्यय विधान पक्ष में।

यहां ठञादय तेरह प्रत्यय प्रत्यय कहे गये हैं, उनकी समर्थ विभक्तियों एवं प्रत्ययों के अर्थ विशेष उपस्थिताकाङ्क्षा से आकाङ्क्षित रहे इस समय इसका ही विषय कहा जाता है। तेरह

प्रत्ययों का परिगणन अभ्यासार्थ इस प्रकार है यह कथन फलितार्थपरक ही है अपूर्व नहीं— यथा-२-ठक् ठञ्, ४ ठन्यत ७ कन् वुन् टिठन्, ९-अञ् शतमानाद् अण्, ११ ख ईकन् १२ पणादि यत् १३ द्विंत्रि से विहित अण्। 'द्वित्रिपूर्वादण् च' को अधिकांश आचार्य सूत्र न मानकर वार्तिक मानते हैं। सूत्रपाठ में इनका पाठ प्रक्षिप्त है ऐसा कहते हैं। श्रीनागेशमहोदय ने भी इसको वार्तिक ही कहा है।

१७०२ तेन क्रीतम् ५।१।३७।

ठञ्। गोपुच्छेन क्रीत गौपुच्छिकम्। साप्ततिकम्। प्रास्थिकम्। ठक् नैष्किकम्।

तृतीयान्त समर्थ से 'उससे खरीदा हुआ' अर्थात् क्रीत अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। 'असमासनिष्कादिभ्यः' में पर्युदास से ठक् अप्राप्त है अत ठञ् प्रत्यय से गोपुच्छ परिमित क्षेत्रादि से क्रीत अर्थ में गौपुच्छिकम्। आद्युदात्त यह शब्द है। इसी प्रकार सप्तति एवं प्रस्थ से भी तृतीयान्त [redacted] क्रीत अर्थ में ठक् अप्राप्त है अत ठञ् करना। सप्तत्या क्रीतम्, प्रस्थेन क्रीतम्। निष्केण क्रीतम् यहां ठक् प्रत्यय नैष्किकम्, अन्तोदात्त यह शब्द है। द्रव्यदान पूर्वक अन्य वस्तु का उससे ग्रहण करना उसे क्रय कहते हैं। 'तेन' तृतीयान्त से क्रय करक द्रव्य का ही ग्रहण है।

१७०३ इद्गोण्याः १।२।५०।

गोण्या इत् स्यात् तद्धितलुकि। लुकोऽपवादः। पञ्चभिर्गोणीभिः क्रीतः पटः पञ्चगोणिः।

तद्धित प्रत्यय के लुक् होने पर गोणी शब्द को इत् आदेश होता है। ह्रस्व इकार दीर्घ ईकार के स्थान में हुआ। यह 'लुक् तद्धितलुकि' का अपवाद है। पञ्चगोणि। यहां भी प्रत्यय का लुक् म हुआ। गोणी आवपन भेद यह ङीप्रत्यय में कह चुके हैं। अन्यत्र गोणा इत्येव।

१७०४ तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ ५।१।३८।

सयोग.=सम्बन्धः। उत्पातः=शुभाशुभसूचकः। शतिकः शत्यो वा धनपतिसंयोग.। शतिक शत्य वा दक्षिणाक्षिस्पन्दनम्,-शतस्य निमित्त-मित्यर्थ.। ॐ वातपित्तश्लेष्मभ्यः शमनकोपनयोरुपसङ्ख्यानम् ॐ। वातस्य शमन कोपन वा-वातिकम्। पैत्तिकम्। श्लैष्मिकम्। ॐ सन्निपाताच्चेति वक्तव्यम् ॐ। सान्निपातिकम्।

सम्बन्ध एवं शुभ तथा अशुभ सूचक अर्थ में उनके निमित्त होने पर षष्ठ्यन्त शत शब्द से ठञ् [redacted] यत् प्रत्यय होता है। धनी का सम्बन्ध शतमुद्रा प्राप्ति का निमित्त है शत्य- शतिक'। अथवा दहनी आँख का स्पन्दन शतमुद्रा प्राप्ति में निमित्त कारण है।

वात, पित्त, श्लेष्मन् से पर शमन या कोपन अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है।

वात का शमन या कोपन अर्थ में वातिकम्। पित्त का शमन या कोपन में पैत्तिकम्। श्लेष्मा के शमन या कोपन अर्थ में श्लैष्मिकम्।

१७०५ गोद्व्यचोऽसङ्ख्यापरिमाणाश्वादेर्यत् ५।१।३९।

गोर्निमित्तं संयोग उत्पातो वा गव्यः। द्व्यचः—धन्यः। यशस्यः। स्वर्ग्यः। गोद्व्यचः किम्, विजयस्य वैजयिकः। असंख्येत्यादि किम्, पञ्चानां पञ्चकम्, सप्तकम्। प्रास्थिकम्। खारीकम्। अश्वादि—आश्विकम्। आश्मिकम्।
❀ ब्रह्मवर्चसादुपसङ्ख्यानम् ❀। ब्रह्मवर्चस्यम्।

षष्ठ्यन्त गोशब्द से एवं संख्याभिन्न, परिमाणभिन्न परिमाण वाचक से भिन्न अश्वादि गणपठित शब्दों से भिन्न जो दो अच् युक्त शब्द उस से निमित्त अर्थ में (तस्य निमित्तम्) विकल्प से यत् प्रत्यय होता है। गव्यः। धन का संयोग या उत्पात में धन्यः। यशस्यः। स्वर्ग्यः। विजय का संयोग या उत्पात में विजय शब्द तीन अच् युक्त होने से यत् की अप्राप्ति से ठञ् हुआ संख्यावाचक से कन् पञ्चकम्। सप्तकम्। पारमाण वाचक प्रस्थ से ठञ् प्रास्थिकम्। परिमाण वाचक खारी से ईकक् खारीकम्। अश्वादि से यत् नहीं हुआ। * षष्ठ्यन्त ब्रह्मवर्चस से संयोग या उत्पात में यत् प्रत्यय होता है * ब्रह्मवर्चस्यम्।

१७०६ पुत्राच्छ च ५।१।४०।

चाद् यत्। पुत्रीयः। पुत्र्यः।

षष्ठ्यन्त पुत्र से संयोग का उत्पात अर्थ में छप्रत्यय होता है, चकारग्रहण से यत् भी होता है यत् का अनुकर्षणार्थ यहाँ चकार है। पुत्रस्य संयोगः, उत्पातो वा पुत्रीयः। पक्ष में पुत्र्यः।

१७०७ सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ ५।१।४१।

सर्वभूमे र्निमित्तं संयोग उत्पातो वा सार्वभौमः। पार्थिवः। सर्वभूमिशब्दोऽनुशतिकादिषु पठ्यते।

षष्ठ्यन्त समर्थ सर्वभूमि शब्द से एवं पृथिवी शब्द से पर निमित्त, संयोग एवं उत्पात में अण् अञ् प्रत्यय होता है। सर्वभूमि शब्द का अनुशतिकादि में पाठ है, उभयपद के आदि अच् की वृद्धि हुई है। सार्वभौमः। पार्थिवः।

१७०८ तस्येश्वरः ५।१।४२।

'तस्य' की अनुवृत्ति आ रही थी पुनः यहाँ तस्य ग्रहण निमित्तादि की निवृत्त्यर्थ है' षष्ठ्यन्त समर्थ से ईश्वर अर्थ में यथाप्राप्त प्रत्यय होता है। यह अधिकार सूत्र है।

१७०९ तत्र विदित इति च ५।१।४३।

सर्वभूमेरीश्वरः सर्वभूमौ विदितो वा सार्वभौमः = पार्थिवः।

सप्तम्यन्त समर्थ में विदित अर्थ में षष्ठ्यन्त से ईश्वर अर्थ में अण् अञ् प्रत्यय सर्वभूमि एवं पृथिवी से होते हैं। सर्वभूमौ विदितः सर्वभूमेः ईश्वरः सार्वभौमः। पृथिव्यां विदितः, तस्या ईश्वरः पार्थिवः।

१७१० लोकसर्वलोकाट्ठञ् ५।१।४४।

तत्र विदित इत्यर्थे। लौकिकः। अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः—सार्वलौकिकः।

सप्तम्यन्त लोक एवं सर्वलोक से विदित अर्थ में ठञ् होता है। सर्वलोक से ठञ् अनुशतिकादित्व प्रयुक्त पूर्व पद एवं उत्तरपद के आदि अच् की वृद्धि हुई है।

१७११ तस्य वापः ५।१।४५।

उप्यते अस्मिन्निति वापः = क्षेत्रम्। प्रस्थस्य वापः–प्रास्थिकम्। द्रौणिकम्। खारीकम्।

षष्ठ्यन्त से वाप अर्थ में ठञादि प्रत्यय होते हैं। जिस खेत में अन्न बोया जाय उसको वाप = क्षेत्रादि। अधिकरण में वप् से घञ् वापः।

प्रस्थशब्द प्रस्थपरिमित धान्य परक है, प्रस्थ से नहीं बोया जाता किन्तु अन्न से बोया जाता है। प्रास्थिकम्। द्रौणिकम्। खारी से ईकक् खारीकम्।

१७१२ पात्रात् ष्ठन् ५।१।४६।

पात्रस्य वापः क्षेत्रं पात्रिकम्। पात्रिकी=क्षेत्रभक्तिः।

षष्ठ्यन्तपात्र शब्द से 'वाप' अर्थ में ष्ठन् प्रत्यय होता है। स्त्रीत्व में ङीष्। क्षेत्रावयव अर्थवाचक क्षेत्रभक्ति शब्द है।

१७१३ तदस्मिन् वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयते ५।१।४७।

वृद्धिर्दीयत इत्यादिक्रमेण प्रत्येकं सम्बन्धादेकवचनम्। पञ्चास्मिन् वृद्धिः, आयः, लाभः, शुल्कः, उपदा वा दीयते पञ्चकः। शतिकः। शत्यः। साहस्रः। उत्तमर्णेन मूलातिरिक्तं ग्राह्यं वृद्धिः। ग्रामादिषु स्वामिग्राह्यो भाग आयः। विक्रेत्रा मूल्यादधिकमाह्यं लाभः। रक्षानिर्वेशो राजभागः शुल्कः। उत्कोचः = उपदा। ॐ चतुर्थ्यर्थे उपसंख्यानम् ॐ। पञ्चास्मै वृद्ध्यादि दीयते पञ्चको देवदत्तः। 'समममाह्मणे दानम्' इति वदधिकरणत्वविवक्षा वा।

प्रथमा समर्थ से 'अस्मिन् दीयते' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। आयसे ही गतार्थ है शुल्कग्रहण व्यर्थ है। पञ्चकः में कन् प्रत्यय हुआ है। शतिकः ठन् शत्यः में यत्। साहस्र में अण्। ऋण को देने वाला मूल धन से अतिरिक्त जो ब्याज लेता है उसको वृद्धि कहते हैं। ग्राम आदि में स्वामी के ग्रहण कर्म भाग का नाम आय है। बेचनेवाला मूलधन से अतिरिक्त जो धन को ग्रहण करता है उसको लाभ कहते हैं। राजा द्वारा रक्षार्थगृहीत धनादिक को कर = शुल्क कहते है। भेट की वस्तु को उपदा = उत्कोच कहते हैं या घूस को भी कहते हैं। • चतुर्थी के अर्थ में प्रथमान्त समर्थ से प्रत्यय होता है। अथवा अब्राह्मण को दान देने से जितना दिया गया उतना ही प्राप्त होता है वहाँ चतुर्थी के अर्थ में अधिकरणत्व की विवक्षा कर 'अब्राह्मणे' यहां सप्तमी हुई उसी प्रकार यहाँ भी सम्प्रदानत्वेन अविवक्षा एवं अधिकरणत्वेन विवक्षाकर इस 'चतुर्थ्यर्थे' वचन का अनाश्रयण ही है। विवक्षा की अधीनता को कारक ग्रहण करते हैं। "विवक्षातः कारकाणि भवन्ति" यह सिद्धान्त है।

१७१४ पूर्णार्धाट् ठन् ५।१।४८।

यथाक्रमं ठक्टिठनोरपवादः। द्वितीयो वृद्ध्यादिरस्मिन् दीयते द्वितीयिकः। तृतीयिकः। अर्धिकः। अर्धशब्दो रूप्यकस्यार्द्धे रूढः।

प्रथमान्त पूरणप्रत्ययान्त एवं अर्ध शब्द से 'वृद्धादि दीयते' में ठन् प्रत्यय होता है। यह यथाक्रम ठक् एक् एवं टिठन् का बाधक है। तृतीय में 'त्रेः सम्प्रसारणम्' से पूरणार्थक तीय प्रत्यय एवं सम्प्रसारण से तृतीय है, इन दोनों प्रथमान्त से वृद्ध्यादि अर्थ में ठन् प्रत्यय हुआ है अठन्नी में अर्ध शब्द रूढ है। अधिकः ठन् ने टिठन् को बाध किया।

१७१५ भागाद्यच्च ५।१।४९।

चाट्ठन्। भागशब्दोऽपि रुप्यकस्यार्द्धे रूढः। भागो वृद्ध्यादिरस्मिन् दीयते भाग्यम्, भागिकं शतम्। भाग्या भागिका त्रिंशतिः।

प्रथमान्त भाग से 'वृद्धादि दीयते' अर्थ में यत्प्रत्यय होता है, पक्ष में चकार से ठन् प्रत्यय हुआ। अठन्नी में भागशब्द रूढ है। यहाँ भागशब्द से वृद्धि आदि का ज्ञान करना चाहिये।

१७१६ तद्धरति वहत्यावहति भाराद् वंशादिभ्यः ५।१।५०।

वंशादिभ्यः परो यो भारशब्दस्तदन्तं यत्प्रातिपदिकं तत्प्रकृतिकाद् द्वितीयान्तादित्यर्थः। वंशभारं हरति वहति आवहति वा वांशभारिकः। ऐक्षुभारिकः। 'भाराद् वंशादिभ्यः' इत्यस्य व्याख्यान्तरम्—भारभूतेभ्यो वंशादिभ्य इति। भारभूतान् वंशान् हरति वांशिकः। ऐक्षुकः।

वह हरण करता है, वहन करता है एवं आवहन कर्ता है इन अर्थों में वंशादि से पर भारान्त प्रातिपदिक उनसे विहित जो द्वितीया तदन्त से पर यथाविधि प्रत्यय होता है। इसकी एक अन्य व्याख्या भी है—भारभूतवंशादि से पर यथाविहित प्रत्यय होते हैं। वांशभारिकः। वांशिक प्रभृति उदाहरण है।

१७१७ वस्नद्रव्याभ्यां ठन्कनौ ५।१।५१।

यथा संख्यं स्तः। वस्नं हरति, वहति, आवहति वा वस्निकः। द्रव्यकः।

पूर्व निर्दिष्ट अर्थों में वस्न एवं द्रव्य से पर ठन् एवं कन् यथासंख्य होते हैं। वस्न मूल्य को कहते हैं।

१७१८ सम्भवत्यवहरति पचति ५।१।५२।

प्रस्थं सम्भवति प्रास्थिकः=कटाहः। प्रस्थं स्वस्मिन् समावेशयतीत्यर्थः। प्रास्थिकी ब्राह्मणी। प्रस्थमवहरति पचति वेत्यर्थः। ॐ तत्पचतीति द्रोणादण् च ॐ। चाट्ठञ्। द्रोणं पचतीति द्रौणी, द्रौणिकी।

आधार के प्रमाण से आधेय का प्रमाण अधिक न रहे वहाँ विशेषणभूत जो धारण उसको सम्भवति कहते हैं।

द्वितीयान्त समर्थ से 'संभवति' अवहरति, पचति इन अर्थों में प्रस्थ से यथाविहित प्रत्यय होते हैं। प्रास्थिकः ठञ्प्रत्यय, स्त्रीलिङ्ग में ङाप् प्रास्थिकी। प्रस्थपरिमित अन्नादिक को अपने में धारण करता है। कटाह=कड़ाई। प्रस्थ को अवहरण होनेवाली या पाकक्रिया कर्त्री ब्राह्मणी अर्थ में प्रास्थिकी। द्वितीयान्तद्रोण से अणुप्रत्यय होता है। चकारग्रहण से ठञ् होता है। द्रौणी। द्रौणिकी।

१७१९ आढकाचितपात्रात् खोऽन्यतरस्याम् ५।१।५३।

पक्षे ठञ्। आढकं सम्भवति, अवहरति, पचति वा आढकीना। आढकिकी। आचितीना। आचितिकी। पात्रीणा। पात्रिकी।

द्वितीयान्त आढक, आचित, पात्र से पर सम्भवति आदि अर्थ में खप्रत्यय विकल्प से होता है। पक्ष में ठञ् होता है। खप्रत्यय = आढकीना। ठञ् आढकिकी। आचितीना। आचितिकी। पात्रीणा। पात्रिकी।

"आचितो दशभाराः स्युः"। शकट = बैलगाडी या रथादि से ढोने योग्य भार को आचित कहते हैं। शाकटो भार: आचितः।

प्रस्थमान इस प्रकार का है।

अञ्जलियामाढकद्रोणौ खारीवाहो निकुञ्चक:।
कुडवः प्रस्थ इत्याद्याः परिमाणार्थका: पृथक्॥
पादस्तुरीयो भागः स्यात्।
भारस्स्याद् विंशति तुला॥

इन परिमाणों को कोश से अवगत करना चाहिये। प्राचीनकाल में शास्त्राध्ययन के पूर्व काल में शब्दरूप, धातुरूप समास एवं कोश को कण्ठस्थ करा कर शब्द सम्पत्ति सञ्चयानन्तर विशिष्ट ज्ञानार्थ अध्ययन में प्रविष्ट छात्रों को कराते थे। अतः व्याकरणादि के ग्रन्थों में अर्थनिर्देश आचार्यों ने नहीं किया है। आधुनिक परिस्थिति उस अध्ययनक्रम से सर्वथा विपरीत हो रही है। अर्थविषयक ज्ञानसामान्यभाववान् अध्येता होने लगे हैं। अर्थ के ज्ञान बिना केवल शब्दज्ञान व्यर्थ ही है।

१७२० द्विगोः ष्ठंश्च ५।१।५४।

आढकाचितपात्रादित्येव। आढकाद्यन्ताद् द्विगोः सम्भवत्यादिष्वर्थेषु ष्ठन्खौ वा स्तः पक्षे ठञ्। तस्याध्यर्धेति लुक्। षित्त्वान्ङीष्। द्व्याढकिकी। द्व्याढकीना। द्विगोरिति ङीप् द्व्याढकी। द्व्याचितिकी। द्व्याचितीना। अपरिमाणेति ङीन्निषेधात्—द्व्याचिता। द्विपात्रिकी। द्विपात्रीणा। द्विपात्री।

आढक आचित पात्र ये हैं अन्त में जिसके ऐसे द्विगु समास संज्ञक से सम्भवति आदि अर्थों में ष्ठन् ख विकल्प से होता है, पक्ष में ठञ् होता है उसका 'अध्यर्ध' से लुक् होता है। प्रत्यय में षित्त्व है अतः स्त्रीलिङ्ग में ङीष् होता है। तद्धितार्थ में द्विगुसमास कर द्विगु के निमित्त तद्धितप्रत्यय का लुक् 'अध्यर्ध' से द्व्याढक से इसमें ष्ठन ख, ठञ् षित्प्रत्यय में ङीष द्व्याढकिकी, द्व्याढकिना, द्विगुसमास स्त्रीलिङ्ग में ङीप् द्व्याढकी। इसी प्रकार द्व्याचितिकी, द्व्याचितीना। अपरिमाण से ङीन् निषेध से द्व्याचिता। द्विपात्रिकी। द्विपात्रीणा। द्विपात्री।

१७२१ कुलिजाल्लुक्खौ च ५।१।५५।

कुलिजान्ताद् द्विगोः सम्भवत्यादिष्वर्थेषु लुक्खौ वा स्तः। चात् ष्ठंश्च। लुगभावे ठञ्. श्रवणम्। द्विकुलिजी। द्वैकुलिजिकी। द्विकुलिजीना। द्विकुलिजिकी।

कुलिज है अन्त में जिसके ऐसे द्विगु से सम्भवति आदि अर्थों में ठञ् का लुक् एवं ख विकल्प से होता है। चकार से ष्ठन् प्रत्यय होता है। तीन रूप हुए।

१७२२ सोऽस्यांशवस्नभृतयः ५।१।५६।

अंशो भागः। वस्नं मूल्यम्। भृतिर्वेतनम्। पञ्च अंशो वस्नो भृतिर्वाऽस्य पञ्चकः।

संख्यावाचक प्रथमान्त से भाग, मूल्य, वेतन इसका इन अर्थों में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। कन् प्रत्यय से पञ्चकः।

१७२३ तदस्य परिमाणम् ५।१।५७।

प्रस्थं परिमाणमस्य प्रास्थिको राशिः।

परिमाणवाचक प्रथमान्त से षष्ठ्यर्थ में यथा विहित प्रत्यय होते हैं। यहां परिच्छेदक मात्रार्थक परिमाण शब्द है। प्रास्थिकः ठञ् प्रत्यय हुआ।

१७२४ सङ्ख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु ५।१।५८।

पूर्वसूत्रमनुवर्तते। तत्र संज्ञायां स्वार्थे प्रत्ययो वाच्यः। यद्वा द्वयेकयो- रितिवत्संख्यामात्रवृत्तेः परिमाणिनि प्रत्ययः। पञ्चैव पञ्चकाः=शकुनयः। पञ्च परिमाणमेषामिति वा। सङ्घे—पञ्चकः। सूत्रे अष्टकं पाणिनीयम्। सङ्घ- शब्दस्य प्राणिसमूहे रूढत्वात् सूत्रं पृथगुपात्तम्। पञ्चकमध्ययनम्। ॐ स्तोमे डविधिः ॐ। पञ्चदश मन्त्राः परिमाणमस्य पञ्चदशः। सप्तदशः। एक- विंशः। (डप्रत्यये तिलोपः) सोमयागेषु छन्दोगैः क्रियमाणा पृष्ठ्यादिसंज्ञिका स्तुतिः=स्तोमः।

संज्ञा, संघ, सूत्र, अध्याय, इन अर्थों में प्रथमान्त संख्यावाचक से अस्य परिमाण अर्थ में उक्त प्रत्यय होते है। संज्ञा में स्वार्थ में प्रत्यय होता है। यथा पञ्चैव=पञ्चकाः=शकुनयः। पञ्च परिमाण है जिसका संघ प्राणिसमूह में रूढ होने से सूत्रका पृथगुपादान किया है स्तोम अर्थ में डप्रत्यय होता है। सोमयाग में साम गाने वालों के द्वारा क्रियमाण पृष्ठ्यादि संज्ञिका स्तुति को स्तोम कहते हैं।

१७२५ पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिन- वतिशतम् ५।१।५९।

एते रूढिशब्दा निपात्यन्ते।

पङ्क्ति, विंशति, त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, पञ्चाशत्, षष्टि सप्तति, अशीति, नवति, शत ये रूढि शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं। इनमें अवयवार्थ ज्ञान के विषय आग्रह न करना चाहिये। पङ्क्ति शब्द नानार्थक है। क्रम से सन्निवेश में—ब्राह्मणपङ्क्तिः। पिपीलिकापङ्क्तिः। दश संख्या में पङ्क्तिरथः=दशरथः। छन्दविशेष में—जिसके पांच अक्षर एवं पञ्चपाद है उस छन्द को पंङ्क्तिच्छन्द कहते हैं। इसमें 'तदस्य' परिमाणम्' की अनुवृत्ति है। पङ्क्ति—पञ्चन् शब्द से तिप्रत्यय एवं अन् रूप टि संज्ञक का लोप है एवं चोः कुः से कुत्व है। पञ्च पदानि प्रमाणमस्य पङ्क्तिः=छन्दः। यहां पद शब्द पाद का पर्याय है। विंशति—द्वयोः दशतोः प्रमाणमस्य द्विदशत् को विन्भाव शति प्रत्यय एवं अपदत्व है। नकार का 'नश्चापदान्तस्य' से अनुस्वार है। कोई 'वि' भाव ही बोधन

कर अपदत्त प्रयुक्त अनुस्वार बोधन नहीं करते है। त्रिंशत्—त्रयाणां दशताम् निदशत् को त्रिन् भाव एवं शत् प्रत्यय। अन्यमत में 'त्रिं' भाव। त्रयोदशत परिमाणमस्य त्रिंशत्। चत्वारिंशत्—चतुर्दशन् को चत्वारिन् आदेश शत् प्रत्यय। पञ्चाशत्—पञ्चदशन् को पञ्चा आदेश शत् प्रत्यय। षष्टि—षण्णां दशताम् में षष्दशन् को षष् आदेश तिप्रत्यय। अपदत्त। ९८ दशत परिमाणम् अस्या षष्टि। सप्तति—सप्तदशन् से तिप्रत्यय सप्त आदेश सप्तति है। सप्तानां दशतां सप्तति। अष्टानां दशताम् अष्टादशन् को अशी आदेश तिप्रत्यय अशीति। नवानां दशतां नवदशन को नव आदेश तिप्रत्यय नवति। दशनां दशताम् में दशदशन् से तप्रत्यय प्रकृति को श आदेश शतम्। विंशति आदि शब्द संख्या एवं संख्येय अर्थ में एकवचनान्त ही है। विंशति=गाव। गवां विंशति। दशदशन आदि से सहस्र आदि शब्द भी इसी प्रकार निपातन से सिद्ध हो सकते है यह भी आचार्यो का मत है।

१७२६ पञ्चद्दशतौ वर्गे वा ५।१।६०।

पञ्च परिमाणमस्य पञ्चद्वर्ग।

वर्ग अर्थ में पञ्चद् एवं दशत् शब्द विकल्प से सिद्ध होने है। इन दोनों से डतिप्रत्यय होता है। डति में अत् अवशेष रहता है अन् टि का लोप होता है। पक्ष में 'संख्याया' सूत्र से कन् प्रत्यय से पञ्चक। दशक होता है।

१७२७ त्रिंशच्चत्वारिंशतोर्ब्राह्मणे संज्ञाया डण् ५।१।६२।

त्रिंशदध्याया परिमाणमेषा ब्राह्मणाना त्रैंशानि। चात्वारिंशानि ब्राह्मणानि।

ब्राह्मण विषय में संज्ञा होने पर षष्ठ्यर्थ परिमाण अर्थ में त्रिंशत् एवं चत्वारिंशत् से डण् प्रत्यय होता है। टिलोप से त्रैंशानि। चात्वारिंशानि।

१९२८ तदर्हति ५।१।६३।

'लब्धु योग्यो भवति' इत्यर्थे द्वितीयान्ताद् ठञादय स्यु। श्वेतच्छत्रम् अर्हति श्वैतच्छत्रिक।

इसको वह प्राप्त करने योग्य है इस अर्थ में द्वितीयान्त शब्द से ठञ होता है।

१७२९ छेदादिभ्यो नित्यम् ५।१।६४।

नित्यम् आभीक्ष्ण्यम्। छेद नित्यमर्हति छैदिको वेतस, छिन्नप्ररूढत्वात्। ॐविरागविरङ्गञ्चॐ। विराग नित्यमर्हति वैरागिक। वैरङ्गिक।

नित्यम् अर्हति इस अर्थ में द्वितीयान्त च्छेदादि से ठञ प्रत्यय होता है। बांस काटने पर वृद्धि गत होना है। छैदिक। द्वितीयान्त विराग एवं विरङ्ग से ठञ् प्रत्यय होता है।

१७३० शीर्षच्छेदाद् यच्च ५।१।६५।

शिरच्छेद नित्यमर्हति शीर्षच्छेद्य। शैर्षच्छेदिक। यट्ठको सन्नियोगेन शिरस शीर्षभावो निपात्यते।

नित्यम् अर्हति अर्थ में शीर्षच्छेद शब्द से यत् एवं ठक् प्रत्यय एवं इन दोनों प्रत्यय से पूर्व शिरस् के स्थान में शीर्ष आदेश होता है।

१७३१ दण्डादिभ्यो यत् ५।१।६६।

एभ्यो यत् स्यात्। दण्डम् अर्हति दण्ड्यः। अर्घ्यः। वध्यः।

द्वितीयान्त दण्डादि शब्दों से अर्हति अर्थ में यत्प्रत्यय होता है, दण्डम् अर्हति दण्ड्यः। अर्घ-मर्हति अर्घ्यः।

१७३२ पात्राद् घंश्च ५।१।६८।

चाद् यत् तदर्हति इत्यर्थे। पात्रियः। पात्र्यः।

द्वितीयान्त पात्र से अर्हतीत्यर्थ में घन् प्रत्यय एवं चकार से यत् प्रत्यय होता है। पात्रम् अर्हति पात्रियः।

१७३३ कडङ्करदक्षिणाच्छ च ५।१।६९।

चाद् यत्। कडं करोतीति विग्रहे अत एव निपातनात् खच्। कडङ्करम्= मापमुद्रादि काष्ठम् अर्हति इति कडङ्करीयो गौः। कडङ्कर्यः। दक्षिणाम् अर्हतीति दक्षिणीयः। दक्षिण्यः।

अर्हति अर्थ में द्वितीयान्त कडङ्कर शब्द एवं दक्षिणा शब्द से छप्रत्यय होता है। चकार से यत्। द्वितीयान्त कड शब्द से करोति अर्थ में कृ धातु तदन्त कड कृ से खच् प्रत्यय होता है मुमागम से इस सूत्र में निपातन करण से होकर कडङ्कर रूप हुआ। उससे छ ईयादेश। पक्ष में यत्। उड़द या मूंग का भूपारूप काठ को खाने वाला बैल।

१७३४ स्थालीबिलात् ५।१।७०।

स्थालीबिलम् अर्हति स्थालीबिलीयास्तण्डुलाः। स्थालीबिल्याः। पाक-योग्या इत्यर्थः।

द्वितीयान्त स्थालीबिल से छप्रत्यय होता है, पकाने योग्य चावल को स्थालीबिल्य कहते हैं।

१७३५ यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ ५।१।७१।

यथासङ्ख्यं स्तः। यज्ञम् ऋत्विजम् वा अर्हति यज्ञियः। आर्त्विजीनो यजमानः। ❀यज्ञर्त्विग्भ्यां तत्कर्मार्हतीत्युपसङ्ख्यानम्❀। यज्ञियो देशः आर्त्वि-जीन ऋत्विक्।

इत्यार्हीयाणां ठगादीनां द्वादशानां पूर्णोऽवधिः।

द्वितीयान्त यज्ञ एवं ऋत्विक् से यथाक्रम घ एवं खञ् होता है।

यज्ञ एवं ऋत्विक् से उस कर्म करने योग्य है उसे में प्रत्यय होते हैं। यज्ञ करने योग्य देश को यज्ञियः कहते हैं। ऋत्विक् प्राप्त करने योग्य यजमान को आर्त्विजीन कहते हैं।

पं० श्री बा० कृ० पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में आर्हीय प्रकरण समाप्त।



अथ ठञधिकारे कालाधिकारप्रकरणम्

अतः परं ठञेन ।

१७३६ पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति ५।१।७२।

पारायणं वर्तयति पारायणिकः = छात्रः । तुरायणम् = यज्ञविशेषस्तं वर्तयति तौरायणिको यजमानः । चान्द्रायणिकः ।

समर्थ द्वितीयान्त पारायण, तुरायण, एवं चान्द्रायण से वह सम्पादन करता है इस अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है । किसी ग्रन्थादिक का आदि से लेकर अन्त तक अध्ययन करना उसको पारायण कहते हैं, उसे सम्पन्न करने वाला छात्र को पारायणिक कहते है, ठञ् प्रत्यय आदि वृद्धि मसंज्ञा एकादेश, अकारलोप यद्यपि अध्ययन क्रिया सम्पादन में गुरु एवं शिष्य दोनों करण है, इन दोनों के बिना अध्ययन क्रिया की निष्पत्ति सम्भव नहीं है तो भी यहां शिष्य में ही प्रत्यय होता है गुरु में नहीं । यह विषय महाभाष्य में विस्तृत वर्णित है । तुरायण नामक यज्ञ को करने वाला यजमान को 'तौरायणिक' कहते है । चान्द्रायण नामक व्रत को करने वाले को चान्द्रायणिक कहते हैं । इस प्रकरण में ठञ् का ही अधिकार चलता है । उत्तरोत्तर सूत्रों में एवकार से ठक् की व्यावृत्ति हुई है ।

१७३७ संशयमापन्नः ५।१।७३।

संशयविषयीभूतोऽर्थः सांशयिकः ।

द्वितीयान्त संशयशब्द से प्राप्तिकर्ता अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है । एक विशेष्य में अनेक विशेषण विशिष्ट ज्ञान को संशय कहते है । स्थाणुर्वा पुरुषो वा यहां इदन्त्व से न ज्ञात वस्तु में स्थाणु त्वप्रकारक, पुरुषत्व प्रकारक ज्ञान द्वय भासमान है । संशययुक्त को सांशयिक कहते हैं ।

१७३८ योजनं गच्छति ५।१।७४।

यौजनिकः । ॐ क्रोशशतयोजनशतयोरुपसङ्ख्यानम् ॐ । क्रोशशतं गच्छति क्रौशशतिकः । यौजनशतिकः । ॐ ततोऽभिगमनमर्हतीति वक्तव्यम् । क्रोशशतादभिगमनमर्हतीति क्रौशशतिको भिक्षुः । यौजनशतिक आचार्यः ।

गमन कर्ता है इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ योजन शब्द से पर ठञ् प्रत्यय होता है योजनं गच्छति यौजनिक , ठञ् , आदि वृद्धि आदि कार्य हुए ।

द्वितीयान्त कोशशत एवं योजनशत शब्द से ठञ् प्रत्यय होता है । पञ्चम्यन्त कोशशत योजनशत से बुलाने योग्य है इस अर्थ में भी ठञ् होता है । विरागी त्यागी भिक्षु को कोशशत से बुलाने योग्य में क्रौशशतिक भिक्षु । योजनशत से आह्वान कर बुलाने योग्य आचार्य को यौजन-शतिक कहते हैं ।

१७३९ पथः ष्कन् ५।१।७५।

पो ङीषर्थः । पन्थानं गच्छति पथिकः । पथिकी ।

द्वितीयान्त पथिन् से गमनकर्ता है इस अर्थ में ष्कन् प्रत्यय होता है। स्त्रीलिङ्ग में ङीप् के लिए षकार अनुबन्ध है।

१७४० पन्थो ण नित्यम् ५।१।७६।

पन्थानं नित्यं गच्छति पान्थः । पान्था ।

द्वितीयान्त पथिन् शब्द से नित्य गमन कर्ता है इस अर्थ से णप्रत्यय होता है। पान्थः यहां पथः पन्थ यह आदेश होता है। कदाचित् गमन में पथिकः होता है। भाषा में नित्य ग्रहण का प्रत्याख्यान है कदाचित् गमन में भी पान्थः होता है।

१७४१ उत्तरपथेनाहृतञ्च ५।१।७७।

उत्तरपथेनाहृतम् औत्तरपथिकम् । उत्तरपथेन गच्छति औत्तरपथिकः । ॐ आहृतप्रकरणे वारिजङ्गलस्थलकान्तारपूर्वादुपसङ्ख्यानम् ॐ । वारिपथिकम् ।

आहृत = लाया गया इस अर्थ में एवं गमनकर्ता इस अर्थ में तृतीयान्त उत्तरपथ शब्द से ठञ् प्रत्यय होता है। अप्रत्ययान्त उत्तरपथ से ठञ् प्रत्यय हुआ, आदि वृद्धि आदि का कार्य से औत्तरपथिकम्। लाया गया इस अर्थ में तृतीयान्त वारिपूर्वक जङ्गलपूर्वक कान्तार पूर्व पथिन् से पर ठञ् प्रत्यय होता है। यथा वारिपथिकम्।

१७४२ कालात् ५।१।७८।

व्युष्टादिभ्योऽणित्यतः प्रागधिकारोऽयम् ।

व्युष्टादिभ्योऽण् सूत्र से पूर्व तक कालात् का अधिकार है। यहां काल पद से रूपग्रहण नहीं है। क्योंकि—'तमधीष्ट' सूत्र में अत्यन्त संयोग में द्वितीय निर्देश से। 'मासाद् वयसि' में मास का काल विशेषण बोधन है अतः स्वरूप का ग्रहण नहीं है।

१७४३ तेन निर्वृत्तम् ५।१।७९।

अह्ना निर्वृत्तम् आह्निकम् ।

तृतीयान्त समर्थ से सम्पादित अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। दिवस से निर्वृत्त कार्य में अहन् ठञ् आदि वृद्धि उपधा का आकारलोप 'अह्लोऽपोऽनः' से हुआ। यहां टिलोप न हुआ क्योंकि 'अह्नष्टखोरेव आह्निन इस सूत्र कृत नियम से। नित्यकर्म सन्ध्यावदनादिक को भी दिवस से सम्पादित कर्म आह्निक है।

१७४४ तमधीष्टो भृतो भूतो भावी ५।१।८०।

अधीष्टः = सत्कृत्य व्यापारितः । भृतः—वेतनेन क्रीतः । भूतः = स्वसत्तया व्याप्तकालः । भावी = तादृश एवानागतकालः । मासमधीष्टो मासिकोऽध्यायकः । मासं भृतो मासिकः कर्मकरः । मासं भूतो मासिको व्याधिः । मासं भावी मासिक उत्सवः ।

द्वितीयान्त से अधीष्ट, भृत भूत एवं भावी इन अर्थों में ठञ् प्रत्यय होता है सत्कारपूर्वक कार्य में नियोजित को अधीष्ट कहते हैं। वेतन आदि से खरीदा हुआ को भृत कहते हैं। स्वसत्ता द्वारा

व्याप्त काल को भूत कहते है। भविष्यत् काल को भावी कहते। मासिकः = अध्यापकः। मासिकः कर्मकरः। मासिको व्याधिः मासिकः उत्सवः।

१७४५ मासाद् वयसि यत्खञौ ५।१।८१।

मासं भूतो मास्यः। मासीनः।

वयः अर्थ में द्वितीयान्त मास से यत् एवं खञ् प्रत्यय होता है। मास्यः। मासीनः।

१७४६ द्विगोर्यप् ५।१।८२।

मासाद् वयसीत्यनुवर्तते। द्वौ मासौ भूतो द्विमास्यः।

मासान्त द्विगु समास से वयः अर्थ में यप् प्रत्यय होता है। द्विमास्यः।

१७४७ षण्मासाण्ण्यच्च ५।१।८३।

वयसीत्येव। यबप्यनुवर्तते। चाट्ठञ्। षण्मास्यः। षाण्मास्यः। षाण्मासिकः।

षण्मास शब्द से वय अर्थ में ण्यत् होता है, चकार से ठञ्, एवं यप् भी होता है।

१७४८ अवयसि ठंश्च ५।१।८४।

चाण्ण्यत्। षण्मासिको व्याधिः। षाण्मास्यः।

वयः भिन्न अर्थ में षण्मास के उत्तर में ठन् प्रत्यय होता है। एवं ण्यत् भी होता है। व्याधि अर्थ में षण्मासिकः। पक्ष में ण्यत् षाण्मास्यः।

१७४९ समायाः खः ५।१।८५।

समामधीष्टो भृतो भूतो भावी वा समीनः।

द्वितीयान्त समासे खप्रत्यय होता है, भृत भूत एवं भावी अर्थ में।

१७५० द्विगोर्वा ५।१।८६।

समायाः [illegible] इत्येव। तेन परिजय्येत्यतः प्राक् निर्वृत्तादिषु पञ्चस्वर्थेषु प्रत्ययाः। द्विसमीनः। द्वैसमिकः।

समान्त द्विगु से पर खप्रत्यय होता है। तेन परिजय्य सूत्र के पूर्व तक निर्वृत्त आदि पाँच अर्थों में समस्त प्रत्यय होते हैं।

१७५१ रात्र्यहः संवत्सराच्च ५।१।८७।

द्विगोरित्येव। द्विरात्रीणः। द्वैरात्रिकः। द्व्यहीनः। द्वैयह्निकः। समासान्तविधेरनित्यत्वान्न टच्। द्विसंवत्सरीणः।

रात्रि, अहन्, संवत्सर ये है अन्त में जिसको ऐसा द्विगु से पर खप्रत्यय एवं ठञ् प्रत्यय होता है। यहाँ 'रात्रान्ह' सूत्र से टच् समासान्त प्रत्यय अनित्य होने से न हुआ।

१७५२ सङ्ख्यायाः संवत्सरसङ्ख्यस्य च ७।१।१५।

संख्याया उत्तरपदस्य वृद्धिः स्यात् ञिदादौ। द्विसांवत्सरिकः। द्वे षष्ठी भृतो द्विषाष्टिकः। संख्यायाः परिमाणान्तस्येत्येव सिद्धे संवत्सरग्रहणं परिमाणग्रहणे कालपरिमाणस्याग्रहणार्थम्। तेन 'द्वैसमिकः' इत्युत्तरपदवृद्धिर्न।

ञित् णित् कित् तद्धित पर रहने द्विगु में संख्यावाचक से पर शब्द के आदि अच् की वृद्धि होती है। परिमाणान्तस्य से ही संवत्सर के आदि अच् की वृद्धि होती तो भी यहां संवत्सर ग्रहण क्यों किया? वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि - परिमाण से कालरूप परिमाण का ग्रहण नहीं होता है। अतः 'द्वैसमिकः' में उत्तरपद के आदि अच् की वृद्धि न हुई।

१७५३ वर्षाल्लुक् च ५।१।८८।

वर्षशब्दान्ताद् द्विगोर्वा खः। पक्षे ठञ् वा च लुक्। त्रीणि रूपाणि। द्विवर्षीणो व्याधिः। द्विवार्षिकः। द्विवर्षः।

वर्षशब्दान्त द्विगु से विकल्प खप्रत्यय होता है। पक्ष में ठञ् उसका विकल्प से लुक् होता है। तीन रूप हुए—ख, ठञ्, लुक् युक्त।

१७५४ वर्षस्याभविष्यति ७।३।१६।

उत्तरपदस्य वृद्धिः। द्विवार्षिकः। भविष्यति तु द्वैवर्षिकः। अधीष्टभृतयोरभविष्यतीति प्रतिषेधो न, गम्यते हि तत्र भविष्यत्ता न तु तद्धितार्थः। द्वे वर्षे अधीष्टो भृतो वा कर्म करिष्यतीति द्विवार्षिको मनुष्यः।

भविष्यद् भिन्न अर्थ में उत्तरपदस्थ वर्ष के आदि अच् की वृद्धि होती है। द्विवार्षिकः। भविष्यद् अर्थ में द्वैवर्षिकः। भविष्यत् में नहीं यह निषेध अधीष्ट एवं भृत अर्थ में नहीं लगता है, उक्त स्थल में यथाकथञ्चित् भविष्यत्ता की प्रतीति होने पर भी वह तद्धितार्थ नहीं है।

परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः

द्वौ कुडवौ प्रयोजनमस्य द्विकौडविकः। द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतं द्विसौवर्णिकम्। द्विनैष्किकम्। असंज्ञेत्यादि किम्, पञ्च कलापाः परिमाणमस्य पाञ्चकलापिकम्। तद्धितान्तः संज्ञा। द्वैशाणम्। कुलिजशब्दमपि केचित् पठन्ति। द्वैकुलिजकः।

असंज्ञा तथा शाण उत्तर में न रहे वहां परिमाण वाचक शब्द के आदि अच् की अर्थात् उत्तरपद की वृद्धि होती है। द्विसौवर्णिकम्। संज्ञा में पाञ्चकलापिकम्। तद्धितान्त शब्द ही संज्ञाभूत है। द्वैशाणम्। कोई-कोई इस सूत्र में कुलिज का भी पाठ पढ़ता है।

१७५५ चित्तवति नित्यम् ५।१।८९।

वर्षशब्दान्ताद् द्विगोः प्रत्ययस्य नित्यं लुक् स्यात् चेतने प्रत्ययार्थे। द्विवर्षो दारकः।

यदि प्रत्ययार्थ चेतन पदार्थ हो तो द्विगु समास संज्ञक वर्षान्त प्रातिपदिक से उत्तर तद्धित प्रत्यय का नित्यम्। लुक् होता है। द्विवर्षो दारकः = पुत्रः।

१७५६ षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते ५।१।९०।

बहुवचनमतन्त्रम्। षष्टिको धान्यविशेषः। तृतीयान्तात् कन् रात्रशब्दलोपश्च निपात्यते।

६० रात्रि में पक कर तैयार होनेवाला इस अर्थ में षष्टिरात्र शब्द जो तृतीयान्त है उससे कन् एवं रात्र का लोप होकर षष्टिक = साठी का धान। यहां बहुवचन अविवक्षित है।

१७५७ तेन परिजय्यलभ्यकार्यसुकरम् ५।१।९३।

मासेन परिजय्यो जेतुं शक्यो मासिको व्याधिः। मासेन लभ्यं कार्यं सुकरं वा मासिकम्।

तृतीयान्त पद से उत्तर ठञ् प्रत्यय होता है जीतने के लिए शक्य अर्थ लभ्य, कार्य, एवं सुकर इन अर्थों में।

१७५८ तदस्य ब्रह्मचर्यम् ५।१।९४।

द्वितीयान्तात् कालवाचिनोऽस्येत्यर्थे प्रत्ययः स्यात्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। मासं ब्रह्मचर्यम् अस्य स मासिको ब्रह्मचारी। अर्द्धमासिकः। यद्वा, प्रथमान्तादस्येत्यर्थे प्रत्ययः। मासोऽस्येति मासिकं ब्रह्मचर्यम्। ❀ महानाम्न्यादिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्य उपसङ्ख्यानम् ❀। महानाम्न्यो नाम विदामघवन्नित्याद्या ऋचः। तासां ब्रह्मचर्यमस्य महानाम्निकः। हरदत्तस्तु 'भस्याढे' इति पुंवद्भावान्माहानामिक—इत्याह। ❀ चतुर्मासाण्ण्यो यज्ञे तत्र भव इत्यर्थे ❀। चतुर्षु मासेषु भवन्ति चातुर्मास्यानि यज्ञकर्माणि। ❀ संज्ञायामण् ❀। चतुर्षु मासेषु भवति चातुर्मासी आषाढी = पौर्णमासी। अणन्तत्वान्ङीप्।

ब्रह्मचर्य अर्थ में द्वितीयान्त कालवाचक प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। यहां द्वितीया 'कालाध्वनो' से अत्यन्त संयोग में हुई है। मास पर्यन्त लगातार ब्रह्मचर्यवाला मासिक। १५ दिन पर्यन्त अस्खलित ब्रह्मचर्य युक्त जो है वह अर्धमासिक। अथवा प्रथमान्त कालवाचक प्रातिपदिक से 'अस्य' = षष्ठ्यर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। मासोऽस्येति मासिकं ब्रह्मचर्यम्। * षष्ठ्यन्त महानाम्नी आदि से ठञ् प्रत्यय होता है। विदामघवन् आदि ऋचाओं को महानाम्नी कहते हैं। तासां ब्रह्मचर्यम् अस्य महानामिकः। यहां महानाम्नी। आचार्य हरदत्त कहते हैं कि 'भस्याढे' से पुंवद्भाव करके महानामिक रूप होता है। *चतुर्मासाण्ण्यो यज्ञे तत्र भव इत्यर्थे*। इस वार्तिक से ण्यप्रत्यय कर चातुर्मास्यानि होता है। वार्तिकार्थ —सप्तम्यन्त से भव अर्थ में यज्ञ में चतुर्मास से ण्य प्रत्यय होता है। * संज्ञा होने पर अण् प्रत्यय एवं अण् प्रत्ययान्त में स्त्रीलिङ्ग में ङीप् हुआ है।

१७५९ तस्य च दक्षिणा यज्ञाख्येभ्यः ५।१।९५।

द्वादशाहस्य दक्षिणा द्वादशाहिकी। आख्याग्रहणादकालादपि। आग्निष्टोमिकी। वाजपेयिकी।

उसकी दक्षिणा इस अर्थ में यज्ञसंज्ञक शब्द से पर ठञ् प्रत्यय होता है। आख्याग्रहण से काल—वाचक उत्तर में जहां नहीं वहां भी ठञ् प्रत्यय होता है। यथा आग्निष्टोमिकी आदि।

१७६० तत्र च दीयते कार्यं भववत् ५।१।९६।

प्रावृषि दीयते कार्यं वा प्रावृषेण्यम्। शारदम्।

इति कालाधिकारस्य पूर्णोऽवधिः।

सप्तम्यन्त से दानकर्म रूप अर्थ में कार्य प्रतीयमान रहे तब जिनसे जो प्रत्यय भव अर्थ में हुए हैं वे इस अर्थ में भी होंगे। यथा—एण्य प्रत्यय प्रावृट् से भव में विहित वह दीयते कार्यं में सप्तम्यन्त प्रावृट् से हुआ प्रावृषेण्यः। शरद् से अण् 'सन्धिवेला'से भवार्थ में विहित है वह यहाँ दीयते कार्यम् में हुआ। शारदम्।

पं० श्री बालकृष्ण पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में ठञ् के अधिकार में कालाधिकार समाप्त।

अथ ठञधिकारप्रकरणम्

१७६१ व्युष्टादिभ्योऽण् ५।१।९७।

व्युष्टे दीयते कार्यं वा वैयुष्टम्। व्युष्ट, तीर्थ, सग्राम प्रवास इत्यादि।

सप्तम्यन्त व्युष्टादिगणपठित शब्दों से पर दीयते कार्यम् अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। व्युष्ट कहते हैं प्रभात मुख को, प्रात काल के कुछ पूर्व समय को। 'उष् विवासे' विवास = समाप्ति — रात्रि की समाप्ति एव प्रात काल का उदय। निष्ठा प्रत्यय क्त है वि उष् यण् व्युष्ट यहा अण् प्रत्यय कर आदि वृद्धि को बाधकर ऐच से वैयुष्टम्। कोषकार ने वस् को अनेकार्थक मान कर एव इडागम को अनित्य मानकर व्युष्ट को जो सिद्धि की है वह पक्ष असङ्गत है। एव क्लिष्ट है इति श्रीपद्मोक्तिः।

१७६२ तेन यथाकथाचहस्ताभ्यां णयतौ ५।१।९८।

यथाकथाचेत्यव्ययसघातात् तृतीयान्ताद् हस्तशब्दाच्च यथासख्य णयतौ स्त.। ॐ अर्थाभ्या तु यथासङ्ख्य नेष्यते ॐ। यथाकथाच दीयते कार्यं वा याथाकथाचम्। अनादरेण देय कार्यं चेत्यर्थ। हस्तेन दीयते कार्यं वा हस्त्यम्।

'यथा कथा च' इस अव्यय सघात से कृतर एव तृतीयान्त हस्त शब्द से दीयते कार्यम् अर्थ में क्रमश ण एव यत् प्रत्यय होता है। यहा प्रत्ययो में यथासख्य है, अर्थद्वय में यथासख्य नहीं है अत उभय अर्थ में प्रत्येक से प्रत्यय होता है। अनादरपूर्वक दानकर्म में याथाकथाचम्। हस्त से दानकर्म में हस्त्यम्।

१७६३ सम्पादिनि ५।१।९९।

ठञ् तेनेत्येव। कर्णवेष्टकाभ्या सपादि कार्णवेष्टकिक मुखम्। कर्णालङ्काराभ्यामवश्य शोभते इत्यर्थ।

उसके द्वारा सम्पादित यह अर्थ होने पर ठञ् प्रत्यय होता है। मुख एव दोनों कान अवश्य सुशोभित अलङ्कार से होते हैं इस अर्थ में कार्णवेष्टकिकम् हुआ।

१७६४ कर्मवेषाद्यत् ५।१।१००।

कर्मणा सम्पादि कर्मण्य शौर्य्यम्। वेषेण सम्पादि वेष्यो नट। वेष = कृत्रिम आकारः।

उससे सम्पादित अर्थ में तृतीयान्त कर्म एव वेष से यत् प्रत्यय होता है। कर्मण्यम्। वेष्य। कृत्रिम आकार को वेष कहते। बनावटी क्रिया से सम्पन्न को कृत्रिम कहते हैं।

१७६५ तस्मै प्रभवति सन्तापादिभ्यः ५।१।१०१।

सन्तापाय प्रभवति सान्तापिक। साग्रामिक।

चतुर्थ्यन्त सन्तापादि शब्दों से तस्मै प्रभवति = इस कार्य के लिए वह समर्थ है इस अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। सग्रामाय प्रभवति साग्रामिक.।

१७६६ योगाद्यच्च ५।१।१०२।

चाट्ठञ्। योगाय प्रभवति योग्यः। यौगिकः।

'तस्मै प्रभवति' इस अर्थ में चतुर्थ्यन्त योग से यत् प्रत्यय एवं चकार से ठञ् प्रत्यय होता है।

१७६७ कर्मण उकञ् ५।१।१०३।

कर्मणे प्रभवति कार्मुकम्।

तस्मै प्रभवति इस अर्थ में चतुर्थ्यन्त कर्मन् से उकञ् प्रत्यय होता है। कर्म करने के लिए समर्थ कार्मुकम्।

१७६८ समयस्तदस्य प्राप्तम् ५।१।१०४।

समयः प्राप्तोऽस्य सामयिकम्।

प्रथमान्त समर्थ समयशब्द से षष्ठ्यर्थ गम्य रहे प्राप्ति कर्म अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। इस कार्य करने का समय सम्प्राप्त हुआ वहां सामयिकम्।

१७६९ ऋतोरण् ५।१।१०५।

ऋतुः प्राप्तोऽस्य आर्तवम्।

प्रथमान्त ऋतु से अस्य प्राप्त = इसकी प्राप्ति कर्ता इस अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।

१७७० कालाद्यत् ५।१।१०७।

कालः प्राप्तोऽस्य काल्यं शीतम्।

प्रथमान्त काल शब्द से अस्य प्राप्तम् अर्थ में यत् प्रत्यय होता है।

१७७१ प्रकृष्टे ठञ् ५।१।१०८।

कालादित्येव। तदस्येति च। प्रकृष्टो दीर्घः कालोऽस्येति कालिकं वैरम्।

प्रथमान्त काल से दीर्घ अर्थ में 'अस्य' = षष्ठ्यर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है।

१७७२ प्रयोजनम् ५।१।१०९।

तदस्येत्येव। इन्द्रमहः प्रयोजनमस्य ऐन्द्रमहिकम्। प्रयोजनम् = फलम्, कारणञ्च।

प्रथमान्त से अस्य प्रयोजन अर्थ में ठञ् होता है। फल या कारण को प्रयोजन कहते हैं।

१७७३ विशाखाषाढादण् मन्थदण्डयोः ५।१।११०।

आभ्यामण् स्यात् प्रयोजनमित्यर्थे क्रमात् मन्थदण्डयोरर्थयोः। विशाखा प्रयोजनमस्य वैशाखो मन्थः। आषाढो दण्डः। ॐ चूडादिभ्य उपसङ्ख्यानम् ॐ। चूडा चौडम्। श्रद्धा श्राद्धम्।

प्रथमान्त विशाखा एवं आषाढा से अस्य प्रयोजन इसका यह फल इस अर्थ में क्रमशः मन्थ एवं दण्ड अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।

प्रथमान्त चूडा आदि से भी अस्य प्रयोजन में अण् प्रत्यय होता है।

१७७४ अनुप्रवचनादिभ्यश्छः ५।१।१११।

अनुप्रवचनं प्रयोजनमस्य अनुप्रवचनीयम् ।

अस्य प्रयोजनम् अर्थ में अनुप्रवचनादि से छ प्रत्यय होता है।

१७७५ समापनाद् सपूर्वात् ५।१।११२।

व्याकरण समापन प्रयोजनमस्य व्याकरणसमापनीयम् ।

अस्य प्रयोजन अर्थ में सपूर्वक समापनशब्दान्त प्रातिपदिक से [illegible] प्रत्यय होता है ।

१७७६ ऐकागारिकट् चौरे ५।११३।

एकम्=असहायम् अगारम्=गृहम् अस्य=मुमुषिषोः [illegible] ऐकागारिकः=चौरः ।

अस्य प्रयोजन अर्थ में एकागार शब्द से चोर अर्थ में ठञ् प्रत्यय टकार अनुबन्ध युक्त होता है। अर्थात् टित्त्वाभाव में टित्त्वातिदेश बोधन से टित् प्रयुक्त स्त्रीलिङ्ग में ङीप्। जिस गृह में अन्य कोई नहीं ऐसा सुनसान मकान तस्कर के लिए उपादेय होता है वहां सुगमता से चोर घुसकर चोरी करता है ।

१७७७ आकालिकडाद्यन्तवचने ५।१।११४।

समानकालावाद्यन्तौ यस्येत्याकालिक । समानकालस्य आकाल आदेशः । आशुविनाशीत्यर्थ । पूर्वदिने मध्याह्नादावुत्पद्य दिनान्तरे तत्रैव नश्वर इति वा । ॐ आकालाट् ठञ्च ॐ । आकालिका विद्युत् ।

इति प्राग्वतीयस्य ठञः पूर्णोऽवधिः ।

आदि एव अन्त समान होने पर समानकाल शब्द से पर ठञ् प्रत्यय होता है। एवं समान काल के स्थान में आकाल आदेश होता है। एव टकार अनुबन्ध अन्त में है। समानकालौ आद्यन्तौ यस्य आकालिकः=शीघ्रविनाशशीलः। पूर्वदिन के मध्याह्न में उत्पन्न होकर दूसरे दिन के ठीक मध्याह्न में नष्ट को भी 'आकालिक' कहते है। आकाल शब्द से भी ठञ् प्रत्यय होता है। आकालिका विद्युत् ।

प० श्री बा० कृ० पञ्चोलिविरचित रत्नप्रभा में ठञधिकार समाप्त ।



अथ भावकर्मार्थकप्रकरणम्

१७७८ तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः ५।१।११५।

ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मणवदधीते। क्रिया चेदिति किम्, गुणतुल्ये मा भूत्। पुत्रेण तुल्यः स्थूलः।

तृतीयान्तात् से तुल्य अर्थ में वत् प्रत्यय होता है जो तुल्य है वह क्रिया रहे तब। जिस प्रकार ब्राह्मण अध्ययन करता है उसी प्रकार क्षत्रियादि अध्ययन करते हैं उसमें वति प्रत्यय तृतीयान्त ब्राह्मण से हुआ। क्रियाकृत सादृश्य में ही। अर्थात् गुणकृत सादृश्य में वति नहीं, वहां वाक्य ही रहता है।

१७७९ तत्रतस्येव ५।१।११६।

मथुरायामिव मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः। चैत्रस्येव चैत्रवन्मैत्रस्य गावः।

सप्तम्यन्त एवं षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से इव = सदृश अर्थ में वतिप्रत्यय होता है। मथुरा के सदृश कीला स्रुघ्न में है। चैत्र की गाय के समान मैत्र की गाय है। उभयत्र वति हुआ।

१७८० तदर्हम् ५।१।११७।

विधिम् अर्हति विधिवत् पूज्यते। क्रियाग्रहणं मण्डूकप्लुत्याऽनुवर्तते। तेनेह न, राजानम् अर्हति च्छत्त्रम्।

द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'अर्हति' अर्थ में वत् प्रत्यय होता है। क्रिया कृत सादृश्य रहे तब इसकी प्रवृत्ति होती है। क्रिया का विच्छेद पूर्व में था किन्तु यहां मण्डूकप्लुति से अनुवृत्ति होती है। मेढक कूद कूद कर चलते हैं बीच को भूमि को कुछ छोड़ देते हैं तथैव अनुवृत्ति को मण्डूकगति = प्लुति कहते हैं। राजा को छत्त्र योग्य है, वहां वति न हुआ, वाक्य ही रहा।

१७८१ तस्य भावस्त्वतलौ ५।१।११९।

प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः। गोर्भावो गोत्वम्। गोता। त्वान्तं क्लीबम्। तलन्तं स्त्रियाम्।

षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से भाव अर्थ में त्वप्रत्यय एवं तल् प्रत्यय होता है त्वप्रत्ययान्त नपुंसक एवं तल् प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग होता है। प्रत्यय की जो प्रकृति उससे प्रतीयमान अर्थ में विशेषणीभूत अर्थ को भाव कहते हैं। गोत्वाश्रय गोपदार्थ है उसमें आश्रय अर्थ में विशेषणता से भासमान जातिरूप अर्थ को त्व एवं तल् कहते हैं।

१७८२ आ च त्वात् ५।१।१२०।

'ब्राह्मणस्त्वः' इत्यतः प्राक् त्वतलावधिक्रियेते। अपवादैः सह समावेशार्थं गुणवचनादिभ्यः कर्मणि विधानार्थं चेदम्। चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि समावेशार्थः। स्त्रिया भावः स्त्रैणम्। स्त्रीत्वम्। स्त्रीता। पौंस्नम्। पुंस्त्वम्। पुंस्ता।

'ब्राह्मणस्त्वः' इस के पूर्व तक त्व एवं तल् का अधिकार है। अपवाद भूतप्रत्यय के विषय में भी इसका अधिकार होने से अपवाद के अभाव पक्ष में त्व एवं तल् इनका भी समावेश होता है।

अधिकार के अभाव में अपवाद विषय में इनकी अनुपस्थिति होती, निराकाङ्क्ष होने के कारण से। एवं गुणवाचक से कर्म में त्व एवं तल् विधान के लिए भी अधिकार आवश्यक है। सूत्र में चकार से नञ् स्नञ् का भी समावेश है। अतः तीन रूप हुए। यथा स्त्रैणम्। स्त्रीत्वम्। स्त्रीता। पौंस्नम्। पुंस्त्वम्। पुंस्ता।

१७८३ न नञ्पूर्वात् तत्पुरुषादचतुरसङ्गतलवणवटयुधकतरसलसेभ्यः ५।१।१२१।

इत ऊर्ध्वं ये भावप्रत्ययास्ते नञ्तत्पुरुषान्न स्युश्चतुरादीन् वर्जयित्वा। अपतित्वम्। अपटुत्वम्। नञ्पूर्वात् किम्, बार्हस्पत्यम्। तत्पुरुषात् किम्, नास्य पटवः सन्तीत्यपटु, तस्य भाव आपटवम्। अचतुरेति किम्, आचातुर्यम्। आसङ्गत्यम्। आलवण्यम्। आवट्यम्। आयुध्यम्। आकत्यम्। आरस्यम्। आलस्यम्।

इस सूत्र के बाद जो भाव प्रत्यय कहे जायेंगे वे नञ् तत्पुरुष से नहीं होते हैं किन्तु चतुर, लवण, सङ्गत, वट, युध, कत, रस, लस एतदन्त नञ् तत्पुरुष में होते हैं। अपतित्वम्, यहां 'पत्यन्त' से यक् न हुआ। अपटुत्वम्, इगन्ताच्च लघुपूर्वात् से अण् न हुआ। आचातुर्यम् में ब्राह्मणादित्व के कारण ष्यञ् हुआ।

नञ् तत्पुरुष न होने से यक प्रत्यय बार्हस्पत्यम् में हुआ। बहुव्रीहि अपटु से अण् वृद्धि गुण अवादेश आपटवम्। अचतुरादि कहने से ष्यञ् से आचातुर्यम् आदि में सर्वत्र ष्यञ् हुआ है।

१७८४ पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा ५।१।१२२।

वावचनम् अणादिसमावेशार्थम्।

पृथ्वादिगणपठित शब्द से भाव अर्थ में इमनिच् प्रत्यय विकल्प से होता है। वा ग्रहण सूत्र में अण् आदि प्रत्ययों के समावेशार्थ है।

१७८५ ऋतो हलादेर्लघोः ६।४।१६१।

हलादेर्लघोर्ऋकारस्य रः स्यात् इष्ठेमेयस्सु।

इष्ठन्, इमन् एवं ईयसुन् प्रत्यय पर रहते हल् अक्षर आदि में है जिसके ऐसा ह्रस्व ऋकार को रेफादेश होता है।

१७८६ टेः ६।४।१५५।

भस्य टेर्लोपः स्याद् इष्ठेमेयस्सु।

पृथोर्भावः प्रथिमा। पार्थवम्। म्रदिमा। मार्दवम्।

इष्ठन् इमन् ईयसुन् पर रहते भसञ्ज्ञक शब्द की टि का लोप होता है। भाव अर्थ में षष्ठ्यन्त पृथु से पर इमनिच् रकारादेश उकार लोप प्रथिमन् का प्रथमा एकवचन में प्रथिमा। अण् पक्ष में पार्थवम्। म्रदिमा। मार्दवम्।

१७८७ वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च ५।१।१२३।

चादिमनिच्। शौक्ल्यम्। शुक्लिमा। दार्ढ्यम्। ॐ पृथुमृदुभृशकृशदृढपरिवृढानामेव रत्वम् ॐ। द्रढिमा। षो ङीषर्थः। औचिती। याथाकामी।

षष्ठ्यन्त वर्णवाचक शब्द एवं दृढादि शब्द इनसे भाव अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय होता है। शुक्लस्य भावः शौक्ल्यम्। इमनिच् शुक्लिमा। दृढस्य भावः दार्ढ्यम्। वार्तिककार परिगणन करते हैं कि वार्तिक में पठित शब्दों के ऋकार को रादेश होता है, अन्यत्र नहीं। ष्यञ् में षकार ङीषर्थ है। औचिती यहां ष्यञ् प्रत्यय कर हलस्तद्धितस्य से यलोप ङीष् औचिती याथाकाम्य ङीष् यलोप याथाकामी। वैयातलाममतिमनःशारदानाम्। वि से उत्तर इन शब्दों से ष्यञ् प्रत्यय होता है। वियात्यम्। वियातता आदि। इगन्त से अण् भी होता है—वैमतम्। 'समो मतिमनसोः'। सम् से पर मति एवं मनस् से ष्यञ् होता है। संमतित्वम्। संमतिता।

१७८८ गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ५।१।१२४।

चाद्भावे। जडस्य कर्म भावो वा जाड्यम्। मूढस्य भावः कर्म वा मौढ्यम। ब्राह्मण्यम। ॐ अर्हतो नुम च। ॐ अर्हतो भावः कर्म वा आर्हन्त्यम्। आर्हन्ती। ब्राह्मणादिराकृतिगणः।

षष्ठ्यन्त गुण वाचक शब्द एवं ब्राह्मणादि शब्द से भाव एवं कर्म में ष्यञ् प्रत्यय होता है। कर्म पद से क्रिया एवं कार्य का बोध करना। शरीर आयास मात्र साध्य जो शौचादि उसको क्रिया कहते हैं। शास्त्र से विहित यागादि को कार्य कहते हैं। यही क्रिया एवं कार्य का भेद है। शीत उष्ण आदि का बोध जिससे हो उसे गुणवचन कहते हैं। षष्ठ्यन्त अर्हन् से नुम् एवं ष्यञ् प्रत्यय होता है। आर्हन्त्यम्। स्त्रीलिङ्ग में ङीष् यकार लोप आर्हन्ती। ब्राह्मणादि आकृतिगण है।

१७८९ यथातथायथापुरयोः पर्य्यायेण ७।३।३१।

नञः परयोरेतयोः पूर्वोत्तरपदयोः पर्य्यायेणादेरचो वृद्धिर्ञिदादौ। अयथातथाभावः=आयथातथ्यम्। अयथातथ्यम। आयथापुर्य्यम्। अयथापूर्यम। आपादसमाप्ते भावकर्माधिकारः। ॐ चतुर्वर्णादीनां उपसङ्ख्यानम् ॐ। चत्वारो वर्णाश्चातुर्वर्ण्यम्। चातुराश्रम्यम्। त्रैस्वर्यम। षाड्गुण्यम्। सैन्यम्। सान्निध्यम्। सामीप्यम्। औपम्यम्। त्रैलोक्यम, इत्यादि। सर्वे वेदाः सर्ववेदास्तान अधीते सर्ववेदः 'सर्वादेः' इति लुक् स एव सार्ववैद्यः। ॐ चतुर्वेदस्योभयपदवृद्धिश्च ॐ। चतुरो वेदान् अधीते चतुर्वेदः, स एव चातुर्वैद्यः। 'चतुर्विद्यस्य' इति पाठान्तरम, चतुर्विद्य एव चातुर्विद्यः।

नञ् से पर यथातथ एवं यथापुर इनके पर्याय से पूर्वपद एवं उत्तरपद के आदि अच् की वृद्धि होती है ञिदादि तद्धित प्रत्यय पर रहते। तृतीय पाद की समाप्ति तक भाव एवं कर्म का अधिकार है। * चतुर् वर्णादि शब्दों से स्वार्थ में=प्रकृत्यर्थ में ष्यञ् होता है। चातुर्वर्ण्यम्। सर्ववेदान् अधीते इसमें 'सर्वादेः' से अध्ययनार्थक प्रत्यय का 'सर्वादेः' से लुक् हुआ है स्वार्थ में ष्यञ्। चतुर्वेद से ष्यञ् उभयपद के आदि अच् की वृद्धि चतुर्वेदः। तद्धितार्थे द्विगुः द्विगोर्लुगनपत्ये से अण् का लुक्। चातुर्विद्यः विद्यान्त लक्षण ठक् उसका लुक्।

१७९० स्तेनाद्यन्न लोपश्च ५।१।१२५।

नेति संघातग्रहणम। स्तेन चौर्ये पचाद्यच्। स्तेनस्य भावः कर्म वा

स्तेयम्। स्तेनादिति योग विभज्य 'स्तैन्यम्' इति ष्यञन्तमपि केचिदिच्छन्ति।

षष्ठयन्त स्तेन शब्द से भाव एवं कर्म अर्थ में यत् प्रत्यय होता है एवं 'न' सम्पूर्ण का लोप होता है। अच् प्रत्ययान्त तस्कर अर्थ में स्तेन शब्द है। उसमे भाव एवं कर्म में यत् होता है। स्तेयम्। 'स्तेनात्' इतने अंश का योगविभाग कर ष्यञ् की अनुवृत्ति से स्तेन से ष्यञ् भी होता है। स्तैन्यम्। ऐसा भी प्रयोग होता है ऐसी कुछ लोग इच्छा करते हैं।

१७९१ सख्युर्यः ५।१।१२६।

सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम्। ❀ दूतवणिग्भ्यां च ❀। दूतस्य भावः कर्म वा दूत्यम्। वाणिज्यम् इति काशिका। माघवस्तु वणिज्याशब्दः स्वभावात्स्त्रीलिङ्ग। भाव एवाय प्रत्ययो न तु कर्मणीत्याह। भाष्ये 'दूतवणिग्भ्याम्' इति नास्त्येव। ब्राह्मणादित्वाद् वाणिज्यमपि।

षष्ठयन्त सखि से पर भाव एवं कर्म अर्थ में य प्रत्यय होता है। सख्यम्। षष्ठयन्त दूत एवं वणिक् से य प्रत्यय भाव एवं कर्म में होता है। माधवाचार्य वणिज्या शब्द शब्दशक्ति स्वभाव से ही स्त्रीलिङ्ग है इससे भाव में ही प्रत्यय होता है, कर्म में नहीं। भाष्यमत में 'दूतवणिग्भ्याम्' नहीं है। ब्राह्मणादित्व प्रयुक्त ष्यञ् से 'वाणिज्यम्' होता है।

१७९२ कपिज्ञात्योर्ढक् ५।१।१२७।

कापेयम्। ज्ञातेयम्।

षष्ठयन्त कपि एवं ज्ञाति से ढक् प्रत्यय होता है भाव एवं कर्म अर्थ में। कपेः भाव कर्म वा कापेयम्। ज्ञातेयम्।

१७९३ पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ५।१।१२८।

सैनापत्यम्। पौरोहित्यम्। ❀ राजाऽसे ❀। राजशब्दोऽसमासे यकं लभत इत्यर्थः। राज्ञो भावः कर्म वा राज्यम्। समासे तु ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्। आधिराज्यम्।

षष्ठयन्त पतिशब्दान्त एवं पुरोहितादि से भाव एवं कर्म अर्थ में यक् प्रत्यय होता है असमास में। राजन् शब्द यक् को प्राप्त करता है, भाव ए० कर्म में। समास में ब्राह्मणादित्व प्रयुक्त ष्यञ् होता है।

१७९४ प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् ५।१।१२९।

प्राणभृज्जाति—आश्वम्। औष्ट्रम्। वयोवचन—कौमारम्। कैशोरम्। औद्गात्रम्। औन्नेत्रम्। सौष्ठवम्। दौष्ठवम्।

प्राणधारण कर्त्री जातिवाचक शब्द से वयोवाचक से एवं उद्गात्रादि से भाव एवं कर्म में अञ् प्रत्यय होता है।

१७९५ हायनान्तयुवादिभ्योऽण् ५।१।१३०।

द्वैहायनम्। त्रैहायनम्। यौवनम्। स्थाविरम्। ❀ श्रोत्रियस्य यलो-

पञ्च ॐ। श्रोत्रम् । • कुशलचपलनिपुणपिशुनकुतूहलक्षेत्रज्ञा युवादिषु ब्राह्मणादिषु च पठ्यन्ते । कौशल्यम् । कौशलम् ।

हायन शब्द है अन्त में जिसको ऐसे शब्द युवादि शब्द से भाव एवं कर्म में अण् प्रत्यय होता है। श्रोत्रिय शब्द से भाव एवं कर्म में अण् प्रत्यय होता है एवं यकार लोप से श्रौत्रम् । कुशलादि शब्द युवादि में एवं ब्राह्मणादि में पठित हैं। अतः इनसे अण् एवं ष्यञ् होता है दो रूप ।

१७९६ इगन्ताच्च लघुपूर्वात् ५।१।१३१।

शुचेर्भावः कर्म वा शौचम् । मौनम् । कथं काव्यम् ? कविशब्दस्य ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् ।

लघु संज्ञक वर्ण है पूर्व जिसको ऐसे षष्ठयन्त इगन्त शब्द से भाव एवं कर्म में अण् प्रत्यय होता है। कवि शब्द से ब्राह्मणादित्वप्रयुक्त ष्यञ् है काव्यम् ।

१७९७ योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ् ५।१।१३२।

रामणीयकम् । आभिधानीयकम् । ॐ सहायाद् वा ॐ। साहाय्यम् । साहायकम् ।

योपध जो गुरूपोत्तम (जिसके अन्त्यवर्णसे पूर्व वर्ण गुरुसंज्ञक है उसे गुरूपोत्तम कहते हैं) षष्ठयन्त प्रातिपदिक से भाव या कर्म में वुञ् प्रत्यय होता है ।

१७९८ द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च ५।१।१३३।

शैष्योपाध्यायिका । मानोज्ञकम् ।

द्वन्द्व समास निष्पन्न शब्द एवं मनोज्ञादि शब्द उनसे भाव एवं कर्म में वुञ् होता है।

१७९९ गोत्रचरणाच्छ्लाघात्याकारतदवेतेषु ५।१।१३४।

अत्याकारोऽधिक्षेपः तदवेतस्ते गोत्रचरणयोर्भावकर्मणी प्राप्तः, अवगतवान् वा , गार्गिकया श्लाघते । गार्ग्यत्वेन विकत्थत इत्यर्थः । गार्गिकयाऽत्याकुरुते । गार्गिकामवेतः ।

प्रशंसा, अवमान, तदवगत विषय में गोत्रवाचक एवं चरण वाचक प्रातिपदिक से पर भाव एवं कर्म में वुञ् प्रत्यय होता है। तदवेत में गोत्र एवं चरण से भाव एवं कर्म में प्रत्यय प्राप्त है। अवगतः ज्ञान की प्राप्ति कर्ता = अवगतवान् । तात्पर्य यह है कि गोत्र एवं चरण से भाव एवं कर्म में प्रत्यय प्राप्त है अथवा 'उसके ज्ञान को प्राप्त हुआ मैं'। गार्ग्य गोत्र सम्भूत होने से प्रशंसित होता है गार्गिकया श्लाघते । अपमान में गार्गिकयाऽत्याकुरुते । अवगत में गार्गिकाम् अवेतः ।

१८०० होत्रादिभ्यश्छः ५।१।१३५।

होत्राशब्दः ऋत्विग्वाची स्त्रीलिङ्गः । बहुवचनाद् विशेषग्रहणम् । अच्छावाकस्य भावः कर्म वा अच्छावाकीयम् । मैत्रावरुणीयम् ।

ऋत्विग्वाची शब्द से भाव एवं कर्म में छप्रत्यय होता है। यहां बहुवचन से ऋत्विग्विशेष का ग्रहण करना चाहिए।

१८०१ ब्रह्मणस्त्वः ५।१।१३६।

होत्रावाचिनो ब्रह्मन् शब्दात् त्वः स्यात् । छस्यापवादः । ब्रह्मत्वम् । नेति वाच्ये त्ववचनं तलो बाधनार्थम् । ब्राह्मणपर्यायब्रह्मन्-शब्दात्तु त्वतलौ । ब्रह्मत्वम् । ब्रह्मता ।

इति नञ्स्नञोरधिकारः समाप्तः

होत्रा वाचक ब्रह्मन् शब्द से भाव एवं कर्म में छप्रत्यय को बाधकर त्वप्रत्यय होता है। 'न' कह कर छ को बाध करते, पुनः त्वग्रहण इस लिए किया है कि तल् की निवृत्ति हो जाय। अन्यथा सन्नियोगशिष्ट न्याय से तल् भी होता जो इष्ट नहीं है। ब्राह्मण पर्याय जो ब्रह्मन् उससे त्व एवं तल् होता ही है।

पं० श्रीधा० कृ० पन्तोक्तिविरचित रत्नप्रभा में भावकर्मार्थक प्रकरण समाप्त।



अथ पाञ्चमिकप्रकरणम्

१८०२ धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ५।२।१।

भवत्यस्मिन्निति भवनम्। मुद्गानां भवनं क्षेत्रं मौद्गीनम्।

षष्ठयन्त समर्थ धान्य वाचक शब्द से पर उत्पत्ति का आधार क्षेत्र रहे तब खञ् प्रत्यय होता है। धान्य विशेष वाचक मूंग वाचक मुद्ग का उत्पत्ति स्थान खेत अर्थ में खञ्, ञकारकी इत् संज्ञा लोप, आदि वृद्धि, ख को ईनादेश, भसंज्ञा, अकार लोप नपुंसक में मौद्गीनम्। प्रीणनार्थक धिवि धातु से 'कृत्यल्युटोबहुलम्' से कर्ता में ण्यत्, इसी निपातन से अन्त्य लोप इकार को अकार हुआ धिनोति = धान्यम्। धान्य शब्द घटित मन्त्र भी है—"धान्यमसि धिनुहि देवान्"। कृदन्त अधिकरण ल्युडन्त भवन के योग में कर्तरि षष्ठी 'धान्यानाम्' में है। षष्ठयन्त समर्थ से प्रत्ययोत्पत्ति होती है। शब्द स्वरूप निरास के लिए बहुवचन है। क्षेत्र ग्रहण सामर्थ्य से यहां भूधातु उत्पत्ति वचन है। क्षेत्र ग्रहण से 'धान्यानां भवनं कुसूलः' यहां नहीं प्रत्यय हुआ, धान्यवाचक के अभाव से। 'तृणानां भवनं क्षेत्रम्' यहां भी वाक्य ही रहा।

१८०३ व्रीहिशाल्योर्ढक् ५।२।२।

व्रैहेयम्। शालेयम्

षष्ठयन्त व्रीहि एवं शालि शब्द से भवन अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है यदि भवनपद क्षेत्रवाचक रहे। यहां भी भवनापेक्षया प्रकृति से। षष्ठी हुई है। व्रीहीणाम् भवनं क्षेत्रम् व्रैहेयम्। तथा शालेयम्।

१८०४ यवयवकषष्टिकाद् यत् ५।२।३।

यवानां भवनं क्षेत्रम्–यव्यम्। यवक्यम्। षष्टिक्यम्।

षष्ठयन्त यव, यवक, षष्टिक इन से उत्पत्ति का अधिकरण यदि क्षेत्र = खेत है तो यत् प्रत्यय होता है। यव्यम्। यवकानां भवनं क्षेत्रं यवक्यम्। षष्टिकानां भवनं क्षेत्रम्–षष्टिक्यम्।

१८०५ विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः ५।२।४।

यद् वा स्यात् पक्षे खञ्। तिल्यम्। तैलीनम्। माष्यम्। माषीणम्। उम्यम्। औमीनम्। भङ्ग्यम्। भाङ्गीनम्। अणव्यम्। आणवीनम्।

नित्य खञ् प्राप्त था उसको विकल्प से बाधकर यत् प्रत्यय विधानार्थ यह सूत्र है। षष्ठयन्त समर्थ तिल, माष, उमा, भङ्ग एवं अणु से उत्पत्ति का स्थान खेत रहे तो विकल्प से यत् प्रत्यय होता है। पक्ष में खञ् प्रत्यय हुआ है। उदाहरण स्पष्ट ही है। सत्रह प्रकार के धान्य होते हैं, उनमें उमा एवं भङ्ग का भी परिगणन है। बारह प्रकार के धान्य हैं यह मत ठीक नहीं है।

१८०६ सर्वचर्मणः कृतः खखञौ ५।२।५।

असामर्थ्येऽपि निपातनात् समासः। सर्वैश्चर्मणा कृतः सर्वचर्मीणः। सार्वचर्मीणः।

यहां 'खञ' इतना ही कहने पर 'खञ' का भी अनुकर्षण होता अतः 'खखञौ' कहा है। यहां सर्व पदार्थ का कृतार्थ में अन्वय है, चर्मन् शब्दार्थ के साथ अनन्वय है तो भी

सौत्रनिर्देश सामर्थ्यप्रयुक्त असामर्थ्य में भी समास हुआ है। कृत्वार्थ उत्पत्तिजनकव्यापारार्थक है, उसका फल—उत्पत्ति है इस फलाश्रय को कृत कहते हैं। तृतीयान्त सर्वचर्मन् से कृत अर्थ में ख एवं खञ् प्रत्यय होते हैं। सर्वचर्मीण ख पक्ष में। खञ् पक्ष में सार्वचर्मीण। चर्मणा सर्वं कृत यह विग्रह सूत्रकाराभिसम्मत है। सर्वेण चर्मणा कृत यह नहीं है। अभिप्रेतार्थ की असिद्धि होगी।

१८०७ यथामुखसंमुखस्य दर्शनः खः ५।२।६।

मुखस्य सदृश यथामुखम् प्रतिबिम्बम्। निपातनात् सादृश्येऽव्ययीभाव। सम सर्वं मुख समुखम्। समशब्दस्यान्त्यलोपो निपात्यते। यथामुख दर्शनो यथामुखीन। सर्वस्य मुखस्य दर्शन समुखीन।

दर्शन अर्थ में यथामुख एव समुख में खप्रत्यय होता है। यहां निपातन से सादृश्य अर्थ में अव्ययीभाव है। अव्ययीभाव समास होने पर भी दर्शनक्रिया का कर्म मुख है। मुख से कर्मणि षष्ठी है 'कर्तृकर्मणो कृति' से उस षष्ठी को 'नाव्ययीभावात्' से अमादेश है। सम सर्वं मुख सम्मुखम् यहां समके अन्त्य का लोप है। समयत खप्रत्य ईनादेश है। सर्वस्य मुखस्य दर्शन समुखीन।

१८०८ तत्सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति ५।२।७।

सर्वादे पथ्याद्यन्ताद् द्वितीयान्ताद् ख स्यात्। सर्वपत्रीण सर्वपथीन। सर्वाङ्गीण। सर्वकर्मीण। सर्वपत्रीण। सर्वपात्रीण।

सर्व शब्द है आदि में जिनको ऐसे पथिन्, अङ्ग कर्म, पत्र, एव पात्र तदन्त द्वितीयान्त से व्याप्त होता है इस अर्थ में ख प्रत्यय होता है। सर्वपथीन। पूर्वकालैक से समास है। 'ऋक् पूरब्धू' से अ प्रत्यय है।

१८०९ आप्रपदं प्राप्नोति ५।२।८।

पादस्याग्र प्रपद तन्मर्यादीकृत्य आप्रपदम्, आप्रपदीन पट।

प्राप्त करता है इस अर्थ में द्वितीयान्त आप्रपद से खप्रत्यय होता है। पैर के आगे के हिस्से को प्रपद कहते हैं। प० तदवधिक को आप्रपद कहते हैं। पैर के अग्र भाग तक व्याप्त होने वाला अर्थात् फैलने वाला वस्त्र को आप्रपदीन पट कहते हैं।

१८१० अनुपदसर्वान्नायानयं बद्धाभक्षयतिनेयेषु ५।२।९।

अनुरायामे सादृश्ये च। अनुपद बद्धा अनुपदीना उपानत्। सर्वान्नानि भक्षयति सर्वान्नीनो भिक्षु। आयानय =स्थलविशेष तन्नेय आयानयीन शार।

बन्धन क्रियाजन्य फलाश्रय कर्म को लौकिक में बद्धा कहते हैं। वह खाता है उसको भक्षयति कहते हैं। नयनक्रियाजन्यफलाश्रय = कर्म को नेय कहते हैं।

बद्धा अर्थ में द्वितीयान्त अनुपद से, भक्षयति अर्थ में सर्वान्न से, स्थलविशेषार्थक आयानय से नेय अर्थ में खप्रत्यय होता है। अनुशब्द दीर्घता एव सादृश्यायक है। उपानद = जूता अर्थ में अनुपदीना जो सम्पूर्ण पैर को व्याप्ति किया द्वारा बन्धन का कर्म है। चप्पल को जूता नहीं कहते हैं। सर्वविध अन्न को खानेवाला भिक्षुक को सर्वान्नीन। आयानय =

स्थल विशेष को ले जाने योग्य अर्थ में आयानयीनः शारः। 'अनुपदन्' में चस्य चायामः से समास है। सर्वान्न में सर्वशब्द प्रकार कार्त्स्न्य अर्थ में है, शीत या उष्ण, सरस या रसरहित जो अन्न पाता है उसको खाता है भिक्षुक । अयः = प्रदक्षिण गमन को कहते हैं। अनयः = प्रसव्य गमन को कहते हैं। प्रदक्षिण प्रसव्यगमनशील शारों को जिन पादों में असमावेश रहे उस स्थान को 'आयानयः' कहते हैं। 'तं नेयः' में अप्रधान कर्म से द्वितीया है। फलक के शिर में स्थित यह अर्थ काशिकाकार ने किया है।

१८११ परोवरपरम्परपुत्रपौत्रमनुभवति ५।२।१०।

परांश्चावरांश्चानुभवतीति परोवरीणः। अवरस्योत्वं निपात्यते। परांश्च परतरांश्चानुभवति परम्परीणः। प्रकृतेः परम्परभावो निपात्यते। पुत्रपौत्रान् अनुभवति पुत्रपौत्रीणः। परम्पराशब्दस्तु अव्युत्पन्नं शब्दान्तरं स्त्रीलिङ्गं तस्मादेव स्वार्थे ष्यञि पारम्पर्यम्। कथं पारोवर्यवदिति ? असाधुरेव, खप्रत्ययसन्नियोगेनैव परोवरेति निपातनात्।

वह अनुभव करता है इस अर्थ में द्वितीयान्त परोवर, परम्पर, एवं पुत्रपौत्र इन से पर खप्रत्यय होता है। परांश्च = ज्येष्ठान् अवरान् = कनिष्ठान् अनुभवति मे खप्रत्यय एवं अवर के आदि अकार को उकारादेश निपातन से होता है। परोवरीणः ज्येष्ठ एवं ज्येष्ठतमों को अनुभव करता है उस अर्थ में खप्रत्यय पर परतर को परम्पर आदेश निपातन से होता है। खप्रत्यय सन्नियोग यह आदेश प्रकृति को होता है। अन्यत्र नहीं। परम्परीणः। पुत्रों एवं पौत्रों का अनुभव करता है इसमें पुत्रपौत्रीणः। अव्युत्पन्न स्त्रीलिङ्ग परम्परा शब्द है उससे तो स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय होता है। उसका पारम्पर्य्यंरूप होता है। 'पारोवर्यवत' यह असङ्गत रूप है। यहां खप्रत्यय सन्नियोग में परोवरशब्द निपातन प्रयुक्त सिद्ध होता है अन्यत्र नहीं।

१८१२ अवारपारात्यन्तानुकामं गामी ५।२।११।

अवारपारं गामी अवारपारीणः। अवारीणः। पारीणः। पारावारीणः। अत्यन्तं गामी अत्यन्तीनः। भृशं गन्तेत्यर्थः। अनुकामं गामी अनुकामीनः। यथेष्टं गन्ता।

वह गमन कर्ता है इस अर्थ में द्वितीयान्त अवारपार शब्द से खप्रत्यय होता है, अवारपार, अवार, पार, पारावार से भी खप्रत्यय होता है समुदाय, पृथक् विपरीत से। एवं द्वितीयान्त अत्यन्त एवं अनुकाम से गामी अर्थ में खप्रत्यय होता है।

अवार पार गमनकर्ता को अवारपारीणः। शीघ्रगमनकर्ता अर्थ में अत्यन्तीनः। यथेष्टगमनकर्ता अर्थ में अनुकामीनः। गामी गम् = धातु से इनि प्रत्यय वह णित्व से वृद्धि गामी। गमनकर्ता — उत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापारकर्ता यह अर्थ है।

१८१३ समां समां विजायते ५।२।१२।

यलोपोऽवशिष्टविभक्तेरलुक् च पूर्वपदे निपात्यते। समांसमीना गौः। 'समांसमीना सा यैव प्रतिवर्षं प्रसूयते।' ❀ खप्रत्ययानुत्पत्तौ यलोपो वा वक्तव्यः ❀। समांसमां विजायते, समायां समायां वा।

वह उत्पन्न करती है=विजायते में विपूर्वक जनी प्रादुर्भावे का वर्तमान का रूप है। यहां गर्भ की मुक्तिपूर्वक प्रसव अर्थ है। यहां प्रसव रूप अर्थ सवत्सर=वर्ष का व्यापक नहीं है। अन्‍ अन्तम्=विराम अतिकान्त =अत्यन्त स चासौ सयोग इति अत्यन्तसयोग=अविच्छिन्नसंयोग वह न होने से कालवाचक समा=जो वर्ष वाचक है उससे द्वितीयाविभक्ति न हुई किन्तु सप्तमी से समायां द्विवचन में 'समायां समायाम्' रूप प्राप्त है, किन्तु सौत्र निर्देश से यकार का लोप एव विभक्ति के स्थान में जायमान आदेश आम् का अलुक हुआ है। पूर्वपद में ही 'समाम्' यह निपातन है। गर्भविमोचन करती है—इस अर्थ में खप्रत्यय होता है, एव प्रकृति भाग में 'समायां समायाम्' को पूर्व भाग में यकार लोप एव विभक्ति का अलुक् हुआ। समां समां वि खप्रत्यय विभक्ति लुक् ईनादेश टाप् समांसमीना गौ=जो प्रतिवर्ष नियमित प्रसव करने वाली है उसे 'समांसमीना' कहते हैं। • खप्रत्यय की अनुत्पत्ति में यलोप विकल्प से होता है पूर्वपद में। समांसमां विजायते, समायां समायाम्।

१८१४ अद्यश्वीनावष्टब्धे ५।२।१३।

अद्य श्वो वा विजायते अद्यश्वीना वडवा। आसन्नप्रसवेत्यर्थ। केचित्तु 'विजायते' इति नानुवर्तयन्ति। अद्यश्वीन मरणम्=आसन्नमित्यर्थ।

अवष्टब्ध का अर्थ है समीप=आसन्न इस अर्थ में 'अद्यश्वीना' यह निपातन होता है। आज या कल प्रसव करने वाली वडवा=अश्वपत्नी घोड़ी अर्थ में खप्रत्यय श्वन् की टिका लोप टाप् अद्यश्वीना वडवा समीपप्रसव वाली। यहां 'विजायते' सम्बन्ध न कर आसन्नमात्र अर्थ में निपातन कर आज या कल होने वाले मरण में भी अद्यश्वीनं मरणम् ऐसा प्रयोग होता है ऐसा कोई कहते हैं।

१८१५ आगवीनः ५।२।१४।

आङ्पूर्वाद् गो कर्मकरे खप्रत्ययो निपात्यते। गो॰ प्रत्यर्पणपर्यन्त य कर्म करोति स आगवीन॰।

कर्मकर अर्थ आङ् पूर्वक जो गोशब्द उससे पर खप्रत्यय होता है। गाय के प्रत्यर्पण पर्यन्त जो कार्य करता है उसको आगवीन सेवक कहते हैं।

१८१६ अनुग्वलङ्गामी ५।२।१५।

अनुगु=गो पश्चात्पर्याप्त गच्छति अनुगवीनो गोपाल।

अनुगता गावो यस्य अनुगु अर्थात गाय के पीछे अत्यन्त गमनक्रिया कर्ता को अनुगु कहते हैं। खप्रत्यय अनुगवीन=गोरक्षक। यहां 'अलम्' शब्द पर्याप्त्यर्थक है। गाय के पीछे सीधे पर्याप्त गमनकर्ता गोपाल अर्थ हुआ।

१८१७ अध्वनो यत्खौ ५।२।१६।

अध्वानम् अल गच्छति अध्वन्य। अध्वनीन। 'ये चाभावकर्मणो' 'आत्माध्वानौ खे' इति सूत्राभ्या प्रकृतिभाव।

द्वितीयान्त मार्गवाचक अध्वन् शब्द से पर्याप्त गमनकर्ता है इस अर्थ में यत प्रत्यय एवं खप्रत्यय होता है। आदि उदाहरण अध्वन्य, यहां यत प्रत्यय करने के बाद 'नस्तद्धिते' से प्राप्त टिलोप का 'ये चाभावकर्मणो' से प्रकृतिभाव हुआ अर्थात स्वरूपावस्थान रहा। 'अध्वनीन' यहां खप्रत्यय परक होने से 'आत्माध्वानौ खे' से प्रकृतिभाव हुआ है—अध्वनीन।

१८१८ अस्यमित्राच्छ च ५।२।१७।

चाद् यत्खौ। अभ्यमित्रीयः। अभ्यमित्र्यः। अभ्यमित्रीणः। अमित्राभिमुखं सुष्ठु गच्छतीत्यर्थः।

'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' से अव्ययीभाव समास है। शत्रु के सम्मुख अच्छे प्रकार से गमन-कर्ता में छप्रत्यय, यत् प्रत्यय, एवं खप्रत्यय से क्रमशः तीन रूप हुए—यथा-अभ्यमित्रीयः। अभ्यमित्र्यः। अभ्यमित्रीणः। 'अभ्यमित्रम्' में क्रियाविशेषण होने से द्वितीया विभक्ति हुई है। यहां क्रियापद फलपरक है।

१८१९ गोष्ठात् खञ् भूतपूर्वे ५।२।१८।

गोष्ठो भूतपूर्वः गौष्ठीनो देशः।

भूतपूर्व अर्थ में गोष्ठ शब्द से खञ् प्रत्यय होता है। गायें जहां रहती हैं उस देश को गोष्ठ कहते हैं = गावस्तिष्ठन्ति यत्र स गोष्ठः यहां घञर्थे कविधानम् से स्थाधातु से कप्रत्यय उपपदसमास षत्व ष्टुत्व से गोष्ठ रूप हुआ है। जिस देश में पूर्वकाल में गायों की स्थिति उस स्थान को 'गौष्ठीनः' कहते हैं।

१८२० अश्वस्यैकाहगमः ५।२।१९।

एकाह्नेन गम्यते इत्येकाहगमः। आश्वीनोऽध्वा।

एक दिन में जाने योग्य (मार्ग) इस अर्थ में षष्ठ्यन्त अश्व शब्द से खञ् प्रत्यय होता है। अश्व के एक दिन गमन करने योग्य मार्ग को आश्विनः कहते हैं।

१८२१ शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः ५।२।२०।

शालाप्रवेशमर्हति शालीनः = अधृष्टः। कूपपतनमर्हति कौपीनं पापम्, तत्साधनत्वात् तद्वद् गोप्यत्वात् पुरुषलिङ्गमपि। तत्सम्बन्धात् तदाच्छादनमपि।

अधृष्ट अर्थ में शालीन एवं अकार्य अर्थ में यहां निपातन से ख प्रत्यय होता है। अधृष्ट पुरुष शाला में प्रवेश करने योग्य है यहां शालीनः हुआ।

अकार्य करण में कूपकर्मक पतन योग्य में कौपीनम् = पापम्। पाप का साधनत्व एवं पाप की तरह गोप्यत्व के कारण पुरुष का लिङ्ग अर्थात् मूत्रेन्द्रिय एवं उससे संयुक्त वस्त्र लङ्गोटा को भी कौपीन कहते हैं। अर्थात् लक्षणा से मूत्रेन्द्रिय में एवं लंगोटा अर्थ में कौपीनत्व का आरोप है आरोप में बीज गोप्यत्व एवं पाप साधनत्व एवं तद्आच्छादकत्वादि धर्म है।

१८२२ व्रातेन जीवति ५।२।२१।

व्रातेन = शरीरायासेन जीवति न तु बुद्धिवैभवेन स व्रातीनः।

वह प्राणधारण करता है इस अर्थ में शरीर से परिश्रम पूर्वक जीवन निर्वाह में तृतीयान्त व्रात से खप्रत्यय होता है। कठोरपरिश्रम से जीता है, बुद्धिरूपी वैभव = सम्पत्ति से प्राणधारण नहीं।

१८२३ साप्तपदीनं सख्यम् ५।२।२२।

सप्तभिः पदैरवाप्यते साप्तपदीनम्।

मैत्री अर्थ में 'साप्तपदीनम्' निपातित होता है अर्थात् तृतीयान्त सप्तपद से खञ् प्रत्यय होता है। परस्पर वार्तालाप के सात पदों से प्राप्त होने वाली मित्रता में साप्तपदीनम् = सख्यम्। सज्जनों की परस्पर मैत्री वार्तालाप से होती है।

१८२४ हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् ५।२।२३।

ह्योगोदोहस्य हियङ्गुरादेशो विकारार्थे खञ् च निपात्यते। दुह्यत इति दोहः = क्षीरम्। ह्योगोदोहस्य विकारो हैयङ्गवीनम् = नवनीतम्।

संज्ञा अर्थ में ह्योगोदोह के स्थान में हियङ्गु आदेश होता है एवं उससे विकार अर्थ में खञ् होता है। दोहन क्रिया कर्म को दोह कहते हैं अर्थात् दूध। गतदिन में गाय का दोहन से निकाला गया जो दुग्ध उसको जमाकर दही द्वारा मन्थन किया गया जो मक्खन = नवनीत उसकी संज्ञा में 'हैयङ्गवीनम्' हियङ्गु खञ् ईनादेश, वृद्धि ओर्गुणः से गुण अवादेश नपुंसक में हैयङ्गवीनम्। नवीन मक्खन। अतीत दिन को 'ह्यस्' कहते हैं यह अव्यय है।

१८२५ तस्य पाकमूले पील्वादिकर्णादिभ्यः कुणब्जाहचौ ५।२।२४।

पीलूनां पाकः पीलुकुणः। कर्णस्य मूलं कर्णजाहम्।

षष्ठ्यन्त समर्थ पीलुप्रभृत्य पीलु शब्द एवं तद्गणपठित शब्द से एवं कर्णादि शब्द से क्रमशः कुणप् एवं जाहच् प्रत्यय होता है।

पीलुकुण। कर्णजाहम्।

१८२६ पक्षात् तिः ५।२।२५।

मूलग्रहणमात्रमनुवर्तते। पक्षस्य मूलं पक्षतिः।

षष्ठ्यन्त पक्ष से मूल अर्थ में तिप्रत्यय होता है। एकदेश में स्वरितत्वरूप प्रतिज्ञा से मूलमात्र की ही यहां अनुवृत्ति है।

१८२७ तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ ५।२।२६।

चकारः प्रत्यययोरादौ लुप्तनिर्दिष्टस्तेन चस्य नेत्संज्ञा। विद्यया वित्तो विद्याचुञ्चुः। विद्याचणः।

तृतीयान्त समर्थ से पर जाना गया इस अर्थ में चुञ्चुप् एवं चणप् प्रत्यय होता है। प्रत्ययों के आदि में यहां चकार है। उसका लोप करने से प्रत्यय का आदि चकार है चकार नहीं, अतः 'चुटू' से चकार की इत् संज्ञापूर्वक लोप न हुआ।

१८२८ विनञ्भ्यां नानाञौ न सह ५।२।२७।

असहाये पृथग्भावे वर्तमानाभ्यां स्वार्थे प्रत्ययौ। विना। नाना।

असहाय पृथक्भाव में वर्तमान वि एवं नञ् से स्वार्थ में अर्थात् प्रकृति के अर्थ में ना एवं नाञ् प्रत्यय होते हैं। विना। नाना।

१८२९ वेः शालच्छङ्कटचौ ५।२।२८।

क्रियाविशिष्टसाधनवाचकात् स्वार्थे विस्तृतम् = विशालम् । विशङ्कटम् ।

क्रियाविशिष्ट साधनवाचक वि शब्द से प्रकृत्यर्थ में शालच् एवं शङ्कटच् होता है। क्रियाजन्य विस्तार रूप फल का साधन = उपकारक अर्थ में विद्यमान वि-से शालच् विशालम् = विस्तृतम्। विशङ्कटम् = विस्तृतसाधन ।

१८३० सम्प्रोदश्च कटच् ५।२।२९।

सङ्कटम् , प्रकटम् , उत्कटम् , चाद् विकटम् । ❀ अलाबूतिलोमाभङ्गाभ्यो रजस्युपसङ्ख्यानम् ❀ । अलाबूनां रजः अलाबूकटम् । ❀ गोष्ठजादयः स्थानादिषु पशुनामभ्यः ❀ । गवां स्थानं गोगोष्ठम् । ❀ संघाते कटच् ❀ । अवीनां संघातोऽविकटः । ❀ विस्तारे पटच् ❀ । अविपटः । ❀ द्वित्वे गोयुगच् ❀ । द्वौ उष्ट्रौ उष्ट्रगोयुगम् । ❀षट्त्वे षड्गवच् ❀ । अश्वषड्गवम् । ❀ स्नेहे तैलच् ❀ । तिलतैलम् । सर्षपतैलम् । ❀ भवने क्षेत्रे शाकटशाकिनौ ❀ । इक्षुशाकटम् । इक्षुशाकिनम् ।

सम् , प्र, उद् एवं वि से कटच् प्रत्यय होता है रजः अर्थ में षष्ठ्यन्त अलाबू , तिल, उमा, भङ्गा इनसे कटच् प्रत्यय होता है। स्थान आदि अर्थ में पशुनामवाचक शब्द से पर गोष्ठच् प्रत्यय होता है। • संघात अर्थ में पशुवाचक शब्द से कटच् प्रत्यय होता है। विस्तार अर्थ में पटच् प्रत्यय होता है। द्वित्वविशिष्ट संख्येय अर्थ में गोयुगच् प्रत्यय होता है। षट्त्व अर्थ में षड्गवच् प्रत्यय होता है। •स्नेहार्थ में तैलच् प्रत्यय होता है।• भवन एवं क्षेत्र अर्थ में शाकट एवं शाकिन् प्रत्यय होता है।

१८३१ अवात्कुटारच्च ५।२।३०।

चात्कटच् । अवाचीनोऽवकुटारः । अवकटः ।

अव शब्द से पर कुटार एवं कटच् प्रत्यय होता है।

१८३२ नते नासिकायाः संज्ञायां टीटञ् नाटज्भ्रटचः ५।२।३१।

अवादित्येव । नतम् = नमनम् । नासिकाया नतम् अवटीटम् । अवनाटम् । अवभ्रटम् । तद्योगान्नासिका अवटीटा । पुरुषोऽप्यवटीटः ।

संज्ञा में नासिका के नमन अर्थात् नत अर्थ में अवशब्द से टीटञ्, नाटच्, भ्रटच् प्रत्यय होते हैं। नमन = नत के संयोग में नासिका में भी प्रत्यय से अवटीटा = नासिका। नत युक्त नासिका युक्त पुरुष में भी अवटीट आदि प्रयोग होता है।

१८३३ नेर्बिडज्बिरीसचौ ५।२।३२।

निबिडम् । निबिरीसम् ।

निशब्द के उत्तर बिडच् एवं बिरीसच् प्रत्यय होते हैं।

१८३४ इनच् पिटच्चिकचि च ५।२।३३।

नेरित्येव । नासिकाया नतेऽभिधेये इनच् पिटचौ प्रत्ययौ प्रकृतेश्चिक चि इत्यादेशौ च । ❀ कप्रत्ययचिकादेशौ च वक्तव्यौ । चिकिनम् । चिपिटम् ।

चिक्कम् । ॐ क्लिन्नस्य चिल् पिल् लश्चास्य चक्षुषी ॐ । क्लिन्ने चक्षुषी अस्य चिल्लः । पिल्लः ॐ चुल् च ॐ चुल्लः ।

नासिका के नमन अर्थ में नि शब्द से पर इनच् एवं पिटच् प्रत्यय होते हैं, एवं प्रकृतिभूत नि शब्द को चिक् एवं चि आदेश होते हैं। क प्रत्यय एवं चिक आदेश होता है यह भी कहना चाहिये। नि को चिक आदेश हुआ है। इसके दोनों नेत्र भीगे रहते हैं इस अर्थ में ल प्रत्यय एवं क्लिन्न को चिल् पिल् आदेश होते हैं। क्लिन्न को पूर्व अर्थ में चुल् आदेश एवं लप्रत्यय होता है—चुल्लः।

१८३५ उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः ५।२।३४।

संज्ञायामित्यनुवर्तते । पर्वतस्यासन्नं स्थलम् उपत्यका । आरूढं स्थलम् = अधित्यका ।

संज्ञा प्रतीयमान रहते आसन्न = समीप आरूढ = ऊपरिभाग इन अर्थों में क्रमशः वर्तमान उप एवं अधि से त्यकन् प्रत्यय होता है। 'त्यकनश्च प्रतिषेध' इससे यहां 'प्रत्ययस्थात्' से इकारादेश न हुआ। पर्वतसमीपदेश को उपत्यका कहते हैं। पर्वत के ऊपरिभाग को अधित्यका कहते हैं।

१८३६ कर्मणि घटोऽठच् ५।२।३५।

घटत इति घटः, पचाद्यच् । कर्मणि घटते कर्मठः=पुरुषः ।

'घट चेष्टायाम्' से पचादित्वप्रयुक्त अच् प्रत्यय कर्ता में है। घटते घटः—चेष्टावान्। कर्म में चेष्टायुक्त कर्मठ.।

सप्तम्यन्त कर्मन् से चेष्टायुक्त अर्थ में अठच् प्रत्यय होता है। कर्म में निपुण पुरुषार्थी पुरुषः।

१८३७ तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् ५।२।३६।

तारकाः सञ्जाता अस्य तारकितं नभः । आकृतिगणोऽयम् ।

समर्थ प्रथमान्त तारकादि शब्दों से इसको उत्पन्न (अस्य सञ्जात) अर्थ में इतच् प्रत्यय होता है। ताराओं से संयुक्त आकाश = तारकित नभः।

१८३८ प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः ५।२।३७।

तदस्येत्यनुवर्तते । ऊरू प्रमाणम् अस्य ऊरुद्वयसम् । ऊरुदघ्नम् । ऊरुमात्रम् । ॐ प्रमाणे लः ॐ । शमः । दिष्टिः । वितस्तिः । ॐ द्विगोर्नित्यम् ॐ । द्वौ शमौ प्रमाणम् अस्य द्विशमम् । ॐ प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये मात्रज् वक्तव्यः । शममात्रम् । प्रस्थमात्रम् । पञ्चमात्रम् । ॐ वत्वन्तात् स्वार्थे द्वयसज्मात्रचौ बहुलम् । ॐ तावदेव तावद्द्वयसम् । तावन्मात्रम् ।

प्रमाण अर्थ में प्रथमान्त से विद्यमान द्वयसच् दघ्नच् एवं मात्रच् प्रत्यय षष्ठ्यर्थ में होते हैं। ऊरू प्रमाणमस्य ऊरुद्वयसम् आदि। प्रमाण अर्थ में द्वयसच् आदि प्रत्ययों का लुक् होता है। शम दिष्ट वितस्ति शब्द प्रमाण वाचक है। इससे विहित का लुक् हुआ है। प्रमाणान्त द्विगु से द्वयसच् आदि का नित्य लुक् होता है। प्रमाण, परिमाण, एवं संख्या वाचक शब्दों से संशय अर्थ में मात्रच् प्रत्यय होता है। शम प्रमाण स्यान्न वेति संशये शममात्रम्। वतुप् प्रत्ययान्त से स्वार्थ में द्वयसच् एवं मात्रच् प्रत्यय होता है। यहां प्रमाण से परिच्छेदकमात्र का ग्रहण होता

है। अस्य से प्रमेय अर्थ की प्रतीति होती है। प्रमेय रूपार्थ में तीनों प्रत्यय होते हैं। द्वयसच् दघ्नच् ऊर्ध्वमान में ही होते हैं।

प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतौ मम।

ऊर्ध्वावस्थितेन येन मीयते ऊर्ध्वमानम् यथा ऊर्वादि। इससे तिर्यङ्मान में 'दण्डद्वयसं क्षेत्रम्' यह प्रयोग असाधु ही है। द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः यहां मात्रच् का लुक् है। द्वयसच् का लुक् कथन वहां सर्वथा असङ्गत है।

उत्तरोत्तर मुन्यभिप्रेतार्थ में पूर्व-पूर्व मुनियों की सम्मति है, अतः भाष्यकारोक्ति ही यहां मान्य है। शमः आदि में मात्रच् का ही लुक् है अन्य प्रत्ययद्वय का नहीं। शमादि अनूर्ध्वमान है।

१८३९ पुरुषहस्तिभ्यामण् च ५।२।३८।

पुरुषः प्रमाणमस्य पौरुषम्। पुरुषद्वयसम्। हास्तिनम्। हस्तिद्वयसम्।

प्रमाण अर्थ में पुरुष एवं हस्तिन् से अस्य = षष्ठ्यर्थ में अण् प्रत्यय एवं द्वयसच् आदि प्रत्यय होते हैं। हास्तिनम् में 'इनण्यपत्ये' से प्रकृति भाव है।

१८४० यत् तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् ५।२।३९।

यत् परिमाणम् अस्य यावान्। तावान्। एतावान्।

कोई डावतुप् प्रत्यय करते हैं। परिमाण वाचक प्रथमान्त समर्थ यद्, तद्, एतद् शब्द से पर षष्ठ्यर्थ में वतुप् प्रत्यय होता है। यावान् = जितना। तावान् = तितना, यहां 'आसर्वनाम्नः' से आत्व है।

१८४१ किमिदम्भ्यां वो घः ५।२।४०।

आभ्यां वतुप् स्याद् वस्य च घः। कियान्। इयान्।

प्रथमान्त परिमाण वाचक किम शब्द से एवं इदम् शब्द से वतुप् प्रत्यय होता है एवं वकार को घकारादेश होता है। उस घ को इयादेश होता है। 'किमः कः' से कादेश क इयान् अकार-लोप कियान्। इदम् इयान् इदम् को इश् आदेश सर्वादेश इ + इयान् यस्येति च से इकारलोप इयान्। स्त्रीलिङ्ग में उगितश्च से ङीप् 'इयती' होता है।

१८४२ किमः संख्यापरिमाणे डति च ५।२।४१।

चाद्वतुप्, तस्य च वस्य घः स्यात् का संख्या येषां ते कति। कियन्तः।

किम् शब्द से उत्तर संख्या के परिमाण अर्थ में डति प्रत्यय होता है। चकार से वतुप् होता है। वतुप् के वकार को घ आदेश होता है। कियान्। इयान्।

१८४३ संख्याया अवयवे तयप् ५।२।४२।

पञ्च अवयवा अस्य पञ्चतयं दारु।

समर्थ प्रथमान्त संख्या वाचक शब्द से अवयवार्थ में तयप् प्रत्यय होता है षष्ठ्यर्थ में। पांच अवयवों से युक्त काष्ठ पञ्चतयं दारु।

१८४४ द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा ५।२।४३।

द्वयम् । द्वितयम् । त्रयम् । त्रितयम् ।

द्वि एवं त्रिशब्द से उत्तर तयप् प्रत्यय के स्थान में विकल्प से अयच् प्रत्यय होता है ।

१८४५ उभादुदात्तो नित्यम् ५।२।४४।

उभशब्दात् तयपोऽयच् स्यात् स चाद्युदात्तः । उभयम् ।

उभ शब्द से उत्तर तयप् के स्थान में अयच् आद्युदात्त आदेश होता है । उभयम् । 'उभौ अवयवौ अस्य' यह विग्रह है ।

१८४६ तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः ५।२।४५।

एकादश अधिका अस्मिन् एकादशम् । ❀ शतसहस्रयोरेवेष्यते ❀ । नेह, एकादश अधिका अस्यां विंशतौ । ❀ प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः समानजातीयत्व एवेष्यते ❀ । नेह, एकादश माषा अधिका अस्मिन् सुवर्णशते ।

दशन्शब्दान्त प्रथमान्त समर्थ से 'इसमें अधिक' इस अर्थ में ड प्रत्यय होता है । एकाधिका दश एकादश वे अधिक है जिनमें ड प्रत्यय टिलोप एकादशम् । • शत एवं सहस्र वाच्य होने पर ही यह विधि इष्ट है । अन्यत्र नहीं । प्रकृत्यर्थ एवं प्रत्यय का अर्थ ये दोनों तुल्यजातीय रहे वहां यह विधि इष्ट है । ग्यारह माष सुवर्ण अधिक है जिसमें ऐसा जो सुवर्णशत वहां वाक्य ही रहा ।

१८४७ शदन्तविंशतेश्च ५।२।४६।

डः स्यादुक्तेऽर्थे । त्रिंशदधिका अस्मिन् त्रिंशं शतम् । विंशम् ।

प्रथमान्त शदन्त एवं विंशति से 'इसमें अधिक' अर्थ में ड प्रत्यय होता है । ड प्रत्यय एवं टिलोप से त्रिंशम् । विंशम् । यहां 'ति' का लोप हुआ है ।

१८४८ संख्याया गुणस्य निमाने मयट् ५।२।४७।

भागस्य मूल्ये वर्तमानात् प्रथमान्तात् सख्यावाचिनः षष्ठ्यर्थे मयट् स्यात् । यवानां द्वौ भागौ निमानमस्योदश्विद्भागस्य द्विमयम् उदश्विद् यवानाम् । गुणस्येति किम् , द्वौ व्रीहियवौ निमानमस्योदश्वितः । निमाने किम् ; द्वौ गुणौ क्षीरस्य एकस्तैलस्य द्विगुण क्षीर पच्यते तैलेन ।

गुण का अर्थ है भाग, क्रयणक्रिया का साधन मूल्य को निमान कहते हैं । निमीयते = क्रीयते येनेति निमानम् = मूल्यम् । करणे ल्युट् । मेङ् प्रणिदाने को । भाग का मूल्य अर्थ में वर्तमान प्रथमान्त सख्यावाचक शब्द से पर षष्ठ्यर्थ में मयट् प्रत्यय होता है । यव को दो हिस्से अर्थात् भाग मूल्य है जिस मट्ठे के दो भागो का वहां मयट् सख्यावाचक द्वि से हुआ द्विमयम् । जहां द्रव्य का मूल्य प्रतीयमान रहे वहां मयट् नहीं । दो व्रीहियवौ निमानमस्य उदश्वित । यहां वाक्य ही रहा । जहां मूल्य अर्थ गम्यमान नहीं वहां भी वाक्य ही रहता है मयट् नहीं ।

१८४९ तस्य पूरणे डट् ५।२।४८।

षष्ठ्यन्त से पूरण अर्थ में डट् प्रत्यय होता है । पूर्यतेऽनेनेति पूरण' ण्यन्त से करण में ल्युट् । ग्यारहवी सख्या को परिपूर्ण करने वाला अर्थ में एकादशः । उद्भूत अवयव भेद प्रकृत्यर्थ यहां

है, अवयव प्रत्ययार्थ है। जिस संख्यावाचक शब्द से प्रत्यय पूरणार्थक करना है उस प्रकृत्यर्थ गतप्रवृत्ति निमित्तरूप धर्म के पूरण में प्रत्यय होता है, यथा प्रकृत में एकादशत्व धर्म पूर्त्यर्थ प्रत्यय हुआ। प्रत्ययोत्पत्ति बिना उसमें एकादश नहीं था।

१८५० नान्तादसंख्यादेर्मट् ५।२।४९।

डटो मडागमः स्यात्। पञ्चानां पूरणः पञ्चमः। नान्तात् किम्, विंशः। असंख्येत्यादेः किम्, एकादश।

नहीं है संख्यावाचक शब्द आदि में जिसको ऐसा जो षष्ठ्यन्त संख्यावाचक नान्त शब्द उससे पर जो डट् प्रत्यय उसको मट् आगम होता है। पञ्चन् आम् डट् (अ) प्रा० सं० वि० लुक् मट् (म्) आगम पदसंज्ञा नलोप पञ्चमः। पञ्चत्वरूप प्रवृत्ति निमित्त धर्म सम्पादक डट् यहां है जिसके होने से प्रकृत्यर्थगत पञ्चत्व की परिपूर्ति हुई। विंशतित्व सम्पादक डट् है किन्तु यहां मट् नान्त न होने से न हुआ किन्तु 'तिर्विंशतेः' से तिका लोप अलोप विंशः। एकादशः यहां संख्यावाचक एक शब्द आदि में होने से डट् तो हुआ किन्तु मट् का आगम न हुआ।

१८५१ षट्कतिकतिपयचतुरां थुक्।

एषां थुगागमः स्याट् डति। षण्णां पूरणः षष्ठः। कतिथः। कतिपयशब्दस्यासंख्यात्वेऽपि अत एव ज्ञापकात् डट्। कतिपयथः। चतुर्थः। ❀ चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च ❀। तुरीयः। तुर्यः।

संख्यावाचक षष्ठ्यन्त षष् कति कतिपय चतुर् इनको थुक् आगम होता है, डट् प्रत्यय पर रहते। यद्यपि 'डटः' पूर्वत्र षष्ठ्यन्त है किन्तु डट् को थुगागम में जरत्वादि अतिप्रसङ्ग को वारणार्थ षडादि को ही थुक् आगम किया है, अर्थ वश विभक्ति का विपरिणाम हुआ 'डति' इति। षष् आम् थ् डट् (अ) वि० लु० ष्टुत्व से षष्ठः। कतिपय शब्द संख्यावाचक यद्यपि नहीं है, अतः डट् की अप्राप्ति प्रयुक्त थुक् की अप्राप्ति स्वतः है, किन्तु थुगागम विधानार्थ सूत्र में कृत जो कतिपय शब्द वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि कतिपय शब्द असंख्यावाचक है तो भी डट् प्रत्यय उससे होता है। चतुर्णां पूरणः चतुर्थः। षष्ठ्यन्त संख्यावाचक चतुर् शब्द से पूरणार्थक छप्रत्यय एवं यत् प्रत्यय होता है। एवं चतुर् का सस्वर आदि अक्षर का लोप होता है। तुरीयः। तुर्यः।

१८५२ बहुपूगगणसङ्घस्य तिथुक् ५।२।५२।

डटीत्येव। पूगसङ्घयोरसंख्यात्वेऽप्यत एव डट् बहुतिथ इत्यादि।

डट् प्रत्यय पर रहते बहु, पूग, गण, संघ इनको तिथुक् आगम होता है। तिथुक् आगम विधान करने से पूग एवं संघ संख्या वाचक नहीं है तो भी डट् प्रत्यय हुआ।

१८५३ वतोरिथुक् ५।२।५३।

डटीत्येव। यावतिथः।

वतुप् प्रत्ययान्त को डट् पर रहते इथुक् आगम होता है। यावतिथः।

१८५४ द्वेस्तीयः ५।२।५४।

डटोऽपवादः। द्वयोः पूरणो द्वितीयः।

संख्यावाचक षष्ठ्यन्त द्विशब्द से पूरण अर्थ में डट् को बाधकर तीयप्रत्यय होता है। द्वित्व-संख्या की पूर्ति में द्वि से तीय द्वितीयः।

१८५५ त्रेः सम्प्रसारणञ्च ५।२।५५।

तृतीयः।

संख्यावाचक षष्ठ्यन्त त्रिशब्द से पूरणार्थक तीय प्रत्यय होता है, एवं त्रिघटक रेफ का सम्प्रसारण होता है। त्रयाणां पूरणः तृतीयः। त्रित्वसंख्याविशिष्टसंख्येयार्थः।

१८५६ विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम् ५।२।५६।

एभ्यो डटस्तमडागमो वा स्यात्। विंशतितमः। विंशः। एकविंशतितमः।, एकविंशः।

विंशति आदि शब्द से पर जो डट् उसको तमट् आगम विकल्प से होता है। 'पङ्क्ति' सूत्र में निपातित विंशति आदि का ग्रहण यहां करना, लोकप्रसिद्ध का नहीं।

१८५७ नित्यं शतादिमासार्धमाससंवत्सराच्च ५।२।५७।

शतस्य पूरणः शततमः। एकशततमः। मासादेरत एव डट्, मास॰, तमः।

शतादि शब्द, मास, अर्धमास संवत्सर इनसे पर डट् को तमट् आगम नित्य होता [redacted]। डट् को तमडागम विधान सामर्थ्यात् मासादि संख्यावाचक नहीं है तो भी डट् प्रत्यय करना यह ज्ञापन है।

१८५८ षष्ट्यादेश्चाऽसंख्यादेः ५।२।५८।

षष्टितमः। संख्यादेस्तु विंशत्यादिभ्य इति विकल्प एव एकषष्टितमः। एकषष्टः।

संख्यावाचक शब्द पूर्व में न रहे ऐसे जो षष्टि आदि शब्द उनसे पर जो डट् उसको तमडागम होता है। संख्यादि जहां षष्टि आदि रहेंगे वहां डट् को 'विंशत्यादिभ्यः' से विकल्प से डट् को तमडागम होगा।

१८५९ मतौ छः सूक्तसाम्नोः ५।२।५९।

मत्वर्थे छः स्यात् अच्छावाकशब्दोऽस्मिन्नस्ति अच्छावाकीयं सूक्तम्। वारवन्तीयं सूक्तम्।

सूक्त एवं साम अर्थ में प्रथमान्त प्रातिपदिक से मतुप् प्रत्ययार्थ में छ प्रत्यय होता है। अच्छावाक शब्द घटित सूक्त, वारवन्त शब्द घटित साममन्त्र में छप्रत्यय हुआ वर्तमान कालिक सत्ता विशिष्टार्थक प्रातिपदिक से अच्छावाकीयम्। वारवन्तीयम्।

१८६० अध्यायानुवाकयोर्लुक् ५।२।६०।

मत्वर्थस्य छस्य। अत एव ज्ञापकात् तत्र छः। विधानसामर्थ्याच्च विकल्पेन लुक्। गर्दभाण्डः। गर्दभाण्डीयः।

अध्याय एवं अनुवाक वाच्य होने पर मतुवर्थ से विहित छ प्रत्यय का लुक् होता है यहाँ छ प्रत्यय विधायक सूत्र ही नहीं है तो भी छ प्रत्यय के लुक् विधान जो किया है अतः इन अर्थों में छ प्रत्यय भावार्थ में करना चाहिये एवं उसका लुक् विधानसामर्थ्य प्रयुक्त विकल्प से करना चाहिये, लुक् के अभाव में विधीयमान छ प्रत्यय का श्रवण रहेगा।

१८६१ विमुक्तादिभ्योऽण् ५।२।६१।

मत्वर्थेऽण् स्याद् अध्यायानुवाकयोः। विमुक्तः शब्दोऽस्मिन्नस्ति वैमुक्तः। दैवासुरः।

अध्याय एवं अनुवाक अर्थ में विमुक्त आदि प्रथमान्त शब्दों से पर मत्वर्थ में अण् प्रत्यय होता है। जिस अध्याय में विमुक्त शब्द है ऐसा जो अध्याय उसको वैमुक्त कहते हैं। देवासुर शब्द है जिस अनुवाक में ऐसा जो अनुवाक उसे दैवासुर कहते हैं।

१८६२ गोपदादिभ्यो वुन् ५।२।६२।

मत्वर्थेऽध्यायानुवाकयोः। गोपदकः। इषेत्वकः।

प्रथमान्त गोपदादि शब्दों से मत्वर्थ अध्याय एवं अनुवाक वाच्य हो तो वुन् प्रत्यय होता है। गोपदशब्द घटित अध्याय में वुन् से गोपदकः। 'इषेत्वा' शब्द घटित अनुवाक में इषेत्वकः।

१८६३ तत्र कुशलः पथः ५।२।६३।

वुन् स्यात्। पथिकुशलः=पथिकः।

समर्थ सप्तम्यन्त पथिन् शब्द से कुशल अर्थ में वुन् प्रत्यय होता है।

१८६४ आकर्षादिभ्यः कन् ५।२।६४।

आकर्षे कुशलः आकर्षकः। 'आकषादिभ्यः' इति रेफरहितो मुख्यः पाठः। आकषो निकषः।

सप्तम्यन्त आकर्षादि शब्द से पर कुशल अर्थ में कन् प्रत्यय होता है। वुन् से अकारान्त शब्द से कार्यनिर्वाह होता पुनः कन् विधान इकारान्त उकारान्त के लिए है। रेफरहित आकर्ष यही प्रधान पाठ सूत्र में है कसोटी के पत्थर को आकष=निकष कहते हैं।

१८६५ धनहिरण्यात् कामे ५।२।६५।

कामः=इच्छा। धने कामो धनको देवदत्तस्य। हिरण्यकः।

इच्छार्थ मे सप्तम्यन्त धन एवं हिरण्य से कन् प्रत्यय होता है। देवदत्त की धन प्राप्ति विषयक इच्छा इसमें धनकः। देवदत्त की सुवर्ण प्राप्ति विषयक इच्छा में हिरण्यकः।

१८६६ स्वाङ्गेभ्यः प्रसिते ५।२।६६।

केशेषु प्रसितः केशकः=तद्रचनायां तत्पर इत्यर्थः।

प्रसित अर्थात् उस कार्य में तत्पर अर्थ में स्वाङ्गवाचक सप्तम्यन्त से कन् होता है बालों की सजावट में तत्पर अर्थ में 'केशकः' हुआ।

१८६७ उदराट्ठगाद्यूने ५।२।६७।

अविजिगीषौ ठक् स्यात् कनोऽपवादः । बुभुक्षयाऽत्यन्तपीडित उदरे प्रसित औदरिकः । आद्यूने किम् , उदरकः । उदरपरिमार्जनादौ प्रसक्त इत्यर्थः ।

आद्यून = अर्थात् अविजिगीषा अर्थ में सप्तम्यन्त उदर से प्रसित अर्थ में कन् को बाधकर ठक् प्रत्यय होता है । भूख से अतीव दुःखयुक्त होकर उदर पोषण अर्थ में तत्पर को औदरिकः कहते हैं । पेट की सफाई में प्रवृत्त अर्थ में कन् प्रत्यय से उदरक. ।

१८६८ सस्येन परिजातः ५।२।६८।

कन् स्मर्यते न तु ठक् । सस्यशब्दो गुणवाची, न तु धान्यवाची । शस्येनेति पाठान्तरम् । सस्येन = गुणेन परिजातः = सम्बद्धः सस्यकः साधुः ।

गुण से सम्बद्ध = युक्त अर्थ में तृतीयान्त सस्य से कन् का स्मरण करना चाहिये, ठक् का नहीं । अर्थात् कन् प्रत्यय होता है । यहाँ सस्य शब्द गुणार्थक है, धान्यार्थक नहीं है । कहीं 'शस्येन' ऐसा तालव्य शकारघटित भी पाठ है ।

१८६९ अंशं हारी ५।२।६९।

हारीत्यावश्यके णिनिः । अत एव तद्योगे षष्ठी न । अंशको दायादः ।

अवश्य हरणकर्ता = ग्रहणकर्ता इस अर्थ में द्वितीयान्त अंश शब्द से कन् प्रत्यय होता है । यहाँ हारी में आवश्यक अर्थ में णिनि प्रत्यय है, 'अकेनो' से षष्ठी का निषेध से अंश से द्वितीया विभक्ति की उत्पत्ति हुई है । दायम् = अंशम् आदत्ते = गृह्णाति दायाद । अंश हरति अंशकः = पितामहादि से आगत सम्पत्ति के अंश को अवश्य अवश्य अपने भाग को ग्रहण करता ही है दायाद ।

१८७० तन्त्रादचिरापहृते ५।२।७०।

तन्त्रकः पटः । प्रत्यग्र इत्यर्थः ।

तन्तुओं का विस्तार जिसमें हो उसको तन्त्र = अर्थात् तन्तुवायशलाका कहते हैं । अचिर = शीघ्र काल = समय अपहृत निकला हुआ पट अर्थात् प्रत्यग्र = नवीन पट अर्थ में तन्त्रक = पट = नूतन । अचिर. कालोपहृतस्तस्मिन् , 'कालाः परिमाणिना' से समास है । 'अचिरापहृत' अर्थ में तन्त्र से पर कन् प्रत्यय होता है—नवीन वस्त्र अर्थ में ।

१८७१ ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम् ५।२।७१।

आयुधजीविनो ब्राह्मणा यस्मिन् देशे स ब्राह्मणकः । अल्पम् अन्नं यस्यां सा उष्णिका यवागूः । अन्नशब्दस्य उष्णादेशो निपात्यते ।

संज्ञा अर्थ में ब्राह्मणक एवं उष्णिक निपातन से सिद्ध होते हैं । जिस देश में शस्त्रविद्या से ब्राह्मण लोग जीवन निर्वाह करते हैं उस देश को 'ब्राह्मणक' कहते हैं । अल्प अन्न युक्ता लप्सी को उष्णिका कहते हैं, यहाँ अन्न शब्द के स्थान में उष्ण आदेश एवं कन् प्रत्यय टाप् 'प्रत्ययस्थात्' से इकार उष्णिका यवागू = लप्सी ।

१२७२ शीतोष्णाभ्यां कारिणि ५।२।७२।

शीतं करोतीति शीतकोऽलसः । उष्णं करोतीति उष्णकः शीघ्रकारी ।

करता है इस अर्थ में द्वितीयान्त शीत एवं उष्ण से कन् प्रत्यय होता है। आलस्ययुक्त पुरुष भोजन में विलम्ब कर भोज्यपदार्थों को शीत करता है शीतकः। शीघ्रकार्य कर्ता जल्दी गर्म गर्म भोज्य पदार्थों को खा लेता है यहां 'उष्णक' हुआ है। उभयत्र कन् प्रत्यय हुआ।

१८७३ अधिकम् ५।२।७३।

अध्यारूढशब्दात् कन् उत्तरपदलोपश्च।

अध्यारूढ शब्द से कन् प्रत्यय होता है एवं आरूढ का लोप से अधिकम् प्रयोग सिद्ध होता है, यह अर्थ अधिकम् इस निपातन लब्ध अर्थ है। अध्यारूढ—'गत्यर्थाकर्मक' से रुह् धातु से कर्तरि या कर्मणि क्त प्रत्यय है। कर्ता में क्त प्रत्यय होता है इस पक्ष में कर्म का अनभिधान है। अतः अध्यारूढ शब्द के योग में द्वितीया 'अध्यारूढो द्रोणः खारीम्' 'ग्रामं गतः' इतिवत्। कर्म में क्त पक्ष में 'अधिका खारी द्रोणेन'। कर्म उक्त होने से पञ्चमी एवं सप्तमी नहीं हुई।

१८७४ अनुकाभिकाभीकः कामिता ५।२।७४।

अन्वभिभ्यां कन् अभेः पाक्षिको दीर्घश्च। अनुकामयते अनुकः। अभिकामयते अभिकः। अभीकः।

इच्छा करता है इस अर्थ में अनु अभि इनसे कन् प्रत्यय होता है एवं अभिके इकार का विकल्प से दीर्घ होता है।

१८७५ पार्श्वेनान्विच्छति ५।२।७५।

अनृजुरुपायः = पार्श्वम्, तेनान्विच्छति पार्श्वकः।

तिर्यग् अवस्थान से पार्श्वम् = अनृजुः उसके साधर्म्य से कठोर उपाय को भी पार्श्व कहते हैं। गौण = अमुख्यार्थक से ही प्रत्यय होता है, मुख्यार्थ में अनभिधान से प्रत्यय नहीं होता। पार्श्वकः। तृतीयान्त पार्श्व से अन्विच्छति अर्थ में कन् प्रत्यय होता है।

१८७६ अयःशूलदण्डाजिनाभ्यां ठक्ठञौ ५।२।७६।

तीक्ष्ण उपायोऽयःशूलं तेनान्विच्छति आयःशूलिकः = साहसिकः। दण्डाजिनं दम्भः तेनान्विच्छति दाण्डाजिनिकः।

'अन्विच्छति' अर्थ में तृतीयान्त अयःशूल एवं दण्डाजिन से क्रमशः ठक् एवं ठञ् प्रत्यय होता है। कठोर उपाय को अयः शूल कहते हैं। उसके द्वारा प्राप्त करने की इच्छा वाला साहस युक्त पुरुष में ठक् आयःशूलिकः। दम्भ से प्राप्त करने की इच्छायुक्त पुरुष में ठञ् दाण्डाजिनिकः। प्राणनिरपेक्षं कर्म साहसम्।

१८७७ तावतिथं ग्रहणमिति लुग्वा ५।२।७७।

कन् स्यात् पूरणप्रत्ययस्य लुग् वा। द्वितीयकं द्विकं वा ग्रहणं देवदत्तस्य। द्वितीयकेन रूपेण ग्रहणम् इत्यर्थः। ❀ तावतिथेन गृह्णातीति कन् वक्तव्यो नित्यञ्च लुक् ❀। षष्ठेन रूपेण गृह्णाति षट्को देवदत्तः। पञ्चकः।

ग्रहण इस अर्थ में तृतीयान्त पूरणप्रत्ययान्त शब्द से कन् प्रत्यय होता है एवं प्रकृति घटक पूरणार्थक प्रत्यय का लुक् होता है विकल्प से। तीय का लुक् कन् द्विकम्। लोप के अभाव में

द्वितीयकम्। दूसरी बार देवदत्त का ग्रहणकर्ता। तृतीयान्त पूरणार्थक से कन् प्रत्यय होता है। एवं पूरणार्थक प्रत्यय का नित्य लुक् होता है। ट्ट् का लुक् डट् को मान कर मुक् आगम की निवृत्ति, कन् प्रत्यय बट्क"। पञ्चमकः का पञ्चक"।

१८७८ स एषां ग्रामणीः ५।२।७८।

देवदत्तो मुख्योऽस्य देवदत्तकः। त्वत्कः। मत्कः।

नापित, श्रेष्ठ ग्राम के अधिपति में ग्रामणी शब्द है। वह इसका ग्रामणी माने श्रेष्ठ है इस अर्थ में प्रथमान्त से कन् प्रत्यय होता है। देवदत्त है मुख्य = प्रधान जिसका वह 'देवदत्तक" कहा जाता है। तुम मुख्य हो जिसका मैं मुख्य हूँ जिसका उसमें कन् प्रत्यय एवं युष्मद् अस्मद् के म पर्यन्त भाग को त्व एवं म आदेश होकर त्वत्क, मत्क, होता है।

१८७९ शृङ्खलमस्य बन्धनं करभे ५।२।७९।

शृङ्खलकः करभः।

शृङ्खल से इसका बन्धन है इस अर्थ में करभ वाच्य होने पर प्रथमासमर्थ बन्धनोपाधिक शृङ्खल शब्द से कन् प्रत्यय होता है। ऊँट के बाचक को करभ कहते हैं। काष्ठमय पाशक यत्पादे व्यति-षज्यते तद् शृङ्खलम् = ऊट के बच्चे के पैर में लकड़ी से बना हुआ पाशरूपी जो लगाया जाता है उसको शृङ्खल कहते हैं। शृङ्खल शब्द यहां शृङ्खलवती रज्ज्वादि परक है, अथवा शृङ्खल सहचरित बन्धन को भी शृङ्खल कहते हैं। अस्वतन्त्रीकरणम् = बन्धनम्। रस्सी में अस्वतन्त्रीकरणत्व है, शृङ्खल में नहीं शृङ्खल के बिना केवल रज्जु से बन्धन नहीं। अतः काष्ठ निर्मित शृङ्खल में भी करणत्व बन्धन निरूपित है। अथवा शृङ्खल से रज्जु लेना।

१८८० उत्क उन्मनाः ५।२।८०।

उद्गतमनस्कवृत्तेरुच्छब्दात्स्वार्थे कन्। उत्क उत्कण्ठितः।

उत्कण्ठित है मन की वृत्ति जिसमें इस अर्थ का बोधक उद् से स्वार्थ में कन् प्रत्यय होता है। उत्कः = उत्कण्ठित।

१८८१ कालप्रयोजनाद् रोगे ५।२।८१।

कालवचनात् प्रयोजनवचनाच्च कन् स्याद् रोगे। द्वितीयेऽहनि भवो द्वितीयको ज्वरः। प्रयोजन कारण रोगस्य फलं वा। विषपुष्पैर्जनितो विष-पुष्पकः। उष्णं कार्यमस्य उष्णकः। रोगे किम्, द्वितीयो दिवसोऽस्य।

रोग अर्थ में सप्तम्यन्त कालवाचक शब्द से एवं प्रयोजन वाचक शब्द से कन् प्रत्यय होता है। यद्यपि द्वितीय शब्द कालवाचक नहीं है, तो भी अर्थ प्रकरणादि से वदित प्रत्ययरूप वृत्ति विषय में काल में विद्यमान है। शब्दशक्ति स्वभाव से साक्षात् कालवाचक मासादि शब्द से प्रत्यय नहीं होता है। यहां उत्तर सूत्र से संज्ञा का अपकर्षण है यह भी प्रमाण है। अतरोया ज्वर जो आता है उसमें 'द्वितीयक' दूसरे दिन में आनेवाला बुखार। यह उस ज्वर की संज्ञा है। प्रयोजन = कारण को कहते हैं, अथवा रोगादिक के फल को भी प्रयोजन कहते हैं। विषैले फलों को सूंघने से होनेवाला रोग। यहां रोग की उत्पत्ति में विषपुष्प कारण है। प्रयोजन का अर्थ कार्य है—यथा उष्ण कार्य है इसका यहां कन् उष्णक"। रोगरूप अर्थ की जहां अप्रतीति है वहां कन् नहीं—जैसे इसका दूसरा दिन है।

१८८२ तदस्मिन्नन्नं प्राये संज्ञायाम् ५।२।८२।

प्रथमान्तात् सप्तम्यर्थे कन् स्यात् यत्प्रथमान्तम् अन्नं चेत् प्रायविषयं तत्। गुडापूपाः प्रायेणान्नमस्यां गुडापूपिका पौर्णमासी। ॐ वटकेभ्य इनिर्वाच्यः ॐ। वटकिनी।

संज्ञा में प्रायविषयीभूत अन्न वाचक हो तो सप्तम्यर्थ में प्रथमान्त प्रातिपदिक से कन् प्रत्यय होता है। गुड़मिश्रित पूंआ प्रायः खाये जाते हैं जिस पूर्णिमा को ऐसी पूर्णिमा को गुडापूपिका कहते हैं कन् टाप् इत्व। प्रायः संज्ञा में वटक शब्द से प्राप्त कन् को बाधकर इनि प्रत्यय पूर्वोक्तार्थ में होता है। बड़ा खाये जाते हैं जिस पूर्णमासी को उसको वटकिनी कहते हैं।

१८८३ कुल्माषादञ् ५।२।८३।

कुल्माषाः प्रायेणान्नमस्यां कौल्माषी।

पूर्वोक्त अर्थ में कुल्माष से अञ् प्रत्यय होता है। कुल्माष से गोधूम = गेहूँ का ज्ञान करना। कौल्माषी पौर्णमासी।

१८८४ श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते ५।२।८४।

श्रोत्रियः। वेत्यनुवृत्तेश्छान्दसः।

अध्ययन करता है इस अर्थ में द्वितीयान्त छन्दस् शब्द से घन् प्रत्यय एवं छन्दस् के स्थान में श्रोत्र आदेश होता है। इसमें 'वा' की अनुवृत्ति है, अतः पक्ष में अण् प्रत्यय भी होता है। वेदकर्मक अध्ययन कर्ता को 'श्रोत्रियः' कहते हैं। पक्ष में छान्दसः। यहां अण्। घन् अण् का बाधक है, किन्तु वैकल्पिक वह है।

घन् में नकार आद्युदात्त के लिए है। वेदोक्त कर्मानुष्ठान कर्ता में भी श्रोत्रियः प्रयोग होता है।

१८८५ श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ ५।२।८५।

श्राद्धी। श्राद्धिकः।

'इसने खाया है' इस अर्थ में श्राद्ध से इनि एवं ठन् प्रत्यय होता है। जिस कर्म में श्रद्धा रहे उस पितरों को उद्देश्य कर किया हुआ कर्म को श्राद्ध कहते हैं। 'प्रज्ञाश्रद्धादिभ्यो णः' से णप्रत्ययान्तश्राद्ध शब्द है। तो भी श्राद्ध का साधन द्रव्य को गौणी वृत्ति से श्राद्ध शब्द कहता है। मुख्य श्राद्धरूप कर्म का भोजन असम्भव है। श्राद्ध के लिए निर्मित अन्नादि कर्मक भोजन सम्भव है। इनि में श्राद्धी। ठन् में श्राद्धिकः। अद्यतन में ही यह प्रयोग होता है। आज भोजन श्राद्ध का कर कल 'श्राद्धिकः' यह प्रयोग नहीं होता है। भोजन क्रिया के समान काल में ही श्राद्धी श्राद्धिकः। भोजनजन्यतृप्तिर्यस्मिन् काले भवति तत्रैवायं प्रयोग इति कैयटः।

१८८६ पूर्वादिनिः ५।२।८६।

पूर्वं कृतमनेन पूर्वी।

क्रियाविशेषण वाचक द्वितीयान्त पूर्व से कृत अर्थ में इनि प्रत्यय होता है। कृञ् धात्वर्थ उत्पत्तिजनक व्यापार है, इसका फल उत्पत्ति है, उस उत्पत्ति रूप फल में अभेद सम्बन्ध से अन्वयी पूर्वपदार्थ है फल भी व्यपदेशिवद्भाव से फलाश्रय है। अतः 'क्रियाविशेषणानां कर्मत्वम्' से पूर्व से द्वितीया विभक्ति है पूर्वकालोद्भव उत्पत्तिरूप व्यापार जनक कर्ता को पूर्वी कहते हैं।

१८८७ सपूर्वाच्च ५।२।८७।

कृतपूर्वी ।

कृत अर्थ में सपूर्व पूर्व से इनि प्रत्यय होता है। कृत- कटः पूर्वम् अनेन यहां कृतपूर्व से न कृतपूर्वी ।

वस्तुतः कृतपदार्थ कटपदार्थ में सापेक्ष यहा है, 'सापेक्षम् असमर्थवत्' है समास एवं तद्धित प्रत्यय इनि दोनों एकार्थीभावरूप सामर्थ्य के अभाव से यहां अप्राप्त है तथापि भाष्यप्रयोग के अनुरोध से प्रथम कटादि कर्म की अविवक्षा कर अकर्मक कृञ्धातु को मानकर भाव में क्तप्रत्यय से 'कृत.' बनाकर समास करना। तदनन्तर तद्धित प्रत्यय इनि कृतपूर्वी बना कर अब कटादि कर्म की विवक्षा करना। इन सब प्रकार में 'कृतपूर्वी' भाष्यप्रयोग ही प्रमाण है। अन्यत्र ऐसी विवक्षा नहीं होती है।

यहां शङ्का करते हैं कि पूर्वादिनि में तदन्त विधि से ही कृतपूर्वी आदि की सिद्धि होगी पुनः 'सपूर्वाच्च' यह योग विभाग क्यों किया ?

उत्तरम् अनुवृत्त्यर्थ है तो एक योग कर सपूर्वपर स्वरितत्व करने से अनुवृत्ति तावन्मात्र की होती पुनः दो सूत्र पृथक् क्यों किया ? या 'सपूर्वाच्च' क्यों किया ? तदन्तविधि से दो कार्य सिद्ध होगा यह व्यर्थ पर ज्ञापन करता है कि 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' यह परिभाषा प्रत्यय विधिविषया है।

१८८८ इष्टादिभ्यश्च ५।२।८८।

इष्टमनेन इष्टी। अधीती।

इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ इष्टादि से इनि प्रत्यय होता है। यज् + क्त सम्प्रसारण पूर्व-रूप षत्व ष्टुत्व से यजन कर्म = इष्ट पदार्थ है, कर्म क्त प्रत्यय से उक्त है, कर्ता अनुक्त अतः तृतीया हुई अनेन।

१८८९ छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि ५।२।८९।

लोके तु परिपन्थिशब्दो न न्याय्यः।

छन्द में शत्रुपर्याय पर्यवस्थातृ शब्द से स्वार्थ में इनि प्रत्यय होता है एवं अवस्थातृ शब्द को पन्थ एवं पर आदेश निपातन से होते हैं। अपत्यन् = परिपन्थिनम्। 'मात्वा परिपरिणो विदन्'। लोक में परिपन्थि शब्द उचित नहीं है।

१८९० अनुपद्यन्वेष्टा ५।२।९०।

अनुपदम् अन्वेष्टा अनुपदी गवाम्।

अन्वेष्टा अर्थ में अनुपद शब्द के उत्तर इनि प्रत्यय होता है। 'अनुपदम्' में 'पदस्य पश्चाद्' पश्चादर्थ में अव्ययीभाव समास है। 'गवाम्' में परापेक्षया षष्ठी है। गोपद से पश्चाद अन्वेषण गौओं का ही होता है। अतः सुवर्णादि के अन्वेषण में इनि प्रत्यय नहीं होता है।

१८९१ साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् ५।२।९१।

साक्षाद् द्रष्टा साक्षी।

संज्ञा में द्रष्टा अर्थ में साक्षात् शब्द से पर इनि प्रत्यय होता है। 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' से साक्षाद की टिसंज्ञक आत का इनि पर रहते लोप हुआ साक्षी। साक्षात् शब्द सूत्र में अव्यय

है. 'प्रकृतिवदनुकरणम्' पक्ष से अनुकार्य वृत्ति अव्ययत्व अनुकरण में है। अतः साक्षात् से आगत पञ्चमी का लुक् 'अव्ययात्' सूत्र से हुआ है। 'उदः स्थास्तम्भोः' 'भवाद्यालम्बना' यहाँ 'प्रकृतिवदनुकरणं भवति' पक्ष को न माना गया अर्थात् 'न भवति' को माना गया। अतः इन स्थलों में पञ्चमी का लुक् न हुआ अनव्ययप्रयुक्त। दो पक्ष अनुकरण में हैं। इष्टानुरोध से उचित व्यवस्था होती है। साक्षात् द्रष्टा तीन होते हैं। १ दाता २ ग्रहीता ३ उपद्रष्टा। तो भी संज्ञाग्रहण यहाँ होने से उपद्रष्टा ही 'साक्षी' पद से कहा जाता है।

१८९२ क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः ५।२।९२।

क्षेत्रियो व्याधिः। शरीरान्तरे चिकित्स्यः। अप्रतीकार्य इत्यर्थः।

क्षेत्र शब्द का अर्थ है शरीर। शरीरान्तर में चिकित्सा करने योग्य अर्थ में क्षेत्रियच् निपातन होता है। तात्पर्य यह है कि सप्तम्यन्त पर क्षेत्र शब्द से चिकित्सा अर्थ में घच् प्रत्यय होता है एवं परक्षेत्र के स्थान में पर का लोप होता है। क्षेत्रियो व्याधिः = रोग जो इस वर्तमान शरीर में चिकित्सा करने योग्य नहीं है। असाध्य होने के कारण मृत्यु के बाद जो शरीर पुनः उत्पन्न होगा उसमें ही चिकित्सा होगी यह भावार्थ है। अप्रतीकार्य यही फलितार्थ कथन हुआ।

कोई कहता है कि 'परक्षेत्रे चिकित्स्यः' अर्थ में 'क्षेत्रियच्' का ही निपातन होता है। क्षेत्रिय शब्द का अनेकत्र प्रयोग है, यथा—क्षेत्रियं विषम्, जो शरीरान्तर में संक्रमण होकर चिकित्सायोग्य—होगा। क्षेत्रियाणि तृणानि यानि सस्यार्थे क्षेत्रे जातानि चिकित्स्यानि = विनाशयितव्यानि। क्षेत्रियः = पारदारिकः। परदाराः = परक्षेत्रम्। तत्र चिकित्स्यः = निग्रहीतव्यः। वे सभी पक्ष भाष्योक्त हैं।

१८९३ इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा ५।२।९३।

इन्द्र = आत्मा, तस्य लिङ्गं करणेन कर्तुरनुमानात्। इतिशब्दः प्रकारार्थः। इन्द्रेण दुर्जयम् इन्द्रियम्।

इन्द्रलिङ्ग, इन्द्रदृष्ट, इन्द्रसृष्ट, इन्द्रजुष्ट, इन्द्रदत्त, इन अर्थों में इन्द्र से पर घच् प्रत्यय होता है। यहाँ इन्द्र से आत्मा गृहीत है। उसके अनुमापक को इन्द्रिय कहते हैं। इस स्थल में करण से कर्ता का अनुमान हुआ है। तात्पर्य यह है कि आत्मा इन्द्रिय द्वारा सुख दुःखादि का जनक है, इन्द्रियाँ स्वयं जड़ हैं वे ज्ञान का आश्रय साक्षात् नहीं हो सकती हैं। अतः ज्ञान करण इन्द्रियों से आत्मसाधक अनुमान होता है 'यत् यत् करणम् तत्तत् कर्तृजन्यम् यथा कुठारादि' वृक्षच्छेदन में कुठार करण है वह कर्तृवृत्ति व्यापार की अपेक्षा करता है वह स्वतः द्विधाभवनरूप व्यापार में अक्षम है अचेतन है गृहकोण में स्थापित कर्तृव्यापार शून्य कुठार में कार्यजनकत्व नहीं है तथैव इन्द्रियों में भी इन्द्रियों का आश्रय ज्ञान का अधिष्ठाता इन्द्रियभिन्न आत्मा है। आत्मनिरूपण में विस्तृत वर्णन विशेष जिज्ञासुओं के लिए है। इन्द्रेण दृष्टम् = ज्ञातम् = ममेदं चक्षुः श्रोत्रम् इस क्रम से अदृष्ट द्वारा सृष्ट, जुष्ट, प्रीणित, सेवित। यथायथं विषयेभ्यः, दत्तम्। यद्यपि इन्द्रिय शब्द ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय में रूढ हैं, किन्तु यथा कथञ्चित् इसका व्युत्पादन किया है। यहाँ इति शब्द प्रकारार्थक है। इन्द्रेण दुर्जयम् अर्थ में भी इन्द्रिय हुआ।

पं० श्री वा० कृ० पञ्चोलिविरचित रत्नप्रभा में इति तद्धितेषु पाञ्चमिकाः

अथ तद्धितेषु मत्वर्थीयाः

१८९४ तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ५।२।९४।

गावोऽस्यास्मिन् वा सन्ति गोमान् ।

"भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादय ॥"

वर्तमान कालिक सत्ताविशिष्ट प्रथमान्त समर्थ से इसका (अस्य) इसमें (अस्मिन्) इन अर्थों में मतुप् प्रत्यय होता है। यहां अस्ति का अर्थ मतुप् प्रत्यय की जो प्रकृति उसका जो अर्थ उसमें विशेषणीभूत है अर्थात् प्रकृत्यर्थोपाधि है। अस्ति में प्रथम पुरुष एक वचन की अविवक्षा है। वर्तमान काल अस्ति में जो आख्यातार्थ है वह विवक्षित है, काल अवच्छेदक = व्यावर्तक है, क्रिया अवच्छेद्य = व्यावर्त्य है। काल एवं क्रिया का अवच्छेद्यावच्छेदक भाव सम्बन्ध है। वर्तमान काल की विवक्षा से धन चला गया या धन भविष्य में होगा वहां धनवान् का प्रयोग नहीं होता है, किन्तु धन की वर्तमान काल में सत्ता रहे वहां ही धनवान् प्रयोग होता है। गोमान् आसीत् गोमान् भविता यह प्रयोग असाधु है।

मतुबादि प्रत्यय किन किन अर्थों में होते हैं यह कारिका प्रदर्शित करती है। भूमा अर्थ में मतुप् होता है भूमा माने बहुत्व अथ। यहां बहुत्व आपेक्षिक है, साधारण गृहस्थ मनुष्य के लिए ५ या ६ गायें में बहुत्व है वही राजा के लिए अल्पत्व है। गाव सन्ति अस्य गोमान् यह बहुत्वार्थक भूमा का उदाहरण है। निन्दा में ककुदावर्तिनी कन्या यहां इन् प्रत्यय मत्वर्थ है। प्रशंसा में—रूपवान्। नित्ययोग में क्षीरिणो वृक्षा। अतिशायन में उदरिणी कन्या। संसर्ग में दण्डी। संसर्ग = संयोग उससे संयुक्त दण्ड है। संयोग उभयनिष्ठ होने पर भी 'दण्डी पुरुष' यही होता है, पुरुषी दण्ड नहीं होता है, वृत्तिनियामक विलक्षण सम्बन्ध दण्ड के ही साथ है पुरुष के साथ नहीं। 'मतुबादय' यहां आदि पद से इन् ठन् आदि एतत्प्रकरणस्थ प्रत्ययों का ग्रहण है।

१८९५ रसादिभ्यश्च ५।२।९५।

मतुप्। रसवान्। रूपवान्। अन्यमत्वर्थीयनिवृत्त्यर्थं वचनम्। रस, रूप, वर्ण, गन्ध, स्पर्श, शब्द, स्नेह, (ग) गुणात् (ग) एकाच। स्ववान्, गुणग्रहण रसादीनां विशेषणम्।

प्रथमान्त अस्ति उपाधिक रसादि शब्दों से अस्य, अस्मिन्, अर्थ में अन्यप्राप्त मत्वर्थीय प्रत्ययों की निवृत्ति पूर्वक मतुप् होता है। रसवान्। रूपवान्। गुणग्रहण रसादि वाच्य जो अर्थ उसमें गुणरूप अर्थ विशेषण है। गुणवाचक रसादि से ही मतुप् होता है। एक स्वरयुक्त शब्द से मतुप् प्रत्यय होता है, यथा स्ववान्।

१८९६ तसौ मत्वर्थे १।४।१९।

तान्तसान्तौ भसंज्ञौ स्तो मत्वर्थे प्रत्यये परे। वसो सम्प्रसारणम्।

विदुष्मान्। ❀ गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः ❀। शुक्लो गुणोऽस्यास्तीति शुक्लः पटः। कृष्णः।

मत्वर्थक प्रत्यय पर में रहते तकारान्त सकारान्त को भसंज्ञा होती है। प्रथमान्त विद्वस् शब्द से मतुप् (मत्) भसंज्ञा, 'वसोः' से सम्प्रसारण पूर्वरूप षत्व विदुष्मान्। • गुण में एवं गुणी (द्रव्य) में प्रसिद्ध जो शब्द शुक्लादि उनसे विहित मतुप् का लुक् होता है। शुक्लगुणवान् पट में गुणवाचक शुक्ल से मतुप् का लुक् हुआ तो भी 'यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी' न्याय से शुक्लगुणाश्रयरूप अर्थ का शुक्ल प्रतिपादक है। शुक्लः पटः। कृष्णः पटः। यहां भी मतुप् का लुक् है।

विमर्श—नैयायिक वैयाकरणों की मतुप् लुगादि प्रक्रिया से अनभिज्ञता के कारण गुणवाचक शुक्लादि शब्दों की गुणी में अर्थात् द्रव्य में लक्षणा है ऐसा कहते हैं वह सर्वथा असङ्गत है, शब्दार्थ बाध में लक्षणा होती है यहां तो शक्त्या ही गुणिवाचकत्व है, जघन्या लक्षणारूप वृत्ति का अवलम्बन सर्वथा अनुचित है। शुक्लगुणाश्रयाभिन्नः पटः इस प्रकार एकार्थबोधकत्वरूप सामानाधिकरण्य की उपपत्ति शक्ति से ही हुई।

१८९७ मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ८।२।९।

मवर्णोऽवर्णान्तान्मवर्णावर्णोपधाच्च यवादिवर्जात्परस्य मतोर्मस्य वः स्यात्। किम्वान्। ज्ञानवान्। विद्यावान्। लक्ष्मीवान्। यशस्वान्। भास्वान्। यवादेस्तु यवमान्। भूमिमान्।

मवर्णान्त एवं अवर्णान्त तथा मकारोपध, एवं अकारोपध जो शब्द इनसे पर मतुप् के मकार को वकार आदेश होता है, किन्तु यवादिगणपठित शब्द से पर मतुप् के मकार को वकारादेश नहीं होता है। मकारान्त का उदाहरण किम्वान्। अकारान्त का उदाहरण ज्ञानवान्। मकारोपध का उदाहरण—लक्ष्मीवान्। अकारोपध का उदाहरण यशस्वान्। भास्वान्। यवादि से पर मकार को वकार नहीं यवमान्।

१८९८ झयः ८।२।१०।

झयन्तान्मतोर्मस्य वः स्यात्। अपदान्तत्वान्न जश्त्वम्। विद्युत्वान्।

झयन्त से पर जो मतुप् का मकार उसको वकारादेश होता है। विद्युत्वान्। यहां पदान्त झल् न होने से तकार को दकारादेश जश्त्व से न हुआ।

१८९९ संज्ञायाम् ८।२।११।

मतोर्मस्य वः स्यात्। अहीवती। मुनीवती। शरादीनाञ्चेति दीर्घः।

संज्ञा में मतुप् के मकार को वकारादेश होता है। 'शरादीनाम्' से दीर्घ अहीवती। मुनीवती।

१९०० आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रीवत्कक्षीवद्रुमण्वच्चर्मण्वती ८।२।१२।

एते षट् संज्ञायां निपात्यन्ते। आसनशब्दस्य आसन्दीभावः। आसन्दीवान् ग्रामः। अन्यत्र आसनवान्। अस्थिशब्दस्याष्ठीभावः। अष्ठीवान् नाम ऋषिः। अस्थिमान् अन्यत्र। चक्रशब्दस्य चक्रीभावः। चक्रीवान्नाम

राजा। चक्रवान् अन्यत्र। ॐ कक्ष्याया सम्प्रसारणञ्च ॐ। कक्षीवान् नाम ऋषिः। कक्ष्यावान् अन्यत्र। लवणशब्दस्य रुमण्भावः। रुमण्वान् नाम पर्वतः। लवणवान् अन्यत्र। चर्मणो नलोपाभावो णत्वञ्च। चर्मण्वती नाम नदी। चर्मवती अन्यत्र।

आसन्दीवत्, अष्ठीवत्, चक्रीवत्, कक्षीवत्, रुमण्वत्, चर्मण्वत् ये छः मतुप प्रत्ययान्त संज्ञा में निपातन से सिद्ध होते हैं। आसन से मतुप आसन्दी आदेश आसन को हुआ। मकार को 'मादुपधायाश्च' से वकारादेश आसन्दीवान् ग्राम। अन्यत्र आसनवान्। अस्थि से मतुप कर प्रकृति को अष्ठी आदेश मकार को वकारादेश अष्ठीवान ऋषि। अन्यत्र अस्थिमान्। चक्र से मतुप चक्र को चक्रीभाव निपातन से। वकारादेश चक्रीवान राजा। अन्यत्र चक्रवान। कक्ष्या से मतुप् एव यण् को कक्ष्या का है उसको सम्प्रसारण पूर्वरूप दीर्घ कक्षीवान् ऋषि। अन्यत्र कक्ष्यावान। लवण से मतुप् प्रकृति को रुमण् भाव होता है। रुमण्वान् पर्वत। अन्यत्र लवणवान्। चर्मन् से मतुप् नलोपाभाव एव णत्व से नदी अर्थ में चर्मण्वती। अन्यत्र चर्मवती।

१९०१ उदन्वान् उदधौ च ८।२।१३।

उदकस्य उदन्भावो मतौ उदधौ संज्ञाया च। उदन्वान् समुद्रः ऋषिश्च।

उदक शब्द को उदन् आदेश होता है, मतुप् पर रहते, समुद्र एव संज्ञा में उदन्वान् समुद्र एव ऋषि।

१९०२ राजन्वान् सौराज्ये ८।२।१४।

राजन्वती भूः। राजवान् अन्यत्र।

सौराज्य में मतुप् पर रहने राजन् का लोप नहीं होता है। स्त्रीलिङ्ग में ङीप् राजन्वती भू। अन्यत्र राजवान्।

१९०३ प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् ५।२।९६।

चूडालः। चूडावान्। प्राणिस्थात् किम्, शिखावान् दीपः। आतः किम्, हस्तवान्। प्राण्यङ्गादेव। नेह—मेधावान्। प्रत्ययस्वरेणैव सिद्धे अन्तोदात्तत्वे चूडालोऽसीत्यादौ स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादाविति स्वरितबाधनार्थश्चकारः।

प्रथमान्त प्राणिस्थ आकारान्तशब्द से 'अस्य अस्मिन' अर्थ में लच प्रत्यय होता है विकल्प से। पक्ष में मतुप्। चूडालः। चूडावान। प्राणिस्थ कहने से दीप में शिखावान् ही हुआ। आकारान्तप्राण्यङ्ग हस्त नही अतः मतुप् हस्तवान। मेधा प्राणिस्थ किन्तु हस्तादिवद् अङ्ग नहीं अतः लच् न हुआ। मतुप् मेधावान।

'चित' अन्तोदात्त करने के लिए 'लच्' में चकार की इत्संज्ञा हुई है। यहां शङ्का करते हैं कि 'प्रत्ययः आद्युदात्तः' से लकाराकार को उदात्तत्व सिद्ध ही है। पुनः प्रत्यय में चकारोच्चारण क्यों किया? समाधान—चूडालस असि यहां असि को 'तिङ्ङतिङः' से निघात = अनुदात्त का विधान किया, म् को रु उसको उकार हुआ, व्यञ्जन सस्वर धर्मयुक्त होने से अनुदात्त सकार है स्थानिगुणक आदेश रु अनुदात्त उसके स्थान में उकार भी अनुदात्त है आद्गुण से गुण हुआ। अकार उदात्त उकार अनुदात्त इनके स्थान में गुणरूप एकादेश 'एकादेश' सूत्र से उदात्त हुआ ओकार उदात्त है। उसके बाद 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप एकादेश हुआ उसको 'स्वरितो वाऽनुदात्ते' से स्वरित

प्राप्त हुआ। उसको बाधकर चित्त से अन्तोदात्त होकर उदात्तत्व के लाभार्थ चकार यहां किया है। 'चूडालोऽसि'।

१९०४ सिध्मादिभ्यश्च ५।२।९७।

लच्वा स्यात्। सिध्मलः। सिध्मवान्। अन्यतरस्यां ग्रहणं मतुप्समुच्चयार्थं न तु प्रत्ययविकल्पार्थम्। तेनाकारान्तेभ्य इनिठनौ न। ॐ वातदन्तबलललाटानामूङ् च ॐ। वातूलः।

प्रथमान्त सिध्म आदि से विकल्प से लच् प्रत्यय होता है। यहां पूर्व सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति है, वह मतुप् प्रत्यय का समुच्चय के लिए ही है। विकल्प से अन्यान्य प्रत्यय विधानार्थ नहीं है। अतः इस गण में पठित अकारान्त शब्द से इन् एवं ठन् प्रत्यय न हुआ। * वात आदि शब्दों से ऊङ् होता है। वातूलः।

१९०५ वत्सांसाभ्यां कामबले ५।२।९८।

आभ्यां लज्वा स्याद्यथासंख्यं कामवति बलवति चार्थे। वत्सलः। अंसलः।

कामवान् बलवान् अर्थ में प्रथमान्त वत्स एवं अंस से 'अस्य अस्मिन्' अर्थ में लच् प्रत्यय विकल्प से होता है। वत्सलः। अंसलः।

१९०६ फेनादिलच् च ५।२।९९।

चाल्लच्। अन्यतरस्यां ग्रहणं मतुप्समुच्चयार्थमनुवर्तते। फेनिलः। फेनलः। फेनवान्।

वर्तमान कालिक सत्ताविशिष्ट प्रथमान्त समर्थ फेन से अस्य अस्मिन् अर्थ में इलच् प्रत्यय विकल्प से होता है। चकार से लच् भी होता है। अन्यतरस्यां की अनुवृत्ति मतुप् प्रत्यय के समुचय के लिए है। तीन रूप हुए।

१९०७ लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः ५।२।१००।

लोमादिभ्यः शः। लोमशः। लोमवान्। रोमशः। रोमवान्। पामादिभ्यो नः। पामनः। अङ्गात् कल्याणे अङ्गना। लक्ष्म्या अच्च। लक्ष्मणः। विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धेः। विषुणः। पिच्छादिभ्यः इलच् पिच्छिलः। पिच्छवान्। उरसिलः। उरस्वान्।

प्रथमान्त लोमादि शब्दों से श प्रत्यय होता है मत्वर्थ में। पामादि से न प्रत्यय, अङ्ग से कल्याण अर्थ में न प्रत्यय होता है। लक्ष्मी से न प्रत्यय एवं ईकार को अद आदेश होता है। अकृत सन्धिक विषु अच् से न प्रत्यय होता है एवं उत्तरपद का लोप होता है। पिच्छादि से इलच् प्रत्यय मत्वर्थ में होता है।

१९०८ प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः ५।२।१०१।

प्राज्ञो व्याकरणम्। प्राज्ञा। श्राद्धः। आर्चः। ॐ वृत्तेश्च ॐ वार्तः।

प्रथमान्त प्रज्ञा, श्रद्धा, अर्चा से 'अस्यास्ति' में ण प्रत्यय होता है। वृत्ति से भी ण प्रत्यय होता है।

१९०९ तपःसहस्राभ्यां विनीनौ ५।२।१०२।

विनीन्योरिकारो नकारपरित्राणार्थः । तपस्वी । सहस्री । असन्तत्वाददन्तत्वात् सिद्धे पुनर्वचनमणा बाधा मा भूदिति । सहस्रात्तु ठनोऽपि बाधनार्थम् ।

वर्तमान कालिक सत्ता विशिष्ट प्रथमान्त जो तपस् एव सहस्र शब्द उससे मत्वर्थ में क्रमश विनि एव इनि प्रत्यय होता है । उभयत्र इकारान्त प्रत्यय विधान का यह फल है कि नकार प्रत्ययान्त नहीं है अत 'हलन्त्यम्' की अप्राप्ति से नकार की सुरक्षा हुई, नान्तप्रत्यय करते तो नलोप रूप आपत्ति होती है । 'अस्मायामेधा' से तपस् को विनि प्रत्यय सिद्ध ही था एव अकारान्त सहस्र शब्द से 'अत इनिठनौ' से इनि प्रत्यय सिद्ध ही था पुन यहा 'विनीनौ' का विधान इसलिए किया है कि अण् से बाध न हो । अन्य भी प्रयोजन कहते हैं सहस्र शब्द से प्राप्त ठन् का भी बाध रूप यहां प्रयोजन है ।

१९१० अण् च ५।२।१०३।

योगविभाग उत्तरार्थः । तापसः । साहस्र । ❀ ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम् ❀ ज्यौत्स्न । तामिस्र ।

प्रथमान्त तपस एव सहस्र से पर अण् प्रत्यय मत्वर्थ में होता है । यह योग विभाग उत्तरार्थ है । एव विनि इनि का यथासंख्य सम्पादनार्थ भी है । ज्योत्स्नादि से भी अण् प्रत्यय होता है ।

१९११ सिकताशर्कराभ्याञ्च ५।२।१०४।

सैकतो घटः । शार्कर ।

प्रथमान्त सिकता [illegible] शर्करा से मत्वर्थ में अण् प्रत्यय केवल होता है ।

१९१२ देशे लुबिलचौ च ५।२।१०५।

चादण् मतुप् च । सिकता सन्त्यस्मिन् देशे सिकता । सिकतिल । सैकत सिकतावान् एव शर्करेत्यादि ।

देश अर्थ में सिकता एव शर्करा से पर अण् का लुप होता है । एव इलच् प्रत्यय, चकार से से अण् एव मतुप भी होता है । चार रूप हुए । इसी प्रकार शर्करा । शार्करिल । शार्कर । शर्करावान् ।

१९१३ दन्त उन्नत उरच् ५।२।१०६।

उन्नता दन्ता सन्ति अस्य दन्तुरः ।

उन्नत अर्थ में प्रथमान्त दन्त से 'अस्य सन्ति' अर्थ में उरच् प्रत्यय होता है ।

१९१४ ऊषसुषिमुष्कमधो रः ५।२।१०७।

ऊषर । सुषिर । मुष्क =अण्ड । मुष्कर । मधु=माधुर्य्यम् । मधुर । ❀ रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम् ❀ । खर । मुखर । कुञ्जो= हस्तिहनु । कुञ्जर. ❀ नगपांसुपाण्डुभ्यश्च ❀ । नगरम् । पांसुर । पाण्डुर । पाण्डरशब्दस्तु अव्युत्पन्न एव । ❀ कच्छ्वा ह्रस्वत्व च ❀ । कच्छुर. ।

प्रथमान्त ऊष, शुषि, मुष्क, मधु से पर र प्रत्यय होता है। अण्डकोष को मुष्क कहते हैं। मधुशब्द माधुर्य्य गुणवाचक है। ख, मुख एवं कुञ्ज से पर र प्रत्यय होता है। कुञ्जशब्द से हाथी की दाढी जानना। नग, पांशु एवं पाण्डु से पर र प्रत्यय होता है। पाण्डर अव्युत्पन्न प्रातिपदिक व्युत्पत्ति सिद्ध नहीं है। कच्छू से उत्तर र प्रत्यय होता है एवं ऊकार का ह्रस्व होता है।

१९१५ द्युद्रुभ्यां मः ५।२।१०८।

द्युमः। द्रुमः।

दिवका द्यु बना है। द्रुः = वृक्षः या शाखा द्रुमः।

द्यु एवं द्रु से मत्वर्थ में म प्रत्यय होता है।

१९१६ केशाद् वोऽन्यतरस्याम् ५।२।१०९।

प्रकृतेनान्यतरस्यांग्रहणेन मतुपि सिद्धे पुनर्ग्रहणमिनिठनोः समावेशार्थम्। केशवः। केशी। केशिकः। केशवान्। ❀ अन्येभ्योऽपि दृश्यते ❀। मणिवो नागविशेषः। हिरण्यवो निधिविशेषः। ❀ अर्णसो लोपश्च ❀। अर्णवः।

वर्तमान कालिक सत्ताविशिष्ट प्रथमान्त केश शब्द से अस्य अर्थ में व प्रत्यय विकल्प से होता है। पूर्व में अनुवृत्त 'अन्यतरस्याम्' से मतुप् प्रत्यय होता पुनः इनमें 'अन्यतरस्याम्' से इन् एवं ठन् का भी समावेश होता है। चार रूप हुए। व प्रत्यय, इन् प्रत्यय ठन् प्रत्यय एवं मतुप्। अन्य शब्द से भी व प्रत्यय होता है। नागविशेष में 'मणिवः'। निधिविशेष में 'हिरण्यवः' हुआ। अर्णस् से व प्रत्यय होता है। एवं अन्त्यका लोप हुआ। अर्णवः।

१९१७ गाण्ड्यजगात्संज्ञायाम् ५।२।११०।

ह्रस्वदीर्घयोर्यणा तन्त्रेण निर्देशः। गाण्डिवम्। गाण्डीवम्। अर्जुनस्य धनुः। अजगवम् = पिनाकः।

संज्ञा में गाण्डि, गाण्डी, अजग से व प्रत्यय होता है। सूत्र में ह्रस्वान्त एवं दीर्घान्त गाण्डि एवं गाण्डी का तन्त्र करके यण् घटित निर्देश है। अर्जुन के धनुष् को गाण्डिवम् कहते हैं शङ्कर जी के धनुष् को अजगव कहते हैं।

१९१८ काण्डाण्डादीरन्नीरचौ ५।२।१११।

काण्डीरः। आण्डीरः।

प्रथमान्त काण्ड एवं आण्ड से क्रमशः ईरन् एवं ईरच् होता है।

१९१९ रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच् ५।२।११२।

रजस्वला स्त्री। कृषीवलः। वल इति दीर्घः। आसुतीवलः शौण्डिकः। परिषद्वलः। पर्षदिति पाठान्तरम्। पर्षद्वलम्। ❀ अन्येभ्योऽपि दृश्यते ❀। भ्रातृवलः। पुत्रवलः। शत्रुवलः। 'वल' इत्यत्र 'संज्ञायाम्' इत्यनुवृत्तेर्नेह दीर्घः।

रजस्, कृषि, आसुति, परिषद् इनसे पर मत्वर्थ में वलच् प्रत्यय होता है। कृषीवलः = कृषकः यहाँ 'वले च' से संज्ञा में दीर्घ हुआ है। शौण्डिक अर्थ में आसुतीवलः। पर्षद् ऐसा पाठान्तर भी है। पूर्वोक्त शब्दों से भिन्न शब्दों से भी वलच् प्रत्यय होता है। संज्ञा में ही 'वले' सूत्र दीर्घ करता है अतः भ्रातृवलः आदि में दीर्घ न हुआ।

१९२० दन्तशिखात् संज्ञायाम् ५।२।११३।

दन्तावलो हस्ती। शिखावलः केकी।

संज्ञा में दन्त एवं शिखा से पर वलच् प्रत्यय होता है। वलेच से दीर्घ हुआ है।

१९२१ ज्योत्स्नातमिस्राशृङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जस्वलगोमिन्मलिनमलीमसाः ५।२।११४।

मत्वर्थे निपात्यन्ते। ज्योतिष उपधालोपो नश्च प्रत्ययः। ज्योत्स्ना। तमस उपधाया इत्वं रश्च, तमिस्रा, स्त्रीत्वमतन्त्रम्। तमिस्रम्। शृङ्गादिनच्, शृङ्गिणः। ऊर्जसो वलच्। तेन बाधा मा भूत् इति विनिरपि। ऊर्जस्वलः। ऊर्जस्वी। ऊर्जोऽसुगागम इति वृत्तिस्तु चिन्त्या। ऊर्जस्वतीतिवदसुमन्तरेणैवोपपत्तेः। गोशब्दान्मिनिः गोमी। मलाशब्दादिनच्, मलिनः। ईमसश्च मलीमसः।

ज्योत्स्ना, तमिस्रा, शृङ्गिण, ऊर्जस्विन्, ऊर्जस्वल, गोमिन्, मलिन, मलीमस, ये शब्द निपातन से मत्वर्थ में सिद्ध होते हैं। ज्योतिष् शब्द की उपधा का लोप एवं न प्रत्यय होता है। निमित्त वश में इकार या उसके नाश से मूर्धन्य षकार की निवृत्ति से दन्त्य सकार की स्थिति हुई टाप् दीर्घ ज्योत्स्ना। तमस् शब्द से र प्रत्यय एवं उपधा को इकारादेश टाप् दीर्घ। त मस्रा। सूत्र में स्त्रीत्वनिर्देश अविवक्षित है अतः नपुंसक में भी तमिस्रम् हुआ। शृङ्ग से इनच् अकारलोप नकारको णकार शृङ्गिण। ऊर्ज से वलच् ऊर्जस्वल। वलच् से बाध न हो एतदर्थ विनि प्रत्यय भी होता है – ऊर्जस्विन् का ऊर्जस्वी। ऊर्ज को असुक् आगम होता है यह माधववृत्ति चिन्तनीय है। ऊर्जस्वती जिस प्रकार असुन् से सिद्ध हुआ उसी प्रकार यह भी सिद्ध हो ही जाता है। गोशब्द से मिनिप्रत्यय से गोमी। मलशब्द से इनच् प्रत्यय मलिन। मल से ईमस् से मलीमस।

१९२२ अत इनिठनौ ५।२।११५।

दण्डी। दण्डिकः।

प्रथमान्त समर्थ वर्तमान कालिक सत्ताविशिष्ट ह्रस्वाकारान्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में इन् एवं ठन् प्रत्यय होता है। दण्ड अस्ति अस्य दण्डी, दण्डिकः।

१९२३ व्रीह्यादिभ्यश्च ५।२।११६।

व्रीही, व्रीहिकः। न सर्वेभ्यो व्रीह्यादिभ्य इनिठनाविष्येते, किं तर्हि? ॐ शिखामालासंज्ञादिभ्य इनिः ॐ। ॐ यवखदादिभ्य इक। अन्येभ्य उभयम्।

मत्वर्थ में प्रथमान्त व्रीहि आदि से इनि एवं ठन् प्रत्यय होता है। सम्पूर्ण व्रीहि आदि से नहीं किन्तु शिखा, माला संज्ञादि से इनि एवं यव खदिर आदि से ठन् अन्य से उभय प्रत्यय होता है।

१९२४ तुन्दादिभ्य इलच्च ५।२।११७।

चाद् इनिठनौ मतुप् च । तुन्दिलः । तुन्दी । तुन्दिकः । तुन्दवान् । उदर, पिचण्ड, यव, व्रीहि । ❀ स्वाङ्गाद्विवृद्धौ ❀ । विवृद्ध्युपाधिकात्स्वाङ्गवाचिन इलजादयः स्युः । विवृद्धौ कर्णौ यस्य स कर्णिलः । कर्णी । कर्णिकः । कर्णवान् ।

प्रथमान्त तुन्दादि से मत्वर्थ में इलच् प्रत्यय होता है। चकार से इनि, ठन् एवं मतुप् होता है। विवृद्ध उपाधिक स्वाङ्गवाचक प्रथमान्त से मत्वर्थ में इलज् आदि प्रत्यय होते हैं।

१९२५ एकगोपूर्वाट्ठञ् नित्यम् ५।२।११८।

एकशतमस्यास्तीति ऐकशतिकः । ऐकसहस्रिकः । गौशतिकः । गौसहस्रिकः ।

एकपूर्वक एवं गोपूर्वक शब्द से मत्वर्थ में ठञ् प्रत्यय नित्य होता है।

१९२६ शतसहस्रान्ताच्च निष्कात् ५।२।११९।

निष्कात् परो यो शतसहस्रशब्दो तदन्तात्प्रातिपदिकाट् ठञ् स्यान्मत्वर्थे । नैष्कशतिकः । नैष्कसहस्रिकः ।

निष्कशब्द से पर जो शत एवं सहस्र शब्द तदन्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है।

१९२७ रूपादाहतप्रशंसयोर्यप् ५।२।१२०।

आहतं रूपमस्यास्तीति रूप्यः कार्षापणः । प्रशस्तं रूपमस्यास्तीति रूप्यो गौः । आहतेति किम्, रूपवान् । ❀ अन्येभ्योऽपि दृश्यते ❀ । हिम्याः पर्वताः । गुण्याः ब्राह्मणाः ।

आहत एवं प्रशस्त अर्थ में मत्वर्थ में रूप से यप् प्रत्यय होता है। आहत अर्थ न होने पर रूपवान् रूप हुआ। आहत का अर्थ ताडन है। ताडनक्रियाजन्य रूपयुक्त से रूप्यः = कार्षापणः। अन्य शब्दों से भी यप् होता है 'भूमा' अर्थ में हिम से यप् हिम्याः = अधिक हिमयुक्त पर्वत। प्रशस्त गुणयुक्त ब्राह्मण में गुण्याः।

१९२८ अस्मायामेधास्रजो विनिः ५।२।१२१।

यशस्वी । यशस्वान् । मायावी । व्रीह्यादिपाठादिनिठनौ मायी । मायिकः । क्विन्नन्तत्वात्कुः स्रग्वी । ❀ आमयस्योपसंख्यानं दीर्घश्च ❀ । आमयावी ।

❀ शृङ्गवृन्दारकाभ्यामारकन् ❀ । शृङ्गारकः । वृन्दारकः । ❀ फलबर्हाभ्यामिनच् ❀ । फलिनः । बर्हिणः । ❀ हृदयाच्चालुरन्यतरस्याम् ❀ । इनिठनौ मतुप् च हृदयालुः हृदयी । हृदयिकः । हृदयवान् ।

शीतोष्णतृप्रेभ्यस्तदसहने ❀ । शीतं न सहते शीतालुः । उष्णालुः । स्फायितञ्चीति रक् तृप्रः = पुरोडाशः तं न सहते तृप्रालुः तृप्रम = दुःखम् इति माधवः । हिमाच्चेलुः । हिमं न सहते हिमेलुः । ❀ बलादूलः ❀ । बलं न सहते बलूलः ।

॥ वातात् समूहे च ॥। वातं न सहते वातस्य समूहो वा वातूलः। ॥तप् पर्वमरुद्भ्याम् ॥। पर्वतः। मरुत्तः।

प्रथमान्त समर्थ असन्त शब्द, माया, मेधा, स्रज इन प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में विनि प्रत्यय होता है। पक्ष में मतुप्। माया शब्द का व्रीहि आदि गण में पाठ से इनि एवं ठन् भी होता है। स्रज् शब्द विन् प्रत्ययान्त से विनि कर 'चोः कुः' से कुत्व से स्रग्वी। आमयशब्द से विनिप्रत्यय एवं प्रकृति के अन्त्यवर्ण का दीर्घ होता है आमयावी। आमय = रोग को कहते हैं। शृङ्ग एवं वृन्दारक से मत्वर्थ में आरकन् प्रत्यय होता है। फल एवं बर्ह से इनच् होता है। हृदय से आलु प्रत्यय होता है विकल्प से पक्ष में इन् प्रत्यय, ठन्, एवं मतुप् से चार रूप हुए। असहन अर्थ में शीत, उष्ण, तृप से पर आलु प्रत्यय होता है। तृप में उणादि रक् है। तृप का अर्थ है पुरोडाश। माधवाचार्य के मत में तृप का अर्थ है दुःख। हिम शब्द से पर एलु प्रत्यय होता है। बल शब्द से समूह अर्थ में ऊल प्रत्यय होता है। वातशब्द से समूह अर्थ में एवं चकार से असहन अर्थ में ऊल प्रत्यय होता है। पर्व एवं मरुत् शब्द से पर तप् प्रत्यय होता है।

१९२९ ऊर्णाया युस् ५।२।१२३।

सित्त्वात्पदत्वम्। ऊर्णायुः। अत्र छन्दसीति केचिदनुवर्तयन्ति। युक्तं चैतत्, अन्यथा हि अहंशुभमोरित्यत्रैवोर्णाग्रहणं कुर्यात्।

ऊर्णा शब्द से युस् प्रत्यय होता है, प्रत्यय सित् होने से 'सिति च' से प्रकृति की पद संज्ञा हुई। यहाँ कोई छन्द की अनुवृत्ति होती है ऐसा कहते हैं। छन्द की अनुवृत्ति उचित ही है। यदि छन्दसि की अनुवृत्ति यहां न होती तो 'अहं शुभमोर्युस्' यहां ही ऊर्णा का भी पाठ कर देने से प्रयोगसिद्धि होती यह पृथक् सूत्रनिर्माण व्यर्थ ही होता।

१९३० वाचो ग्मिनिः ५।२।१२४।

वाग्मी।

प्रशस्त वाणीयुक्त वाक् शब्द से मत्वर्थ में ग्मिनि प्रत्यय होता है। प्रशस्ता युक्तियुक्ता वाक् अस्य में वाग्मी यहां ककार का जश्त्व से गकार अतः दो गकारयुक्त रूप है। एक गकार घटित जो रूप लिखते हैं वह असंगत क्रम है एवं असाधुप्रयोग है।

१९३१ आलजाटचौ बहुभाषिणि ५।२।१२५।

॥ कुत्सित इति वक्तव्यम्। कुत्सितं बहु भाषते वाचालः। वाचाटः। यस्तु सम्यग् बहुभाषते स 'वाग्मी' इत्येव।

बहुभाषणकर्ता अर्थ में प्रथमान्त वाक् से मत्वर्थ में आलच् एवं आटच् प्रत्यय होता है। कुत्सित अर्थ में पूर्वोक्त प्रत्यय इष्ट होता है ऐसा वक्तव्य व्याख्ये। युक्तियुक्त अच्छे वचनों को अधिक बोलने वाला में वाग्मी होता है। "मूकं करोति वाचालम्" यहां प्रसिद्धार्थ जो है वह असङ्गत है भगवत्कृपा जन्य फल यह है कि वाचाल जन मूक करोति, अनुचित भाषणकर्ता ज्ञानी होकर मूक बनता है अर्थात् मौनव्रत को धारण करता है, एवं इधर उधर इच्छाओं की पूर्ति के लिए भ्रमणक्रिया कर्ता पङ्गु के समान बनकर परमात्मा का ध्यान करता है यही अर्थ उचित है।

१९३२ स्वामिन्नैश्वर्ये ५।२।१२६।

ऐश्वर्यवाचकात् स्वशब्दात् मत्वर्थे आमिनच्। स्वामी।

ऐश्वर्य वाचक जो स्वशब्द उससे मत्वर्थ में आमिनच् प्रत्यय होता है।

१९३३ अर्शआदिभ्योऽच् ५।२।१२७।

अर्शांस्यस्य विद्यन्ते अर्शसः। आकृतिगणोऽयम्।

मत्वर्थ में प्रथमान्त अर्श आदि गणपठित शब्दों से पर अच् प्रत्यय होता है। आकृति गण यह है।

१९३४ द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात् प्राणिस्थादिनिः ५।२।१२८।

द्वन्द्वः-कटकवलयिनी। शङ्खनूपुरिणी। उपतापो=रोगः। कुष्ठी। किलासी। गर्ह्यम्=निन्द्यम्। ककुदावर्ती। काकतालुकी। प्राणिस्थात् किम्, पुष्पफलवान् घटः। ❀ प्राण्यङ्गान्न ❀। पाणिपादवती। अत इत्येव। चित्रकललाटिकावती। सिद्धे प्रत्यये पुनर्वचनं ठनादिबाधनार्थम्।

प्राणिस्थ=प्राणी में विद्यमान है इस अर्थ में द्वन्द्वसमास निष्पन्न शब्द। उपताप=रोग वाचक जो शब्द, एवं निन्दा का कर्म=निन्द्य शब्द, इनसे मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है। पुष्प एवं फलों से युक्त घड़ा यहां प्राणिस्थ न होने से मतुप् ही हुआ। प्राणी के अवयव वाचक से इनि नहीं होता है पाणिपादमस्ति यस्याः यहां मतुप् ङीप्। ह्रस्व अकार अन्त में रहे वहां ही इनि होता है। आकारान्त से नहीं। प्रत्यय सिद्ध था पुनः वचन ठन् के बाधनार्थ है अन्यथा इन् ठन् दोनों सामान्य शास्त्र से होते।

१९३५ वातातीसाराभ्यां कुक् च ५।२।१२९।

चादिनिः। वातकी। अतीसारकी। ❀ रोगे चायमिष्यते ❀। नेह,–वातवती गुहा ❀ पिशाचाच्च ❀। पिशाचकी।

मत्वर्थ में वात एवं अतीसार शब्द से पर इनि प्रत्यय होता है एवं इन दोनों शब्दों को कुक् आगम होता है। रोग में यही इसकी प्रवृत्ति होती है। वायु से युक्त गुफा यहां मतुप् मकार को वकारादेश ङीप् वातवती। मत्वर्थ में प्रथमान्त पिशाच शब्द से इनि प्रत्यय एवं प्रकृति को कुक् आगम होता है।

१९३६ वयसि पूरणात् ५।२।१३०।

पूरणप्रत्ययान्तान्मत्वर्थे इनिः स्याद् वयसि द्योत्ये। मासः संवत्सरो वा पञ्चमोऽस्यास्तीति पञ्चमी उष्ट्रः। ठन्बाधनार्थमिदम्। वयसि किम्, पञ्चमवान् ग्रामः।

वयः=अवस्था प्रतीयमान होने पर पूरण प्रत्ययान्त शब्द से पर मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है। पांचमास या पांच वर्ष से युक्त ऊंट अर्थ में डट् प्रत्ययान्त पञ्चम से इन् प्रत्यय से पञ्चमी उष्ट्रः। 'अत इनिठनौ' से इनि सिद्ध था पुनः इनि का विधान ठन् के बाधनार्थ है। जहां वय गम्यमान नहीं है यथा पञ्चत्व संख्या को परिपूर्ण करने वाला जो पुरुष उससे संयुक्त जो ग्राम इसमें पञ्चमवान् ग्रामः यहां मतुप् हुआ।

१९३७ सुखादिभ्यश्च ५।२।१३१।

इनिर्मत्वर्थे। सुखी। दुःखी। माला क्षेपे माली।

मत्वर्थ में सुखादि प्रथमान्त से इनि प्रत्यय होता है। माला शब्द से निन्दा में इनि।

१९३८ धर्मशीलवर्णान्ताच्च ५।२।१३२।

धर्माद्यन्तादिनिर्मत्वर्थे। ब्राह्मणधर्मी। ब्राह्मणशीली। ब्राह्मणवर्णी।

धर्म, शील, वर्ण है अन्त में जिसको ऐसा जो प्रथमान्त प्रातिपदिक शब्द उससे मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है। ब्राह्मण का जो धर्म उससे युक्त, ब्राह्मण का शील = स्वभाव उससे युक्त, ब्राह्मण का जो वर्ण उससे जो युक्त वहां इनि प्रत्यय हुआ।

१९३९ हस्ताज्जातौ ५।२।१३३।

हस्ती। जातौ किम्, हस्तवान् पुरुषः।

जाति अर्थ में हस्त से पर इनि प्रत्यय होता है। जाति से भिन्न में मतुप् होता है। यहां प्रकृति प्रत्यय युक्त से हस्तित्व जाति की प्रतीति है अतः हस्ती। हाथ से युक्त में हस्तवान्।

१९४० वर्णाद् ब्रह्मचारिणि ५।२।१३४।

वर्णी।

ब्रह्मचारी अर्थ में वर्ण से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है। ब्रह्मचर्य से युक्त वर्णी।

१९४१ पुष्करादिभ्यो देशे ५।२।१३५।

पुष्करिणी। पद्मिनी। देशे किम्, पुष्करवान् करी। * बाहूरुपूर्वाद् बलात्। बाहुबली। ऊरुबली। सर्वादेश्च *। सर्वधनी। सर्वबीजी। अर्थाच्चासन्निहिते अर्थी। सन्निहिते तु अर्थवान्। तदन्ताच्च। धान्यार्थी। हिरण्यार्थी।

देश अर्थ में पुष्कर आदि से पर इनि प्रत्यय होता है। नदी में पुष्करिणी। पद्मिनी। शुण्डादण्ड युक्त हाथी में मतुप् + देश नहीं है पुष्करवान् करी। बाहु एवं ऊरु से पर जो जो बल शब्द तदन्त समर्थ प्रथमान्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है। बाहु का ही बलवान् अर्थ में बाहुबली। भागने का ही बलवान् में ऊरुबली, पलायन क्रिया में निपुण। सर्व है आदि में जिसको ऐसा जो प्रथमान्त प्रातिपदिक शब्द से इनि। वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध से युक्त को असन्निहित कहते हैं। शब्द वाचक है अर्थ वाच्य है शब्दार्थ का वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध है, वहां इन् नहीं होता है यथा अर्थवान्। अर्थ = द्रव्य उस का स्वामी यहां स्वस्वामिभाव सम्बन्ध की प्रतीति से असन्निहितत्व की प्रतीति से इनि प्रत्यय हुआ अर्थी। अर्थ शब्द है अन्त में जिसको उससे भी इनि प्रत्यय होता है यथा धान्यार्थी। सुवर्णार्थी।

१९४२ बलादिभ्यो मतुबन्यतरस्याम् ५।२।१३६।

बलवान्। बली। उत्साहवान्। उत्साही।

प्रथमान्त समर्थ बलादि से मतुप विकल्प से होता है, पक्ष में इनि प्रत्यय।

१९४३ संज्ञायां मन्माभ्याम् ५।२।१३८।

मन्नन्तान्मान्ताच्चेनिर्मत्वर्थे। प्रथमिनी। दामिनी। होमिनी। सोमिनी। संज्ञायां किम्, सोमवान्।

मनन्त एवं मान्त से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है संज्ञा में। जहां असंज्ञात्व है वहां मतुप् यथा सोमवान्।

१९४४ कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः ५।२।१३८।

कं शमिति मान्तौ। कमित्युदकसुखयोः। शमिति सुखे। आभ्यां सप्त प्रत्ययाः स्युः। युस्यसोः सकारः पदत्वार्थः। कंबः। कंभः। कंयुः। कंतिः। कंतुः। कंतः। कंयः। शंवः। शंभः। शंयुः। शंतिः। शंतुः। शंतः। शंयः। अनुस्वारस्य वैकल्पिकः परसवर्णः। वकारयकारपरस्यानुनासिकौ वयौ।

जलार्थककम् से एवं सुखार्थक शम् से पर व, भ, युस्, ति, तु, त, युस् सात प्रत्यय होते हैं। युस् एवं यस् में सकार की इत् संज्ञा से 'सिति च' से पूर्व प्रकृति की पदसंज्ञा होती है। कवँ्वः। कम्भः। कयँ्युः। कन्तिः। कन्तुः। कन्तः। कयँ्यः। शंवः। शम्भः। शयं्युः। शन्तिः। शन्तुः। शन्तः। शयं्यः। अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण होता है। वकार एवं यकार पर रहते वँ् एवं यँ् अनुनासिक होता है।

१९४५ तुन्दिवलिवटेर्भः ५।२।१३९।

वृद्धा नाभिः=तुन्दिः। मूर्द्धन्योपधोऽयमिति माधवः। तुन्दिभः। वलिभः। वटिभः। पामादित्वाद् वलिनोऽपि।

तुन्दि, वलि एवं वटि से मत्वर्थ में भप्रत्यय होता है। प्रवृद्ध नाभि को तुन्दि कहते हैं। माधवाचार्य जी के मत से यह 'तुण्दि' ऐसा मूर्द्धन्य णकारोपध है। वलि का पामादिगण में पाठ है अतः न प्रत्यय भी इससे होता है।

१९४६ अहंशुभमोर्युस् ५।२।१४०।

'अहम्' इति मान्तम् अव्ययम् अहङ्कारे। 'शुभम्' इति शुभे। अहंयुः= अहङ्कारवान्। शुभंयुः=शुभान्वितः।

इति मत्वर्थीयाः।

अहङ्कार अर्थ में मान्त अव्यय अहम् से एवं शुभलक्षणों से युक्त अर्थ में विद्यमान शुभम् से से पर मत्वर्थ में युस् प्रत्यय होता है। अहंयुः=अहङ्कार से युक्त शुभंयु=शुभगुणों से उपेत।

पं० श्री बा० कृ० पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में मत्वर्थीय प्रकरण समाप्त



अथ प्राग्दिशीयप्रकरणम्

१९४७ प्राग्दिशो विभक्तिः ५।३।१।

दिक्शब्देभ्य इत्यत प्राग् वक्ष्यमाणा प्रत्यया विभक्तिसंज्ञा स्यु ।

अथ स्वार्थिका प्रत्यया

समर्थानामिति, प्रथमादिति च निवृत्तम् । वेति त्वनुवर्तत एव ।

दिक्शब्देभ्य ५।३।२७ इससे पूर्व कहे जायेंगे जो प्रत्यय उनकी विभक्ति संज्ञा होती है। अब स्वार्थिक प्रत्यय कहते हैं। स्वपद से प्रकृति उसका अर्थ = प्रकृत्यर्थ उसमें होने वाला जो प्रत्यय उसे स्वार्थिक प्रत्यय कहते हैं। समर्थानाम् एव प्रथमात् की अनुवृत्ति हुई। अब केवल उससे वा की अनुवृत्ति होती है। विभक्तिसंज्ञानिमित्तक कार्य करने के लिए इस प्रकरण के प्रत्ययों की विभक्ति संज्ञा का विधान किया।

१९४८ किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः ५।३।२।

किम' सर्वनाम्नो बहुशब्दाच्चेति प्राग्दिशोऽधिक्रियते ।

कि, युष्मद् अस्मद्, भवतु से भिन्न किम्शब्द सर्वनामशब्द, एव बहुशब्द के उत्तर प्राग्दिश का अधिकार चलेगा।

१९४९ इदम इश् ५।३।३।

प्राग्दिशीये परे ।

प्राग्दिशीय प्रत्यय पर में रहते इदम् शब्द के स्थान में इश् आदेश होता है।

१९५० एतेतौ रथोः ५।३।४।

इदम् शब्दस्य एत इत इत्यादेशौ स्तो रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये परे इशोऽपवाद ।

रेफादि एव थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय पर में रहते इदम् शब्द के स्थान में एत एव इत आदेश होते हैं। एत एव इत आदेश इश आदेश के बाधक है।

१९५१ एतदोऽन् ५।३।५।

योगविभाग कर्तव्य । एतद एतेतौ स्तो रथो । 'अन्' एतद इत्येव । अनेकाल्त्वात् सर्वादेश' । न लोप प्रातिपदिकान्तस्य ।

इस सूत्र में योगविभाग करना चाहिये यथा—'एतद' एकसूत्र है। एतद् शब्द के स्थान में एत एव इत आदेश होता है रेफादि या थकारादि प्रत्यय पर में रहते। द्वितीयांश—'अन्' एतद् शब्द के स्थान में अन् आदेश होता है। 'अन्' भी अनेकाल है सर्वादेश हुआ, नकार का 'न लोप' से लोप हुआ।

१९५२ सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि ५।३।६।

प्रागदिशीये दकारादौ प्रत्यये परे सर्वस्य सो वा स्यात्।

दकारादि प्रागदिशीय प्रत्यय पर में रहते सर्वशब्द के स्थान में स आदेश विकल्प से होता है।

१९५३ पञ्चम्यास्तसिल् ५।३।७।

पञ्चम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यस्तसिल स्याद् वा।

पञ्चमी विभक्ति है अन्त में जिनसे ऐसे किमादि शब्दों से पर तसिल् प्रत्यय स्वार्थ में विकल्प से होता है।

१९५४ कुति होः।

किमः कुः स्यात् तादौ हादौ च विभक्तौ परतः। कुतः। कस्मात्। यतः। ततः। अतः। इतः। अमुतः। बहुतः। द्व्यादेस्तु द्वाभ्याम्।

तकारादि एवं हकारादि प्रागदिशीय तद्धित प्रत्यय पर में रहते किम् शब्द के स्थान में कु आदेश होता है विकल्प से। कहां से तुम आए? यहां कस्मात् इति किम् शब्द पञ्चम्यन्त से तसिल् (तस्) कु आदेश कुतः। पक्ष में कस्मात्। यस्मात् इति यतः यद् अस् तस्, प्रा० सं० वि० लुक् त्यदादीनामः से अकारादेश पररूप यतः। यस्मात् तस्मात् इति ततः। एतस्मात् इति अतः। अन् आदेश नलोप। अस्मात् इति इतः। अमुष्मात् इति अमुतः। द्वि से तो प्रत्यय नहीं द्वाभ्याम्।

१९५५ तसेश्च ५।३।८।

किंसर्वनामबहुभ्यः परस्य तसेस्तसिलादेशः स्यात्। स्वरार्थं विभक्त्यार्थञ्च वचनम्।

किम्, सर्वनाम एवं बहु से पर तसि के स्थान में तसिल् आदेश होता है। 'लिति' से स्वर करने के लिए एवं विभक्ति संज्ञा के लिए तसिको यहां तसिल् आदेश का विधान है। रूप में तो भेद न था।

१९५६ पर्यभिभ्याञ्च ५।३।९।

आभ्यां तसिल् स्यात्। ॐ सर्वोभयार्थाभ्यामेव ॐ। परितः = सर्वत इत्यर्थः। अभितः = उभयत इत्यर्थः।

सर्वार्थक परि एवं उभयार्थक अभि से तसिल् प्रत्यय होता है।

१९५७ सप्तम्यास्त्रल् ५।३।१०।

कुत्र। यत्र। तत्र। बहुत्र।

सप्तमी विभक्त्यन्त किमादि से पर प्रागदिशीय त्रल् प्रत्यय होता है। कस्मिन्निति - कुत्र।

१९५८ इदमो हः ५।३।११।

त्रलोऽपवादः।

इशादेशः। इह।

सप्तम्यन्त इदम् से स्वार्थ में ह प्रत्यय होता है। यह त्रल् का बाधक है। अस्मिन् इति इह यहां इदम् को इशादेश भी पूर्वसूत्र से है।

१९५९ किमोऽत् ५।३।१२।

वा ग्रहणमपकृष्यते। सप्तम्यन्तात् किमोऽद्वा स्यात्। पक्षे त्रल्।

इस सूत्र में वा की अनुवृत्ति है। सप्तम्यन्त किम् शब्द से स्वार्थ में अत् प्रत्यय होता है विकल्प से। पक्ष में त्रल् होता है।

१९६० क्वाति ७।२।१०५।

किमः क्वादेशः स्यादति। क्व। कुत्र।

अत् प्रत्यय पर में रहते किम् को क्व आदेश होता है विकल्प से। कस्मिन् इति क्व। कुत्र।

१९६१ वाह च च्छन्दसि।

कुह स्थः। कुह जग्मथुः।

वेद में किम् शब्द से पर हप्रत्यय विकल्प से स्वार्थ में होता है। कस्मिन् इति कुह स्था क प्रत्यय आकार लोप कुहस्थः। तुम दोनों किस स्थान में गये थे। कुह जग्मथुः।

१९६२ एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ चानुदात्तौ २।४।३३।

अन्वादेशविषये एतदोऽश् स्यात् स चानुदात्तस्त्रतसोः परतः, तौ चानुदात्तौ स्तः। एतस्मिन् ग्रामे सुखं वसामः, अथात्राधीमहे अतो न गन्तास्मः।

त्र एवं तस् प्रत्यय पर रहते कथित कथन रूप अन्वादेश के विषय में एतद् शब्द के स्थान में अश् आदेश होता है, एवं त्र एवं तस् पर रहते अश् अनुदात्त होता है। इस ग्राम में हम लोग सुखपूर्वक निवास करते हैं इसलिए यहां अध्ययन करते हैं। अतः यहां से नहीं जाते हैं।

१९६३ इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते ५।३।१४।

पञ्चमी सप्तमीतरविभक्त्यन्तादपि तसिलादयो दृश्यन्ते। दृशि ग्रहणाद् भवदादि योग एव। स भवान् = ततो भवान् तत्र भवान्। तं भवन्तम् = ततो भवन्तम् = तत्र भवन्तम्। एवं दीर्घायुः। देवानांप्रियः। आयुष्मान्।

पञ्चम्यन्त एवं सप्तम्यन्त से भिन्न विभक्त्यन्त से भी तसिलादि प्रत्यय होते हैं। दृशिग्रहण से भवत् आदि के योग में प्रत्यय करना चाहिये।

यथा प्रथमान्त से द्वितीयान्त से भी तसिल एवं त्रल् हुआ। भवदादि में आदि से यथा दीर्घायु देवानां प्रिय आयुष्मान् का ग्रहण करना चाहिये।

१९६४ सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा ५।३।१५।

सप्तम्यन्तेभ्यः कालार्थेभ्यः स्वार्थे दा स्यात्। सर्वस्मिन् काले सदा। सर्वदा। एकदा। अन्यदा। कदा। यदा। तदा। काले किम्? सर्वत्र देशे।

सप्तम्यन्त कालवाचक सर्व, एक, अन्य, किम्, यद्, तद्, से पर स्वार्थ में दा प्रत्यय होता है। सर्व को सादेश विकल्प से होने से सदा, सर्वदा। एकस्मिन् काले एकदा। अन्यस्मिन् काले अन्यदा। त्यदादीनामः। अकारादेश। कस्मिन् काले कदा। यस्मिन् काले यदा। तस्मिन् काले तदा। काल नहीं वहां सर्वत्र देशे।

१९६५ इदमोर्हिल् ५।३।१६।

सप्तम्यन्तात् काले इत्येव। हस्यापवादः। अस्मिन् काले एतर्हि। काले किम्? इह देशे।

सप्तम्यन्त कालवाचक इदम् शब्द से पर र्हिल् प्रत्यय होता है। यह सूत्र 'इदमो हः' का बाधक है। अस्मिन् काले एतर्हि यहां 'एतेतौ रथोः' से एत आदेश होता है। एतर्हि। अस्मिन् देशे इह। यहां कालरूपार्थ की अप्रतीति है अतः र्हिल् न हुआ।

१९६६ अधुना ५।३।१७।

इदमः सप्तम्यन्तात्कालवाचिनः स्वार्थेऽधुना प्रत्ययः स्यात्। इश्, यस्येति लोपः। अधुना।

सप्तम्यन्त कालवाचक इदम् शब्द से अधुना प्रत्यय होता है, इदम् को इश् आदेश उस इकारका 'यस्येति च' से लोप केवल प्रत्यय मात्र ही अवशिष्ट रहा, अस्मिन् काले अधुना।

१९६७ दानीं च ५।३।१८।

इदानीम्।

सप्तम्यन्त काल वाचक इदम् से पर स्वार्थ में 'दानीम्' प्रत्यय होता है। अस्मिन् काले इदानीम्।

१९६८ तदो दा च ५।३।१९।

तदा। तदानीम्। तदो दावचनमनर्थकम्, विहितत्वात्।

सप्तम्यन्त कालवाचक तद् शब्द से दाप्रत्यय एवं दानीम् प्रत्यय होता है। 'सर्वैकान्य' से दाप्रत्यय तद् को सिद्ध है पुनः दाप्रत्यय विधान इसको व्यर्थ ही है।

१९६९ अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् ५।३।२१।

कर्हि। कदा। यर्हि। यदा। तर्हि। तदा। एतस्मिन् काले एतर्हि।

अनद्यतन काल में सप्तम्यन्त किमादि से पर र्हिल् विकल्प से होता है, पक्ष में दा होता है। कस्मिन् काले कर्हि। कदा। यस्मिन्, तस्मिन्, एतस्मिन् वा काले यर्हि, यदा, तर्हि, तदा, एतर्हि।

१९७० सद्यःपरुत्परार्यैषमःपरेद्यव्यद्यपूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरितरेद्युरपरेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः ५।३।२२।

एते निपात्यन्ते। समानस्य सभावो द्यस् चाहनि *। समानेऽहनि सद्यः।

पूर्वपूर्वतरयो' पर उदारी च सवत्सरे ❀। पूर्वस्मिन् वत्सरे परुत्। पूर्वतरे वत्सरे परारि। इदम इश् समसण् प्रत्ययश्च सवत्सरे ❀। अस्मिन् सवत्सरे ऐषम.। परस्माद् एद्यव्यहनि ❀। परस्मिन्नहनि परेद्यवि। ❀ इदमोऽश् द्यश्च। अस्मिन् अहनि अद्य। पूर्वादिभ्योऽष्टभ्योऽहन्येद्युस्। पूर्वस्मिन् अहनि पूर्वेद्युः। अन्यस्मिन्नहनि अन्येद्युः। उभयोरह्नोरुभयेद्युः। द्युश्चो भयाद् वक्तव्य। उभयद्युः।

यहां काल अर्थ की प्रतीति रहे वहां सद्य आदि की निपातन से सिद्धि होती है। समान दिन में सद्य। यहां समान को सादेश एव द्यस् प्रत्यय हुआ। पूर्व वर्ष में परुत्। यहां पूर्व को पर आदेश एव उत् प्रत्यय हुआ। पूर्वतर अर्थात् परियार इसमें पूर्वतर को पर आदेश आरि प्रत्यय से परारि। सवत्सर अर्थ में सप्तम्यन्त इदम् को इश् आदेश एव समसण् प्रत्यय से ऐषम। 'अस्मिन् सवत्सरे' मे। सप्तम्यन्त पर शब्द से अहन् अर्थ में एद्यवि प्रत्यय होता है। परस्मिन् अहनि परेद्यवि। दिन अर्थ में सप्तम्यन्त इदम् से द्यप्रत्यय होता है एव प्रकृति को अद् आदेश होता है। अस्मिन् अहनि अद्य। दिन अर्थ में पूर्व आदि आठ शब्दों से एद्युस् प्रत्यय होता है। उभय शब्द से द्युस् होता है। उभयद्यु।

१९७१ प्रकारवचने थाल् ५।३।२३।

प्रकारवृत्तिभ्य' किमादिभ्यस्थाल् स्यात् स्वार्थे। तेन प्रकारेण तथा। यथा।

सामान्यस्य भेदक- प्रकार। प्रकारवृत्ति वाचक तृतीयान्त किम् आदि से पर थाल् प्रत्यय होता है। सामान्य का भेदक=व्यावर्तक को प्रकार कहते हैं यथा ब्राह्मणत्व का भेदक माठरत्व एव कौण्डिन्यत्व है। उसके सादृश तथा। जिसके सदृश यथा।

१९७२ इदमस्थमुः ५।३।२४।

थालोऽपवादः। ❀ एतदो वाच्य। अनेन एतेन वा प्रकारेण इत्थम्।

प्रकार वचन में तृतीयान्त इदम् शब्द से पर थमुप्रत्यय होता है। यह पूर्व सूत्र से प्राप्त थाल् का बाधक है। तृतीयान्त एतद् शब्द से भी प्रकार वचन में थमु होता है। थमु में उकारो च्चारण मकार की रक्षार्थ है, 'हल-त्यम्' से मकार की इत्संज्ञा लोप होता अत अनित्यत्व के अभावार्थ उकार है। यद्यपि 'न विभक्तौ तुस्मा' से इत्संज्ञाभाव होता पुन उकारोच्चारण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि 'न विभक्तौ' सूत्र अनित्य है।

१९७३ किमश्च ५।३।२५।

केन प्रकारेण कथम्।

इति प्राग्दिशीयप्रकरणम्

तृतीयान्त किम्शब्द से प्रकारार्थ में थमु प्रत्यय होता है। केन प्रकारेण कथम्।

प० श्रीवा० कु० पद्मोलिविरचितरत्नप्रभा में प्राग्दिशीय प्रकरण समाप्त।

अथ प्रागिवीयप्रकरणम्

१९७४ दिक्छब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः ५।३।२७।

सप्तम्याद्यन्तेभ्यो दिशि रूढेभ्यो दिग्देशकालवृत्तिभ्यः स्वार्थेऽस्ताति प्रत्ययः स्यात्।

सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त, प्रथमान्त दिशा अर्थ में रूढ दिक् वाचक, देश वाचक, काल वाचक जो शब्द उससे पर अस्ताति प्रत्यय होता है।

१९७५ पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् ५।३।३९।

एभ्योऽस्तात्यर्थेऽसिप्रत्ययः स्यात् तद्योगे चैषां क्रमात्पुर्, अध्, अव्, इत्यादेशाः स्युः।

पूर्व, अधर, अवर से पर अस्ताति के अर्थ में असि प्रत्यय होता है, एवं पूर्व के स्थान में पुर्, अधर के स्थान में अध्, अवर के स्थान में अव्, आदेश होता है।

१९७६ अस्ताति च ५।३।४०।

अस्तातौ परे पूर्वादीनां परादयः स्युः। पूर्वस्यां पूर्वस्याः पूर्वा वा दिक् पुरः। पुरस्तात्। अधः। अधस्तात्। अवः। अवस्तात्।

अस्ताति शब्द पर रहते पूर्वादि के स्थान में पुर् अध् अव् आदेश होता है। असि प्रत्यय एवं अस्ताति में दो रूप हुए।

१९७७ विभाषाऽवरस्य ५।३।४१।

अवरस्यास्तातौ परेऽव् स्याद् वा। अवस्तात्। अवरस्तात्। एवं देशे काले च। दिशि रूढेभ्यः किम्, ऐन्द्र्यां वसति। सप्तम्याद्यन्तेभ्यः किम्, पूर्वं ग्रामं गतः। दिगादिवृत्तिभ्यः किम्, पूर्वस्मिन् गुरौ वसति। अस्ताति चेति ज्ञापकाद् असिरस्तातिं न बाधते।

अस्ताति प्रत्यय पर रहते अवर शब्द के थान में विकल्प से अव् आदेश होता है। अवस्तात्। अवरस्तात्। इसी प्रकार देश, एवं कालविषय में भी होता है। दिशारूपी अर्थ में रूढ न होनेपर इन्द्रो देवता अस्या सा ऐन्द्री तस्यां वसति यहां वाक्य ही रहा। सप्तमी, पञ्चमी एवं प्रथमा तदन्त न होने से 'पूर्वं ग्रामं गतः' यहां वाक्य ही रहा। दिक् देश काल वाचक न होने से 'पूर्वस्मिन् गुरौ वसति' में न हुआ यह कार्य किन्तु वाक्य ही रहा। 'अस्ताति च' इस सूत्र से ज्ञापन होता है कि असि प्रत्यय अस्ताति को बाध नहीं करता है। अन्यथा अस्ताति परक पूर्वादि मिलेंगे ही नहीं पूर्वादि को आदेश विधान व्यर्थ ही होता।

१९७८ दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् ५।३।२८।

अस्तातेरपवादः। दक्षिणतः। उत्तरतः।

दक्षिण एवं उत्तर से अतसुच् प्रत्यय अस्ताति के विषय में होता है। यह अस्ताति का बाधक है।

१९७९ विभाषा परावराभ्याम् ५।३।२९।

परत । अवरत । परस्तात् । अवरस्तात् ।

अस्ताति के विषय में पर [illegible] अवर से पर अतसुच विकल्प से होता है। पक्ष में अस्ताति ।

१९८० अञ्चेर्लुक् ५।३।३०।

अञ्चत्यन्ताद् दिक्शब्दाद् अस्तातेर्लुक् स्यात् । लुक तद्धितलुकि । प्राच्या प्राच्या प्राची वा दिक । प्राक । उदक् । एव देशे काले च ।

अञ्च् धातु है अन्त में जिसको ऐसे दिग्वाचक शब्द से उत्तर अस्ताति का लुक् होता है। ङीप् की निवृत्ति हुई। इसी प्रकार देश एव काल में भी रूप प्राक उदक [illegible]।

१९८१ उपर्युपरिष्टात् ५।३।३१।

अस्तातेविषये ऊर्ध्वशब्दस्योपादेश स्याद् रिल्रिष्टातिलौ च प्रत्ययौ । उपरि—उपरिष्टाद्वा वसति आगतो रमणीय वा ।

अस्ताति के विषय में ऊर्ध्व के स्थान में उप आदेश होता है एव उससे पर रिल् एव रिष्टातिल् प्रत्यय होता है। वास-क्रिया-कर्ता उपरिभाग में स्थित है। या उपरिभाग से आया है। या उपरि-भाग रमणीय है।

१९८२ पश्चात् ५।३।३२।

अपरस्य पश्चभाव, आतिश्च प्रत्ययोऽस्तातेविषये ।

अस्ताति प्रत्यय के विषय में अपर को पश्च आदेश होता है, एव उसके उत्तर आतिप्रत्यय होता है।

१९८३ उत्तराधरदक्षिणादातिः ५।३।३४।

उत्तरात् । अधरात् । दक्षिणात् ।

अस्ताति के विषय में उत्तर, अधर, दक्षिण से आति प्रत्यय होता है।

१९८४ एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः ५।३।३५।

उत्तरादिभ्य एनब् वा स्यादवध्यवधिमतो सामीप्ये पञ्चम्यन्त विना । उत्तरेण । अधरेण । दक्षिणेन । पक्षे यथास्व प्रत्यया । इह केचिद् उत्तरादीन् अननुवर्त्य दिक्शब्दमात्राद् एनपमाहु । पूर्वेण ग्रामम् । अपरेण ग्रामम् ।

अवधि एव अवधिभूत पदार्थ के सामीप्य में उत्तर, अधर, दक्षिण से पर विकल्प से एनप् प्रत्यय होता है, किन्तु पञ्चम्यन्त के उत्तर में एनप् नहीं होता है। पक्ष में—यथाप्राप्त प्रत्यय होते हैं। कोई आचार्य यहां उत्तरादि की अनुवृत्ति नहीं करते हैं उनके मत में दिग्वाचक सभी से एनप् प्रत्यय होता है। पूर्वेण अपरेण ग्रामम् ।

१९८५ दक्षिणादाच् ५।३।३६।

अस्तातेर्विषये। दक्षिणा वसति। अपञ्चम्या इत्येव दक्षिणादागतः।
अस्ताति के विषय में दक्षिण शब्द अपञ्चम्यन्त से आच् प्रत्यय होता है।

१९८६ आहि च दूरे ५।३।३७।

दक्षिणात् दूरे आहिः स्यात् चादाच्। दक्षिणाहि। दक्षिणा।
दूरार्थक में दक्षिण शब्द से आहि एवं आच् प्रत्यय होता है।

१९८७ उत्तराच्च ५।३।३८।

उत्तराहि। उत्तरा।
दूरार्थक उत्तर शब्द से आहिप्रत्यय होता है। पक्ष में आच् प्रत्यय होता है।

१९८८ सङ्ख्याया विधार्थे धा ५।३।४२।

क्रियाप्रकारार्थे वर्तमानात् संख्याशब्दात स्वार्थे धा स्यात्। चतुर्धा। पञ्चधा।
क्रिया-प्रकारार्थ में विद्यमान संख्यावाचक से स्वार्थ में धा प्रत्यय होता है।

१९८९ अधिकरणविचाले च ५।३।४३।

द्रव्यस्य संख्यान्तरापादने संख्याया धा स्यात्। एवं राशिं पञ्चधा कुरु।
द्रव्य के भिन्न संख्याप्रतिपादन में संख्यावाचक शब्द से धा प्रत्यय होता है।

१९९० एकाद्धो ध्यमुञन्यतरस्याम् ५।३।४४।

ऐकध्यम्। एकधा।
क्रिया-प्रकारार्थ में विद्यमान एक शब्द से पर धा प्रत्यय को विकल्प से ध्यमुञ् आदेश होता है।

१९९१ द्वित्र्योश्च धमुञ् ५।३।४५।

आभ्यां धा इत्यस्य धमुञ् स्याद् वा। द्वैधम्। द्विधा। त्रैधम्। त्रिधा।
॥ धमुञन्तात् स्वार्थेड दर्शनम् ॥। पथि द्वैधानि।
द्वि एवं त्रिशब्द के उत्तर धा के स्थान में धमुञ् आदेश विकल्प से होता है। धमुञ् है अन्त में जिसको ऐसे शब्द से स्वार्थ में ड प्रत्यय होता है। डित्व प्रयुक्त टिलोप होता है।

१९९२ एधाच्च ५।३।४६।

द्वेधा। त्रेधा।
द्वि एवं त्रिशब्द से एधाच् प्रत्यय होता है।

१९९३ याप्ये पाशप् ५।३।४७।

कुत्सितो भिषक् भिषक्पाशः।
निन्दा अर्थ में प्रथमान्त से पाशप् प्रत्यय होता है। निन्दित कर्मकर्ता चिकित्सक।

१९९४ पूरणाद् भागे तीयादन् ५।३।४८।

द्वितीयो भागो द्वितीय । तृतीय । स्वरे विशेष । ॐ तीयादीकक् स्वार्थे वा वाच्य ॐ । द्वैतीयीक । द्वितीय । तार्तीयीक । तृतीय । ॐ न विद्याया । द्वितीया तृतीया विद्येत्येव ।

पूरणार्थकतीयप्रत्ययान्त भागवाचक शब्द से स्वार्थ में अन् प्रत्यय होता है, स्वर में आद्युदात्तत्व प्रयुक्त विशेष है। रूप में तो विशेषाभाव ही है। तीयप्रत्ययान्त से स्वार्थ में ईकक् विकल्प से होता है। रूपद्वय होगा। द्वितीय एव तृतीय विद्यार्थक रहे वहां ईकक् नहीं। द्वितीया विद्या।

१९९५ प्रागेकादशभ्योऽछन्दसि ५।३।४९।

पूरणप्रत्ययान्ताद् भागेऽन्। चतुर्थ । पञ्चम ।

लोक में एकादश से पूर्व पर्यन्त पूरण प्रत्ययान्त संख्यावाचक से पर अन् प्रत्यय होता है।

१९९६ षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च ५।३।५०।

चादन् । षष्ठो भाग षाष्ठ । षष्ठ । आष्टम । अष्टम ।

भागार्थक षष्ठ एव अष्टम से ञ प्रत्यय एव अन् प्रत्यय होता है।

१९९७ मानपश्वङ्गयोः कन्लुकौ च ५।३।५१।

षष्ठाष्टमशब्दाभ्यां क्रमेण कन्लुकौ स्तो माने पश्वङ्गे च वाच्ये । षष्ठको भागो मान चेत् । अष्टमो भागः पश्वङ्गं चेत् । अस्य अनो वा लुक । चकाराद् यथाप्राप्तम् । षाष्ठ षष्ठ । आष्टम —अष्टम । महाविभाषया सिद्धे लुग्वचन पूर्वत्र ञानौ नित्याविति ज्ञापयति ।

परिमाण एव पशु के अङ्ग होने पर षष्ठ एव अष्टम के उत्तर यथाक्रम कन् एव लुक् होता है। ञ एव अन् का विकल्प से लुक् होता है। चकार से यथाप्राप्त ञ एवं अन् का श्रवण रहता है। महाविभाषा का अधिकार से प्रत्यय वैकल्पिक होंगे भावाभाव उभय सिद्ध है पुन यहाँ विधान किया हुआ लुक् व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि पूर्व सूत्र से विधेय ञप्रत्यय एवं अन् प्रत्यय नित्य ही है। अत लुक् विधान एक पक्ष में प्रत्ययों का अश्रवणार्थ सार्थक हुआ।

१९९८ एकादाकिनिच्चासहाये ५।३।५२।

चात् कन्लुकौ । एक । एकाकी । एकक ।

सजातीय सहायक जहाँ न रहे वहाँ एक शब्द से आकिनिच् प्रत्यय होता है, एव चकार से पक्ष में कन् तथा लुक् से तीन रूप हुए। एकाकी इत्याकारक पुरुष का यहाँ सजातीय अश्व नहीं है।

१९९९ भूतपूर्वे चरट् ५।३।५३।

आढ्यो भूतपूर्व आढ्यचर ।

भूतपूर्वार्थ में प्रथमान्त से चरट प्रत्यय होता है। भूत काल में धनी अर्थ में आढ्यचर ।

२००० षष्ठ्या रूप्य च ५।३।५४।

षष्ठ्यन्ताद् भूतपूर्वेऽर्थे रूप्य स्याच्चरट च । कृष्णस्य भूतपूर्वो गौ कृष्णरूप्य । कृष्णचर । तसिलादिषु रूप्यस्यापरिगणितत्वान्न पुंवत् । शुभ्राया भूतपूर्वं शुभ्रारूप्य ।

२००१ अतिशायने तमबिष्ठनौ ५।३।५५।

अतिशयविशिष्टार्थवृत्तेः स्वार्थे एतौ स्तः। अयमेषामतिशयेनाढ्य आढ्यतमः। लघुतमः। लघिष्ठः।

अतिशय से युक्त स्वार्थ में स्थित जो शब्द उससे स्वार्थ में तमप् एवं इष्ठन् प्रत्यय होता है। इन सबों में यह अधिक सम्पन्न या धनयुक्त है आढ्यतमः। अतिशयेन लघुः लघिष्ठः 'टेः' से टिलोप हुआ।

२००२ तिङश्च ५।३।५६।

तिङन्तादतिशये द्योत्ये तमप् स्यात्।

अतिशयरूप अर्थ प्रतीयमान रहे वहां तिङन्ततदादि से पर तमप् प्रत्यय होता है।

२००३ तरप्तमपौ घः १।१।२२।

एतौ घसंज्ञौ स्तः।

तरप् एवं तमप् को घ संज्ञा होती है।

२००४ किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ५।४।११।

किम एदन्तात् तिङोऽव्ययाच्च यो घस्तदन्तादामुः स्यान्न तु द्रव्यप्रकर्षे। किन्तमाम्। प्राह्णेतमाम्। पचतितमाम्। उच्चैस्तमाम्। द्रव्यप्रकर्षे तु उच्चैस्तमस्तरुः।

द्रव्य-प्रकर्ष न होने पर किम् शब्द, एदन्त, तिङन्त, अव्यय इनसे उत्तर जो घसंज्ञक प्रत्यय तरप् एवं तमप् तदन्त से आमु प्रत्यय होता है। वृक्षादि जो द्रव्य तद्गत जो प्रकर्ष वह प्रतीयमान रहे वहां घान्त से आमु प्रत्यय नहीं होता है।

२००५ द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ ५।३।५७।

द्वयोरेकस्यातिशये विभक्तव्ये चोपपदे सुप्तिङन्तादेतौ स्तः। पूर्वयोरपवादः। अयमनयोरतिशयेन लघुर्लघुतरः। लघीयान्। उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटुतराः। पटीयांसः।

दो के मध्य में एक के अतिशय होने पर विभजनीय उपपद में विद्यमान सुबन्त एवं तिङन्त पद से पर तरप् एवं ईयसुन् प्रत्यय होता है। पूर्वोक्त तमप् एवं इष्ठन् का यह बाधक है।

२००६ अजादी गुणवचनादेव ५।३।५८।

इष्ठन्नीयसुनौ गुणवचनादेव स्तः। नेह, पाचकतरः। पाचकतमः।

गुणवाचक शब्द से ही इष्ठन् एवं ईयसुन् प्रत्यय होते हैं। अतिशयपाकक्रिया कर्ता यहां द्रव्यवाचक है अतः तरप्, तमप् ही हुए। पाचकतरः। पाचकतमः।

२००७ तुश्छन्दसि ५।३।५९।

तृन्-तृजन्ताद् इष्ठन्-ईयसुनौ स्तः।

वेद में तृनन्त एवं तृजन्त से अतिशय अर्थ में इष्ठन् एवं ईयसुन् होते हैं।

२००८ तुरिष्ठेमेयःसु ६।४।१५४।

तृशब्दस्य लोपः स्यादिष्ठेमेयस्सु परेषु अतिशयेन दोग्धी दोहीयसी। उगितश्च से ङीप्।

२००९ प्रशस्यस्य श्रः ५।३।६०।

अस्य श्रादेशः स्यादजाद्योः।

अजादि प्रत्यय पर रहते प्रशस्यशब्द को श्र आदेश होता है।

२०१० प्रकृत्यैकाच् ६।४।१६३।

इष्ठादिष्वेकाच् प्रकृत्या स्यात्। श्रेष्ठः। श्रेयान्।

इष्ठन् आदि प्रत्यय पर में रहते एकाच् का प्रकृतिभाव होता है। अर्थात् टिलोपादि विकारात्मक कार्य के अभावपूर्वक स्वरूप स्थिति रहती है। अयमतिशयेन प्रशस्य इति आदेश इष्ठन् पर रहते हुए 'टेः' से टिलोप न हुआ श्रेष्ठ'। ईयसुन् में श्रेयान्। अदन्त आदि आदेश-विधान-सामर्थ्य से ही टिलोप नहीं होगा। इसी प्रकार प्रकृत्यैकाच् सूत्र साध्य यावत् उदाहरणों का खण्डन कर इस सूत्र की अनावश्यकता भाष्यकार ने की है।

२०११ ज्य च ५।३।६१।

प्रशस्यस्य ज्यादेशः स्याद् इष्ठेयसोः। ज्येष्ठः।

इष्ठन् एवं ईयसुन् प्रत्यय पर में रहते प्रशस्य को ज्य आदेश होता है।

२०१२ ज्यादादीयसः ६।४।१६०।

आदेः परस्य। ज्यायान्।

ज्य शब्द से पर ईयसुन् प्रत्यय के आदि वर्ण को आत् होता है। ज्यायान्।

२०१३ वृद्धस्य च ५।३।६२।

ज्यादेशः स्यादजाद्योः। ज्येष्ठ.। ज्यायान्।

इष्ठन् एवं ईयसुन् प्रत्यय पर रहते वृद्ध के स्थान में ज्य आदेश होता है। अयमनयोरतिशयेन वृद्ध इति ज्येष्ठः। ज्यायान्।

२०१४ अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ ५।३।६३।

अजाद्योः। नेदिष्ठः। नेदीयान्। साधिष्ठः। साधीयान्।

इष्ठन् एवं ईयसुन् प्रत्यय पर रहते यथाक्रम अन्तिक एवं बाढ के स्थान में नेद एवं साधु आदेश होता है। अतिशयेन अन्तिकः नेदिष्ठ नेदीयान्। अतिशयेन बाढम् इति साधिष्ठः साधीयान्। यहाँ साधु शब्दघटक उकारका 'टेः' से लोप हुआ है।

२०१५ स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः ६।४।१५६।

एषां यणादिपूर्वं लुप्यते, पूर्वस्य च गुण इष्ठादिषु। स्थविष्ठः। दविष्ठः।

इष्ठन् एवं ईयसुन् प्रत्यय पर रहते विन् एवं मतुप् का लुक् होता है।

२०२१ प्रशंसायां रूपप् ५।३।६६।

सुबन्तात् तिङन्ताच्च । प्रशस्तः पटुः पटुरूपः । प्रशस्तं पचति पचतिरूपम् ।

प्रशंसा अर्थ में सुबन्त एवं तिङन्त से रूपप् प्रत्यय होता है।

२०२२ ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः ५।३।६७।

ईषदूनो विद्वान् विद्वत्कल्पः । यशस्कल्पम् । यजुष्कल्पम् । विद्वद्देश्यः । विद्वद्देशीयः । पचतिकल्पम् ।

ईषद् असमाप्ति अर्थ में कल्पप् देश्य एवं देशीयर् प्रत्यय होता है। कुछ विद्वत्ता में न्यूनता वहां विद्वत्कल्पः । आदि प्रयोग होते हैं।

२२२३ विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु ५।३।६८।

ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे सुबन्ताद् बहुच् वा स्यात् स च प्रागेव, न तु परतः। ईषदूनः पटुर्बहुपटुः । पटुकल्पः । सुपः किम्— यजतिकल्पम् ।

ईषद् ऊनार्थ में सुबन्त से विकल्प बहुच् प्रत्यय प्रकृति के पूर्व में होता है पर में नहीं। सूत्र में 'पुरस्तात्' ग्रहण-सामर्थ्य से यहां 'प्रत्यय परश्च' की अप्रवृत्ति है। अन्यथा पुरस्तात्-ग्रहण ही व्यर्थ होगा।

२०२४ प्रकारवचने जातीयर् ५।३।६९।

प्रकारवती चायम् । थाल् तु प्रकारमात्रे । पटुप्रकारः पटुजातीयः ।

सादृश्य एवं भेद को प्रकार कहते हैं। प्रकारविशिष्ट अर्थ में जातीयर् प्रत्यय होता है। यह प्रकारविशिष्टविषयक ही है। केवल प्रकार की जहां प्रतीति वहां थाल् प्रत्यय होता है।

पटुजातीयः । जातीयर् का रीत अनर्थक है। सम्पूर्ण प्रत्यय ही अर्थवान् है।

२०२५ प्रागिवात् कः ५।३।७०।

इवे प्रतिकृतावित्यतः प्राक् काधिकारः ।

'इवे प्रतिकृतौ' सूत्र के पूर्वपर्यन्त कप्रत्यय का अधिकार है।

२०२६ अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः ५।३।७१।

तिङश्चेत्यनुवर्तते ।

अव्यय एवं सर्वनामसंज्ञक जो शब्द उनका जो टिसंज्ञक वर्ण उसके पूर्व में अकच् प्रत्यय होता है।

२०२७ कस्य च दः ५।३।७२।

कान्ताव्ययस्य दकारोऽन्तादेशः स्यादकच्च ।

ककारान्त अव्ययसंज्ञक शब्द को दकार अन्तादेश होता है, एवं टि के पूर्व अकच् होता है। यहां तिङश्च की अनुवृत्ति होती है।

२०२८ अज्ञाते ५।३।७३।

कस्यायमश्वोऽश्वकः। उच्चकैः। नीचकैः। सर्वके। विश्वके। ॐ ओकारसकारभकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकच् ॐ। युवकयोः आवकयोः। युष्मकासु। अस्मकासु। युष्मकाभिः। अस्मकाभिः। ओकारेत्यादि किम्, त्वयका। मयका। ॐ अकच्प्रकरणे तूष्णीमः काम्वक्तव्यः ॐ। मित्त्वादन्त्यादचः परः। तूष्णीकामास्ते। ॐ शीले को मलोपश्च ॐ। तूष्णींशीलस्तूष्णीकः। पचतकि। जल्पतकि। धकित्। हिरकुत्।

अज्ञात अर्थ में कप्रत्यय होता है। अज्ञात अश्व में—अश्वकः। अधिकरण-शक्तिप्रधान अव्यय जो उच्चैस् उससे कप्रत्यय अज्ञात में कर उच्चकैः। अधिकरण में नीचकैः। अज्ञाताः सर्वे = सर्वके। विश्वके। * ओकार सकार, भकारादि विभक्ति पर में रहने पर सर्वनाम की टि के पूर्व में अकच् प्रत्यय होता है। अन्यत्र सुबन्त की टि को अकच् होता है। यथा - त्वयका। मयका। * अकच् के प्रकरण में तूष्णीम् को काम् होता है। मित्त्व के कारण अन्त्य अच् से पर 'काम्' होगा। तूष्णीम् से शील में कप्रत्यय होता है। एवं मकार का लोप होता है। पचति = पचतकि। जल्पति = जल्पतकि। धिक् = धकित्। आदि।

२०२९ कुत्सिते ५।३।७४।

कुत्सितोऽश्वोऽश्वकः।

निन्दा अर्थ में कप्रत्यय होता है।

२०३० संज्ञायां कन् ५।३।७५।

कुत्सिते कन् स्यात् तदन्तेन चेत्संज्ञा गम्यते। शूद्रकः। राधकः। स्वरार्थं वचनम्।

प्रकृतिप्रत्ययान्त में संज्ञारूप अर्थ की प्रतीति रहे एवं निन्दा गम्य रहे वहां कन् प्रत्यय होता है।

२०३१ अनुकम्पायाम् ५।३।७६।

पुत्रकः। अनुकम्पितः पुत्र इत्यर्थः।

अनुकम्पा = दया = कृपा अर्थ में कन् प्रत्यय होता है।

२०३२ नीतौ च तद्युक्तात् ५।३।७७।

सामदानादिरूपा नीतिस्तस्यां गम्यमानायामनुकम्पायुक्तात् कप्रत्ययः स्यात्। हन्त ते धानकाः। गुडकाः। एकिक। अद्धकि। पूर्वेणानुकम्प्यमानात् प्रत्ययः, अनेन तु परम्परासम्बन्धेऽपीति विशेषः।

सामदानादि उपाय को नीति कहते हैं। नीति अर्थ में अनुकम्पा-युक्त से कन् प्रत्यय होता है। पूर्वसूत्र से अनुकम्पायमान से कन्, इससे परम्परा सम्बन्ध में भी प्रत्यय कन् होता है। यह विशेष है।

२०३३ बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा ५।३।७८।

पूर्वसूत्रद्वयविषये ।

पूर्व पठित दो सूत्र के विषय में अनेक स्वरयुक्त जो मनुष्यवाचकशब्द उन से पर विकल्प से ठच प्रत्यय होता है ।

२०३४ घनिलचौ च ५।३।७९।

तत्रैव ।

पूर्वसूत्र के विषय में घन् एवं इलच् प्रत्यय होता है ।

२०३५ ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः ५।३।८३।

अस्मिन् प्रकरणे यष्ठोऽजादिप्रत्ययश्च तस्मिन् प्रत्यये परे प्रकृतेर्द्वितीयादच ऊर्ध्वं सर्वं लुप्यते । अनुकम्पितो देवदत्तो देविक । देविय । देविल । देवदत्तक । अनुकम्पितो वायुदत्तो वायुक । ठग्रहणमुको द्वितीयत्वे कविधानार्थम् । वायुदत्तो वायुक । पितृक ।

❀चतुर्थादच ऊर्ध्वस्य लोपो वाच्य ❀ । अनुकम्पितो बृहस्पतिदत्तो बृहस्पतिक । ❀ अनजादौ च विभाषा लोपो वक्तव्य ❀ । देवकः । देवदत्तक । ❀ लोप पूर्वपदस्य च ❀ । दत्तिक । दत्तिय । दत्तिल । दत्तक ।

❀विनापि प्रत्यय पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वाच्य ❀ । दत्त । देव । देवदत्त । भामा । सत्या । सत्यभामा । ❀ उवर्णाल्ल इलस्य च ❀ । भानुल । भानुदत्त । ❀ ऋवर्णादपि ❀ । सवितृल । सवित्रिय ।

चतुर्थादनजादौ च लोप पूर्वपदस्य च ।
अप्रत्यये तथैवेष्ट उवर्णाल्ल इलस्य च ॥

इस प्रकरण में जो ठप्रत्यय एवं अजादि प्रत्यय कहे गये हैं उस प्रत्यय पर में रहते प्रत्यय की जो प्रकृति उसका द्वितीय अच उससे परवर्ती जो सम्पूर्ण अंश उसका लोप होता है । अनुकम्पा युक्त जो देवदत्त उससे ठच प्रत्यय इकादेश दत्त का लोप अकार का लोप देविक । घन् में देविय । इलच में देविल । कन् में देवदत्तक । वायुदत्त से वायुक । यहां दत्त का लोप ठच् को कादेश हुआ है । पितृक ।

चतुर्थ अच् से परवर्ती का लोप होता है । अनुकम्पायुक्त जो बृहस्पतिदत्त ठच् इकादेश दत्त का लोप इकार लोप बृहस्पतिक । अजादि भिन्न प्रत्यय पर में रहते विकल्प से लोप होता है । देवक । देवदत्तक । पूर्वपद का भी लोप होता है । ठच दत्तिक । घन् दत्तिय । इलच् दत्तिल । कन् दत्तकः । देव का लोप हुआ है । प्रत्यय पर में न रहते भी पूर्व पद या उत्तर पद का विकल्प लोप होता है । सत्या । भामा । सत्यभामा । उवर्ण से पर इलच् के स्थान में ल आदेश होता है ।

भानुल । भानुदत्त । ऋवर्णान्त से पर इलच् को लादेश होता है । सवितृल । घन् सवित्रिय । कारिकार्थ —अनजादि प्रत्यय के विषय में चतुर्थ अच् से परवर्ती भाग का लोप होता है । उसी प्रकार प्रत्यय पर में न रहते हुए भी लोप होता है । पूर्वपद का भी लोप होता है । उवर्ण से पर इलच् का आदेश होता है । ऋवर्ण से पर इलच् को लादेश होता है ।

२०३६ प्राचामुपादेरडज्वुचौ च ५।३।८०।

उपशब्दपूर्वात् प्रातिपदिकात् पूर्वविषये अडच् वुच् एतौ स्तः। चाद् यथाप्राप्तम्। प्राचां ग्रहणं पूजार्थम्। अनुकम्पितः उपेन्द्रदत्तः उपडः। उपकः। उपिकः। उपियः। उपिलः। उपेन्द्रदत्तकः। षड् रूपाणि।

उपशब्द है पूर्व में जिसको ऐसा जो प्रातिपदिक उससे पर पूर्व विषय में अडच् एवं वुच् प्रत्यय होता है। चकार से यथाप्राप्त प्रत्यय भी होते हैं। अनुकम्पायुक्त जो उपेन्द्रदत्त यहां अडच् एवं इन्द्रदत्त का लोप अकार का यस्येति च से लोप उपडः। वुच् अकादेश उपकः। ठच् उपिकः। घन् उपियः। इलच् उपिलः। कन् उपेन्द्रदत्तकः। छः रूप इस प्रकार हुए।

२०३७ जातिनाम्नः कन् ५।३।८१।

मनुष्यनाम्न इत्येव। जातिशब्दो यो मनुष्यनामधेयस्तस्मात् कन् स्यात् अनुकम्पायां नीतौ च। सिंहकः। शरभकः। रामभकः। ॐद्वितीयं सन्ध्यक्षरं चेत् तदादेर्लोपो वक्तव्यःॐ। कहोडः। कहिकः। ॐएकाक्षरपूर्वपदानामुत्तरपदलोपो वक्तव्यःॐ वागाशीर्दत्तः वाचिकः। कथ 'षडङ्गुलिदत्तः षडिकः' इति? षषष्ठाजादिवचनात् सिद्धम्।

जातिवाचक जो शब्द वह मनुष्य-नामवाचक हो तो उससे पर अनुकम्पा एवं नीति अर्थ में कन् प्रत्यय होता है। 'एच्' की सन्ध्यक्षर संज्ञा प्राचीन के मत में है 'ए ओ ऐ औ' की। द्वितीय सन्ध्यक्षर हो तो तदादि का लोप होता है। एकपद में ही इसकी प्रवृत्ति होती है। एक अक्षर = अच् युक्त पूर्वपद रहते उत्तरपद का लोप होता है। आशीर्दत्त का लोप वाचिकः। ठच्।

विमर्श—षडङ्गुलिदत्तः षडिकः यह कैसे हुआ? शङ्का करने वाले का अभिप्राय यह है कि—अनुकम्पा या नीति में षडङ्गुलिदत्त से ठच् प्रत्यय करने पर 'एकाक्षरपूर्वपदानाम्' से उत्तर पद अङ्गुलिदत्त का लोप करने पर षष्—इक यहां 'स्वादिषु' सूत्र से प्राप्त पद संज्ञा को बाधकर यचि भम् से भसंज्ञा षष् की होने से जश्त्व न होना चाहिये अपदान्त षकार होने से। एवञ्च 'षषिकः' होना चाहिये।

समाधान यहां 'षषष्ठाजादिवचन' से द्वितीयाच् षष उससे उत्तर 'ङ्गुलिदत्त' का ही लोप है अतः 'षष' अकारान्त की भसंज्ञा हो सकती है न षष् की। तथाच अकारान्त में भत्व रहे 'षष्' इसमें स्वादिषु से पदत्व रहे विरोध नहीं एक को ही पदसंज्ञा भसंज्ञा एक काल में प्राप्त नहीं अतः पदत्व-निबन्धन जश्त्व होकर 'षडिकः' रूप निर्दोष सिद्ध हुआ। समानावधिक संज्ञाद्वय में ही बाध्यबाधकता होती है। अत्र अकारान्ते तिष्ठतु भत्वम्। षष् इति व्यञ्जनान्ते तिष्ठतु पदत्वम् नास्ति विरोध इति पदत्वेन जश्त्वं भवत्येव।

२०३८ शेवलसुपरिविशालवरुणार्यमादीनां तृतीयात् ५।३।८४।

एषां मनुष्यनाम्नां ठाजादौ परे तृतीयादचः ऊर्ध्वं लोपः स्यात्। पूर्वस्यापवादः। अनुकम्पितः शेवलदत्तः शेवलिकः। शेवलियः। शेवलिलः। सुपरिकः। विशालिकः। वरुणिकः। अर्यमिकः।

नीति एवं अनुकम्पा में अजादि प्रत्यय पर में रहते मनुष्य-नामवाचक शेवल, सुपरि, विशाल, वरुण, अर्यमन् इनके तीसरे अच् से परवर्ती अंश का लोप होता है। शेवलदत्त में 'दत्तः' का लोप शेवलिकः। ठच्-प्रत्ययान्त यह रूप है। घन्, इलच् का क्रमशः रूप शेवलियः। शेवलिलः। आदि।

२०३९ अजिनान्तस्योत्तरपदलोपश्च ५।३।८२।

अजिनान्तान्मनुष्यनाम्नोऽनुकम्पायां कन् तस्य चोत्तरपदलोपः। अनुकम्पितो व्याघ्राजिनो व्याघ्रकः। सिंहकः।

मनुष्यनामवाचक जो अजिनान्त प्रातिपदिक उससे अनुकम्पार्थ में उत्तरपद का लोप होता है। कन् प्रत्यय अजिन उत्तरपद का लोप व्याघ्रक सिंहाजिन+[illegible] उ० प० लोप सिंहक।

२०४० अल्पे ५।३।८५।

अल्पं तैलं तैलकम्।

अल्पार्थ में कन् प्रत्यय होता है। तिल का विकार तैल है तद्गत अल्पत्व की प्रतीति में तैलकम्

२०४१ ह्रस्वे ५।३।८६।

ह्रस्वो वृक्षो वृक्षकः।

ह्रस्वार्थ में कन् प्रत्यय होता है। वृक्षक।

२०४२ संज्ञायां कन् ५।३।८७।

ह्रस्वहेतुका या संज्ञा तस्यां गम्यमानायां कन्। पूर्वस्यापवादः। वंशकः। वेणुकः।

ह्रस्वत्व प्रयुक्त जो संज्ञा वह प्रतीयमान रहे कन् प्रत्यय होता है पूर्व का यह अपवाद है। वंशक। वेणुक।

२०४३ कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः ५।३।८८।

ह्रस्वा कुटी कुटीरः। शमीरः। शुण्डारः।

ह्रस्व रूपार्थ में कुटी शमी एवं शुण्डा से र प्रत्यय होता है।

२०४४ कुत्वा डुपच् ५।३।८९।

ह्रस्वा कुतूः कुतुपः। कुतूः=कृत्तेः स्नेहपात्रं 'ह्रस्वा सा कुतुपः पुमान्।''

ह्रस्वार्थ में कुतू से डुपच प्रत्यय होता है। कुतू शब्दार्थ—चमड़े का बना हुआ तैल का बर्तन। वह छोटा होने से कुतुप=कुप्पी कुतुप शब्द पुलिङ्ग है।

२०४५ कासूगोणीभ्यां ष्टरच् ५।३।९०।

आयुधविशेषः कासूः। ह्रस्वा सा कासूतरी। गोणीतरी।

ह्रस्वार्थ में कासू एवं गोणी से ष्टरच प्रत्यय होता है। आयुध विशेष को कासू कहते हैं। गोणी से धान्य आदि के रखने का पात्र कुठिला।

२०४६ वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे ५।३।९१।

वत्सतरः=द्वितीयं वयः प्राप्तः। उक्षतरः। अश्वतरः। ऋषभतरः। प्रवृत्तिनिमित्ततनुत्वे एवायम्।

तनुत्व अर्थात् द्वितीयवय प्राप्ति होने पर वत्स उक्ष अश्व, ऋषभ इनसे ष्टरच प्रत्यय होता है। दूसरी अवस्था को प्राप्त हुआ बछड़ा में वत्सतर। द्वितीय वयःप्राप्तिकर्ता को उक्षा कहते

हैं वह तृतीयवयःप्राप्तवान् रहे तब उक्षतरः। अश्वतरः अश्वजाति का तनुत्व = अन्यथिनृत्वप्रयुक्त अपकर्ष। भार ढोने वाला बैल को ऋषभ कहा जाता है, वहन में उसकी न्यूनशक्ति होने पर 'ऋषभतर' कहते हैं।

२०४७ किंयत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् ५।३।९२।

अनयोः कतरो वैष्णवः। यतरः। ततरः। महाविभाषया यः, कः, सः,।

दोनों के मध्य में एक का निर्धारण = पृथक्करण में किम्, यत्, तत्, से डतरच् (अतर) होता है। इन दोनों के मध्य में कौन वैष्णव है? कतरः, डित्वात् टिलोप इसी प्रकार यतरः। ततरः। महाविभाषा = अर्थात् विभाषा सूत्र का जहां अधिकार से डतरच् न हुआ वहां यः, कः, सः हुआ।

२०४८ वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् ५।३।९३।

बहूनां मध्ये एकस्य निर्द्धारणे डतमच् वा स्यात्। 'जातिपरिप्रश्ने' इति प्रत्याख्यातमाकरे। कतमो भवतां कठः। यतमः। ततमः। वाग्रहणमकजर्थम्। यकः। सकः। महाविभाषया यः, सः। किमोऽस्मिन विषये डतरजपि। कतरः।

बहुतों के मध्य में एक का जाति-निर्धारण होने पर किम्, यत्, तत्, इनसे विकल्प करके डतमच् प्रत्यय होता है। भाष्यकार ने इनमें जो 'जातिपरिप्रश्ने' का प्रत्याख्यान किया है। कठप्रोक्त शाखा का अध्ययन करने वाले को कठ कहते हैं। वैशम्पायनान्तेवासित्व—प्रयुक्त णिनि उसका कठचरकात् से लुक् 'गोत्रञ्च चरणैः सह' से जातित्व उसका परिप्रश्न में किम् डतमच् टिलोप कतमः। यतमः। ततमः। पक्ष में अच् होता है 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' से यकः। सकः। महाविभाषा से यः सः। अनेकेषां मध्य में एक का जातिपरिप्रश्न में किम् से डतमच् प्रत्यय होता है कतमः।

२०४९ एकाच्च प्राचाम् ५।३।९४।

डतरच्, डतमच् च स्यात्। अनयोरेकतरो मैत्रः। एषामेकतमः।

प्राचीन आचार्यों के मत में एक शब्द से पर डतमच् प्रत्यय होता है। एकतरः। एकतमः। अनयोः मैत्रः।

२०५० अवक्षेपणे कन् ५।३।९५।

व्याकरणेन गर्वितः व्याकरणकः। येनेतरः कुत्स्यते तदिहोदाहरणम्। स्वतः कुत्सितन्तु 'कुत्सिते' इत्यस्य।

इति प्रागिवीयानां पूर्णोऽवधिः

गर्वित होने पर कन् प्रत्यय होता है। व्याकरणकः यहां व्याकरण के ज्ञान से चैत्र गर्वयुक्त है। अन्य से गर्वित होने पर इससे कन्। स्वयं कुत्सित में कन् कुत्सित से।

प्रागिवीयप्रकरण समाप्त



अथ स्वार्थिकप्रकरणम्

२०५१ इवे प्रतिकृतौ ५।३।९६।

कन् स्यात् । अश्व इव प्रतिकृति अश्वकः । प्रतिकृतौ किम् , गौरिव गवय' ।

उपमान अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से कन् प्रत्यय होता है यदि उपमेय प्रतिकृति हो तब। अश्व के सदृश प्रतिकृति अश्वक । गौरिव गवय यहां प्रतिकृतिरूपोपमेय की अप्रतीति से कन् न हुआ। *उपमानत्ववती प्रकृति एव उपमेय प्रतिकृति जहां रहे वहां ही कन्। मिट्टी आदि की बनी* हुई प्रतिमा को प्रतिकृति कहते हैं। उपमान अश्वाभिन्न यह 'अश्वक' का बोध हुआ। यह स्वार्थ में प्रत्यय विधान नहीं करता है 'स्वार्थिक' यह प्रकरण से विरोध होगा।

२०५२ संज्ञायाञ्च ५।३।९७।

इवार्थे कन् स्यात् समुदायश्चेत्संज्ञा । अप्रतिकृत्यर्थमारम्भ । अश्वसदृशस्य संज्ञा अश्वक । उष्ट्रकः ।

इवार्थ में संज्ञा प्रतीयमान रहे वहां कन् प्रत्यय होता है, प्रकृति प्रत्यय समुदाय से ज्ञान प्रतीयमान है। अप्रतिकृति के लिए यह सूत्र है। अश्वसदृश व्यक्तिविशेष अश्वक उष्ट्रक'।

२०५३ लुम्मनुष्ये ५।३।९८।

संज्ञाया च विहितस्य कनो लुप् स्यान्मनुष्ये वाच्ये। 'चञ्चा तृणमयः पुमान्' । चञ्चेव मनुष्यश्चञ्चा । वध्रिका ।

मनुष्य अर्थ की प्रतीति होने पर संज्ञा में विहित जो कन् प्रत्यय उसका लुप् होता है। तृणमय पुरुष को चञ्चा कहते हैं चञ्चा-सदृश मनुष्य में कन् लुप् चञ्चा। अत्र लुप्त्व प्रकृतिवल्लिङ्ग के लिए है। वचन तो विशेष्य की तरह ही। चर्ममय रज्जु को वध्री कहते हैं। कन् इत्व वध्रिका लुप्तवद्भाव हुआ।

२०५४ जीविकार्थे चापण्ये ५।३।९९।

जीविकार्थे यदविक्रीयमाण तस्मिन् वाच्ये कनो लुप् स्यात् । वासुदेवः । शिवः । स्कन्दः । देवलकानां जीविकार्थासु देवप्रतिकृतिष्विदम् । अपण्ये किम् ? हस्तिकान् विक्रीणीते ।

जीविका के लिए जो विक्रीयमाण तद्भिन्न अर्थ अर्थात् विक्रय से भिन्न जीविका होने पर कन् प्रत्यय का लुप होता है। यथा—वासुदेव आदि। जिन प्रतिमाओं को लेकर इस गृह से दूसरे गृह को भिक्षार्थ घूमते हैं उन प्रतिमाओं को वासुदेव आदि कहते हैं कन् उसका लुप् हुआ। यहां देवलकपद से प्रतिमा को लेकर भ्रमणशील ही लिए जाते हैं। देव प्रतिष्ठा-विधि द्वारा स्थापित मूर्तियां जहां हैं वहां उत्तर सूत्र से कन् का लुप् होता है। कहा गया भी है कि—

अर्चासु पूजनार्थासु चित्रकर्मध्वजेषु च ।
इवे प्रतिकृतौ लोप कनो देवपथादिषु ॥

देवमन्दिर में पूजनार्थ स्थापित जो प्रतिमाएँ वहाँ कन् का लुप् देवपथादित्व के कारण होता है। यथा—शिवः। विष्णुः। चित्र कर्म में अर्जुनः। दुर्योधनः। ध्वज में कपिः। गरुडः। सिंहः। राजाओं के ध्वज में सुवर्ण सिंह एवं मकरादि चिह्न होते हैं। अपण्ये किम् का उदाहरण हस्तिकान् विक्रीणीते। यहां लुक् न हुआ। हस्तिकान् की तरह कन् का लुक् नहीं होना चाहिये वहां लुक् करके प्रयोग करना एवं अशुद्ध प्रयोग में अशुद्धि का ज्ञान-रहित विद्वान् जिसका पाण्डित्य व्यर्थ है ऐसा उस विद्वान् को धिक्कार है। यथा

"रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे विक्रीणीते यो नरस्तञ्च धिक् धिक्।
अस्मिन् पथे योऽपशब्दं न वेत्ति व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तं च धिग धिग्" ॥

कन् का अपत्य में लुक् होता है। पण्य में नहीं अतः 'रामकम्' 'सीतिकाम्' लक्ष्मणकान्' होना उचित है। वे ही साधुशब्द हैं। 'रामम' 'सीताम्' तदर्थ में असाधु है।

२०५५ देवपथादिभ्यश्च ५।३।१००।

कनो लुप् स्यात्। देवपथः। हंसपथः। आकृतिगणोऽयम्।

देवपथादिगण पठित शब्द से पर कन् का लुप् होता है।

देवपथ इव प्रतिकृतिः हंसपक्ष इव प्रतिकृतिः यहां कन् उसका लुप् देवपथः। हंसपथः। यह आकृतिगण है।

२०५६ वस्तेर्ढञ् ५।३।१०१।

इवेत्यनुवर्तत एव। प्रतिकृताविति निवृत्तम्।

वस्तिरिव वास्तेयम्। वास्तेयी।

वस्तिशब्द से पर इवार्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। इस सूत्र में केवल 'इव' की अनुवृत्ति है। प्रतिकृति की निवृत्ति हुई। नाभि के नीचे के भाग को वस्ति कहते हैं। स्त्रीलिङ्ग में ङीप् वास्तेयी।

२०५७ शिलायाः ढः ५।३।१०२।

'शिलायाः' इति योगविभागात् ढञ अपि इत्येके। शिलेव शिलेयम्। शैलेयम्।

इवार्थ में शिला से ढप्रत्यय होता है। योगविभाग से पूर्व से ठञ् से शैलेयम् भी होता है ऐसा आचार्य कहते हैं। रूपद्वय हुआ।

२०५८ शाखादिभ्यो यः ५।३।१०३।

शाखेव शाख्यः। मुख्यः। जघनमिव जघन्यः। अग्र्यः। शरण्यः।

शाखा आदि से इवार्थ में यप्रत्यय होता है। शाखा इव शाख्यः। मुखम् इव मुख्यः। जघन्यः = नीच। शरणमिव शरण्यः।

२०५९ द्रव्यञ्च भव्ये ५।३।१०४।

द्रव्यम् = अयं ब्राह्मणः।

अभिप्रेतार्थ के पात्रभूत रूप भव्यार्थ में द्रुशब्द से यप्रत्यय होता है। अर्थात् भव्य में द्रव्य निपातन होता है। श्रेष्ठब्राह्मण इत्यर्थः।

२०६० कुशाग्राच्छः ५।३।१०५।

कुशाग्रमिव कुशाग्रीया बुद्धिः ।

इवार्थ में कुशाग्र से छप्रत्यय होता है । कुशस्य अग्रम् तद्वत् बुद्धि कुशाग्रीया । सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय को झटिति ग्रहण करने वाली बुद्धि को कहते हैं । यहां कुश का अग्र भाग तीक्ष्ण धारा युक्त है जल्दी संयुक्त होने पर शरीरावयव में प्रवेश करता है । अत उभय का सादृश्य प्रयोजन धर्म है । उपमानोपमेय भाव सुसङ्गत है ।

२०६१ समासाच्च तद्विषयात् ५।३।१०६।

इवार्थविषयात् समासाच्छः स्यात् । काकतालीयो देवदत्तस्य वधः । इह काकतालसमागमसदृशश्चोरसमागम इति समासार्थः । तत्प्रयुक्तः काकमरण-सदृशस्तु प्रत्ययार्थः । अजाकृपाणीय । अतर्कितोपनत इति फलितोऽर्थः ।

सादृश्य विषयार्थ समास के पर छ प्रत्यय होता है । काकतालीयो देवदत्त का वध है यहां काक एवं तालफल इनका जो संयोग अचानक हुआ उसी प्रकार अचानक चोर का संयोग हुआ" यह तो समासवाच्य अर्थ है । प्रत्यय छ है तदर्थ उसके समागम से अर्थात् तालफल काक के उपरि-गिरने के कारण जिस प्रकार काक का वध=मरण हुआ उसी प्रकार चोर के समागम से देवदत्त की मृत्यु यह अर्थ है ।

प्रकृत सूत्र से ज्ञापित यहां इवार्थ में समास है । अथवा 'सुप्सुपा' से समास है । यह समास विशेष सहायोंसे विनिर्मुक्त ही है । जाते हुए काक के उपरि तालफल गिरने से अकस्मात् वध हुआ, आकस्मिक चोर-समागम से देवदत्त का वध । अजाकृपाणीय । जाती हुई अजा=बकरी पर कृपाण=तलवार गिरने से जैसा आकस्मिक वध हुआ तत्सदृश मरण यही फलितार्थ है । *अर्थात् यादृच्छिक अचिन्तितोपपन्न घटनाविशेष में इन न्यायों का प्रयोग होता है ।*

२०६२ शर्करादिभ्योऽण् ५।३।१०७।

शर्करेव शार्करम ।

इवार्थ=सादृश्य में शर्करादिगण पठित शब्दों से उत्तर अण् प्रत्यय होता है । कङ्कण को शर्करा कहते है, शर्करा सदृश में अण् शार्करम् ।

२०६३ अङ्गुल्यादिभ्यष्ठक् ।

अङ्गुलीव आङ्गुलिक । मरुजेव मारुजिकः ।

अङ्गुल्यादि शब्द से पर सादृश्य अर्थ में ठन् प्रत्यय होता है । आङ्गुलिक ।

२०६४ एकशालायाष्ठजन्यतरस्याम् ५।३।१०९।

एकशालाशब्दादिवार्थे ठञ् । पक्षे ठक् । एकशालेव एकशालिक । ऐकशालिक ।

एकशाला शब्द से इवार्थ में ठञ् विकल्प से होता है, पक्ष में ठक् भी होता है ।

२०६५ कर्कलोहिताट्टीकक् ५।३।११०।

कर्क शुक्लोऽश्व । स इव कार्कीक । लौहितीकः=स्फटिक ।

सफेद घोड़ावाचक कर्क से एवं स्फटिकवाचक लोहित शब्द से इवार्थ=सादृश्य अर्थ में ईकक् प्रत्यय होता है।

२०६६ पूगाञ् ञ्योऽग्रामणीपूर्वात् ५।३।११२

इवार्थो निवृत्तः। नानाजातीया अनियतवृत्तयोऽर्थकामप्रधानाः सङ्घाः= पूगास्तद्वाचकात्स्वार्थे ञ्यः स्यात्। लौहितध्वज्यः।

ग्रामणी शब्द पूर्व में न रहते पूगवाचक शब्द से पर इवार्थ में ञ्यप्रत्यय होता है। इस सूत्र में इवार्थ=सादृश्य की निवृत्ति हुई। भिन्न भिन्न जातियों से युक्त, एवं निश्चित जीविका से रहित अर्थ-कामना के प्राधान्य से युक्त जो संघ=अर्थात् समूह उसको पूग कहते हैं। लोहित=रक्तवर्ण युक्त ध्वज=झण्डा से युक्त=लोहितो ध्वजो यस्य सघस्य स लोहितध्वजः स एव लौहितध्वज्यः।

विमर्श—इस प्रयोग से प्राचीन भारतीय समाज का एक वर्ग की सेना ऐसी थी, जिनका लाल झण्डा रहा, एवं अर्थ-कामना-प्राधान्य युक्त से ईश्वरभक्तिबहिर्मुख वह संघ सेना का था एवं उन सैनिकों को निश्चित जीविका वेतनदानादि न रही। 'कमन्यूस्ट' पार्टी का उद्भव स्थान सर्वप्रथम भारत में रहा। बाद में रूस आदि देशों में उसका प्रचार हुआ। यह इससे स्पष्ट सिद्ध होता है। लाल ध्वज चिह्न एवं ईश्वरभक्ति-बहिर्मुख एक समाज भारत में रहा। बौद्धधर्म का उद्भव स्थान भारत एवं समाजवाद साम्यवाद आदि सभी वादों का उद्भवस्थान महान् देश यह भारत रहा। यहां से ही विश्व में अनेक मतान्तर गये हैं। वह अनेक वाद अच्छे हैं या नहीं वह यहां विवेचनीय विषय नहीं है। पूग से स्वरूप-ग्रहण नहीं है 'अग्रामणीपूर्वात्' यह वचन से। पूर्वशब्द अवयववाचक है। देवदत्तकः।

२०६७ व्रातच्फञोरस्त्रियाम् ५।३।११३।

व्रातः=कापोतपाक्यः। च्फञ्—कौञ्जायन्यः। ब्राध्नायन्यः।

स्त्रीलिङ्ग से भिन्न अर्थ में व्रातवाचक एवं च्फञ् प्रत्ययान्त से ञ्य प्रत्यय होता है। व्रात का उदाहरण कापोतपाक्यः=कपोत का पाक है जीविकासाधन जिनका शरीर के आयास= परिश्रम से जीवन निर्वाह करने वालों को व्रात कहते हैं। उत्सेधजीवित्वम्=व्रातत्वम्। उत्सेधः=शरीरायासः। यह पूग से इसका भेद है। च्फञ् प्रत्ययान्त से ञ्य का उदाहरण— कौञ्जायन्यः। ब्राध्नायन्यः। यहां गोत्र में च्फञ् प्रत्यय 'गोत्रे कुञ्जादिभ्यः' से हुआ है।

२०६८ आयुधजीविसङ्घाञ् ञ्यड् वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात् ५।३।११४।

वाहीकेषु च आयुधजीविसङ्घस्तद्वाचिनः स्वार्थे ञ्यट्। क्षौद्रक्यः। मालव्यः। टित्त्वान्ङीप्। क्षौद्रकी। आयुधेति किम्, मल्लाः। सङ्घेति किम्, सम्राट्। वाहीकेषु किम्, शबराः। अब्राह्मणेति किम्, गोपालकाः। शालङ्कायनाः। ब्राह्मणे तद्विशेषग्रहणम्। राजन्ये स्वरूपग्रहणम्।

वाहीक में जो आयुधजीवियों का समूह उसका वाचक जो शब्द उससे स्वार्थ में ञ्य प्रत्यय होता है किन्तु वह शब्द ब्राह्मणराजन्य न हो तब। क्षुद्रक से ञ्य प्रत्यय आदि, वृद्धि आकार लोप क्षौद्रक्यः। मालव्यः। स्त्रीलिङ्ग में ङीप् हलस्तद्धितस्य से यलोप क्षौद्रकी। मल्लाः वे आयुध

जीवी वाचक नहीं। सम्राट् संघ वाचक नहीं। शवरा वे वाहीक में नहीं है। गोपालवा ब्राह्मण विषयक है यहां ब्राह्मणविशेष का ग्रहण शिष्टोक्त व्याख्यान से है। राजन्य में स्वस्वरूपग्रहणमात्र है यथा शालङ्कायना।

२०६९ वृकाट्टेण्यण् ५।३।११५।

आयुधजीविसंघवाचकात्स्वार्थे। वार्केण्य। आयुधेति किम्, जातिशब्दान्मा भूत्।

आयुध से जीवन निर्वाह करने वालों के समूह वाचक जो वृकशब्द उससे पर स्वार्थ में टेण्यण् प्रत्यय होता है। वृक एण्य आदि वृद्धि आर् अलोप वार्केण्य। आयुधजीवि जो नहीं है किन्तु वाचक जो शब्द है वृकत्व प्रवृत्ति निमित्त उससे यह प्रत्यय होता है।

२०७० दामन्यादित्रिगर्तषष्ठाच्छः ५।३।११६।

दामन्यादिभ्यस्त्रिगर्तषष्ठेभ्यश्चायुधजीविसङ्घवाचिभ्यः स्वार्थे छः स्यात्। त्रिगर्त षष्ठो वर्गो येषान्ते त्रिगर्तषष्ठाः।

> आहुस्त्रिगर्तषष्ठांस्तु कौण्डोपरथदाण्डकौ।
> क्रौष्टुकिर्जालमानिश्च ब्रह्मगुप्तोऽथ जानकिः॥

दामनीयः। दामनीयौ। दामनयः। औलपि औलपीयः। त्रिगर्त-त्रिगर्तीय. कौण्डोपरथीयः। दाण्डकीयः।

आयुध जीवि संघ वाचक दामन्यादि, एवं त्रिगर्तषष्ठ शब्दों से स्वार्थ में छप्रत्यय होता है। सूत्र में समाहार द्वन्द्व से पञ्चमी है। आयुध जीवियों से षडन्तर्गतवर्ग है। षड वर्ग तो त्रिगर्त है। त्रिगर्त षष्ठ कौन है यह होगी आकाङ्क्षा उसकी पूर्ति के लिए ग्रन्थकार कह रहे हैं—कौण्डोपरथ, दाण्डकी, क्रोष्टुकि, जालमानि, ब्रह्मगुप्त, जानकि ये शब्द त्रिगर्त कहे जाते हैं। छप्रत्यय—दामनीय। औलुपीय। त्रिगर्तीय। त्रिगर्त में प्रथम शब्द एवं पञ्चम शब्द जो है वे शिवादिगण प्रयुक्त अण् प्रत्ययान्त है, अन्य इञ प्रत्ययान्त है। कौण्डोपरथीय। दाण्डकीय। बहुवचन में कौण्डोपरथा यही होता है तद्राजत्व प्रयुक्त प्रत्ययछका लुक। दाण्डकय। यही हुआ। दामनय आदि रूप होते हैं। जानकि या जालकि द्विविधपाठ मिलते हैं।

२०७१ पर्श्वादियौधेयादिभ्योऽणञौ ५।३।११७।

आयुधजीविसङ्घवाचिभ्य एभ्यः क्रमादणञौ स्तः स्वार्थे। पार्शवः। पार्शवौ। पर्शवः। यौधेयः। यौधेयौ। यौधेयाः।

आयुधजीविसंघवाचक पर्श्वादि से एवं यौधेयादि से क्रमशः स्वार्थ में अण् एवं अञ् प्रत्यय होते हैं। जनपद वाचकपर्शुशब्द है, उससे अपत्य में अण् प्रत्यय द्व्यञ्मगध ■ हुआ, बहुवचन में तद्राजत्व प्रयुक्त लुक। पुनः संघ विवक्षा में पर्शु से इस सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ उसी अण् का भी बहुवचन में तद्राजत्व प्रयुक्त लुक हुआ। बहुवचन में पर्शव। यौधेय यहां युध्यते असौ युधा इगुपध लक्षण कप्रत्यय युद्ध करने वाली स्त्री, उसका अपत्य युधायाः अपत्यम् 'द्व्यचः' से ढक यौधेय से संघ विवक्षा में इससे अञ् प्रत्यय है। यहां मूल प्रकृति यौधेय है। अतः बहुवचन में पृथक् रूप का स्वरूप नहीं है। आदि उदात्त यौधेय शब्द है।

२०७२ अभिजिद्विदभृच्छालावच्छिखावच्छमीवद् ऊर्णावच्छ्रुमदणो यञ् ५।३।११८।

अभिजिदादिभ्योऽणन्तेभ्यः स्वार्थे यञ् स्यात्। अभिजितोऽपत्यम् आभिजित्यः। वैदभृत्यः। शालावत्यः। शैखावत्यः। शामीवत्यः। और्णावत्यः। श्रौमत्यः।

अभिजित, विदभृत, शालावत, शिखावत, शमीवत, ऊर्णावत, श्रुमत इन अण् प्रत्ययान्त शब्दों से पर स्वार्थ में यञ् प्रत्यय होता है। अभिजित का अपत्य आभिजित उससे यञ् आभिजित्यः। विदभृत अण् यञ् वैदभृत्यः। इसी प्रकार इन अणन्त से यञ् में पूर्वोक्त रूप हुए।

२०७३ ञ्यादयस्तद्राजाः ५।३।११९।

पूगाञ्ञ्य इत्यारभ्य उक्ता एतत्संज्ञाः स्युः। तेनास्त्रियां बहुषु लुक्। लोहितध्वजाः। कपोतपाकाः। कौञ्जायनाः। ब्राध्नायनाः।

'पूगाञ्' सूत्र के ञ्य से आरम्भ कर कहे गये जो प्रत्यय उनको तद्राज संज्ञा होती है। अतः 'तद्राजस्य बहुषु' से बहुत्व में स्त्री भिन्न में तद्राज संज्ञक प्रत्यय का लुक् होता है। 'पूगाञ्' से से विहित प्रत्यय का लुक् 'लोहितध्वजाः' आदि।

२०७४ पादशतस्य संख्यादेर्वीप्सायां वुन् लोपश्च ५।४।१।

लोपवचनमनैमित्तिकत्वार्थम्। अतो न स्थानिवत्। पादः पत्। 'तद्धितार्थे' इति समासे कृते प्रत्ययः। वुन्नन्तं स्त्रियामेव। द्वौ द्वौ पादौ ददाति द्विपदिकाम्। द्विशतिकाम्। पादशतग्रहणमनर्थकम्, अन्यत्रापि दर्शनात्। द्विमोदकिकाम्।

संख्यावाचक शब्द पूर्व में रहते पाद एवं शत शब्द से पर वीप्सा में वुन् प्रत्यय होता है, एवं पाद तथा शत इनका अन्त्यवर्ण का लोप होता है। इस सूत्र से जो अन्त्यवर्ण का लोप होता है वह किसि निमित्त को मानकर नहीं है। अतः परनिमित्तकत्व का अभाव होने से इस लोप का स्थानिवद् भाव नहीं होता है। अतः पादशब्द के स्थान में 'पादः पत्' से पदादेश हुआ। 'द्वौ द्वौ पादौ ददति' तद्धितार्थ के विषय में समास करने पर प्रत्यय हुआ, वुन् प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग है। सूत्र में पाद शत ग्रहण व्यर्थ है क्योंकि अन्यत्र भी वुन्नन्त प्रयोग दिखा गया है। यथा द्वौ द्वौ मोदकौ ददाति द्विमोदकिकाम् वीप्सारूपार्थ वुन् द्योत्य है वाधिको तदर्थ की यद्यपि प्रकृति ही है।

२०७५ दण्डव्यवसर्गयोश्च ५।४।२।

वुन् स्यात्। अवीप्सार्थमिदम्। द्वौ पादौ दण्डितः। द्विपदिकां द्विशतिकां व्यवसृजति=ददातीत्यर्थः।

दण्ड एवं दान अर्थ में वुन् प्रत्यय होता है। यह सूत्र अवीप्सार्थ है। क्रियासाकल्येन सम्बन्धुमिच्छा वीप्सा तद्भिन्न में इसकी प्रवृत्ति होती है। द्विपाद से वुन् अकार लोप, अकादेश टाप् इत्व द्विपदिकाम्। यह दण्ड का उदाहरण है। अपरोदाहरण दान का है।

२०७६ स्थूलादिभ्यः प्रकारवचने कन् ५।४।३।

जातीयरोपवाद । स्थूलक । अणुक । ॐ चञ्चद्बृहतोरुपसंख्यानम् ॐ । चञ्चत्क । बृहत्क । ॐ सुरायाः अहौ ॐ । सुरावर्णोऽहि सुरक ।

स्थूलादि शब्द के पर में सादृश्यार्थ में जातीयर प्रत्यय को बाधकर कन्प्रत्यय होता है। स्थूल सदृश स्थूलक । अणुसदृश अणुक । चञ्चत् एवं बृहत् से कन् प्रत्यय होता है सदृशार्थ में । सुरा = मदिरा तत्सदृश सर्प इस अर्थ में कन् प्रत्यय से सुरक । केऽण से ह्रस्व हुआ ।

२०७७ अनत्यन्तगतौ क्तात् ५।४।४।

छिन्नकम । भिन्नकम् । अभिन्नकम् ।

अनत्यन्तगति में क्तान्त से कन् प्रत्यय होता है। अन्त कहते है विराम को अन्तम् = विरामम् अतिक्रान्ता अत्यन्ता सा चासौ गतिश्च अत्यन्तगति सा न भवति यत्र अनत्यन्तगति क्रियाभवन व्यापारजन्य जो कर्म काष्ठादि अर्थ में छिदिर से क्त प्रत्यय कर्म में हुआ । दकार तकार को नकारादेश छिन्न हुआ ईषद् छिन्न में अनत्यन्तगतिरूप अर्थ प्रतीयमान है कन् प्रत्यय हुआ छिन्नकम् । ईषद् भिन्नम् भिन्नकम् । क्तप्रत्यय की जो प्रकृति तद्वाच्या जो क्रिया उससे क्तप्रत्यय वाच्य साधन = कारक की व्याप्ति को अत्यन्तगति कहते हैं वह यहा नहीं है।

२०७८ न सामिवचने ५।४।५।

सामिपर्य्याये उपपदे क्तान्तान्न कन् । सामिकृतम् । अर्धकृतम् । अनत्यन्तगतेरिह प्रकृत्यैवाभिधानात्पूर्वेण कन्न प्राप्तः । इदमेव निषेधसूत्रमत्यन्तस्वार्थिकमपि कन ज्ञापयति । बहुतरकम् ।

सामि का अर्थ है आधा = अर्ध । सामिपर्य्यायवाचक शब्द उपपद में रहते क्तान्त से कन् प्रत्यय नहीं होता है। यहां अर्धार्थक प्रकृति से ही अनत्यन्तगतिरूप अर्थ प्रतीयमान होने से 'उक्तार्थानामप्रयोग' न्याय से तदर्थ में कन् अप्राप्त है, पुनः कन् निषेधक यह सूत्र क्यों किया ? वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि अत्यन्त स्वार्थिक भी कन् प्रत्यय होता है। यथा बहुतर से कन् । वस्तुतः सामिकृत शब्दकान्तादादि नहीं है अतः यह अत्यन्त स्वार्थिक कन् में ज्ञापक एवं निषेधक ही है। पूर्व सूत्र का निषेध नहीं है।

२०७९ बृहत्या आच्छादने ५।४।६।

कन् स्यात् । 'द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा" । आच्छादने किम् , बृहती छन्दः ।

आच्छादन अर्थ में बृहती शब्द से कन् प्रत्यय होता है। बृहतिका शब्दार्थ का निर्वचनवर णार्थक वृञ् धातु से करण में घञ् प्रत्यय से वार 'वृणोतेराच्छादने' सूत्र से घञ् प्रत्यय प्रवियते इति 'प्रावार' उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये से प्र के अकार का दीर्घ हुआ है। ऊर्ध्वभाग में आसञ्जन कर्मभूत वस्त्र उपरिवस्त्र । बृहती = वसनान्तरे = दोहर । उपरिभाग में ओढने का वस्त्रविशेष में कन् ह्रस्व बृहतिका । छन्दोविशेष में बृहतीच्छन्द ।

२०८० अषडक्षाशितङ्ग्वलङ्कर्मालंपुरुषाध्युत्तरपदात्खः ५।४।७।

स्वार्थे । अषडक्षीणो मन्त्रः । द्वाभ्यामेव कृत इत्यर्थः । आशिता गावोऽस्मिन्निति आशितङ्गवीनम् अरण्यम् । निपातनात् पूर्वपदस्य मुम् । अलङ्कर्मणे

अलङ्कर्मीणः। अलंपुरुषीणः। ईश्वराधीनः। नित्योऽयं खः उत्तरसूत्रे विभाषा ग्रहणात्। अन्येऽपि केचित्स्वार्थिकाः प्रत्यया नित्यमिष्यन्ते—तमबादयः प्राक्कनः, ञ्यादयः प्राग्वुनः, आमादयः प्राङ्मयटः, बृहतीजात्यन्ताः समासान्ताश्चेति।

अषडक्ष, आशितङ्गु, अलङ्कर्मन्, अलंपुरुष एवं अधिशब्द है उत्तर पद में जिसको ऐसा शब्द इनसे स्वार्थ में ख प्रत्यय होता है। यहां अक्षिशब्द नेत्र वाचक नहीं है किन्तु शब्द ग्राहक श्रोत्रेन्द्रिय = कर्णपरक है। छः कानों तक न गया हुआ मन्त्र अर्थात् दो मनुष्यों से चिन्तित या विचरित अर्थ में—अविद्यमानानि षडक्षीणि यस्मिन् यस्मिन् इति बहुव्रीहि समासनिष्पन्न अषडक्ष है यह षच् प्रत्ययान्त है, 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' से। तदन्त से ख प्रत्यय ईनादेश अकारलोप णत्व अषडक्षीणो मन्त्रः। छः कान पर कोई बात जाती है वह फूट जाती है। 'षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः, चतुष्कर्णः स्थिरो भवेत्। तस्मात् सर्वप्रयत्नेन षट्कर्णं वर्जयेत् सुधीः॥' राजनीति में मन्त्र गोपन का अतीव महत्त्व है। भोजनार्थक अश् धातु से ण्यन्तात् क्त प्रत्यय आशित = भोजन करवायी गई जो गायें। आशिताः गावो यस्मिन् अरण्ये यहां—आशितगो से ख प्रत्यय एवं पूर्व पद को मुमागम उसका अनुस्वार परसवर्ण से आशितङ्गवीनम् = अरण्यम्। जिस वन में स्वामिद्वारा भोजन करायी गई गायें हैं वह अरण्य आशितङ्गवीन कहते हैं। अरण्य अर्थ में प्रत्यय हुआ है, अन्यपदार्थ प्रधान बहुव्रीहि है यहां अन्यपदार्थ अरण्य है। प्रकृत्यर्थ ही अरण्य है अतः स्वार्थ में ही प्रत्यय हुआ।

अलङ्कर्मन् से ख प्रत्यय अलङ्कर्मीणः। कार्य करने में पर्य्याप्त = समर्थ। अलंपुरुषीणः। पर्य्यादयः से चतुर्थीसमास। पुरुष के लिए पर्य्याप्त। ईश्वरे अधि, शौण्डादिगण में अधिका पाठ है समास ख प्रत्यय ईश्वराधीनः। ईश्वर एवं अधि का विग्रह नहीं होता है बिना विग्रह समास स्वरूप निर्णय नहीं, अधिशब्द समास में उत्तरपद नहीं तद्धित प्रत्यय की उत्पत्ति नहीं होगी यह शङ्का कर भगवान् भाष्यकार ने पूर्वपक्ष में सधीनर् प्रत्यय विधान किया ईश्वर सप्तम्यन्त से सधीनर् सकार की इत् संज्ञा रेफ की इत्संज्ञा 'ईश्वराधीनः' बनाकर शङ्का की सकार की इत्संज्ञा न होगी।

अतः प्रत्ययान्तर विधान उचित नहीं है एवं सूत्र भेद भी अनुचित है ततः यथाश्रुतन्यास कर विग्रह नहीं होता है। उसमें कारण यह है कि नित्यसमास में स्वपद विग्रह कथमपि नहीं होता है। यह खप्रत्यय नित्य प्रत्यय है। कौन से नित्य प्रत्यय है एतदर्थ जिज्ञासा निवृत्ति के लिए परिगणन किया है—'अतिशायने' के तमप् से लेकर 'अवक्षेपणे' के कन् तक, पूगात् के ञ्य से लेकर 'पादशत' के वुन् के पूर्वतक। 'किमेत्तिङ्' के आम् से मयट् के पूर्व तक। बृहत्या आच्छादने के कन् अषडक्ष का ख प्रत्यय, जात्यन्ताच्छ से विहित छ प्रत्यय एवं अन्य समासान्त प्रत्यय वे नित्य हैं। इनके विषय में महाविभाषा का सम्बन्ध नहीं। एवं विग्रह बोधक वाक्य भी नहीं होता है।

प्रकृत में अध्युत्तर पदयुक्त प्रकृति ही नहीं है ख प्रत्ययान्त ईश्वराधीन का ही प्रयोग होता है। ईश्वरे इति ईश्वराधीनः।

२८१ विभाषाञ्चेरदिक् स्त्रियाम् ५।४।८।

अदिक् स्त्रीवृत्तेरञ्चत्यन्तात् प्रातिपदिकात् खः स्याद् वा स्वार्थे। प्राक् = प्राचीनम्। प्रत्यक् = प्रतीचीनम्। अवाक् = अवाचीनम्। निकृष्टप्रतिकृष्टार्वरेफ

यात्यात्रमाधमाः। अर्वन्तमञ्चतीति अर्वाक् अर्वाचीनम्। अदिक् स्त्रियां किम्, प्राची दिक्। उदीची दिक्। दिग् ग्रहणं किम्, प्राचीना ब्राह्मणी। स्त्रीग्रहणं किम्, प्राचीनं ग्रामादाम्रः।

दिक् रूप स्त्री वृत्ति न हो ऐसे क्विन् प्रत्ययान्त अञ्चुधात्वन्त प्रातिपदिक उससे ख प्रत्यय होता है विकल्प से स्वार्थ में। निकृष्ट आदि शब्द अधम = नीचार्थक है। अर्वन् शब्द नीचार्थक है। नीच के प्रति गमनशील को अर्वाक् कहते हैं। इन सभी शब्दों से ख प्रत्यय स्वार्थ में हुआ— प्राक् = प्राचीनम् आदि इनमें अर्थभेद नहीं है। दिक् रूप स्त्री वृत्ति होने पर प्राची दिक्। उदीची दिक्। दिक् शब्द के ग्रहण करने से प्राचीना ब्राह्मणी यहां प्रत्यय हुआ यह प्रयोजन दिक् का है। नहीं तो स्त्री वृत्ति न होने से प्रत्यय नहीं होता। स्त्री ग्रहण क्यों किया? प्राचीन ग्रामात् आम्र यहां प्रत्यय हुआ।

२०८२ जात्यन्ताच्छ बन्धुनि ५।४।९।

ब्राह्मणजातीयः। बन्धुनि किम्, ब्राह्मणजातिः शोभना। जातेर्व्यञ्जकं द्रव्यं बन्धु।

जाति का अभिव्यञ्जक जो द्रव्य उसको बन्धु कहते हैं। बन्धुअर्थ में जात्यन्त शब्द से छप्रत्यय होता है। ब्राह्मणजातीय। यहां ब्राह्मण शब्द भाव प्रधान अर्थात् ब्राह्मणत्व जातिपरक है। ब्राह्मणत्वम् जा तर्यस्य स ब्राह्मण जाति छप्रत्यय से ब्राह्मणत्व जात्याधार पिण्ड यह अर्थ हुआ अर्थात् ब्राह्मण है। षष्ठीतत्पुरुष में ब्राह्मणस्य जाति यहां बन्धु अर्थ की अप्रतीति है। प्रत्यय न हुआ।

२०८३ स्थानान्ताद् विभाषा सस्थानेनेति चेत् ५।४।१०।

सस्थानेन = तुल्येन चेत् स्थानान्तम् अर्थवद् इत्यर्थः। पितृस्थानीयः। पितृस्थानः। सस्थानेन किम्, गोः स्थानम्।

तुल्य = सदृश अर्थ में जो स्थान शब्द तदन्त से विकल्प से छप्रत्यय होता है। पिता के तुल्य पितृस्थानीय। पितुरिव स्थानमस्य पितृस्थान = पितृतुल्य। गो का स्थान = निवास का अधिकरणप्रदेश, यहां वाक्य ही रहा गोः स्थानम्।

२०८४ अनुगादिनष्ठक् ५।४।१३।

अनुगदतीत्यनुगादी। स एवानुगादिकः।

अनुपूर्वक गदधातु से णिनि प्रत्यय 'सुप्यजातौ' से हुआ है, यह ठक् नित्य है, केवल प्रकृति स्वरूप प्रदर्शनार्थ प्रकृति का उपादान है। केवल प्रयोगार्ह शब्द नहीं है। अनुगदति अनुगादिन् ठक् इकादेशादि आनुगादिकः।

२०८५ विसारिणो मत्स्ये ५।४।१६।

अण् स्यात्। वैसारिणः। मत्स्येति किम्, विसारी देवदत्तः।

मत्स्यरूप अर्थ में विसारिन् शब्द से अण् प्रत्यय होता है। णिनि प्रत्ययान्त विसारिन् जो मत्स्यार्थक है उससे अण् वैसारिणो मत्स्यः। मत्स्य से भिन्नार्थक में देवदत्तो विसारी इत्येव भवति।

२०८६ संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् ५।४।१७।

अभ्यावृत्तिः = जन्म। क्रियाजन्मगणनवृत्तेः संख्याशब्दात् स्वार्थे कृत्वसुच् स्यात्। पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते। संख्यायाः किम् भूरिवारान् भुङ्क्ते।

क्रिया की जो उत्पत्ति उसकी जो गणना उसमें वृत्ति जो संख्या वाचक शब्द उससे स्वार्थ में कृत्वसुच् प्रत्यय होता है। दिवस में पाँच वार वह भोजन करता है यहां क्रियागत उत्पत्तिगत संख्यावाचक पञ्चन् से कृत्वसुच् प्रत्यय हुआ पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते। अनेकवार दिन में वह खाता है इस अर्थ में भूरिवारान् भुङ्क्ते यहां भूरिवार शब्द संख्यावाचक न होने से कृत्वसुच् न हुआ।

२०८७ द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ५।४।१८।

कृत्वसुचोऽपवादः। द्विर्भुङ्क्ते। त्रिः। रात्सस्य। चतुः।

कृत्वसुच् प्रत्यय को बाधकर द्वि, त्रि एवं चतुर् शब्द संख्या वाचक रहते इन शब्दों से उत्तर सुच् प्रत्यय होता है।

दिन में दो वार वह खाता है द्विर्भुङ्क्ते यहां सुच् = स् रु-रेफ। अव्यय संज्ञा त्रिर्भुङ्क्ते। चतुर्भुङ्क्ते यहां रेफ के बाद जो सुच् का सकार था उसको लोप हुआ रात्सस्य सूत्र से। भोजन पदार्थ क्या है— गलबिलाधः संयोग जनक व्यापार है। खाद्य पदार्थ को मुख के भीतर जो गल में बिल है उसके नीचे = भीतर ले जाने का व्यापार भोजन है।

२०८८ एकस्य सकृच्च ५।४।१९।

सकृदित्यादेशः स्याच्चात् सुच्। सकृद् भुङ्क्ते। संयोगान्तस्येति सुचो लोपः नतु हल्ङ्याबिति, 'अभैत्सीत्' इत्यत्र सिच इव सुचोऽपि तदयोगात्।

एक शब्द के स्थान में सकृत् आदेश होता है। चकार से सुच् भी होता है। सकृत् आदेश कर सुच् जो हुआ है उसके सकार का संयोगान्त लोप हुआ। यहां 'हल्ङ्याप्' की अप्राप्ति ही है। ति साहचर्य से सिप् का ही सकार का वह लोप करता है अतः सिच् का लोप जैसे उसने न किया तथैव सुच् का भी लोप वह नहीं करता है।

२०८९ विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले ५।४।२०।

अविप्रकृष्टः = आसन्नः। बहुधा बहुकृत्वो वा दिवसस्य भुङ्क्ते। आसन्नकाले किम्, बहुकृत्वो मासस्य भुङ्क्ते।

आसन्नकाल में बहुशब्द से विकल्प धा प्रत्यय होता है। पक्ष में कृत्वसुच् प्रत्यय होता है। रूपद्वय हुए-बहुधा। बहुकृत्वः। आसन्न = समीप काल में अनेक वार भोजन में ही इसकी प्रवृत्ति होती है। अन्यथा नहीं मास में अनेक वार भोजन वह करता है यहां आसन्न काल नहीं प्रत्यय न हुआ।

२०९० तत्प्रकृतवचने मयट् ५।४।२१।

प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतं तस्य वचनम् = प्रतिपादनम्। भावेऽधिकरणे वा ल्युट्। आद्ये—प्रकृतमन्नम् अन्नमयम्। अपूपमयम्। यवागूमयी, द्वितीये— अन्नमयो यज्ञः। अपूपमयं पूर्वं।

प्राचुर्य से जो प्रस्तुत हो उसको प्रकृत कहते हैं उसका वचन = प्रतिपादक को प्रकृतवचन कहते है। उसमें प्रातिपदिक से मयट् प्रत्यय होता है। वचन में भाव में ल्युट् है या अधिकरण में। भाव ल्युट् प्रत्ययान्त पक्ष में प्रकृतम् अन्नम् अन्नमयम्। यहां मयट प्रत्यय हुआ। स्त्री रहे वहां ङीप। अधिकरण ल्युडन्त वचन पक्ष में उच्यमानता प्रकृतता च प्रकृत्यर्थ का विशेषण है। ल्युडर्थ जो अधिकरण है वह मयट् का अर्थ है। इसलिए विशेष्य के अधीन ही लिङ्ग होता है। अत्र प्रकृतमुच्यते यस्मिन् इति अन्नमयो यज्ञ। प्रकृता अपूपा यस्मिन् पर्वणि तद् पर्व अन्नमयम्।

२०९१ समूहवच्च बहुषु ५।४।२२।

सामूहिका: प्रत्यया अतिदिश्यन्ते। चान्मयट्। मोदकाः प्रकृता मौदकिकम्। मोदकमयम्। शाष्कुलिकम्। शष्कुलीमयम्। द्वितीयेऽर्थे मौदकिको यज्ञ: मोदकमयः

बहुत्व अर्थ मे समूहवत् प्रत्यय होते हैं, चकार से मयट् प्रत्यय भी होता है। वचन में भाव घञ् एवं अधिकरण घञ् से यहां भी दो अर्थ है। उपमान्त से प्रकृत द्योत्य रहे तक प्रत्यय होता है। स्वार्थिक होने से प्रकृत्यर्थगत लिङ्ग एवं वचन होता है। द्वितीय में उच्यमानता एवं प्रकृतता प्रकृत्यर्थ में प्रकारीभूत है। ल्युडर्थ प्रत्ययार्थ है। मौदकिकम्, शाष्कुलिकम्, यहां 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक' से ठक् प्रत्यय हुआ है। मोदका प्रकृता यस्मिन् यज्ञे मौदकिको यज्ञ। मोदकमय।

२०९२ अनन्तावसथेतिहभेषजाञ्ञ्यः ५।४।२३।

अनन्त एवानन्त्यम्। आवसथ एवावसथ्यम्। इति हेति निपातसमूहः। तिह्यम्। भेषजमेव भैषज्यम्। निपातनात् एकारः।

अनन्त, अवसथ, इति ह, भेषज इनसे पर स्वार्थ में ञ्य प्रत्यय होता है। अनन्त एव आनन्त्यम्। अवसथ एवावसथ्यम्। निपात समुदाय से स्वार्थ में प्रत्यय अतीत घटनाओं का उल्लेख जिसमें रहे उसे ऐतिह्य कहते हैं।

२०९३ देवतान्तात् तादर्थ्ये यत् ५।४।२४।

तदर्थ एव तादर्थ्यम्। स्वार्थे ष्यञ्। अग्निदेवतायै इदम् अग्निदैवत्यम्। पितृदैवत्यम्।

देवतान्त शब्द के उत्तर तादर्थ्य में यत् प्रत्यय होता है। तदर्थ से स्वार्थ में ष्यञ् से तादर्थ्य की सिद्धि हुई। अग्निश्च देवता च ताभ्यां इदम् = कर्म अग्निदैवत्यम्। पितरश्च ता देवता ताभ्यां इदम्। पितृदैवत्यम्।

२०९४ पादार्घाभ्यां च ५।४।२५।

पादार्थमुदकं पाद्यम्। अर्घ्यम्। ❀ नवस्य नू आदेश त्नप् तनप् खाश्च प्रत्यया वक्तव्याः ❀ नूत्नम्। नूतनम्। नवीनम्। ❀नश्च पुराणे प्रात्। पुराणार्थे वर्तमानात् प्रशब्दान्नो वक्तव्यः। चात्पूर्वोक्ता। प्रणम्। प्रत्नम्। प्रतनम्। प्रीणम्। ❀ भागरूपनामभ्यो धेयः ❀। भागधेयम्। रूपधेयम्। नामधेयम्।

❀ आग्नीध्रसाधारणादञ् ❀। आग्नीध्रम्। साधारणम्। स्त्रियां ङीप्। आग्नीध्री। साधारणी।

पाद एवं अर्घ शब्द से यत् प्रत्यय होता है। पाद्यम् अर्घ्यम्। अर्घशब्द मूल्य एवं पूजा विधि में है।

नव शब्द के स्थान में नू आदेश होता है। एवं उसके उत्तर त्नप्, तनप् एवं खप्रत्यय होता है। पूरणार्थक प्रशब्द से पर न प्रत्यय होता है, एवं चकार से पूर्वोक्त प्रत्यय भी होते हैं। भाग, रूप, नाम इससे उत्तर धेय प्रत्यय होता है स्वार्थ में। आग्नीध्र एवं साधारण शब्द के उत्तर अञ् प्रत्यय होता है। स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होता है।

२०९५ अतिथेर्ञ्यः ५।४।२६।

तादर्थ्य इत्येव। अतिथये इदम् आतिथ्यम्।

अतिथि शब्द से तादर्थ्य में ञ्य प्रत्यय होता है। अतिथि के लिए यह कार्य में आतिथ्यम्। जिसके आगमन की तिथि प्रथम से निश्चित न हो उसको अतिथि कहते हैं। उसका सन्मान सत्कार करना गृहस्थ का धर्म है। न करने पर प्रत्यवाय लगता है। जिसके घर से अतिथि असत्कृत जाता है वह पापयुक्त होता है। प्राचीन भारत में अतिथि सत्कार के लिए कभी कभी अपना सर्वस्व त्याग करते थे।

२०९६ देवात्तल् ५।४।२७।

देव एव देवता।

देवशब्द के उत्तर स्वार्थ में तल् प्रत्यय होता है। देव एव देवता। देवता शब्द के सम्बोधन में दो रूप होते हैं हे देवते हे देवत! एवं सप्तमी के एक वचन में दो रूप देवते देवतायाम्। यहां 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वश्च' सूत्र पर वार्तिक है कि विभक्ति एवं सम्बुद्धि में ह्रस्व विकल्प से होता है। तल् प्रत्ययान्त शब्दशक्ति स्वभाव से स्त्रीलिङ्ग होता है।

२०९७ अवेः कः ५।४।२८।

अविरेवाविकः।

अविशब्द से स्वार्थ में कप्रत्यय होता है। अविकः।

२०९८ यावादिभ्यः कन् ५।४।३०।

याव एव यावकः। मणिकः।

यावादि शब्द से स्वार्थ में कन् प्रत्यय होता है।

२०९९ लोहितान्मणौ ५।४।३०।

लोहित एव मणिः लोहितकः।

मणि अर्थ में लोहित शब्द से स्वार्थ में कप्रत्यय होता है।

२१०० वर्णे चानित्ये ५।४।३१।

लोहितकः कोपेन। ❀ लोहितात्लिङ्ग बाधनं वा ❀। लोहितिका। लोहिनिका कोपेन।

अनित्यवर्ण होने पर लोहित शब्द से कन् प्रत्यय होता है। क्रोध से लाल वर्ण युक्त वह है। यहा लाल वर्ण स्थायी नहीं है क्रोध शान्त होने पर पूर्व जो वर्ण था वही रहता है रक्तवर्ण नष्ट होता है। अत अनित्य वह है। ध्वस का जो प्रतियोगी हो वह अनित्य है। ध्वस प्रतियोगित्वम् = अनित्यत्वम्। ध्वसा प्रतियोगित्व नित्यत्वम्। जिसका अभाव रहे वह प्रतियोगी है। प्रतियोगी शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त है। सम्बन्ध का जो प्रतियोगी होता है। स्त्रीलिङ्ग में *लोहित शब्द को विकल्प से लिङ्ग का बाध होता है। अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में 'वर्णादनुदात्त' सूत्र से ङीप्* एव तकार को नकारादेश से लोहिनी बनता है कन् प्रत्यय करने पर लिङ्ग बोधक कार्याभाव विकल्प से रूपद्वय हुए।

२१०१ रक्ते ५।४।३२।

लाक्षादिना रक्ते यो लोहितशब्दस्तस्मात् कन् स्यात्। लिङ्गबाधन वेत्येव लोहितिका लोहिनिका शाटी।

लाक्षादि से रक्त अर्थ में विद्यमान लोहित शब्द से कन् प्रत्यय होता है। विकल्प से लिङ्ग बाधन भी होता है।

२१०२ कालाच्च ५।४।३३।

वर्णे चानित्ये, रक्ते इति द्वयम् अनुवर्तते। कालक मुख वैलक्ष्येण। कालक' पट। कालिका शाटी।

अनित्य वर्ण में एव लाक्षादि रक्त होने पर काल से कन् प्रत्यय होता है। यहा वर्णे चानित्ये एव रक्त की अनुवृत्ति से पूर्वोक्तार्थ हुआ।

२१०३ विनयादिभ्यष्ठक् ५।४।३४।

विनय एव वैनयिक। सामयिक। उपायो ह्रस्वत्वञ्च। औपयिक।

स्वार्थ में विनय आदि प्रथमान्त से ठक् प्रत्यय होता है। समय एव सामयिक। उपाय शब्द से ठक् प्रत्यय एव उपाय के पा के आकार का ह्रस्व अकारादेश होता है।

२१०४ वाचो व्याहृतार्थायाम् ५।४।३५।

सन्दिष्टार्थायां वाचि विद्यमानाद् वाक्शब्दात् स्वार्थे ठक् स्यात्। सन्देश-वाग् वाचिक स्यात्।

सन्दिष्टार्थ वचन में विद्यमान वाक् शब्द से स्वार्थ में ठक् प्रत्यय होता है। सन्देशवाक वाचि कम् कहते है।

२१०५ तद्युक्तात् कर्मणोऽण् ५।४।३६।

कर्मैव कार्मणम्। वाचिक श्रुत्वा क्रियमाण कर्मेत्यर्थ।

स्वार्थिक प्रत्यय में कही लिङ्ग एव वचन का व्यत्यास होता है वाणी द्वारा सदेश सुनकर तद नन्तर क्रियमाण जो कर्म इसमें विद्यमान् कर्मन् शब्द से स्वार्थ में प्रत्यय होता है। कार्मणम्। अन् से प्रकृतिभाव हुआ।

२१०६ ओषधेरजातौ ५।४।३७।

स्वार्थेऽण । औषधं पिबति । ओषधयः क्षेत्रे रूढाः ।

जाति भिन्न अर्थ में ओषधि प्रथमान्त से स्वार्थ में अण् प्रत्यय होता है। ओषधित्व जाति प्रवृत्तिनिमित्त जहां नहीं वह अण् का अभाव है।

२१०७ प्रज्ञादिभ्यश्च ५।४।३८।

प्रज्ञ एव प्राज्ञः । प्राज्ञी स्त्री । दैवतः । बान्धवः ।

प्रज्ञादि शब्दों से स्वार्थ में अण् प्रत्यय होता है। प्रज्ञ एव प्राज्ञः। स्त्री में ङीप् प्राज्ञी। देवता एव दैवतः। बन्धुरेव बान्धवः। ओर्गुणः से गुण हुआ है। प्रपूर्वक ज्ञा अववोधने से क प्रत्यय आकार लोप उपपदसमास प्रज्ञः।

२१०८ मृदस्तिकन् ५।४।३९।

मृदेव मृत्तिका ।

मृद् शब्द से स्वार्थ में तिकन् प्रत्यय होता है। मिट्टी अर्थ में मृत्तिका।

२१०९ सस्नौ प्रशंसायाम् ५।४।४०।

रूपपोऽपवादः । प्रशस्ता मृत् मृत्सा । मृत्स्ना । उत्तरसूत्रेऽन्यतरस्यां ग्रहणान्नित्योऽयम् ।

प्रशंसा अर्थ में मृद् से स एवं स्न प्रत्यय होता है। मृत्सा। मृत्स्ना।

२११० बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम् ५।४।४२।

बहूनि ददाति बहुशः । अल्पानि अल्पशः । बह्वल्पार्थात् मङ्गलामङ्गलवचनम् * । नेह—बहूनि ददत्यनिष्टेषु । अल्पं ददत्याभ्युदयिकेषु ।

बहु एवं अल्पार्थक कारकों से पर शस् प्रत्यय विकल्प से होता है। वह अधिक देता है बहुशः। वह अल्प दान करता है अल्पशः। यहां वार्तिककार कहते है कि मङ्गल समय में अधिक दाता में ही बहुशः। एवं अमङ्गल अर्थात् अनिष्ट में अल्पदाता में अल्पशः होता है। अन्यथा नहीं। इससे विपरीत क्रम की प्रतीति में वाक्य ही रहता है। शस् नहीं होता है।

२१११ संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् ५।४।४३।

द्वौ द्वौ ददाति द्विशः । माषं माषं माषशः । प्रस्थशः । परिमाणशब्दा वृत्तावेकार्था एव । संख्यैकवचनात् किम् , घटं घटं ददाति । वीप्सायां किम् , द्वौ ददाति । कारकादित्येव । द्वयोर्द्वयोः स्वामी ।

वीप्सार्थ में संख्यावाचक शब्द एवं एकार्थ प्रतिपादक शब्द इनसे शस् प्रत्यय होता है। द्वौ द्वौ ददति द्विशः यह शस् से वीप्सा उक्त है। माषम् माषम् माषशः। प्रस्थं प्रस्थं प्रस्थशः। परिमाण वाचक शब्द तद्धित प्रत्ययरूप वृत्ति में एकत्व संख्याविशिष्ट संख्येयार्थक ही है। घटं घटं ददाति यहां वाक्य ही रहा क्योंकि संख्येकवाचक घट शब्द नहीं है। वीप्सा की अप्रतीति से द्वौ ददाति। द्वयोः द्वयोः स्वामी यहां क्रिया जनक स्वरूप कारकत्व षष्ठ्यन्त को नहीं है। कारक छः है। षष्ठी कारक विभक्ति नहीं है।

२११२ प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः ५।४।४४।

प्रतिना कर्मप्रवचनीयेन योगे या पञ्चमी विहिता तदन्तात् तसिः स्यात्। प्रद्युम्नः कृष्णतः प्रति। * आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्। आदौ आदितः। मध्यतः। अन्ततः। पृष्ठतः। पार्श्वतः। आकृतिगणोऽयं स्वरेण स्वरतः वर्णतः।

कर्मप्रवचनीय प्रति के योग में जो पञ्चमी विहित है तदन्त से तसि प्रत्यय होता है। 'प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः' सूत्र से प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा विहित है एवं 'प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्' कृष्ण से पञ्चमी है। तद से प्रातिपदिकत्व प्रयुक्त पञ्चमी का लुक् कृष्णतः की अव्यय संज्ञा है। सकार का रुत्वविसर्ग। * आदि आदि शब्दों के उत्तर तसि प्रत्यय होता है। आदौ आदितः आदि। आकृतिगण से स्वरतः वर्णतः यहां तृतीयान्त से तसि प्रत्यय हुआ।

२११३ अपादाने चाहीयरुहोः ५।४।४५।

अपादाने या पञ्चमी तदन्तात् तसिः स्यात्। ग्रामादागच्छति ग्रामतः। अहीयरुहोः किम्, स्वर्गाद्धीयते। पर्वतादवरोहति।

अपादान में विहित जो पञ्चमी तदन्त से तसि प्रत्यय होता है, हीय एवं रुह योग में नहीं। ग्रामतः। हीय, रुह के योग में वाक्य ही रहता है।

२११४ अतिग्रहाव्यथनक्षेपेष्वकर्तरि तृतीयायाः ५।४।४६।

अकर्तरि तृतीयान्ताद्वा तसिः स्यात्। अतिक्रम्य ग्रहोऽतिग्रहः। चारित्र्येणातिगृह्यते = चारित्रतोऽतिगृह्यति। चारित्रेणान्यान् अतिक्रम्य वर्तत इत्यर्थः। अव्यथनम् = अचलनम्। वृत्तेन न व्यथते = वृत्ततो न व्यथते। वृत्तेन न चलतीत्यर्थः। क्षेपे—वृत्तेन क्षिप्तः = वृत्ततः क्षिप्तः। वृत्तेन निन्दित इत्यर्थः। 'अकर्तरि' इति किम्, देवदत्तेन क्षिप्तः।

अतिग्रह, अव्यथन, निन्दा अर्थ में कर्तृकारक भिन्न तृतीयान्त से विकल्प से तसि प्रत्यय होता है। अतिक्रम पूर्वक ग्रहण को अतिग्रह कहते हैं। अपने चारित्र्य से अन्यजनों को उल्लङ्घन करके रहता वह है। यहां चारित्र्यतः हुआ। अव्यथन का अर्थ है अचलन। वृत्त से च्युत नहीं होता है वृत्ततो न व्यथते। वृत्तेन क्षिप्तः = निन्दितः। वृत्त आचरण से निन्दापात्र। कर्तृ तृतीयान्त से देवदत्तेन क्षिप्तः यहां तसि न हुआ किन्तु वाक्य ही रहा।

२११५ हीयमानपापयोगाच्च ५।४।४७।

हीयमानपापयुक्तादकर्तरि तृतीयान्ताद्वा तसिः। वृत्तेन हीयते, वृत्तेन पापः = वृत्ततः। क्षेपस्याविवक्षायामिदम्। क्षेपे तु पूर्वेण सिद्धम्। अकर्तरीति किम् देवदत्तेन हीयते।

हीयमान एवं पापयुक्त कर्तृवाचक भिन्न जो तृतीयान्त उससे विकल्प से तसि प्रत्यय होता है। आचरण से त्यक्त एवं आचरण से पापी अर्थ में वृत्ततः। निन्दा की अविवक्षा में यह सूत्र प्रवृत्त होता है। निन्दा में पूर्व सूत्र से ही तसि प्रत्यय होता है। कर्तृ तृतीयान्त से तसि का अभाव—देवदत्तेन हीयते।

२११६ षष्ठ्या व्याश्रये ५।४।४८।

षष्ठ्यन्ताद्वा तसिः स्यान्नानापक्षसमाश्रये । देवा अर्जुनतोऽभवन् ।

आदित्याः कर्णतोऽभवन् । अर्जुनस्य कर्णस्य पक्षे इत्यर्थः । व्याश्रये किम् , वृक्षस्य शाखा

विभिन्नपक्ष के अवलम्बन अर्थ में षष्ठयन्त पद से विकल्प तसि प्रत्यय होता है । देवगण अर्जुन के पक्षपाती हुए । अर्जुनतः । आदित्य कर्ण के पक्षपाती हुए कर्णतः । जहाँ व्याश्रय नहीं वहाँ तसिका अभाव है यथा वृक्षस्य शाखा ।

२११७ रोगाच्चापनयने ५।४।४९।

रोगवाचिनः षष्ठ्यन्ताद्वा तसिश्चिकित्सायाम् । प्रवाहिकातः कुरु । प्रतिकारमस्याः कुवित्यर्थः । अपनयने किम् , प्रवाहिकायाः प्रकोपनं करोति ।

चिकित्सार्थ में रोगवाचक षष्ठयन्त से उत्तर विकल्प तसि प्रत्यय होता है । विसूचिका को प्रवाहिका कहते हैं । प्रच्छर्दिका वमनव्याधिको कहते हैं । विसूचिका को प्रतिकार की चिकित्सा तुम करो । अपनयन = दूरीकरण जहां नहीं वहां तसिका अभाव है । यथा प्रवाहिकायाः प्रकोपनं करोति ।

२११८ कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः ५।४।५०।

❀ अभूततद्भावे इति वक्तव्यम् ❀ । विकारात्मतां प्राप्नुवत्यां प्रकृतौ वर्तमानाद् विकारशब्दात् स्वार्थे च्विर्वा स्यात्करोत्यादिभिर्योगे ।

कृ भू अस् धातु निष्पन्नरूप के योग में विकारपना को प्राप्त हुई प्रकृति में वर्तमान विकारवाचक शब्द से पर विकल्प से च्वि प्रत्यय होता है । जो घटना नहीं हुई उसके कथन को अभूततद्भाव कहते हैं । अभूत का भूतरूप से कथन अर्थात् मिथ्या कथन या तद्भाव में तत्प्रकारक ज्ञान का आरोप करना ।

२११९ अस्य च्वौ ७।४।३२।

अवर्णस्य ईत् स्यान च्वौ । वेर्लोपः । च्व्यन्तत्वादव्ययत्वम् । अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते, तं करोति कृष्णीकरोति । ब्रह्मीभवति । गङ्गीस्यात् । ❀अव्ययस्य च्वावीत्वं नेति वाच्यम् ❀ । दोषाभूतमहः । दिवाभूता रात्रिः । एतच्चाव्ययीभावश्चेति सूत्रे भाष्ये उक्तम् ।

च्वि प्रत्यय पर रहते अकार एवं आकार के स्थान में ईकार होता है । च्वि प्रत्यय का सर्वापहारी लोप होता है । प्रत्यय लक्षण प्रयुक्त यहां च्वि प्रत्ययान्तत्व प्रयुक्त अव्यय संज्ञा । कृष्णत्वगुणाश्रयद्रव्य का अभाव जहां है वह कृष्णत्व प्रकारक ज्ञान में कृष्णीभवति । च्वि, ईः । अव्यय को च्वि प्रत्यय पर रहते ईत्व का अभाव ही रहता है । यह विषय अव्ययीभावश्च सूत्र के भाष्य में चर्चित है ।

२१२० क्यच्व्योश्च ६।४।१५२।

हलः परस्यापत्ययकारस्य लोपः स्यात् क्ये च्वौ च परतः । गार्गीभवति ।

हल् से पर अपत्य अर्थ में विहित तद्धित प्रत्यय के यकार का लोप होता है । यञ् प्रत्ययान्त गार्ग्य शब्द से सुप् करके च्वि प्रत्यय यकार का लोप हुआ ईत्व से ईकार के व्यवधान से 'आपत्यस्य' से यलोप यहां अप्राप्त है ।

२१२१ च्वौ च ७।४।२६।

च्वौ परे पूर्वस्य दीर्घः स्यात्। शुचीभवति । पटूस्यात् । अव्ययस्य दीर्घस्य नेति केचित् . तन्निर्मूलम् । स्वस्ति स्यादिति तु महाविभाषया च्वेर-भावात्सिद्धम् ।

स्वस्तीस्यादित्यपि पक्षे स्यादिति चेदस्तु । यदि नेष्यते तर्ह्यनभिधानात् च्विरेव नोत्पद्यते इत्यस्तु । रीङ् ऋतः । मात्रीकरोति ।

च्विप्रत्यय पर में रहते पूर्वपद के अन्त्य अच् का दीर्घ होता है। शुचीभवति। कोई कहते हैं कि अव्यय का दीर्घ नहीं होता है। यह कथन निर्मूल है। महाविभाषा का अधिकार से च्वि का अभाव से 'स्वस्ति स्यात्' की सिद्धि होती ही है। यदि पक्ष में दीर्घ इष्ट नहीं है तो अनभिधान मानना कहा है कि "यथालक्षणम् अप्रयुक्ते" अप्रयुक्त लक्ष्य में लक्षण प्रवृत्ति का अभाव है, अर्थात् लक्षण की प्रवृत्ति नहीं होती। किन से अप्रयुक्त जिज्ञासा में शिष्टों द्वारा अकथित शब्द। यदि अभिधान है तो 'स्वस्तीस्यात्' होता ही है।

ऋकारान्त शब्द से 'रीङ् ऋतः' से रीङादेश मात्रीकरोति हुआ।

२१२२ अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहो रजसां लोपश्च ५।४।५१।

एषां लोपः स्यात् च्विश्च । अरूकरोति । उन्मनीस्यात् । उच्चक्षूकरोति । विचेतीकरोति । विरहीकरोति । विरजीकरोति ।

अरुस्, मनस्, चक्षुस्, चेतस्, रहस्, रजस् इन को च्विप्रत्यय होता है एवं सकार का लोप होता है। अस्य च्वौ से ईकार होता है।

२१२३ विभाषा साति कार्त्स्न्ये ५।४।५२।

च्विविषये सातिर्वा स्यात् साकल्ये ।

च्विप्रत्यय के विषय में विकल्प से साति प्रत्यय होता है साकल्य अर्थ में।

२१२४ सात्पदाद्योः ८।३।१११।

सस्य षत्वं न स्यात् । दधि सिञ्चति । कृत्स्नं शस्त्रम् अग्निः सम्पद्यतेऽग्निसाद् भवति । अग्नीभवति । महाविभाषया वाक्यमपि । कार्त्स्न्ये किम्, एकदेशेन शुक्लीभवति पटः ।

इस पर साति प्रत्यय के सकार को एवं पदादि सकार को षकारादेश नहीं होता है। दधि सिञ्चति यहां 'आदेशप्रत्यययोः' से प्राप्त षत्व का इसने निषेध किया। सम्पूर्णशस्त्र अग्निस्वरूप होता है अग्निसाद् भवति यहां भी षत्वाभाव हुआ। पक्ष में च्वि दीर्घ अग्नीभवति। महाविभाषा से पक्ष में प्रत्ययरहित वाक्य भी होता है। साकल्य से भवन नहीं किन्तु एकदेश = एकावयव शुक्लत्व को प्राप्त हुआ वहां केवल च्वि एवं दीर्घ 'शुक्लीभवति पटः एकदेशेन'।

२१२५ अभिविधौ सम्पदा च ५।४।५३।

सम्पदा कृभ्वस्तिभिश्च योगे सातिर्वा स्याद् व्याप्तौ । पक्षे कृभ्वस्तियोगे च्वि । सम्पदा तु वाक्यमेव । अग्निसात् सम्पद्यते । अग्निसाद् भवति शस्त्रम् ।

अग्नीभवति । जलसात् सम्पद्यते जलीभवति लवणम् । एकस्या व्यक्तेः सर्वावयवावच्छेदेनाऽन्यथा भावः = कात्स्न्यम् । बहूनां व्यक्तीनां किञ्चिदवयवावच्छेदेनान्यथात्वं त्वभिविधिः ।

अभिविधि (व्याप्ति) में सम्पूर्वक पद धातु एवं कृ भू अस् धातुओं के योग में विकल्प से साति प्रत्यय होता है । पक्ष में कृ, भू, अस् के योग में च्वि प्रत्यय होता है । सम्पूर्वक पद् धातु के योग में तो पक्ष में वाक्य ही रहता है ।

एक व्यक्ति का सर्वावयव का अन्यथाभाव = वैपरीत्य को कात्स्न्र्य कहते हैं । अनेक व्यक्तियों में एक का अन्यथा भाव के अभिविधि कहते हैं ।

२१२६ तदधीनवचने ५।४।५४।

सातिः स्यात् कृभ्वस्तिभिः सम्पदा च योगे । राजसात् करोति । राजसात् सम्पद्यते । राजाधीनमित्यर्थः ।

उसके अधिकार में है ऐसा कथन में कृ. भू, अस्, एवं सम्पूर्वक पद् धातुओं के योग में साति प्रत्यय होता है । राजा के अधीन करता है – राजसात् करोति आदि ।

२१२७ देये त्रा च ५।४।५५।

तदधीने देये त्रा स्यात् सातिश्च कृभ्वादियोगे । विप्राधीनं देयं करोति विप्रत्रा करोति । विप्रत्रा सम्पद्यते । पक्षे विप्रसात् करोति । देये किम्, राजसाद् भवति राष्ट्रम् ।

तदधीनरूप अर्थ में एवं दानकर्मरूप देय अर्थ में कृ, भू, अस् एवं सम्पूर्वक पद् धातु के योग में त्रा एवं साति प्रत्यय होता है ।

वह दान क्रिया जन्य फलाश्रय वस्तु अर्थात् देय को ब्राह्मण के अधीन करता है अर्थात् अपना स्वत्व की निवृत्ति पूर्वक ब्राह्मण का उसपर स्वत्व उत्पन्न करता है वह त्रा प्रत्यय एवं साति प्रत्यय से विप्रत्रा करोति । विप्रसात् करोति । देय नहीं वहां त्रा प्रत्यय नहीं । यथा राष्ट्र राजा के अधीन प्रभाव से है यहां देय नहीं अतः 'राजसात्' यही हुआ ।

२१२८ देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम् ५।४।५६।

एभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यश्च त्रा स्यात् । देवत्रा वन्दे रमे वा । बहुलोक्तेरन्यत्रापि । बहुत्रा जीवतो मनः ।

द्वितीयान्त एवं सप्तम्यन्त देव, मनुष्य, पुरुष, पुरु, मर्त्य इनसे पर त्रा प्रत्यय होता है । यथा देवत्रा वन्दे रमे वा । सूत्र में बहुल ग्रहण से अन्यत्र भी त्रा प्रत्यय होता है । जीवन धारण करने वाले मनुष्य का मन अनेक सांसारिक विषयों में लगा रहता है यहां बहुत्रा जीवतो मनः हुआ । सूत्र में पुरुशब्द बहुपर्य्याय है ।

२१२९ अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच् ५।४।५७।

द्व्यच् अवरं न्यूनं न तु ततो न्यूनम् अनेकाजिति यावत् तादृशम् अर्द्ध

यस्य तस्माड्डाच स्यात् कृभ्वस्तिभिर्योगे। ॐ डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम् ॐ। ॐ नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम् ॐ। डाच् पर यदाम्रेडित तस्मिन् परे पूर्वपरयोर्वर्णयोः पररूपं स्यात्। इति तकारपकारयो पकार। पटपटा करोति। अव्यक्तानुकरणात् किम्, दृषत्करोति। द्व्यजवरार्धात् किम्, श्रत्करोति। अवरेति किम्, खरटखरटा करोति। त्रपटत्रपटाकरोति। अनेकाच इत्येव सूत्रयितुमुचितम। एव हि डाचीति परसप्तम्येव द्वित्वे सुवचेत्यवधेयम्। अनितौ किम्, पटिति करोति।

कृ, भू, अस धातुओं के योग में दो अच् से न्यून अर्धभाग न रहे अर्थात् अनेकाच् आधा भाग है जिसका ऐसा अव्यक्त अनुकरण प्रातिपदिक से पर डाच् प्रत्यय होता है, किन्तु इति शब्द के योग में नहीं होता है।

डाच् प्रत्यय विवक्षित होनेपर बहुल करके द्वित्व होता है। डाचि विषय सप्तमी है पर सप्तमी नहीं, अत डाच् करने के प्रथम ही द्वित्व डाच के विषय में होता है। डाच प्रत्यय परक जो आम्रेडित उससे पूर्ववर्ण एव आम्रेडित पर भाग का आदि वर्ण का पररूप होता है। प्रकृत में तकार एव पकार का पररूप पकार हुआ है।

ध्वनि का अनुकरण सदृश शब्दार्थक अव्यक्त जो पटत उसका द्वित्व से पटत्पटत् करोति। यहां डाच् टिका लोप पटत पटा करोति यहां 'तस्य परमाम्रेडितम्' से परभाग की आम्रेडित संज्ञा तकार पकार का पकाररूप पर रूप पटपटाकरोति। दृषत् करोति यहां दृषद अव्यक्त अनुकरण नहीं है।

एकाच् श्रत है। अत यहां श्रत्करोति यही रहा। न्यून द्व्यच्क नहीं है, यथा खरटखरटा करोति। यहां अनेकाच् यही पद करना चाहिये। एव डाचि पर सप्तमी ही है, विवक्षित सप्तमी में प्रमाणाभाव है, भाष्यकारने कहा है कि "तस्मिन्निति परिभाषायां आगन्तुकायां सत्यां सत्सप्तम्याश्रयणमयुक्तम्" यहां सत् पद अन्य सप्तमी का उपलक्षण है। द्वित्व में पर सप्तमी से डाच् करने के बाद द्वित्व करना उचित है। 'पटिति' यहां पटत् इति टि = अत् के स्थान में पर इकाररूप हुआ है।

२१३० कृञो द्वितीयतृतीयशम्बबीजात् कृषौ ५।४।५८।

द्वितीयादिभ्यो डाच् स्यात् कृञ एव योगे कर्षणेऽर्थे। बहुलोक्तेरव्यक्तानुकरणादन्यस्य डाचि न द्वित्वम्। द्वितीय तृतीय कर्षण करोति = द्वितीया करोति। तृतीया करोति। शम्बशब्द = प्रतिलोम। अनुलोम कृष्ट क्षेत्र पुन प्रतिलोम कर्षति शम्बाकरोति। बीजेन सह कर्षति बीजाकरोति।

कृषिकर्म कर्षणरूप अर्थ में कृधातु के योग में द्वितीय, तृतीय, शम्ब, बीज इनसे पर डाच् प्रत्यय होता है। पूर्वत्र बहुल ग्रहण से अव्यक्तानुकरण से अन्यत्र डाच् प्रत्यय पर में रहते द्वित्व नहीं होता है। खेत को दूसरी बार या तीसरी बार हल द्वारा कर्षण करता है वहां डाच् से द्वितीया करोति तृतीया करोति हुआ। खेत में उलटकर हलचलाकर कर्षण किया जाय इस अर्थ में शम्ब शब्द है। सीधा कर्षण किया हुआ खेत को उलट कर कर्षण में शम्बाकरोति खेत को बीज के साथ कर्षण करता है वह है बीजाकरोति।

२१३१ संख्यायाश्च गुणान्तायाः ५।४।५९।

कृञो योगे कृषौ डाच् स्यात्। द्विगुणा करोति क्षेत्रम्। क्षेत्रकर्मकं द्विगुणं कर्षणं करोतीत्यर्थः।

गुण शब्द है अन्त में जिसको ऐसा संख्यावाचक शब्द से पर कृधात्वर्थ क्रिया के योग में डाच् प्रत्यय होता है। खेत को दूना कर्षण करता वह है अर्थ में द्विगुणाकरोति डाच् प्रत्यय हुआ।

२१३२ समयाच्च यापनायाम् ५।४।६०।

कृषाविति निवृत्तम्। कृञो योगे डाच् स्यात्. समया करोति = कालं यापयतीत्यर्थः।

कृधातु के योग में समय शब्द से यापनार्थ में डाच् प्रत्यय होता है। समयाकरोति यहां डाच् प्रत्यय हुआ। कालयापन = समय विताना है।

२१३३ सपत्रनिष्पत्रादतिव्यथने ५।४।६१।

सपत्राकरोति मृगम्। सपुङ्खशरप्रवेशेन सपत्रं करोतीत्यर्थः। निष्पत्राकरोति = सपुङ्खस्य शरस्यापरपार्श्वे निर्गमनान्निष्पत्रं करोतीत्यर्थः। अतिव्यथने किम्, सपत्रं निष्पत्रं वा करोति भूतलम्।

अत्यन्त पीड़ा अर्थ में कृधातु के योग में सपत्र एवं निष्पत्र से डाच् प्रत्यय होता है। सपत्राकरोति = पुङ्ख सहित बाण का प्रवेश कराकर मृग को सपत्र करता है। निष्पत्रा करोति = सपुङ्ख बाण को दूसरे पार्श्व में प्रवेश कराकर मृग को निष्पत्र करता है। अतिशय पीड़ा न होने पर भूतल को सपत्र करता है या निष्पत्र करता है वहां वाक्य ही रहता है।

लक्ष्ये शराः पतन्ति अनेन इति पत्रम्। शराणां पुङ्खगतो बर्हः।

२१३४ निष्कुलान्निष्कोषणे ५।४।६२।

निष्कुलाकरोति दाडिमम्। निर्गतं कुलम् अन्तरवयवानां समूहो यस्मादिति बहुव्रीहेर्डाच्।

भीतरी अवयवों का बहिःनिस्सारणरूप निष्कोषण अर्थ में निष्कुल शब्द से पर डाच् प्रत्यय होता है। अनार के भीतरी समस्त दाने थे उसको बाहर निकालने का व्यापार वह करता है यहां 'निष्कुला करोति' होता है। यहां बहुव्रीहि समास है यथा—अन्तस्थ अवयवों का जिससे निष्काशन है निर्गतं कुलम् = अन्तरवयवानां समूहो यस्मात् यहां निष्कुल से डाच् हुआ।

२१३५ सुखप्रियादानुलोम्ये ५।४।६३।

सुखाकरोति। प्रियाकरोति गुरुम् = अनुकूलाचरणेनानन्दयतीत्यर्थः।

अनुकूलाचरणरूप आनुलोम्यार्थ में सुख एवं प्रिय से कृधातु के योग में डाच प्रत्यय होता है। अनुकूल आचरण से गुरु को आनन्दित शिष्य करता है इस अर्थ में सुखा करोति डाच् हुआ।

२१३६ दुःखात्प्रातिलोम्ये ५।४।६४।

दुःखाकरोति स्वामिनम् = पीडयतीत्यर्थः।

प्रतिकूलाचरण अर्थ में दुःख से डाच् प्रत्यय होता है। विपरीत आचरण से स्वामी को दुःखयुक्त वह करता है यहां डाच् दुःखाकरोति।

२१३७ शूलात्पाके ५।४।६५।

शूलाकरोति मांसम् । शूलेन पचतीत्यर्थः ।

पाकरूप अर्थ में शूल से कृधातु के योग में डाच् प्रत्यय होता है। शूल से मांस को पकाता है यहां डाच् शूलाकरोति मांसम्। पच् धात्वर्थ=विक्लित्ति जनक व्यापार है। रूपान्तर प्राप्ति को विक्लित्ति कहते हैं। विक्लित्तिरूपफल जन्य है व्यापार उसका जनक है एवं व्यापार का जनक यहां कर्ता=वह है।

२१३८ सत्यादशपथे ५।४।६६।

सत्याकरोति भाण्ड वणिक् क्रेतव्यमिति सत्य करोतीत्यर्थः। शपथे तु सत्यं करोति विप्रः।

शपथ अर्थ न होने पर सत्य शब्द से कृधातु के योग में डाच् प्रत्यय होता है। क्रयण कर्म वस्तु को तथ्य करता है वणिक्=वैश्य इसमें 'सत्याकरोति'। यहां भाण्ड का अर्थ क्रयण क्रिया जन्यफलाश्रय रत्नादि वस्तु समूह है। शपथ अर्थ में सत्य करोति विप्रः यहां डाच् न हुआ। मैं इसको खरीदूंगा एतदर्थं बयाना देकर सौदा पक्का करता है वहां ही सत्याकरोति। अन्यत्र नहीं।

२१३९ मद्रात् परिवापणे ५।४।६७।

मद्रशब्दो मङ्गलार्थः। परिवापणम्=मुण्डनम् । मद्राकरोति=माङ्गल्यं मुण्डनेन संस्करोतीत्यर्थः। ॐ भद्राच्चेति वक्तव्यम् ॐ। भद्राकरोति। अर्थः प्राग्वत्। परिवापणे किम्, मद्र करोति।

इति स्वार्थिकप्रकरणम्

इति तद्धितप्रकरणं समाप्तम्

वह मङ्गलार्थ मुण्डन सत्कार करता है=मद्राकरोति मङ्गलार्थक मद्र से मुण्डन में डाच् प्रत्यय होता है। अर्थ इसका भी पूर्ववत् ही है। मुण्डन से भिन्न मङ्गल वह करता है यहां 'मद्र करोति' हुआ। इसी प्रकार भद्र करोति। प्रकृत्यर्थ में होने वाले प्रत्ययों का प्रकरण समाप्त हुआ।

स्वार्थिकप्रकरण समाप्त

एवं तद्धितप्रकरण समाप्त



अथ द्विरुक्तप्रकरणम्

२१४० सर्वस्य द्वे ८।१।१।

इत्यधिकृत्य।

यह अधिकार सूत्र है। उत्तर पठित सूत्र में इसका सम्बन्ध है एवं कहेगा कि सम्पूर्ण पद का द्वित्व होता है। स्वयं कार्य न करके उत्तरत्र पठित शास्त्रों के साथ एकवाक्यता द्वारा अर्थ बोधक को अधिकार कहते हैं। यह सामान्य लक्षण है।

विमर्श—सर्वशब्द से स्वरूप ग्रहण यहां नहीं है नाम्रेडितस्य सूत्रारम्भ सामर्थ्य से। वृक्षाभ्याम् यहां प्रकृतिमात्र पद संज्ञक है, उसका द्वित्ववारणार्थ सर्वग्रहण है। यहां स्थाने द्विर्वचन पक्ष है। अतः द्विर्वचन युक्त समुदाय में स्थानिवद्भाव से पदत्व रहता है स्थाने द्विर्वचन पक्ष में। एवं सर्व द्विः उच्चारयेत् यह भी एक पक्ष है। उस पक्ष में अनस्तमितावयवक आदेश होता है अवयव गत नष्ट न होकर उसका द्विवार उच्चारण होता है—"द्विः प्रयोगो द्विर्वचनम्" उसी का केवल द्विवार उच्चारण है। प्रथम पक्ष में पदत्व निवन्धन कार्य अवयव नहीं होगें, होना इष्ट है—अपचनङ् अपचन् यहां पूर्व में ङमुडागम होता है। वृक्षान् वृक्षान् में पदान्तत्व-प्रयुक्त णत्व-निषेध इष्ट है। 'अग्रेऽग्रे' में पदान्तत्व प्रयुक्त पूर्वरूप इष्ट है। पूर्वपक्ष स्थान्यादेश में 'पयः पय.' यहां सोऽपदादौ से सत्वापत्ति आदि अनेक दोष हैं।

२१४१ नित्यवीप्सयोः ८।१।४।

आभीक्ष्ण्ये वीप्सायाञ्च द्योत्ये पदस्य द्विर्वचनं स्यात्। आभीक्ष्ण्यं तिङन्ते-ष्वव्ययसंज्ञककृदन्तेषु च। पचति पचति। भुक्त्वा भुक्त्वा। वीप्सायाम्—वृक्षं वृक्षं सिञ्चति। ग्रामो ग्रामो रमणीयः।

आभीक्ष्ण्य एवं वीप्सा द्योत्य रहे वहां पद का द्वित्व होता है। तिङन्त एवं अव्यय संज्ञक कृदन्त में आभीक्ष्ण्य की प्रतीति होती है। पुनः पुनः को आभीक्ष्ण्य कहते हैं। पौनःपुन्यं भृशार्थश्च आभीक्ष्ण्यम्।

यह द्विवचन बहिरङ्ग है यङ् अन्तरङ्ग है अतः यङ जो क्रियासमभिव्याहृत में विधीयमान है उसको द्विर्वचन बाध नहीं करता है। क्रियानिष्ठ धर्म आभीक्ष्ण्य है। क्रियाप्रधानार्थक पद 'पचति' उसका इससे द्वित्व हुआ—पचति पचति। पुन. पुनः पचति, अथवा जितनी विक्लित्ति अपेक्षित है उससे अधिक विक्लित्ति में भी आभीक्ष्ण्य की प्रतीति है फलगत अतिशय में। देवदत्ताभिन्न एकत्व-विशिष्ट जो कर्ता तद्वृत्ति एवं तण्डुलाभिन्न जो कर्म तन्निष्ठ जो विक्लित्ति तज्जनक वर्तमान कालिक व्यापार यह अर्थ पचति है।

यहां तिके तीन अर्थ हैं—कर्ता संख्या = एकत्व एवं काल। धात्वर्थ दो हैं फल = विक्लित्ति एवं व्यापार। तण्डुलपदोत्तर द्वितीयार्थ कर्म है प्रकृत्यर्थ का कर्म में अभेद सम्बन्ध है, फल का व्यापार में निष्ठत्व सम्बन्ध है। काल अवच्छेदक = व्यावर्तक वर्तमान काल है क्रिया = व्यावर्त्य अर्थात् अवच्छेद्य है। विस्तृत विवरण श्री बा० कृ० पञ्चोलिकृत वैयाकरण भूषण की व्याख्या प्रभा से अवगत करना चाहिये।

भुक्त्वा भुक्त्वा यहां भी आभीक्ष्ण्य में द्वित्व हुआ। गलबिलाधःसंयोगजनक व्यापार भुज् धात्वर्थ है 'गतः' आदि का अध्याहार करके पूर्व कालिकत्व की विवक्षा में जहां अनेक क्रियाओं का एक कर्ता रहे वहां पूर्वकालोद्भव जो क्रिया तद्वाचक जो धातु उससे 'समानकर्तृकयोः' से क्त्वाप्रत्यय होता है। अव्ययकृतो भावे से भावार्थ क्त्वा प्रत्यय है। भुक्त्वा की अव्यय संज्ञा द्वित्व से 'भुक्त्वा भुक्त्वा' रूप हुआ है।

वीप्सा में द्वित्व हुआ। 'वृक्षं वृक्षम् सिञ्चति'। क्रिया साकल्येन सम्बन्धुमिच्छा वीप्सा। संसार स्थित सकल वृक्ष का सिञ्चन सम्भव नहीं है, किन्तु यहां सर्व शब्द सकुचितार्थ प्रतिपादक यथा 'सर्वं भुक्तम्' यहां संसार स्थित सकल अन्नकर्मक भोजन सम्भव नहीं है। अत जो घर में पकाया गया था वह सब खा लिया तथैव प्रकृत में स्व उद्यान=वाटिका में जो वृक्ष है उनको सेचन क्रिया द्वारा व्याप्त करता है, उस उद्यान के किसी भी वृक्ष को जल सेचन रहित नहीं करता है। सर्वान् वाटिकास्थान् वृक्षान् सिञ्चति यही अर्थ हुआ। इसी प्रकार सर्व शब्द अनेकत्र स्थलों में सकुचितार्थ प्रतिपादक है।

'सर्वे ब्राह्मणा आमन्त्रिता' यहा भी भूमण्डल से सकल ब्राह्मणों का आमन्त्रण सम्भव नहीं, अत स्वग्रामस्थ ब्राह्मणों का आमन्त्रण यही अर्थ प्रतीयमान है। वीप्सा का अपर उदाहरण—ग्रामो ग्रामो रमणीय'। प्रत्येक ग्राम सौन्दर्य से युक्त है। यत्र यत्र ग्रामत्व तत्र तत्र रमणीयत्वम् यह व्याप्ति वीप्सापदार्थव्याप्ति प्रतिपादन विषयक इच्छा है।

२१४२ परेर्वर्जने ८।१।५।

परिपरि वङ्गेभ्यो वृष्टो देव। वङ्गान् परित्यज्येत्यर्थः। ॐ परेर्वर्जने वा वचनम् ॐ। परि वङ्गेभ्य।

वर्जनार्थक परि शब्द का द्वित्व होता है। वङ्ग प्रदेश को छोडकर मेघ ने वर्षण क्रिया की यहां द्वित्व परिपरि वङ्गेभ्य। वर्जन में परिका विकल्प से द्वित्व होता है। यहां एक और वार्तिक भी है • परेर्वर्जनेऽसमासे •। समासघटक परि का द्वित्व नहीं होता है—यथा परित्रिगर्तं वृष्टो देव।

२१४३ उपर्यध्यधसः सामीप्ये ८।१।७।

उपर्युपरि ग्रामम्। ग्रामस्योपरिष्टात्। समीपे देशे इत्यर्थः। अध्यधि सुखम्। सुखस्योपरिष्टात्। समीपकाले दुःखमित्यर्थः। अधोऽधो लोकम्। लोकस्याधस्तात् समीपे देश इत्यर्थः।

सामीप्य अर्थ में उपरि, अधि अध, इनका द्वित्व होता है। ग्राम के ऊपर समीप देश में= उपरि उपरि ग्रामम्। सामीप्य का अर्थ है प्रत्यासत्ति, वह देशकृत एव कालकृत है। अध्यधि सुखम्—सुख के अनन्तर काल में दु ख यहां कालकृत सामीप्य है। उपरि चन्द्रमा यहां सामीप्य नहीं अत द्वित्वाभाव है। उपरि शिरसो घट धारयति यहां वास्तविक सामीप्य है, किन्तु उसकी अविवक्षा से द्वित्वाभाव है। विवक्षा ही शब्द प्रयोग में प्रधान कारण है। 'अधोऽधो लोकम्' यहां द्वित्व है। अध—लोक के अधस्तल के समीप देश में। यहा देश कृत प्रत्यासत्ति है।

२१४४ वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासम्मतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु ८।१।८।

असूयायाम्—सुन्दर सुन्दर वृथा ते सौन्दर्यम्। सम्मतौ—देव देव वन्द्योऽसि। कोपे—दुर्विनीत दुर्विनीत इदानीं ज्ञास्यसि।

कुत्सने—धानुष्क धानुष्क वृथा ते धनु।

भर्त्सने—चोर चोर घातयिष्यामि त्वाम्।

असूया, सम्मति, कोप, कुत्सा, भर्त्सन अर्थ में वाक्य के आदि में स्थित आमन्त्रित संज्ञक पद का द्वित्व होता है। यहां कोप एव असूया से पृथक् कुत्सन एव भर्त्सन व्यर्थ ही है, क्योंकि

असूया के विना कुत्सन नहीं होता है, एवं कोप के विना कोई टाटा नहीं जाता। अतः भर्त्सन कोप पूर्वक ही है। यहां यह कथन उचित नहीं है हितबुद्ध्या गुरुजन अकुपित होते हुए भी भर्त्सन शिष्यों का करते हैं। एवं असूया विना भी कुत्सा वे करते हैं। अतः कुत्सन, भर्त्सन सूत्र में आवश्यक है।

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः। लालनाश्रयिणो दोषास्ताटनाश्रयिणो गुणाः॥

गुरुजन अमृतयुक्त हाथों से शिष्यों का ताटन करते हैं, विष से युक्त करों से। लालन को आश्रय करने वाले दोष है, एवं ताटन को आश्रय करने वाले गुण हैं। यह भी कहा है कि पाँच वर्ष तक ताटन करें १६ वर्ष के पुत्रादिक में ताटन निषिद्ध है, उसको समझा बुझाकर हितका उपदेश करें।

सूत्र के उदाहरण स्पष्ट ही हैं। १—कुत्सित कर्म कर्ता का सौन्दर्य वृथा है। अतः असूया गम्यमान है। २—सम्मति में हे देव तुम पूज्य हो = अभिवादन योग्य। ३—कोप में हे अविनय-शील अब तुम अविनय का फल जानोगे। ४—में धनुष् विद्या में निपुण तुम्हारा धनुष् धारण व्यर्थ में = गरीब निरपराधी को सताने पर यह कहा गया है। ५—हे चोर, अब तुम तस्कर वृत्ति का फल प्राण वियोग व्यापार रूप हनन को प्राप्त होगे।

२१४५ एकं बहुव्रीहिवत् ८।१।९।

द्विरुक्ते एकशब्दो बहुव्रीहिवत्। तेन सुब्लोपपुंवद्भावौ। एकैकमक्षरम्। इह द्वयोरपि सुपोर्लुकि कृते बहुव्रीहिवद्भावादेव प्रातिपदिकत्वात्समुदायात् सुप्। एकैकया आहुत्या। इह पूर्वभागे पुंवद्भावादवग्रहे विशेषः।

न बहुव्रीहावित्यत्र पुनर्बहुव्रीहिग्रहणं मुख्यबहुव्रीहिलाभार्थम्। तेनातिदिष्टबहुव्रीहौ सर्वनामताऽस्त्येवेति प्राञ्चः। वस्तुतस्तु भाष्यमते प्रत्याख्यातमेतत्। सूत्रमतेऽपि बहुव्रीह्यर्थेऽलौकिके विग्रहे निषेधकम्, न तु बहुव्रीहावितीहातिदेशशङ्कैव नास्ति। एकैकस्मै देहि।

द्विरुक्त = द्वित्वनिष्पन्न एक शब्द बहुव्रीहि समान होता है। इस कारण सुप् का लोप पुंवद्भाव होता है। एवं पूर्वपदप्रकृति स्वर भी होता है। यथा—एकम् का द्वित्व से 'एकम् एकम्' यहां बहुव्रीहि समान होने से समासत्व प्रयुक्त प्रातिपदिकत्व है एवं प्रातिपदिकत्व प्रयुक्त उभय सुप् का 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से लुक् हुआ। एवं बहुव्रीहि भाव प्रयुक्त प्रातिपदिकत्व निबन्धन 'एकैक' समुदाय से सुप् विभक्ति एकवचन प्रथमा का आया है। एवं स्त्रीलिङ्ग में एकया का द्वित्व बहुव्रीहिवद्भाव विभक्ति द्वय का लोप एवं पुंवद्भाव हुआ "सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः" से अथवा 'स्त्रिया भाषितपुंस्काद' से। एकैका से तृतीया एकैकया आहुत्या। यहां 'एक एकया, यह विशेष पुंवद्भाव प्रयुक्त है। अन्यथा एका ऐसा पूर्वभाग में अवग्रह होता जो इष्ट नहीं है।

एकं बहुव्रीहिवत् सूत्र बहुव्रीहिवद् भाव का अतिदेश करता है तो भी न बहुव्रीहौ से साध्य-कार्य जो सर्वनाम का निषेध यहां नहीं होता है अर्थात् यहां सर्वनाम संज्ञा होती ही है। कारण कि "विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ" १।१।२८ से बहुव्रीहि की 'न बहुव्रीहौ' १।१।२८ में अनुवृत्ति आती पुनः न बहुव्रीहौ में क्रियमाण बहुव्रीहि ग्रहण व्यर्थ होकर, 'शब्दाधिक्याद अर्थाधिक्यम्' अर्थात् अधिक शब्द प्रयुक्त यहां अधिक अर्थ होगा वह यह है कि मुख्य = प्रधान जहां बहुव्रीहित्व है, वहां ही वह सर्वनाम संज्ञा का निषेध करता है, अतः आरोपित बहुव्रीहित्व में सर्वनाम संज्ञा होती है प्राचीन आचार्यों का मत है।

वस्तुत 'न बहुव्रीहौ' सूत्र का भाष्यकार ने प्रत्याख्यान ही किया है। उनके मत में सूत्र ही नहीं अत सर्वनाम सञ्ज्ञा का उससे निषेध की शङ्का ही निर्मूल है। सूत्रकार के मत में "न बहुव्रीहौ" सूत्र यद्यपि है किन्तु वह बहुव्रीहि समासार्थ जो अलौकिक विग्रह वाक्य तद्घटक जो सर्वादि उनकी सर्वनाम सञ्ज्ञा निषेधक है। न कि बहुव्रीहि समास में, क्योंकि समास करने पर समास घटक सर्वांदि विशेषणीभूत रूप उपसर्जन न होने पर सञ्ज्ञोपसर्जन का सर्वादि में पाठ नहीं सूत्र व्यर्थ होगा।

अत यहा तादर्थ्य में बहुव्रीहिपद है अर्थात् बहुव्रीहि समास के लिए अलौकिक विग्रह परक है। अत अतिदेश के विषय में सर्वनाम सञ्ज्ञा का निषेधविषयिणी शङ्का का यहाँ अवसर ही नहीं है। जब शङ्का का ही अनवसर ऐसी परिस्थिति में समाधान प्रयास व्यर्थ है। अत एकैकस्मै' यहां सुप लुक् वद्भाव बहुव्रीहित्व के अतिदेश से द्वित्व के बाद हुआ किन्तु सर्वनामत्व का अभाव न हुआ, के को स्मै आदेश हुआ है। दानक्रिया का उद्देश्य में चतुर्थी विभक्ति है प्रत्येक को उद्देश्य कर तुम दान दो यह अर्थ है।

२१४६ आबाधे च ८।१।१०।

पीडायां द्योत्यायां द्वे स्तो बहुव्रीहिवच्च। गतगत। विरहात् पीड्यमान-स्येयमुक्ति। बहुव्रीहिवद्भावात् सुब्लुक्। गतगता। इह पुंवद्भाव।

इष्टजनवियोग प्रयुक्तपीडा = दुःख गम्यमान रहे वहां द्वित्व होता है, एवं बहुव्रीहिसमान होता है गत यहां गम् धातु गम् के मकार का 'अनुदात्तोपदेश' से लोप है। गत = का अर्थ संयोगजनकव्यापारकर्ता अर्थ है, द्वित्व से गत, गत हुआ बहुव्रीहिवद्भाव से प्रातिपदिक संज्ञा उभयसुप का लोप समुदाय से सु उसके विसर्ग से गतगत = विरहवेदन जन्य पीडायुक्त इष्टजन की उक्ति यह है। इसी प्रकार स्त्रीलिङ्ग में गता, गता टाबन्त है द्वित्वादि पुंवद्भाव समुदाय से विभक्ति उसका लोप 'गतगता' कन्या आदि के विरहजन्यपीडावती माता की उक्ति है। कन्या ससुराल जाती है उस समय माता को कष्ट होता है अत पीडा गम्यमान यहां है।

२१४७ कर्मधारयवदुत्तरेषु ८।१।११।

इत उत्तरेषु द्विर्वचनेषु कर्मधारयवत् कार्यम्। प्रयोजन सुब्लोपपुंवद्भावान्तोदात्तत्वानि।

इससे परवर्ती द्विरुक्त स्थल में कर्मधारय समास समान कार्य होता है। कर्मधारयत्व के अतिदेश का प्रयोजन ये है-सुप् का लोप, 'पुंवत् कर्मधारयजातीयेषु' से पुंवद्भाव, एवं 'समासस्य' सूत्र से अन्तोदात्तत्व है।

२१४८ प्रकारे गुणवचनस्य ८।१।१२।

सादृश्ये द्योत्ये गुणवचनस्य द्वे स्तस्तच्च कर्मधारयवत्, 'कर्मधारयवत्' उत्तरेष्वित्यधिकारात्। तेन पूर्वभागस्य पुंवद्भाव। समासस्यान्तोदात्तत्वञ्च। पटुपट्वी। पटु पटुः। पटुसदृशः, ईषत् पटुरिति यावत्। गुणोपसर्जनद्रव्य वाचिन. केवलगुणवाचिनश्चेह गृह्यन्ते। शुक्लशुक्ल रूपम् शुक्लशुक्ल पट.। ॐ आनुपूर्व्ये द्वे वाच्ये ॐ। मूले मूले स्थूल'।

सादृश्यार्थ में गुण वाचक का द्वित्व होता है। एवं 'कर्मधारयवदुत्तरेषु' के यहां अधिकार होने से कर्मधारय समान होता है। अत स्त्रीलिङ्ग में पूर्व भाग में पुंवद्भाव एवं 'समासस्य' सूत्र

से अन्तोदात्तत्व भी होता है। वीतोगुणवचनात् में ङीपन्त पट्वी का द्वित्व पुंवद्भाव, अन्तोदात्त, पटुपट्वी। पुंल्लिङ्ग में पटुः का द्वित्व विभक्ति लोप अन्तोदात्त समुदाय से विभक्ति पटुः पटुः। ईषत् पटुत्ववान् यहां 'गुणस्य' सूत्र में कहते वचनग्रहण सामर्थ्य से गुण है प्रकारीभूत अर्थात् उपसर्जन ऐसे द्रव्यार्थक का ग्रहण करना अर्थात् गुणविशिष्ट गुणिवाचक शब्द यहां गृहीत हैं। एवं केवल गुणवाचक जो शब्द उनका भी गुणवचन से ग्रहण यहां करना चाहिये। 'शुक्लम्' गुणवाचक है रूप का प्रत्यायक है द्वित्व सुप् लुक् अन्तोदात्त समुदाय से विभक्ति शुक्लशुक्लं रूपम्। द्रव्यार्थक शुक्लः द्वित्वादिकार्य शुक्लशुक्लः पटः। * क्रमत्वरूप आनुपूर्व्य अर्थ प्रतीयमान रहे वहां द्वित्व होता है। यथा मूले मूले स्थूलः (वृक्षः)।

ॐ सम्भ्रमेण प्रवृत्तौ यथेष्टमनेकधा प्रयोगो न्यायसिद्धः ॐ सर्प सर्प सर्प वुध्यस्व. वुध्यस्ववुध्यस्व। ॐ क्रियासमभिहारे च ॐ। लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति। नित्यवीप्सयोरिति सिद्धे भृशार्थे द्वित्वार्थमिदम्। पौनःपुन्येऽपि लोट्। सह समुच्चित्य द्योतकतां लब्धुं वा।

ॐ कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये ॐ। ॐ समासवच्च बहुलम् ॐ। वहुलग्रहणादन्यपरयोर्न समासवत्। इतरशब्दस्य तु नित्यम्।

ॐ असमासवद्भावे पूर्वपदस्थस्य सुपः सुर्वक्तव्यः ॐ। अन्योऽन्यं विप्रा नमन्ति। अन्योऽन्यौ। अन्योऽन्यान्। अन्योऽन्येन कृतम्। अन्योऽन्यस्मै दत्तमित्यादि। अन्योऽन्येषां पुष्करैरामृशन्त इति माघः। एवं परस्परम्। अत्र कस्कादित्वात् विसर्गस्य सः। इतरेतरम्। इतरेतरेणेत्यादि। ॐ स्त्रीनपुंसकयोरुत्तरपदस्थाया विभक्तेरामभावो वा वक्तव्यः ॐ। अन्योऽन्याम्। अन्योऽन्यम्। परस्पराम्। परस्परम्। इतरेतराम्। इतरेतरं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः।

* सम्भ्रमसहित प्रवृत्ति होने पर इच्छानुसार अनेक बार प्रयोग न्यायसिद्ध है। क्रियासमभिहार में द्वित्व होता है। यथा लुनीहि लुनीहि। यहां 'नित्यवीप्सयोः' से द्वित्व सिद्ध था किन्तु भृशार्थ में द्वित्व के लिए एवं पौनःपुन्य अर्थ में लोट् एवं द्वित्व उभय का समुच्चयार्थ करके द्योतकता लाभार्थ यह वचन है। * कर्मव्यतिहार में सर्वनामसंज्ञक शब्द का द्वित्व होता है। यह समास के समान बहुल होता है। यहां बहुल ग्रहण से अन्य एवं पर शब्द समासवत् = समास समान नहीं होते। इतर शब्द को तो नित्य समासवत् होता है। अर्थात् समासवद् भाव हुआ। जहां असमासवद्भाव है वहां पूर्वपदस्थ सुप् के स्थान में सु होता है। यथा अन्योऽन्यं विप्रा नमन्ति आदि। माघ कवि की कविता में भी यह प्रयोग है—अन्योन्येषाम् इति। इसी प्रकार परस्परम् में भी ज्ञान करना चाहिये। यहां कस्कादि पाठ प्रयुक्त विसर्ग को सकारादेश है।

स्त्रीलिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग शब्द से पर विभक्ति को विकल्प से आम् होता है। अन्योऽन्याम्। अन्योन्यम् इत्यादि।

अत्र केचित् आमादेशो द्वितीयाया एव, भाष्यादौ तथैवोदाहृतत्वात्। तेन स्त्रीनपुंसकयोरपि तृतीयादिषु पुंवदेव रूपमित्याहुः। अन्ये उदाहरणस्य दिङ्मात्रत्वात् सर्वविभक्तीनामामादेशमाहुः।

इस स्थल में कोई कहता है कि द्वितीया को ही आमादेश होता है क्योंकि भाष्यादि आकर ग्रन्थों में द्वितीयान्त में ही आमादेश घटित उदाहरण है। अन्य आचार्य कहते हैं कि उदाहरण के दिक् प्रदर्शनार्थ हैं। वे ही उदाहरण हैं ऐसा आग्रह न करना। भाष्य में कहा भी है "न चोदाहरणमादरणीयम्" इति मेरे द्वारा प्रदर्शित उदाहरणों से अतिरिक्त उदाहरण ही नहीं ऐसा भ्रम न करना अर्थात् अन्य उदाहरण मेरे द्वारा अनुक्त भी है। अतः प्रकृति में सर्व विभक्तियों के स्थान में विकल्प से आम्भाव होता ही है।

"दलद्वये टाबभावः क्लीबे चाड्विरहः स्वमोः।
समासे सोर्लुक् चेति सिद्धं बाहुलकात् त्रयम्॥"

तथाहि— अन्योऽन्यं परस्परमित्यत्र दलद्वयेऽपि टाप् प्राप्तः। न च सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः, अन्यपरयोरसमासवद्भावात्। न च द्विर्वचनमेव वृत्तिः, 'या या प्रियं प्रैक्षत कातराक्षी सा सा" इत्यादावतिप्रसङ्गात्। अन्योऽन्यमितरेतरमित्यत्र च अद्डतरादिभ्य इत्यद्ड् प्राप्तः। अन्योऽन्यससक्तम् अहस्त्रियामम्। अन्योऽन्याश्रय। परस्पराक्षिसादृश्यम्, अदृष्टपरस्परैरित्यादौ सोर्लुक् च प्राप्तः, सर्वं बाहुलकबलेन समाधेयम्। प्रकृतवार्तिकभाष्योदाहरण स्त्रियामिति सूत्रे अन्योन्यसंश्रयं त्वेतदि'ति भाष्यं चात्र प्रमाणमिति।

श्लोक का अर्थ—दोनों दल में टाप् का अभाव, नपुंसक में सु एवं अम् के स्थान में अद्ड् का अभाव, एवं समास में प्रत्यय का अलुक, यह तीन प्रकार का कार्य बाहुलक से सिद्ध होता है। यथा अन्योन्यम्, परस्परम्, इस स्थल में दोनों दल में टाप् प्राप्त हुआ, अन्य एवं पर में असमासवद्भाव से 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे" से पुंवद्भाव नहीं प्राप्त है, यदि द्विर्वचन को ही वृत्ति मानेंगे तो 'या या प्रियं' इत्यादि की असिद्धि होगी—प्रिय ने जिस जिस प्रिया को देखी वे वे लज्जा से नतमुखी हुई। 'अन्योन्यम्' 'इतरेतरम्' यहां अद्डादेश प्राप्त हुआ। अन्योन्यससक्तम् आदि में सु का लोप प्राप्त हुआ इन सभी का समाधान बाहुलक से करना। प्रकृ. वार्तिक, भाष्योदाहरण, 'स्त्रियाम्' सूत्र में अन्योन्यसंश्रयम् ऐसा भाष्य इसमें प्रमाण है।

२१४९ अकृच्छ्रे प्रियसुखयोरन्यतरस्याम् ८।१।१३।

प्रियप्रियेण ददाति प्रियेण वा। सुखसुखेन ददाति, सुखेन वा। द्विर्वचने कर्मधारयवद्भावात् सुपि लुकि तदेव वचनम्। अतिप्रियमपि वस्तु अनायासेन ददातीत्यर्थः।

यहां द्वित्वोत्तर समासवद्भाव विभक्ति लुक् समुदाय से पुनः पूर्व सदृशी विभक्ति प्रियप्रियेण ददाति। पक्ष में प्रियेण। इसी प्रकार सुखसुखेन। सुखेन वा। द्विर्वचन में कर्मधारयवद्भाव से विभक्ति लुक् पुनः वही वचन। अत्यधिक प्रिय वस्तु को भी वह अनायास से दान करता है।

२१५० यथास्वे यथायथम् ८।१।१४।

'यथास्वम्' इति वीप्सायाम् अव्ययीभावः। योऽयमात्मा यच्चात्मीयं तद् यथास्वम्, तस्मिन् यथाशब्दस्य द्वे क्लीबत्वं च निपात्यते। यथायथं ज्ञाता यथास्वभावमित्यर्थः। यथाऽऽत्मीयमिति वा।

आत्मा एवम् आत्मीय दोनों को यथास्व कहते हैं। क्योंकि स्वशब्द का आत्मा एवं आत्मीय दोनों अर्थ में यथा शब्द का द्वित्व एवं नपुंसकलिङ्गत्व निपातन से सिद्ध है। सूत्र में वीप्सा अर्थ में अव्ययीभाव करना इससे 'यथास्वम्' की सिद्धि हुई है। यथायथं ज्ञाता = यथास्वभाव या यथात्मीय ज्ञाता।

२१५१ द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु ८।१।१५।

द्विशब्दस्य द्विर्वचनं पूर्वपदस्याम्भावोऽत्वं चोत्तरपदस्य नपुंसकत्वं च निपात्यते एष्वर्थेषु। तत्र रहस्यं द्वन्द्वशब्दस्य वाच्यम्। इतरे विषयभूताः। द्वन्द्वं मन्त्रयते, रहस्यमित्यर्थः। मर्यादा = स्थित्यनतिक्रमः। आचतुरं हीमे पशवो द्वन्द्वं मिथुनीयन्ति। माता पुत्रेण मिथुनं गच्छति पौत्रेण प्रपौत्रेणापीति मर्यादार्थः। व्युत्क्रमणम् = पृथगवस्थानम्।

द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः। द्विवर्गसम्बन्धेन पृथगवस्थिताः। द्वन्द्वं यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति। द्वन्द्वं संकर्षणवासुदेवौ। अभिव्यक्तौ साहचर्येणेत्यर्थः। योगविभागादन्यत्रापि द्वन्द्व इष्यते।

इति द्विरुक्तप्रकरणम्।

इति श्रीभट्टोजिदीक्षितविरचितायां सिद्धान्तकौमुद्यां पूर्वार्धं समाप्तम्।

रहस्य, मर्यादा, वचन, व्युत्क्रमण, यज्ञपात्रप्रयोग, अभिव्यक्ति इन अर्थों में द्विशब्द का द्वित्व होता है एवं पूर्वपदको अम्भाव, एवं उत्तरपद को नपुंसकत्व निपातन से सिद्ध होता है। पूर्वोक्त अर्थों में रहस्य एवं द्वन्द्व शब्दवाच्य अर्थ है। एवं अन्य सब विषयभूत हैं।

द्वन्द्वं मन्त्रयते = एकान्त में परामर्श करता है। स्थिति का अनतिक्रमण को मर्यादा कहते हैं। द्वन्द्वं मिथुनीयन्ति। यहां पशुओं में गम्यागम्य विचार नहीं है मानव की तरह माता पुत्र से पौत्र से प्रपौत्र से मिथुनत्व प्राप्त होती है यह पशुओं की मर्यादा है, स्थिति का अतिक्रमण यहां नहीं है। पृथक् जो अवस्थान उसको व्युत्क्रमण कहते हैं।

यथा द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः = दो वर्ग के सम्बन्ध से पृथक् अवस्थित। द्वन्द्वं यज्ञपात्राणि। संकर्षणवासुदेवौ 'द्वन्द्वम्' यहां साहचर्य से अभिव्यक्त योगविभाग से सूत्रनिर्दिष्ट अर्थों से भिन्न अर्थ में भी 'द्वन्द्वम्' होता है।

गुजरातप्रान्तान्तर्गतवसाह (डामला) नगराभिजनवास्तव्येन पञ्चाशद्वायनतो वाराणसीकृताखण्डनिवासेन विश्वविख्यातकाशीस्थराजकीयसंस्कृतमहाविद्यालय-वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयपूर्वप्राध्यापकेन पवित्रतमौदीच्यब्राह्मणकुलोद्भवेन श्रीदिवालीदेवीजननीजातेन विद्वद्वरश्रीनीलकण्ठशास्त्रिपञ्चोलितनुजन्मना सर्वतन्त्रस्वतन्त्रपूज्यगुरुवरश्रीउमापतिशर्मोपाध्यायप्रधानशिष्येण श्रीबालकृष्णशास्त्रिपञ्चोलिना विरचिता वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीव्याख्या सविमर्शा रत्नप्रभा तस्याः

पूर्वार्द्धं समाप्तम्।

इति शम्।



समासादि-द्विरुक्तान्तसूत्रसूची

ह्

द्विरुक्तान्त-वार्तिक सूची